वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३९ : कि० १ (युग्मांक) जनवरी-मार्च १९८६

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भगवान महावीर प्रथम देशना स्मारक–राजगृही

पटना से लगभग सौ किलोमीटर नालन्दा से लगभग १७ किलोमीटर दूर स्थित राजगृही एक ऐतिहासिक स्थल है। जिसे भगवान महावीर और गौतम बुद्ध ने अनेक बार अपने बिहार से पवित्र किया था। इसी नगरी में स्थित पाँच पहाड़ियों में से प्रथम पहाड़ी विपुलांचल पर्वत पर भगवान महावीर का पहला उपदेश हुआ था। इसी कारण विपुलांचल पर्वत विशेष रूप से जैनियों का अत्यन्त पवित्र स्थल बना हुआ है। यद्यपि कालान्तर में हिन्दू-मुसलमान, सिख आदि धर्मों का भी महत्व इस नगरी से जुड़ता गया और राजगृही सर्वधर्म समन्वय की नगरी बन गई। यहाँ हर साल देश-भर से लगभग एक लाख जैन और लगभग इतने ही अजैन तीर्थ-यात्री दर्शनार्थ आते हैं।

राजगृही पंच पहाडियों के मध्य अवस्थित है। इसी कारण महाभारत के पूर्व में एवं हिन्दू पुराणो में इसे गिरी-ब्रज कहा गया है। जैन पुराणो मे बताया गया है कि श्री वासुपूज्य भगवान के अतिरिक्त तेईस तीर्थंकरों का समवशरण राजगृहमें ही हुआ था। बीसवे तीर्थंकर भगवान मुनि सुब्रतनाथ के गर्भ, जन्म तप और ज्ञान ये चारों कल्याणक इसी राजगृही मे हुए थे। भगवान महावीर स्वामी के समवशरण मे महारजा श्रेणिक द्वारा किए गए साठ हजार प्रश्नों के उत्तर में रचे गए सैंकड़ो ग्रन्थ इसी राजगीर से सबंधित है। अब हम इसे कथानकों का उद्‌गम स्थान भी कह सकते है। इस पचकल्याणक मे होने वाले द्वितीय केवली श्री सुधर्माचार्य का निर्वाण माघ सुदी सप्तमी के दिन राजगीर के विपुलांचल पर्वत पर ही हुआ था।

राजगीर को जैन हिन्दू बौद्ध सभी पबित्र मानते है। यहाँ गर्म पानी के स्वास्थ्यवर्द्धक झरने हैं जिनसे अहर्निस उष्णजल प्रवाहित होता रहा है। इस गंधक युक्त जल से जनमानस की शारीरिक तथा मानसिक अशान्तियाँ दूर हो जाती है। शीत-ऋतु मे हजारो रोगी स्त्री-पुरुष यहाँ जलवायु परिवर्तनार्थ आकर स्वास्थ्य लाभ करते है। इस गर्म पानी के झरनो तथा अपने शान्त और सुरभ्य प्राकृतिक वातावरण के चलते यह देश का ही नही बल्कि विश्व के पर्यटन स्थलों को मानचित्रों मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता हैं।

राजगीर मे अनेक प्राचीन दर्शनीय स्थल है। प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष प्राचीन मूर्तियाँ, अजातशत्रु का किला स्वर्ण भण्डार गुफा आदि जैन ब्राह्मी कला, मन्दिर राजगीर (वीरायतन) देखने योग्य है। इसमे चौबीसों तीर्थंकरों पर दर्शाई गई झांकियाँ अति सुन्दर व मनोज्ञ हैं। अठारह लाख की लागत से राजगीर पर्वत पर रज्जू मार्ग बनाया गया। जिस पर १६० आदमी एक साथ आकाश मार्ग से ऊपर आ जा सकेंगे।

इस प्रकार इस तीर्थ क्षेत्र के महत्व को देखते हुए १९७४-७५ में भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव के समय समारोह के अध्यक्ष समाज सेवक साहू शांतिप्रसाद जैन के नेतृत्व मे समाज ने यह निर्णय किया था कि विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर के प्रथम उपदेश की स्मृति मे एक भव्य स्मारक का निर्माण किया जाए। स्मारक के निर्माण का दायित्व साहू जैन ट्रस्ट को सौपा गया। निर्माण का विशेष आकर्षण पहाडी पर खुले आकाश मे अवस्थित चार मनोहारी पांच-पाँच फुट ऊँची चतुर्मुखी पद्मासन प्रतिमाएँ है जो ७२ फुट ऊँचे इस स्मारक पर विराजमान है। इसकी रचना समवशरण के रूप मे हैं। इसका निर्माण करते समय आध्यात्मिक वातावरण का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। ऐसा लगता है कि जैसे भगवान का उपदेश चारों दिशाओ मे प्रतिध्वनित हो रहा हो।
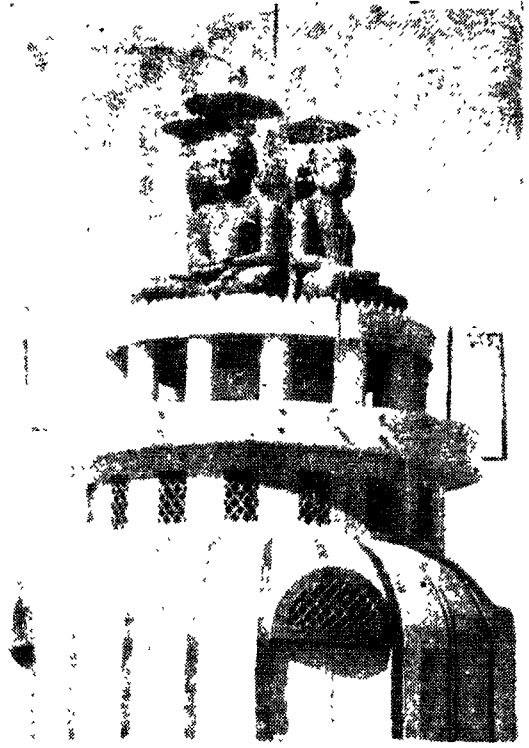
ओम् अर्हम्
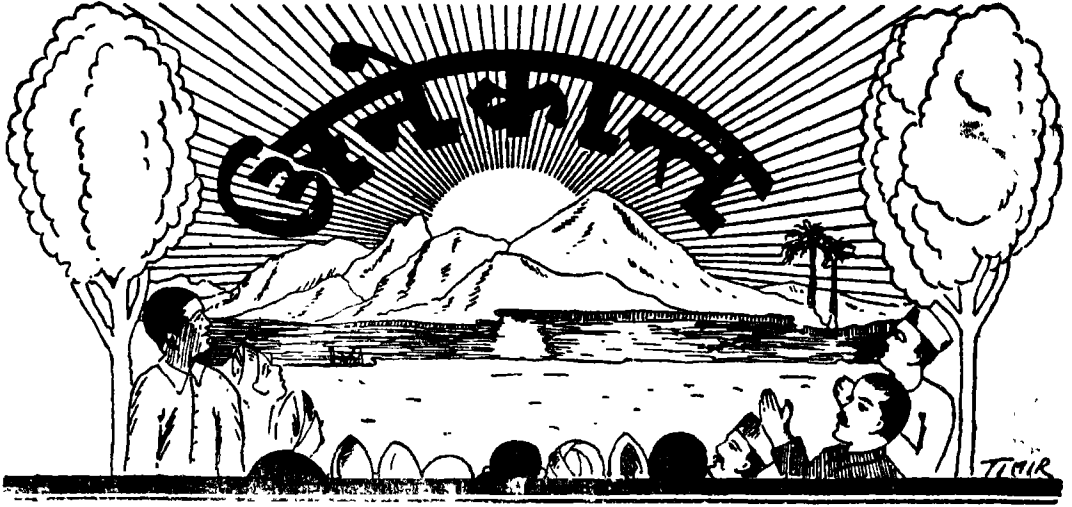
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३९ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५११, वि० स० २०४२ | जनवरी-मार्च १९८६

आदिनाथ-जिन-स्तवन

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरिपरिगतो राजतिस्मोग्रमूर्तिः ।
चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहु दहतादूरमौदास्यवात—
स्फूर्जत्सद्ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ।।१।।

—पद्मनन्द्याचार्य

कायोत्सर्ग मुद्रा धरि वनमें ठाढ़े रिषभ रिद्धि तजि दीनी ।
निहिचल अंग मेरु है मानो दोऊ भुजा छोर जिनि दीनी ।
फँसे अनन्त जन्तु जग-चहले दुखी देख करुणा चित लीनी ।
काढ़न काज तिन्हैं समरथ प्रभु, किधों बाँह ये दीरघ कीनी ।।

—भूधरदास

अर्थ—कायोत्सर्ग के निमित्त से जिनका शरीर लम्बायमान हो रहा है, ऐसे वे नाभिराय के पुत्र महात्मा आदिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें, जिनके ऊपर प्राप्त हुआ मध्यान्ह (दोपहर) का तेजस्वी सूर्य ऐसा सुशोभित होता है मानो कर्म रूप ईन्धनों के समूह को अतिशय जलाने वाली एवं उदासीनतारूप वायु के निमित्त से प्रगट हुई समीचीन ध्यान रूपी अग्नि की देदीप्यमान चिनगारी ही उन्नत हुई हो ।

विशेषार्थ—भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र की ध्यानावस्था में उनके ऊपर जो मध्यान्ह काल का तेजस्वी सूर्य आता था उसके विषय में स्तुतिकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह सूर्य क्या था मानों समताभाव से आठ कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के इच्छुक होकर भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र द्वारा किए जाने वाले ध्यानरूपी अग्नि का विस्फुलिंग ही उत्पन्न हुआ है। □□

परिग्रह की घुस पैठ में अहिंसा की लाक्षणिक हत्या

□ ले० पद्मचन्द्र शास्त्री

स्वामी समन्तभद्र जैन-दर्शन के ज्ञाता प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने श्रावकाचार के मंगलाचरण में तीर्थंकर वर्धमान को "निर्धूत-कलिलात्मने" रूप में नमस्कार किया है और "कलिल" को श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने ज्ञानावरणादिरूप पाप कहा है*। इसी रत्नकरण्ड के दूसरे श्लोक मे स्वामी समन्तभद्र ने इन्ही कर्मों के विनाशक धर्म के वर्णन की प्रतिज्ञा की है। तथाहि—"नमः श्री वर्धमानाय निर्धूत-कलिलात्मने" "देशयामि समीचीनं धर्म कर्मनिवर्हणम्"—

उक्त प्रसंग से इतना तो स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्र की श्रद्धा आत्मा की परिग्रहातीत निर्मल दशा पर रही है। वे पाप/कर्म रहित निर्मल आत्मा को इष्ट मानते हैं। इनसे पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने भी बन्धरूप होने से कर्म-पर्याय मात्र को पाप कहा है। उन्होने पुण्य-पाप मे बंध की अपेक्षा भेद ही नहीं माना—दोनो को ही कुत्सित भाव कहा। वे कहते हैं—

"कम्ममसुह कुसील सुहकम्मं चावि जाणह कुसील।
वह त होइ सुसील ज ससार पवेसेदि॥"—

—जैसे अशुभ कर्म कुशील है वैसे ही शुभ कर्म भी कुशील है। भला जो संसार में घुमाता हो—प्रवेश कराता हो वह सुशील कैसे हो सकता है, अर्थात् नही हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने इन्ही कर्मों के निवर्हण—विनाश करने वाले मार्ग को धर्म कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि उक्त आचार्यों के मत मे और समस्त जैन-दर्शन मे धर्म वही है जो कर्मों से—परिग्रह से छुटकारा दिलाकर स्व-स्वभाव मे स्थापित कराने वाला हो। अब यह विज्ञों का काम है कि वे ऐसे धर्म को पहिचानें। इसी श्रावकाचार मे आगे चल कर श्रावकाचार प्रसग में धर्म की जो परिभाषा दी गई है उसमे उनकी कर्म निवर्हण वाली बात का पूर्ण पुष्टि होती है—वहां वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म कहते है—"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धमेश्वराः विदुः।"

श्री उमा स्वामी महाराज सूत्र के प्रारम्भ में "सम्यग्-दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" द्वारा तीनो के एकत्व को मोक्षमार्ग बतलाते है जो मुनिपद मे ही संभव है। आचार्य कुन्दकुन्द देव तो रत्नत्रय मे अभेद होने की बात पहले ही कह चुके है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र में एकत्व स्थापित हो और तीनों पृथक न रहे यह मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् मार्ग है और पूर्ण अपरिग्रहत्व का यही रूप है जिसमें आत्मा पूर्णतया निर्मल होता है—श्रावकाचार तो मात्र अभ्यास दशा है। आचार्यो ने निर्मल आत्मा को रत्नत्रय रूप और पूर्ण अपरिग्रही घोषित किया है। क्योंकि परिग्रह मे रत्नत्रय की पूर्णता नही और रत्नत्रय की पर्णता के बिना आत्मा का शुद्धत्व भी नही। यतः—सम्यग्दर्शन आत्मानुभूति का नाम है और आत्मा की अनुभूति ज्ञानरूप होने से सम्यग्दर्शन से अभिन्न है तथा सम्यक्चारित्र आत्म-रमणरूप क्रिया होने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अभिन्न है और यह अभिन्नता अपने मे रहने पर ही सभव है। जब तक पर अर्थात् परिग्रह मे प्रवेश की बात है तब तक रत्नत्रय की पूर्णता नही और तब तक मोक्ष भी नही। सि० चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य के कथनानुसार "रयणतय ण वट्टइ अप्पाण मुयत्तु अण्णदवियम्हि" और कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार "ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाण चेव पिच्छयदो" और अमृतचन्द्राचार्य के अनुसार "दर्शन ज्ञान चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्" सभी शुद्धात्मा रूप ही ठहरते हैं—पर अर्थात् परिग्रह के लेश से भी अछूते।

हम "पर" को परिग्रह कहते है चाहे वह पर किसी

* निर्धूतं स्फोटित कलिल ज्ञानावरणादिरूप पापमात्मनः।" —रत्नक० टीका १।

रूप में ही क्यों न हो। यहां तक कि अपने में अपनेपन का विकल्प उठना भी परिग्रह है और इसीलिए मोक्षमार्ग में निर्विकल्प दशा को प्रमुख स्थान दिया गया है। यद्यपि "मूर्च्छा" को परिग्रह कहा है और व्यवहार में मूर्च्छा की 'ममेदं' यह मेरा है, ऐसी परिभाषा की गई है। पर, वास्तव मे यहां पर आचार्य का भाव ममत्व (अपने पन) मात्र से संबंधित न होकर अधिक व्यापक रूप मे है—इसमे ममत्व की भांति परत्व (परायेपन) जैसे अनेको भेद समाए हुए है। यदि ऐसा न हो और मात्र "यह मेरा है" से भिन्न, ऐसे भाव जिनमे मेरा पन नही है जैसे—किसी से घृणा करना, किसी को गाली देना, किसी को मार देना आदि पाप ममत्व की परिधि से निकल जाएगे।—परिग्रह न कहलाएगे। क्योकि ये सभी भाव और कार्य ममत्व न होकर, उससे विपरीत घृणादि के ही फलित कार्य है और ममत्व से अधिक भयावह भी है। भला सोचिए, जब आचार्य ममत्व भाव को परिग्रह बतला रहे है तब घृणादि जैसे भाव अपरिग्रह होगे क्या? अर्थात् नही हो सकेंगे। एतावता मानना होगा कि राग के साथ पर-प्रेरित घृणादि जैसे सभी भाव आत्मा को अहितकारक होने से "मूर्च्छा"—परिग्रह की श्रेणी मे आते है।

इसी भांति जब हम अहिंसा के लक्षण की ओर दृष्टि-पात करते है तब वहा भी "अप्रादुर्भाव: खलु रागादीना भवत्यहिंसेति" स्पष्ट लक्षण दिखाई देता है। इसका तात्पर्य ऐसा है कि जहा किंचित् भी रागादि भाव है, वहा हिंसा है (और वही मूर्च्छाभाव-परिग्रह है) जबकि लम्बे समय से अहिंसा के जनक अपरिग्रह की उपेक्षा कर रागादि परि-ग्रह जन्य करुणा, दया आदि जैसे भावो से फलित प्राण रक्षा को अहिंसा नाम दिया जा रहा है। हमारा ऐसा चलन कहां तक उचित है? विचार दृष्टि से तो ऐसा मालूम होता है कि हम जिनवाणी को माता मानकर भी उसकी अवहेलना कर रहे हैं और प्रमाद-परिहार रूप जैन की अहिंसा के सही रूप से दूर चले जा रहे है—अहिंसा की मूल व्याख्या को बदल रहे हैं। स्पष्ट है कि रागादिरूप विकल्प हुए बिना किसी जीव की प्राण रक्षा के भाव और तद्रूप कार्य दोनों ही न हो सकेंगे—उल्टे रागादि जैसे परि-ग्रह सर्वथा हिंसा ही होगे।

यदि प्राण रक्षण रूप उक्त प्रसंग को हम अहिंसा का नाम न देकर "शुभ लेश्या" नाम दे दें तो सही बैठ जाता है। क्योकि प्राण हनन और प्राण रक्षण दोनों स्थलों में ही "कषायोदयानुरजित" योग प्रवृत्ति होती है जो लेश्या के लक्षण से पूर्ण मेल खा जाती है—प्राण हनन और प्राण रक्षण दोनो मे ही कषाय और योग साथ चलते हैं। हनन और रक्षण मे यदि कोई अन्तर है तो वह अन्तर मात्र अशुभ और शुभ लेश्या रूपो मे ही है। जबकि अहिंसा में रागादिकषाय और योग जाति का सर्वथा अभाव है—"अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।"—

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्यों ने जैसे प्राण व्यपरोपण को हिंसा कहा वैसे अहिंसा के लक्षण को प्राण रक्षण रूप मे नही कहा। क्योकि वे जानते थे कि—प्राण रक्षण विकल्पाधीन होने से प्रमाद के बिना सम्भव नही और प्रमाद परिग्रह है और परिग्रह हिंसा मे कारण है। इसीलिए उन्होने प्रमाद के अभाव को अहिंसा कहा। और उसे रक्षा करने आदि जैसे विकल्पो से नही जोड़ा। जैसा कि कालान्तर मे जोड़ा जाने का प्रचलन चल पड़ा और लेश्याभाव के व्यवहार का सर्वथा लोप हो गया।

हनन और रक्षण से लेश्या की व्यवहारिकता कैसे मल खाती है इसे विभिन्न आगम लक्षणो से स्पष्ट जाना जा सकता है। तथाहि—

कषायोदयरजिता योग प्रवृत्ति लेश्या।"
—राजवा० २/६

"कषायश्लेष प्रकर्षाप्रकर्षयुक्ता योगवृत्तिर्लेश्या।"
—राज वा० ९/७

"कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरूपदर्शिता।
—श्लोकवा० २/७/११

"जोगपउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणुरजिया होइ।"
गोम्मट० ४८९

"कषायोदयरजिना योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकी-त्युच्यते।"
—सर्वा० २/६

"योगपरिणामो लेश्या।
योगस्तु त्रिविधो पि कर्मोदयजन्य एवं।"
अनुयोगद्वार पर हेमचन्द्रवृत्ति सूत्र १२६

उपर्युक्त सभी लक्षण लेश्या के हैं और कषायोदयान-

(शेष पृ० ७ पर)

शोध प्रबन्ध-सार :

पुरुदेव चम्पू का आलोचनात्मक परिशीलन*

□ डा० कपूरचन्द जैन

संस्कृत काव्य को गद्य-पद्य और मिश्र इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। मिश्र रचना शैली के प्राचीनतम उदाहरण वेदों के साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों मे पाये जाते है। पालि की जातकथाओ और प्राकृत की 'कुवलयमाला' प्रभृति ग्रन्थो में इस शैली के दर्शन होते है। संस्कृत नाटको में तथा पंचतन्त्र हितोपदेश जैसी रचनाओं में गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है।

किन्तु यहां गद्य तथा पद्य का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। यहां कलात्मक भाग गद्य मे और उसका सार या उपदेश भाग पद्य मे ग्रथित रहा। जब गद्य तथा पद्य दोनो मे ही उत्कृष्टता, प्रौढ़ता और कलात्मकता आने लगी तब नवगुणानुरागी कवियो ने सम्मिलित प्रौढ़ गद्य और पद्य की कसौटी पर अपने आपको परखा, फलत: अनेक कवियों ने गद्य की अर्थगरिमा व पद्य की रागमयता मे समन्वित गद्य-पद्य मिश्रित काव्यों की रचना की। कालान्तर में यही प्रौढ़ गद्य-पद्यमयी विधा 'चम्पू' नाम से अभिहित हुई।

सर्वप्रथम दण्डी ने काव्यदर्श में गद्य-पद्यमयी काचित् चम्पूरित्यमिधीयते यह चम्पू की परिभाषा प्रस्तुत की। दण्डी का समय आलोचको ने सातवी शती स्वीकार किया है, जिससे इस अनुमान को पर्याप्त अवकाश मिलता है कि इससे पूर्व भी चम्पू रचनाए रही होंगी, जो आज भी काल के गर्त में पड़ी अन्वेषकों की बाट जोह रही है।

महाकवि हरिचन्द ने लिखा है कि गद्यावली और पद्यावली दोनों ही, पृथक्-पृथक् प्रमोद उत्पन्न करती हैं। फिर दोनों से समन्वित रचना तो बाल्य और तारुण्य से युक्त कान्ता की भांति अताह्लादक होगी, इसमे संशय नही और हुआ भी यही, दशवी शती से ही यह शैली अत्यन्त लोकप्रिय हुई, फलत: लगभग एक सहस्र वर्षों मे विपुल चम्पू काव्यों का सृजन हुआ। डा० छविनाथ त्रिपाठी ने चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन ग्रथ मे लगभग २५० चम्पू काव्यो की सूची दी है।

जैन चम्पू काव्यो मे 'सोमदेव का यशस्तिलक' हरिचन्द्र का 'जीवन्धर' और अर्हद्दास का 'पुरुदेवचम्पू' अत्यन्त प्रसिद्ध चम्पूकाव्य है। उन्नीसवीं और बीसवी शती मे भी जैन चम्पूकाव्यो का सृजन हुआ, जिसमे मुनि श्री ज्ञानसागर महाराज का 'दयोदय चम्पू' और श्री परमानन्द पाण्डेय का 'महावीर तीर्थंकर चम्पू' उल्लेखनीय कृतियां हैं। अभी हाल में श्री मूलचन्द शास्त्री ने 'वर्धमान चम्पू' की रचना की है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होकर विद्वत समाज के समक्ष जा रहा है। इनके अतिरिक्त 'पुण्याश्रव-चम्पू', 'भरतेश्वराभ्युदय चम्पू', 'जैनाचार्यविजय चम्पू' आदि सुन्दर जैनचम्पू काव्य है। जैनचम्पू काव्यों की इस परम्परा में महाकवि अर्हदास का नाम अत्यन्त सम्मान और आदर के साथ लिया जाता है।

महाकवि अर्हद्दास की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं। 'मुनिसुव्रतकाव्य' मे बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का चरित्र चित्रित है, इसमे दस सर्ग है और कथावस्तु उत्तरपुराण से ली गई है। स्वय कवि ने इसे 'काव्यरत्न' कहा है। दूसरा काव्य 'भव्यजनकण्ठाभरण' हे, जो सचमुच ही भव्य जीवों द्वारा कंठ मे आभरण रूप से धारण करने योग्य है। इसमे दो सौ बयालीस पद्य है, जिनमें अर्हद्दास ने देव-शास्त्र-गुरू और सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र का स्वरूप निवद्ध किया है।

अर्हद्दास का तीसरा काव्य 'पुरुदेवचम्पू' काव्य है।

---

* रुहेलखंड विश्व विद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत।

इसमें प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथ, आदिनाथ या पुरुदेव का चरित्र अंकित है।

तीर्थंकर वृषभनाथ का चरित्र अनेक जैन पुराणो और काव्यो में गुंथा हुआ है, प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी ही नही कन्नड जैसी दक्षिण भारतीय भाषाओं के कवियो ने भी उनके इतिवृत्त को लिखकर अपने आपको गौरवान्वित किया है। वैदिक साहित्य में ऋषभदेव का उल्लेख बहुचर्चित रहा है और वैदिक परम्परा मे उन्हें आठवां अवतार मानकर वैदिक एवं श्रमण सस्कृतियो के सह अस्तित्व का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

मानव जाति के समुन्नयन में जिन महापुरुषो का प्रमुख योगदान रहा है, उनमें तीर्थंकर ऋषभदेव अग्रगण्य है। वे आद्य कर्मोपदेष्टा और प्रथम तीर्थंकर है, जिनकी विचारधारा एवं चिन्तन का मानव-जीवन पर स्थाई प्रभाव पडा है। ऐसे महापुरुष के चरित्र को अपना वर्णन-विषय बनाने वाला काव्य निश्चय ही उपादेय है।

पुरुदेवचम्पू के गद्य व पद्य दोनो ही प्राञ्जल तथा प्रौढ रूप मे रचे गये है, यह कालिदास, हरिचन्द, वाणभट्ट जैसे महाकवियो की कृतियो से प्रभावित और तुलनीय है। इसकी कथावस्तु दस स्तवको मे विभक्त है। आरम्भिक तीन स्तवको मे ऋषभदेव के पूर्वभवो का विशद् वर्णन है, शेष मे ऋषभदेव व उनके पुत्र भरत और बाहुबली का चरित्र चित्रित है।

इसका कथाभाग अत्यधिक रोचक है, जिस पर अर्हद्दास की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पृक्त नई-नई कल्पनाओं तथा श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलकारो के पुट ने इसके सौन्दर्य को और अधिक वृद्धिगत कर दिया है।

इतना होने पर भी आधुनिक शोध की दृष्टि से यह ग्रन्थरत्न उपेक्षित ही रहा। इस पर लिखे गये शोधनिबन्धों की संख्या भी नगण्य ही है। यतः इस विषय पर शोध की महती आवश्यकता स्पष्ट है, अतः मैंने इस ग्रंथ का आलोचनात्मक रूप से परिशीलन करने का निश्चय किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को नौ परिच्छेदो मे विभक्त किया गया है, जिनमें साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, कथात्मक एवं चारित्रात्मक दृष्टि से सर्वांग विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। परिच्छेदगत सारांश निम्न प्रकार है—

प्रथम परिच्छेद में महाकवि अर्हद्दास के व्यक्तित्व का आकलन करते हुए यह निश्चय किया गया है कि वह वेद पुराणो के अप्रतिम अध्येता थे। वे जन्म पर्यन्त गृहस्थ ही रहे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे आशाधर के पास पहुंचे और उनके 'धर्मामृत' से प्रभावित होकर काव्य रचना मे संलग्न हुए। उनका समय आशाधर और अलंकार-चिन्तामणि के कर्ता अजितसैन के मध्य ठहरता है। अतः अर्हद्दास ने आशाधर का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ अपनी कृतियो में किया है और अलंकार चिन्तामणि में मुनिसुव्रतकाव्य के श्लोक उदाहृणस्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। अतः इन दोनों के मध्य अर्हद्दास का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।

आगे आलोच्य ग्रंथ की स्तवकानुसार संक्षिप्त कथावस्तु प्रस्तुत की गई है। कथावस्तु के मूल श्रोत पर विचारकर यह निश्चय किया गया है कि उन्होने जिनसेन कृत आदिपुराण से पुरुदेवचम्पू की कथावस्तु ग्रहण की है। और उसमे नाम मात्र के परिवर्तन, परिवर्द्धन किये है।

द्वितीय परिच्छेद मे काव्य-स्वरूप की सामान्य चर्चा की गई है। काव्य के भेद बताते हुए चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है। विभिन्न चम्पू-परिभाषायें देकर अन्त में कहा गया है कि यद्यपि चम्पू की निष्पक्ष और पूर्ण परिभाषा देना अत्यन्त कठिन कार्य है तथापि 'गद्य पद्य……' इत्यादि डा० त्रिपाठी की परिभाषा को उचित कहा जा सकता है। आगे चम्पू काव्य की चर्चा कर जैनचम्पूकाव्यों की परम्परा का उल्लेख किया गया है तथा यशस्तिलक, जीवन्धर दयोदय तथा महावीर तीर्थंकर, वर्धमान, पुण्याश्रव, भारत, भरतेश्वराभ्युदय, जैनाचार्यविजय आदि चम्पूकाव्यों का परिचय दिया गया है।

यद्यपि संख्या की दृष्टि से अत्यल्प ही जैनचम्पूकाव्यों का सृजन हुआ, पर गुणवत्ता की दृष्टि से जैनचम्पूकाव्य पीछे नही है। सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू काव्यों का मेरु है। जीवनधरचंपू, जहां कथातत्व की दृष्टि से अपनी समानता नही रखता, वहीं पुरुदेवचंपू श्लेष की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण चंपूकाव्य है। दयोदचंपू आधुनिक शैली पर लिखे जाने से स्वतः ही हृदयग्राही बन पड़ा है। महावीर तीर्थंकरचंपू चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन करने से

निश्चय ही उपादेय है। अन्य चंपू भी महत्वपूर्ण चम्पू काव्य है।

तृतीय परिच्छेद में पुरुदेवचंपू का काव्यात्मक अनुशीलन किया गया है। इस दृष्टि से इस काव्य में वर्णित रस, गुण, रीति, छन्द एव अलंकारों का अध्ययन प्रस्तुत है।

इस काव्य का अंगीरस शान्त है। आरम्भ के तीन स्तवकों में जगह-जगह ससार की असारता और उस असारता से विभिन्न पात्रो को दीक्षा लेकर वन मे तपस्या करते हुए दिखाया गया है। आगे भी नायक ऋषभदेव को हम संसार की असारता का चिन्तन करके विरक्त होते हुए देखते हैं। अन्यरसों मे श्रीमती मरूदेवी आदि के चित्रण मे शृंगार का, ललितांग के अवसान पर तथा युद्ध आदि में करुण का सैन्य प्रमाण तथा युद्ध मे रौद्र और वीभत्स का सुन्दर परिपाक हुआ है।

पुरुदेवचंपू का प्रधान रस शान्त होने से उसमे माधुर्य गुण की मधुरता यत्र-तत्र विद्यमान है। साथ ही बज्रदन्त और भरत की दिग्विजय-यात्रा-प्रसगों, भरत-बाहुबलियुद्ध-सन्दर्भों मे ओजमयी भाषा भी कम आकर्षित नहीं करती और प्रसाद की प्रासादिकता भी सहृदयों को बलात् आकृष्ट करती है। अर्हद्दास ने रस एवं भाव के अनुसार ही उक्त तीनो गुणो, छन्दो और अलंकारो का प्रयोग किया है।

चतुर्थ परिच्छेद में कथातत्व का निरूपण किया गया है। जब कोई घटना या विचार किसी कथानक मे बार-बार प्रयुक्त होता है तो उसे कथानकरूढि कहा जाता है। पुरुदेवचंपू की कथावस्तु पौराणिक है। अतएव अनेक पौराणिक कथा-रूढ़ियां यहांउल्लिखित है। अनेक कार्यो के एक साथ उपस्थित होने पर धर्म कार्य को प्रमुखता दिया जाना नष्ट होती आयु, बन्द होते कमल मे भौरे की देखना, सफेद बाल, विलीन हुए बादल को देखकर दीक्षा लेना आदि कथारूढ़िया यहां वर्णित है। कुछ 'प्रकरी' कथायें भी इस काव्य में आई हैं जिनका अलग-अलग विश्लेषण यहां किया गया है। धार्मिक काव्य होते हुए भी कही-कही अर्हद्दास शृंगारिकता में कण्ठ निमग्न हो गये है। लोकमंगल, उपदेशात्मकता, अद्भुत तत्वों का समन्वय, कुतूहलवृति और उदात्तीकरण की भावना इस काव्य में दिखाई देती है।

पंचम परिच्छेद में पुरुदेवचंपू के पात्रों का तुलनात्मक अनुशीलन किया गया गया है। किसी भी महान पुरुष के वर्तमान का सही मूल्यांकन करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि को देखना आवश्यक है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि आज के महापुरुष की महत्ता कोई आकस्मिक घटना नही, अपितु जन्म जन्मान्तरों में की गई उसकी साधना का ही परिणाम है। अतः पूर्वभवों का वर्णन उपयोगी है। पुरुदेवचपू के सभी प्रमुख पात्रो का अलग-अलग पूर्वभव वर्णन इस परिच्छेद मे किया गया है।

ऋषभदेव का मानवीय सस्कृति के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनका व्यक्तित्व इतना विराट है कि वह किसी सम्प्रदाय, जाति, देश अथवा काल की सीमा मे आवद्ध नही किया जा सकता है। प्राकृत भाषा मे 'सूत्रकृतांग', स्थानांग', 'समवायांग', 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' 'जम्बूदीपपण्णत्ति', तिलोयपण्णत्ति, चउपन्नमहापुरिसचरिय आदि ग्रन्थों में तथा महापुराण आदि अपभ्रंश ग्रन्थो में उनका चरित्र वर्णित है। सस्कृत का महापुराण तो ऋषभचरित का आकर ग्रन्थ है।

वैदिक साहित्य मे ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो में उनकी स्तुति की गई है। लगभग सभी पुराणो मे जताया गया है कि नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध मे ऋषभदेव का चरित्र विस्तार से वर्णित है।

कन्नड साहित्य के आदिपुराण, जिनराजस्तव त्रिषष्ठिलक्षण महापुराण, भरतेशवैभव आदि ग्रन्थो में ऋषभदेव वर्णित है। ऋषभदेव विषयिक जैन मान्यताओ मे उनके जन्म, वंश, पारिवारिक जीवन, विद्याओ का उपदेश वर्ण-व्यवस्था, प्रवज्या ग्रहण, तपश्चरण, समवसरण, निर्वाण आदि विषयों पर विचार किया गया है।

चक्रवर्ती भरत भारतीय इतिहास के प्रतापशाली राजा हैं, जिनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। जैन साहित्य मे भरत और बाहुबलि के युद्ध का विस्तृत चित्रण हुआ है। यहां उनके इस युग का तुलनात्मक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है।

छठे परिच्छेद में पुरुदेवचपू का सांस्कृतिक विश्लेषण किया गया है। यहां भौगोलिक और सामाजिक दृष्टियों से उपलब्ध सामग्री का विपद विवेचन विवेचित है।

सप्तम परिच्छेद में राष्ट्रनीति और लोकाभ्युदय का विवेचन किया गया है। राजा प्रजा के अनुरंजन के लिए तत्पर थे। वे महायशस्वी और स्वाभिमान से परिपूर्ण थे। पुरुदेवचम्पू मे सापेक्ष राजाओ की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। ये अपने जीवनकाल में ही पुत्र को राज्य-भार सौंप देते हैं। भरत-बाहुबली प्रजानुरजन के लिए सैन्य युद्ध न करके परस्पर में ही युद्ध करते है। राज्य का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता था। अवयस्क बालक को भी राज्य भार सोप दिया जाता था। राज्य मे मन्त्रियो का सम्मान था सेनापति, पुरोहित और दूतो की व्यवस्था थी, प्रजा संतुष्ट थी और सर्वत्र सुख शान्ति थी।

आठवें परिच्छेद में कला और मनोरंजन का विवेचन किया गया है। जैन साहित्य में यद्यपि चौसठ और वहत्तर कलाओं का बहुधा उल्लेख हुआ है, पर पुरुदेवचम्पू में उनकी सख्या निश्चित नही बताई गई है। चित्रकला, नाट्य, संगीत-शास्त्र आदि का उल्लेख कर, कहा गया है कि ऋषभदेव ने अन्य पुत्रों को लोकोपयोगी कलाओं का उपदेश दिया।

उत्सवों में वर्षवृद्धिमहोत्सव, अभिषेकोत्सव, राज्याभिषेकोत्सव आदि उत्सवों तथा जल-क्रीड़ा, बनक्रीड़ा धूलिक्रीडा आदि का वर्णन किया है।

नवम परिच्छेद मे उपसहार करते हुए कहा गया है कि जैनचंपूकाव्यों के विकास मे महाकवि अर्हद्दास का अवदान अनुपेक्षणीय है। अर्हद्दास की कृतियों ने संस्कृत साहित्य के विपुल भण्डार को नवीन रश्मियों का उपहार दिया है। □□

(पृ० ४ का शेषांश)

रंजित योग प्रवृत्ति से होने वाले प्राण हनन व प्राण रक्षण जेसे भावों और कार्यों से पूरा मेल खाते हैं। अन्तिम दो लक्षणो मे तो लेश्या को औदयिक भाव बतलाया जाने से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा जैसा औपशमिक, या क्षायोपशमिक भाव कषाय और योग जैसे औदयिक भावों का कार्य नही हो सकता। जबकि कषाय और योग-जन्य प्राण रक्षण जैसे उपक्रम को अहिंसा माना जा रहा है और अहिंसा के मूल अप्रमाद (अपरिग्रह) से नाता तोडा जा रहा है—परिग्रह की बढवारी की जा रही है।

हा, कदाचित् यदि आचार्य रागादिक के अप्रादुर्भाव को अहिंसा का लक्षण घोषित न करते और हिंसा के लक्षण मे प्रमाद के योग को कारण न मानते मात्र प्राण-हनन को हिंसा का लक्षण घोषित करते, तो हम ऐसा मान सकते थे कि जैसे मात्र प्राण-हनन हिंसा है वैसे प्राण-रक्षण भी अहिंसा है। पर, आचार्य ने ऐसा नही किया और सभी पापों मे प्रमाद को प्रमुखता दी। अत. यह आवश्यक है कि हम पापों के त्याग के पूर्व पापो के कारण भूत प्रमाद - परिग्रह का त्याग करे तथा कषाय और योग जन्य भाव और कार्यों को शुभ और अशुभ लेश्याओं के रूप मे स्वीकार करें। यत:-सभी सविकल्प अवस्थाओं में रागादि के अंश विद्यमान है—पाप-पुण्य का पूर्ण परिहार तो निर्विकल्प—प्रमादातीत वीतराग अवस्था में ही है, जो जैन धर्म को इष्ट है।

हम एक निवेदन और कर दें—अपरिग्रह को मूल मानकर हमने जो शास्त्रीय तथ्य उजागर किए हैं वे भले ही दया, करुणा और दान आदि के आदान-प्रदान के छलावे से यश एवं परिग्रह-अर्जन मे लगे लोगों को पसन्द न आयें—वे इसका विरोध करें, पर, हमे सतोष है कि प्रबुद्धों ने उन तथ्यो को स्वीकार कर जैन धर्म और जिनवाणी की रक्षा को समर्थन दिया है। हमारे पास समर्थन मे बहुत से पत्र आए हैं, हम सभी का स्वागत करते हैं। यदि कोई समझें और सन्मार्ग पर आयें तो हमें उनका स्वागत करने में भी हर्ष होगा—जिन्होंने परिग्रह की लालसा में जैन के मूल - अपरिग्रह की उपेक्षा के लिए, मिथ्या व प्रच्छन्नरूप से लेश्या के लक्षण को अहिंसा के लक्षण में फलितकर कु-शील (कुस्वभाव) का परिचय दिया—पांचों पापो की वढवारी की और जो अब प्रायश्चित के सन्मुख हों; अस्तु, 'सर्वे भवन्तु जैना:।'

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज नई दिल्ली-२

गतांक से आगे :

अपभ्रंश साहित्य की एक अप्रकाशित कृति : पुण्णासवकहा

□ डा० राजाराम जैन, आरा

'पुण्णासवकहा' की आद्य प्रशस्ति के अनुसार महाकवि रइधू ने प्रस्तुत ग्रन्थ भट्टारक कमलकीर्ति की प्रेरणा से लिखा है। वे कहते हैं कि हे कवि रइधू—तुम व्यर्थ में समय क्यो गंवा रहे हो ? कवित्व विनोद के साथ ही समय व्यतीत करना चाहिए। अत: तुम विशाल 'पुण्णासवकहा' की रचना करो। क्योकि पुण्णाश्रव से ही सुखसिद्धि होती है, उसके बिना मनुष्यभव दुर्लभ है। ससार में रहकर विद्वानों को ऐसे ही कार्य करना चाहिए जिससे शुभ भावों का प्रवर्तन होता रहे। कवि ने लिखा है :—

एकहि दिखि धम्माएसु दिण्णु।
भो बुह किं वासरु गमहि सुण्णु ॥
सकइत्त विणोएँ जाउ कालु।
पुण्णासउ बिरयहि जणि विसालु ॥
पुण्णासवेण सुहसिद्धि होइ।
तिं विणु माणुस भउ विहलु लइ ॥
सुहभाउ पवट्टइ जेण जेण।
तं त कायव्वउ इह बुहेण ॥
पुण्णासव १।२।४-७

कवि यद्यपि इस कार्य को श्रमसाध्य मानता है, फिर भी उक्त भट्टारक के आदेश से वह ग्रन्थ रचना में अग्रसर होता है।

उक्त भट्टारक कमलकीर्ति के विषय में मैं अन्यत्र प्रकाश डाल चुका हूं। अत: यहाँ सक्षेप मे इतना कहना ही पर्याप्त है कि महाकवि रइधू ने इन्हें अपना प्रेरक गुरू माना है और अपनी अन्य रचनाओ—अरिट्ठनेमि चरिउ, जसहर चरिउ प्रभृति ग्रन्थों में भी उनकी चर्चा की है। उनका समय कई प्रमाणों के आधार पर वि० सं० १५०६ से १५४५ के मध्य निश्चित होता है।

आश्रयदाता—

उक्त ग्रन्थ प्रशस्ति के अनुसार यह रचना महाकवि रइधू ने साहू नेमदास के आश्रय में रहकर लिखी है। साहू नेमदास के विषय मे कवि ने लिखा है कि उसके पूर्वज योगिनीपुर के निवासी थे। यह वश साहित्य सेवा को अपना महान् धर्म एव समाज सेवा को अपना पुनीत कर्तव्य समझता रहा है।

साहू नेमदास के विषय में कवि ने लिखा है कि वह अपने समकालीन राजा रुद्रप्रताप चौहान द्वारा सम्मानित था तथा व्यापार कार्यों मे अग्रसर। उसने हीरा, मोती, माणिक्य विद्रुम आदि की कई जिन-प्रतिमाओं का निर्माण कराकर तथा उनकी प्रतिष्ठा कराकर तीर्थेश गोत्र का बंध किया था। पुण्य कार्यों से अपनी ऐसी उज्ज्वल महिमा बनाई थी कि उसके सम्मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा की ज्योति भी मलिन होती हुई प्रतीत होती थी। उसने अनेक जिन-भवन बनवाए। बुधजनों के लिए तो वह चिन्तामणि रत्न ही था। उसने अपने व्यवहार से शत्रुओ को भी अपना मित्र बना लिया था। कवि ने कहा है :—

……… ………जसमरणिवासु।
संघाहिव णोमि णेमिदास ॥
अग्गेसरु णिव वावार कज्जि।
सुमहंत पुरिम पहुरूद्दरज्जि ॥
जिणबिंब अणेय विसुद्ध वोह।
णिम्माविवि दुग्गइं पहणिरोह ॥
सुपइट्ठ कराविवि सुहमणेण।
तिच्छेसगोत्तु बंधियउ जेण ॥
पुणु सुर विमाणुस मुसिहक्खेउ।
णिय पहकर पिहियउ चंदतेउ ॥

कारविउ जि जिणणाह भवणु ।
मिच्छामय मोहकसाय समणु ।।
भुवियण चिंतामणि जसमयं कु ।
वंदियण विंद थुउ खल असंकु ।।
पुण्णासव० १।५।६-१२

एक बार अवसर पाकर साहू नेमदास ने रइधू से प्रार्थना की कि "हे रइधू कवि तुम मेरे परम हितैषी हो, तुम्हारी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान है, तुम्हारे वचनामृत का पान करने से मेरे प्राण तृप्त हो जाते हैं। मेरे कथन से तुमने मेरे प्रतिष्ठा कार्यों को सम्पन्न कराया है। तुम्हारे आदेश से मैंने याचक जनो को यथेच्छ दान दिया हैं। तुम्हारे ही आदेश से मैंने जिन बिहार करवाया है। अब मेरी एक और इच्छा है कि तुम मेरे निमित्त से 'पुण्णासवकहा' नामक ग्रन्थ की रचना कर मुझे अनुग्रहीत करो जिससे मैं अपने जीवन को शाश्वत सुख-प्राप्ति की ओर मोड़ सकूं।" *यथा*—

भो रइधूव्वुह वड्ढि पमोय ।
तुम्हहं पसाएं महु विण्णि लोय ।।
संसिद्ध जाय तुहु परम मित्तु ।
तउ वयणामिय पाणेण तित्तु ।।
पइकिय पइट्ठ महु सुहमणेण ।
जाचय पूरिय धण कंचणेण ।।
उरणु तुव उवएसें जिणविहारु ।
कारा विउ मई दुरिया वहारू ।।
पइहोंति वंछिय रायल पुण्णु ।
एक्कजिज चिंता वट्टइ पसण्ण ।।
तुहु सकइत्तण फल कामधेणु ।
महु साणु रायमाणु पुथु अरेणु ।।
पइ विरइयाइं णाणा पुराण ।
सिद्धंतायम जुत्तिए पहाण ।।
पुण्णासउ हउ वयणाउं तुज्झु ।
सो हउं वंछमि इयचित मज्झु ।।
सुकयतें थप्पहि मज्झुणामु ।
जिह होइ अयलु सासउ सधामु ।।
पुण्णासव० १।६।८-१६

साहू नेमदास के इस प्रकार के आग्रह करने पर कवि ग्रन्थ की रचना आरम्भ कर देता है :—

······पुण्णासव विरयणि पुण्णु होइ ।
तुव जसु विच्छारमि एच्छुलोइ ।।
पुण्णासव० १।६।२४

कवि रइधू साहू नेमदास के स्वभाव एवं चरित्र से इतना अधिक प्रभावित था कि उसने अपने 'पुण्णासवकहा' की प्रत्येक सन्धि के अन्त मे विविध छन्द वाले संस्कृत श्लोकों में उसका गुणगान कर उसे आशीर्वाद दिया है। उन श्लोकों एवं पुण्णासवकहा की विस्तृत आदि एवं अन्त की प्रशस्ति को देखने से यह विदित होता है कि साहू नेमदास पद्मावती पुरवाल जाति के थे। उनके पूर्वज योगिनीपुर छोड़कर कालिन्दी के तीर पर बसे हुए चन्द्रवाड नामक नगर में आकर वस गये थे।

रइधू ने नेमदास की छह पीढ़ियों तक का विस्तृत वर्णन किया है और प्रसंगवश कई महत्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं। इनमें से दो सूचनाएँ बड़ी ही रोचक हैं। प्रथम तो यह है कि नेमदास के पुत्र ऋषिराम को उस समय पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई जब वे स्वयं निर्मित जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के समय उस पर तिलक निकाल रहे थे। अतः उसी उपलक्ष्य मे साहू ने अपने उस नवोत्पन्न पोते का नाम 'तिलकू' रख दिया। यथा :—

जसु जम्यागमि जिणवर बिंवहं ।
तिलव पदिण्णउ दुरिय-णिसुंमहं ।।
कुलहु तिलउ तिलकू ति वुत्तउ । ··············· ।।
पुण्णासव० १३।११।१३-१४

दूसरी मनोरञ्जक घटना यह है कि साहू नेमदास के दूसरे भाई साधारण को जब वीरदास नामक द्वितीय पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई तब उन्होने प्रसन्नता पूर्वक रइधू द्वारा विरचित 'पुण्णासवकहा' को हाथी पर प्रतिष्ठित करके बड़े ही समारोह के साथ नगर में घुमाया था।

जसु जम्मणि पुण्णासउसत्थो ।
हत्थि चडिउ पयडिउ परमत्थ ।।
पुण्णासव० १३।१२।२

कवि द्वारा उक्त उल्लेख काफी महत्वपूर्ण है। इससे यह विदित होता है कि रइधू के समय में चन्द्रवाड नगर

में लोग साहित्यकारों एवं साहित्य कृतियों को सर्वोपरि समझते थे तथा साहित्य-सम्मान समाज एवं राज्य का सर्वश्रेष्ठ उत्सव माना जाता था।

अभी तक इसी प्रकार के दो सम्मान मुझे और पढ़ने को मिले हैं। दक्षिण भारत में कन्नड कवि विजयण्ण कृत 'द्वादशानुप्रेक्षा' नामक ग्रन्थ की समाप्ति पर कवि एवं उसकी कृति का गाजे-बाजे के साथ हाथी पर शानदार जुलूस निकालकर उसका सार्वजनिक सम्मान किया गया था। इसी प्रकार गोपाचल के कमलसिंह सघवी ने भी स्वयं के लिए लिखवाये हुए 'सम्मतगुणणिहाणकव्व' एवं उसके रचयिता महाकवि रइधू को उक्त रचना की परिसमाप्ति होते ही हाथी पर विराजमान कर गाजे-बाजे के साथ कवि एवं उसके काव्य की नगर परिक्रमा कराई थी। मध्यकालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन मे इस प्रकार के उल्लेख अपना विशेष महत्व रखते है।

समकालीन राजा—

कवि रइधू ने अपने आश्रयदाता को राजा प्रतापरुद्र द्वारा सम्मानित कहा है। यह प्रतापरुद्र चौहानवंशी नरेश रामचन्द्र का पुत्र था। वह जैन धर्म एवं साहित्य का बड़ा प्रेमी था तथा उसने अपने मन्त्रिमण्डल मे कई जैनो को मन्त्रिपद प्रदान किया था। इस विषय पर मैं अन्यत्र प्रकाश डाल चुका हूं। कई सदस्यो के आधार पर राजा रुद्रप्रताप का समय वि० स० १४९८ से १५२५ के मध्य ठहरता है।

ग्रन्थकर्त्ता रइधू—

प्रस्तुत ग्रन्थ—'पुण्णासवकहा' के कर्त्ता महाकवि रइधू के सम्बन्ध मे अन्यत्र काफी प्रकाश डाल चुका हूं। अत: यहाँ उसके विषय मे विस्तृत चर्चा करना पुनरुक्ति मात्र ही होगी। फिर भी सक्षेप मे इतनी जानकारी आवश्यक है कि वे गोपाचल या उसके आस-पास के ही निवासी थे। उनकी जाति पद्मावती पुरवाल थी। सरस्वती देवी ने उन्हे स्वप्न में कवि बनने का आदेश दिया था अत: उन्होने इस दिशा में पर्याप्त अभ्यास किया और इस प्रकार सफल महाकवि बन गये।

रइधू की साहित्य-साधना का प्रमुख केन्द्र गोपाचल था। वहां के तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह ने उनकी कवित्व शक्ति से प्रभावित होकर राज्य में उन्हें काफी सम्मान दिया था तथा उनकी इच्छानुसार पिता-पुत्र दोनों ने ही गोपाचल-दुर्ग में लगभग तेतीस वर्षों तक लगातार जैनमूर्तियों का निर्माण कराया था। उत्तर-भारत की सर्वोन्नत ५७ फीट ऊँची आदिनाथ भगवान की प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा भी गोपाचल दुर्ग में उन्ही के हाथों सम्पन्न हुई थी।

रइधू ने लगभग तीस ग्रन्थो की रचना की है जिसमे से २२ रचनाए अभी तक उपलब्ध हो चुकी है। उनमें से १९ रचनाएं अपभ्रंश में, दो रचनाएँ प्राकृत मे तथा एक रचना हिन्दी मे है। कवि की अधिकांश रचनाएँ विशाल हैं। उसकी मेहेसरचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, जिवधरचरिउ मे ३-३ सौ से भी अधिक कड़वक है। अन्य अपभ्रंश रचनाएँ १०० से लेकर २५० कड़वको मे है। इसी प्रकार इनकी एक प्राकृत रचना सिद्धन्तत्थसार लगभग २००० गाथा प्रमाण है। दो रचनाएँ अत्यन्त लघु है, जिनमे से एक मे कुल १८ पद्य है तथा दूसरी हिन्दी रचना 'बाराभावना' है, जिसकी पद्यसख्या ३७ है।

कवि रइधू का यह साहित्य उत्तर मध्यकालीन भाषा साहित्य, इतिहास एवं सस्कृत आदि की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है। उसके प्रकाशन से कई नवीन तथ्य साहित्य जगत मे अवतरित होगे। प्रसन्नता का विषय है कि प्राकृत एव अपभ्रंश के वरिष्ठ महारथी विद्वान प्रो० डा० एच० एल० जैन एव प्रो० डा० ए० एन० उपाध्ये का ध्यान इस साहित्य की ओर आकर्षित हुआ है और उनकी प्रेरणा उन्ही के निर्देशन मे समग्र रइधू-साहित्य रइधू ग्रन्थावली के १५ भागो मे यथाशीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है।

कई अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर महाकवि रइधू का समय वि० सं० १४४० से १५३० के मध्य सिद्ध होता है।

महाजन टोली नं० २
आरा (बिहार)

गतांक से आगे :

पं० शिरोमणिदास कृत : 'धर्मसार सतसई'

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

अथ एकादश प्रतिमा वर्णन—

विषय सकल सौं होइ उदास, सयम सौ राखो शुभ आस ।
उदय प्रतिज्ञा दिन दिन काम,
प्रतिमा कहिए याको नाम ॥१०४॥

दोहा—आठ मूल गुण पालिकै, व्यसन त्यागि जिनमानि ।
मल पच्चीस विवर्जि कै, **दर्शन** प्रतिमा जानि ॥१०५
पांच अणुव्रत पालिकै, तीन गुणव्रत धारि ।
चउ शिक्षाव्रत मनधरौ, **व्रत** प्रतिमा यह सार ॥१०६
सामायिक तिहुंकाल करि, नियम सौ दृढ़चित्त ।
सामायिक प्रतिमा कही, यही जान तुम मित्र ॥१०७
दो आठै दो चौदसै, प्रोषध कर उत्कृष्ट ।
प्रोषध प्रतिमा यह कही, कहे वचन जिन इष्ट ॥१०८
सचित्त वस्तु सब त्यागि कै, पीवै प्रासुक नीर ।
सचित्त त्याग प्रतिमा कही, छोडै हरि तजु धीर ॥१०९

चौपाई—दोय दंड दिन ऊगै जोलौ,
अरु पुनि होय रहै दिन तोलौ ।
तासों दिन कहिए प्रमाण,
भोजन स्नान करै विधि पान ॥११०
यातै रात अवर तुम जान,
भोजन सकल तजो हित मान ।
सूक्ष्म थूल मरै जीव जहां,
मूढ़ न जानै हिंसा तहां ॥१११
रात को नीर रुधिर सम होय,
अन्न मांस सम जानो लोय ।
भूत पिशाच जे रातें चलें,
जहं तहं आनि इकट्ठे मिलें ॥११२
जेंवत (खाते हुए) लोग देख ठहराय,
अन्न अपावन करैं छिन मांहि ।
अशुचि वस्तु लै डारैं घनी,
नीच स्वभाव निशाचर जनी ॥११३
पतग अनेक परैं अकुलाइ,
सूक्ष्म जीव को रहै बढ़ाय ।
यातें पाप अवर नही कोय,
महा पाप तुम जानो लोय ॥११४
जहां वस्तु देखी नही जाय,
सो पुन रात कही समुझाय ।
रसोई रात की त्यागै व्रती,
यातै दोष न लागै रति (रत्ती) ॥११५
दिवसै पुनि छोडै निज नारि,
सो निशि प्रतिमा कही सुधारि ।
इह विधि रात्रि भुक्ति जो तजै,
षष्ठम प्रतिमा तासौं भजै ॥११६
निज पर नारी तजै जब व्रती,
नवधा शील धरै शुभ मती ।
सुगन्ध तेल भूषण शृगार,
मनोज्ञ वस्तु तजि मिष्ट अहार ॥११७
तुच्छ अहार करै तजि भोग,
प्रत्याख्यान लेइ नित जोग ।
ब्रह्मचर्य यह प्रतिमा कही,
जो पालै सो श्रावक सही ॥११८
हिंसा कर्म सकल आरम्भ,
विवाह वणिज सब छोड़ै दंभ ।
काट नखन नही अग्नि विराधै,
वस्त्र धोय नही आयुध बांधै ॥११९
पशु जीव राख न मन्दिर रचै,
अस्त्र न नित्य नही तिलकहिं रचै ॥

पत्र फूल फल लेय न हाथ,
वाहन चढ़ै न चाहै साथ ।।१२०
जंत्र मंत्र नही साधै घने,
वैद्यक ज्योतिष धातु सब मनै ।
इह विधि क्रिया भव्य जो चलै,
आठवीं प्रतिमा तासौ पलै ।।१२१
दश विधि उपधा वाह्य जु छाड़ै,
भोग उपभोग तजि इन्द्रियन डाडै ।
कटि कोपीन वस्त्र इक धरइ,
नवमी प्रतिमा जिनवर कहइ ।। १२२
विकथा चार तजै उपदेश,
हारि जीति मन धरै न लेश ।
हिंसा कर्म वचन नही भासै,
क्षमा भाव सबही सो राखै ।।१२३
मोह काम तजि मान निवारि,
क्रोध, लोभ, माया, मद जारि ।
इह विधि क्रिया चढ़ै गुणवत,
प्रतिमा दशमी लहै तुरन्त ।।१२४
माटी काठ को पात्र जु लोइ,
शौच हेतु पुनि राखे सोइ ।
पीछी जीव दया हित लेइ,
दृष्टि देखु धरनी पगु देइ ।।१२५
कटि कोपीन लुचि विधि पूरो,
तजि ग्रह वास तपस्या सूरो ।
पाणि पात्र भोजन शुभ करै,
पच धरा फिर नियामा धरै ।।१२६
अस्थि चर्म जीव वध जो देखे,
मांस रुधिररी दुगंधा पेखै ।
प्रत्याख्यान क्षीण होय तहां,
अंतराय पुनि मानै जहां ।।१२७
इह विधि क्रिया चलै आचार,
सो एकादश प्रतिमा धार ।
ये प्रतिमा सक्षेप वखानि,
कहें शिरोमणि सुनि जिनवर वाणी ।।१२८
षट् प्रतिमा लौं होइ जघन्य,
सातै, आठै मध्यम गन्य ।
प्रतिमा दशमी ग्यारहमी जानि,
उत्तम श्रावक कहो बखानि ।।१२९
।। इति एकादश प्रतिमा ।।

अथ पात्र वर्णन—
प्रथम पात्र पुनि दान विचारी,
पुनि विधि कहौ सुनो हितकारी ।
यथाख्यात चारित्र को धारी,
सो मुनि महापात्र गुणधारी ।।१३०
अभ्यतर वाहिज (वाह्य) तप शुद्ध,
वनवासी तप चारी बुद्ध ।
वीस चार उपधी कौ त्यागी,
देह भोग संसार विरागी ।।१३१
अष्टावीस मूल गुण पालै,
सहैं परीसह चित्त न चालै ।
छटै सातै गुणथानै रहै,
उत्कृष्ट पात्र श्री जिनवर कहै ।।१३२
एकादश प्रतिमा जु कही,
श्रावक पालै मन वच सही ।
पंचम गुण स्थान चढ़ै गुणवत,
मध्यम पात्र सो होय तुरन्त ।।१३३
दया क्रिया नही पालै रंच,
इन्द्रिय मन पुनि करै न खंच ।
है केवल दृढ़ता जिनवाणी,
श्रद्धा भक्ति करै गुण जानी ।।१३४
मिथ्यात्व सकल छोडै निज हेतु,
समकित गुण सौ धरै सुचेत ।
चढ़ि चौथो गुण थानै धीर,
जघन्य पात्र सो जानो बीर ।।१३५
समकित भेद न जानै जो लौं,
कोटिक व्रत तप करइ जु तोलौं ।
बंध मोक्ष को भेद न पावै,
सो कुपात्र यह तुरत कहावै ।।१३६
व्रत आचार कछु नहीं करै,
समकित भाव न मन में धरै ।
महा मिथ्यात्वी विषयनि लीन,
तासौ अपात्र कहौ यह चीन्ह ।।१३७
।। इति पात्र वर्णन ।।

अथ दान गुण दोष वर्णन—

दोहा—दूषण पंचहु त्यागि कैं, भूषण पचहु वास।
गुण सात हूं सुनि दान के, नव बिधि पुण्य प्रकास॥१३८

अथ दूषण—

विलम्ब विमुख अप्रिय वचन, आदर चित्त न होय।
देकरि पश्चाताप करि, दूषण पचहु सोय॥१३९

अथ भूषण—

आनंद आदर प्रिय वचन, जनम सफल निज मानि।
निर्मल भाव जु अति करै, भूषण पंचहु जानि॥१४०

अथ गुण—

श्रद्धा ज्ञान अलोभता, दया क्षमा निज शक्ति।
दाता गुण ये सप्त कहि, करै भाव सौं भक्ति॥१४१

अथ नव प्रकार पुण्य—

चौपाई—पात्रहिं पड़गाहै कर जोडि,
चऊ आसन जु धरै समोरि।
चरण धोय बंदै तसु पाय,
पुनि सो विधि सौ पूज कराय।१४२
मन वच काय रसोई शुद्ध,
नव विधि पुण्य कहो सुनि बुद्ध।
पुनि सुनि मल चउदह दुखदाई,
ए पुनि दान न दीजे भाई॥१४३

अथ चउदह मल वर्णन—

कंद मूल फल हरित जु होय,
पान फूल बहुबीजा सोय।
मांस रुधिर जो सगति भयो,
रोम, चाम, जीव वध तह छयो॥१४४
छांडह स्वाद फफूडा लगै,
होइ दुर्गंध बहुत दिन पगै।
ए चउदह मल वर्जित होय,
निर्मल दान कहावै सोय॥१४५

अथ दान और फल वर्णन—

आहार दान दीजे शुभ पोष,
होय ऋद्धि पुनि छोटे दोष।
भव भव सुख मिलै अति घनै,
निर्मल देह सुभग द्युति बनै॥१४६
ज्ञान दान दीजै शुभ सार,
उत्तम मति होय जातैं सार।
केवल ज्ञान लहै जग पूजा,
पुनि सो सिद्ध होय पद दूजा॥१४७
औषधि दान देय जो ज्ञानी,
नीरोग देह सो पावहिं प्राणी।
दीरघ आयु मिलै शुभ काय,
कीरति है तिहुं जग में छाय॥१४८
अभय दान सब जीवनि देय,
जातें इन्द्र चक्री पद लेय।
बहुत भोग भुगतै सुख पाय,
पुनि सो होय मुकति पति राय॥१४९
सूकर नौरा बांदर वाय,
कुरजी वए बहु दुखदाय।
दान भाव जो मन में भयो,
छिन में भोग भूमि पद लियो॥१५०

दोहा—जो नर उत्तम भाव सौं, पात्र दान शुभ देय।
सो महिमा को गनि सकै, गणधर आपु कहेय॥१५१

चौपाई—उत्तम पात्र त्याग फल जानि,
तद्भव मोक्ष होइ सुख खानि।
कै फल भोग भूमि मे लहै,
तीन पल्ल की आयु जु कहै॥१५२
तीन कोस देह ऊंचो होय,
महा सुगध मल वर्जित सोय।
देह दीप्ति दीसै प्रकाश,
चन्द्र सूर्य तहं करै न वास॥१५३
ग्रीषम, वर्षा, शीतु न जहां,
साम्य काल इक दीसै तहां।
ठाकुर दास भाव नहीं जोग,
एक समान भुगतैं सुख भोग॥१५४
ईति भीति चिंता नहीं शोक,
जरा, रुजा, भव दोष न लोक।
क्रोध लोभ माया मद नहीं,
पाप पुण्य नहीं जानै तहीं॥१५५
दशविधि कल्पवृक्ष सुख देय,
जुगल रूप धरि बहु सुख लेय।

तीन दिवस जब बीतै जबहीं,
पुंगी (सुपारी) समान आहार लै तवही ॥१५६
आलस निद्रा श्रम नही खेद,
रात दिवस दीसै नही भेद।
मध्यम पात्र दान फल कहै,
मध्यम भोग भूमि सुख लहै ॥१५७
आयु पल्ल होय भुगतै जहां,
कोस दोय देह है उन्नत तहां।
अवर भोग सब इह विधि सार,
आरज भुगतै सुख अपार ॥१४८
जघन्य पात्र दान फल जोग,
पावहि जघन्य भूमि के भोग।
एक पल्ल तहं आयु जु होय,
एक कोस तनु जानो सोय ॥१५६
भाजन भूख न वस्त्र अहार,
मन वांछित फल भुगतै सार।
इह विधि आयु सब पूरी करै,
पुण्य तें देव लोक पद धरै ॥१६०
॥ इति तीन पात्रदान फल वर्णन ॥

अथ कुपात्र दान फल वर्णन—
नीच जाति जो तनु लहै,
कुपात्र दान फल तासो कहै।
हाथी घोड़े दासी दास,
देश कोस बहु सुख मे वास ॥१६१
करहि पाप नर अति सुख पाय,
नीच स्वभाव न छांडै जाय।
करहि विनोद रंग रति मान,
षट् ऋतु सुख भुगतै चित तानि ॥१६२
जे तिर्यंच सुखनि में लीन,
कुपात्र दान फल जानो प्रवीन।
अपने स्वारथ परहि सतावै,
पुन ते मर दुर्गति दुख पावै ॥१६३
॥ इति कुपात्र दान फल वर्णन ॥

अथ अपात्र दान फल वर्णन—
सर्पहि दूध पियावहि रूढ़,
विष कौं करहि न जानहि मूढ़।
त्यों अपात्र दान दुख देय,
दाता भवभव दुर्गति लेय ॥१६४
ऊसर वरसै फल नहीं होय,
पाथर नाव तिरै नहीं कोय।
दुर्जन संगति गुण नही लहै,
विषयी पोख न धर्महि लहै ॥१६५
दोहा—छिपनी केला सर्प मुख, स्वाति बूंद जल पाय।
मोती शुभ कर्पूर पुनि, विष उपजै दुखदाय ॥१६६
सोरठा—जल बरसै अति घोर, भूमि परै सब में जगै।
जहं जैसो गुण जोर, तहं तैसो फल सो लहै ॥१६७
अंध कूप घन डारिए, हु भलौ करि जानि जे।
अपात्र दान मति वारि, जिनवर सीख जु मानिजे ;।१६८
दोहा—कुदान कबहु न दीजिए, दिए पाप अति होय।
दुर्गति में सशय नही, भवभव भटकै सोय ॥१६६
॥ इति अपात्र दान फल वर्णन ॥

अथ जल गालन क्रिया—
चौपाई—सात लाख जल योनि भए,
अरु अनत त्रस तामे भए।
त्रस की दया जानि जल गालि,
यह आचार करहु व्रत पालि ॥१७०
दीरघ हस्त सवा के जानि,
पनहा (अर्ज) एक हस्त के मान।
नूतन वस्त्र पुनि दूनौ करै,
इह विधि गालि धर्म व्योपरै ॥१७१
दोय दण्ड जल गालो रहै,
पुनि सो अनंत राशि अति लहै।
जब जब जल लीजै निज काम,
तव तब जल छानौ निज धाम ॥१७२
जो जल छानि छानि घट धरौ;
पुनि सो जल, जल में लै करो।
एक बूंद जो धरनी परै,
अनंतराशि जीव छिन में मरै ॥१७३
सोरठा—ढीमर पारिधि जानि, जुग जुग पाप जु जे किए।
इत उत एक प्रमान, अनगाल्यो बूंदक पिये ॥१७४
चौपाई—याम युगल प्रासुक जल रहै;
अष्ट प्रहर तासो (तो) निर्वहै।

इतनी वेरा (ला) उलंघै जबी,
सन्मूर्छन जीव उपजै तबही ॥१७५

दोहा—वेरा(ला) अधिक न रखिए, गालै दोष नु होय।
डारै तें हिंसा बढ़ै सु बेरा (ला) राखो सोय ॥१७६

चौपाई—अनगालै जल स्नान जु कीजै,
होय पाप पुनि धर्महि छीजै।
उत्तम क्रिया तेही की सार,
जो जल गालै विधि सो ढार ॥१७७

सोरठा—जो नर उत्तम होय जो, जल गालै युक्ति सौं।
सांची दया जु सोय, जिनवर कही सु उक्ति सो ॥१७८

॥ इति जल गालन क्रिया वर्णन ॥

अथ अंथऊ (सध्या भोजन) क्रिया वर्णन—

दोहा—जो नर अंथऊ पाल ही, क्रिया जानि पुनि सोय।
सो विधि प्रतिमा मे कही फिर वर्णन नही होय ॥१७९

॥ इति अंथऊ क्रिया वर्णन ॥

अथ रत्नत्रय क्रिया वर्णन—

सत्य जिनेश्वर वाणी मानै,
हेयाहेय सुलक्षण जानै।
मिथ्या मारग छोड़ै सग,
निःशंकित यह जानहु अंग ॥१८०
व्रत तप जाप पुण्य बहु कियो,
तीरथ यज्ञ सु दान जु दियो।
ताको फल बांछै नही धीर,
सो निःकांछित जानहु वीर ॥१८१
विद्या ज्ञान उदो सब जानि,
साधु शरीर न मानो ग्लानि।
तृतीय अंग कहिए सुख धाम,
निर्विचिकित्सा याको नाम ॥१८१
देव शास्त्र गुरु लक्षण जोइ,
गुण दोष न पहिचानै सोइ।
तीन मूढ़ त्यागै सुख लहै,
अग अमूढ़ दृष्टि यह कहै ॥१८३
पर दोष नही भासै रंच,
जो पुनि देखे करै न खंच।
उपगूहन यह अंग कहावै,
पंचम गुण दर्शन को पावै ॥१८४
तप व्रत क्रिया चलत जो देखै,
महिमा कर्त्ता व्रत को पोखै।
धीरज देकरि करै सहाय,
स्थितीकरण यह अंग जु आय ॥१८५
धर्मवंत व्रत तप जप लीन,
कर्म जोग तै भयो जु छीन।
ताको सहाय करै गुणवंत,
यह वात्सल्य अंग शुभ संत ॥१८६
जिनवर धर्म जातै शुभ चलै,
महिमा करि मिथ्यात्वहि गलै।
बहुत हर्ष सौं करहि करावै,
यह प्रभावना अंग कहावै ॥१८७
ये आठहु गुण दर्शन जानो,
पुनि आठ ज्ञान के मानो।
तेरह अंग चारित्र गुण वास,
यह रत्नत्रय भव दुख नाश ॥१८८

॥ इति रत्नत्रय क्रिया वर्णन ॥

ये त्रेपन क्रिया अनुराग,
जो पालै उत्तम बड़भाग।
षोडश स्वर्ग इन्द्रपद धरै,
पुनि सो मुक्ति रमणी को वरै ॥१८९

दोहा—सकल सभा मन हर्षियो, सुनि गणधर के वैन।
श्रेणिक सुख मन अति भयो, सुधरो धर्म दृढ़ जैन ॥१९०
भव भव जिन शासन मिलै, सकल कीर्ति मुनिदेय।
पंडित शिरोमणि दास कौं, दीजो जिनकी सेव ॥१९१

इति श्री धर्मसार ग्रथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति उपदेशात् पंडित शिरोमणि विरचिते त्रेपन क्रिया वर्णनो नाम तृतीय संधिः समाप्तः।

'कस्तूरी मृग'

☐ डा० (कुमारी) सविता जैन

न जाने किस चीज की तलाश में,
वर्षों से भटक रही हूं मैं।

अनेक युगों से,
अनेक भवों मे,
जी और मर रही हूं मैं।

अक्सर सोचती,
यह कुछ और नहीं,
केवल ज्ञान-पिपासा है;
और मैं स्वय को,
गागर में ज्ञान-सागर की,
अथाह जल-राशि भरे हुए,
भारी-भरकम ग्रन्थों में डुबो देती।

किन्तु वर्षों के अध्ययन के बाद भी,
स्वयं को वहीं-का-वहीं खड़ा पाती।

बल्कि महसूस करती,
कि मेरी तलाश कुछ और बढ़ गई है।

तब ज्ञान को छोड़,
मैं भक्ति का मार्ग अपनाती;
न जानें कितने,
तीर्थों की खाक छानती।

किन्तु वर्षों की यात्रा के बाद भी,
जहां से चली थी,
वहीं पहुंच जाती।

फिर वहीं महसूस करती,
पाती कि तलाश कुछ और बढ़ गई है।

एक दिन,
अपनी इसी पराजय पर,
ग्लानि और अवसाद में डूबी,
पद्मासन में बैठी,
अर्ध उन्मीलित नेत्रों से,
पर से उदासीन हो,
निज में झाँक रही थी,
कि अचानक,
न जाने कहां से,
हवा का एक तीव्र झोका आया,
और अपने साथ,
समस्त विषाद को बहा ले गया।

तभी सहसा,
भीतर से झिलमिलाई,
चिर आनन्द,
चिर स्वतन्त्र,
आत्म की एक किरण।

तब मैंने जाना,
जिसकी तलाश मे,
युगों से भटक रही हूं,
८४ लाख योनियो मे,
जी और मर रही हूं,
वह तो कस्तूरी मृग की भांति,
मेरे ही अन्तर मे,
विद्यमान है।

७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन विद्याओं में शोध : एक सर्वेक्षण

□ डा० नन्दलाल जैन

यह माना जाता है कि जैनधर्म प्रागैतिहासिक द्रविड़ संस्कृति का प्रतीक है। इसके सिद्धान्त मानव के प्रारंभिक ज्ञान व विचारधारा को निरूपित करते हैं। इसके विषय में पूर्व और पश्चिम के विद्वानों मे पर्याप्त मतभेद रहा है पर अब स्थिति स्पष्ट हो गई है। अब इसे अन्य धर्मों से पृथक् एवं स्वतंत्र माना जाता है। यह महावीर से हजारों वर्ष पूर्व (कृष्ण-युग) तक स्वीकृत हो चुका है। इसका अध्ययन भारत के बहुमुखी विकास को समग्ररूप में समझने में सहायक है। इसीलिये विभिन्न विश्वविद्यालयों के अनेक विभागों में इसका सम्मिलित अथवा स्वतन्त्ररूप से अध्ययन-अध्यापन निरन्तर बढ़ रहा है। इस दिशा में अनेक भारतेतर देश भी आगे आ रहे है। इसके महत्व को दृष्टि में रखते हुए अब अनेक स्थानो पर जैन विद्या नाम से नये विभाग खोले जा रहे है जहां इससे संबंधित सामान्य एवं तुलनात्मक अनुसंधान भी किये जाने लगे हैं। बौद्धों की भाषा पालिके समान जैन वाङ्मय की प्रमुख भाषा प्राकृत है। इस भाषा के नाम से भी नये विभाग चालू हो रहे है। इससे एक लाभ यह हुआ है कि जैन विद्याओ के अन्तर्गत भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसन्धान भी चालू हो गया है।

अध्ययन-अध्यापन और अनुसधान का अन्योन्याश्रय संबंध है। ये दोनो पत्रिकायें एक-दूसरे के विकास तथा ज्ञान के नये क्षितिजो के उद्घाटन मे सहायक है। आगम प्रामाण्य और सर्वज्ञता की धारणाओ के कारण भारत मे आत्मानुसंधान की जो भी प्रगति रही हो, लेकिन व्यवहारोपयोगी विद्याओं के प्रति माध्यस्थभाव ही दृष्टि-गोचर होता है। इसीलिये इन विषयों का विकास अवरुद्ध-लगता है। इस लेखक तथा अन्य विद्वानों ने जैन ग्रन्थो में वर्णित अध्यात्मेतर विषयो के अध्ययन से यह निष्कर्ष पाया है कि यदि अकलकोत्तर सदियों में भी इन विषयो पर स्वतंत्ररूप से विचारण अविरत रहती, तो यह सम्भव है कि पश्चिम ने जो विचारों की शृंखला सोलहवीं सदी के बाद प्रस्तुत की है, वे दसवीं सदी तक ही विकसित हो चुके होते और भारत की बौद्धिक गरिमा उत्कृष्ट बनी रहती। समुचित संप्रसारण से विश्व की विचारधारा में आज से काफी प्रगति होती।

यह प्रसन्नता की बात है कि बीसवीं सदी में पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों का ध्यान जैन विद्याओं में वर्णित अध्यात्मेतर विषयों की ओर भी गया है। वे इसे तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी उद्घाटित कर रहे हैं। इससे जैन विद्याओ के भारतीय संस्कृति, कला, साहित्य, इतिहास एव ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में किये गये योगदान के महत्त्वपूर्ण पहलुओं ने विश्व के अनेक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। इससे अनुसन्धान एवं ज्ञानवर्धन के नये क्षितिज उभरे हैं। इससे जैन विद्याओं का महत्व बढ़ा है। यही कारण है कि जैन विद्याओं के शोधकर्ताओं में जैनेतरों की सख्या दो-तिहाई तक पहुंच गई है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इस क्षेत्र की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

अनुसधान के रूप -

अनुसंधान के मुख्यतः दो रूप हैं— एक वह जो किसी उपाधि हेतु किया जाये या जिस पर उपाधि मिल गई हो। दूसरे रूप में वह अनुसधान है जो उपाधि-निरपेक्ष एवं समय निरपेक्ष भी हो। प्रथम रूप अनुसंधान-विधा का एक प्रशिक्षणात्मक अनुभव है। इसमें शोधप्रक्रिया के विविध चरणो-विषय चुनाव, प्रस्तुतीकरण या प्रयोगविधि एव समालोचनात्मक विश्लेषण का अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रिया में अध्ययनशीलता, मनन एव सार्थक लेखन की प्रवृत्ति विकसित होती है। इस रूप में विषय वस्तु एवं ज्ञान-गरिमा का निखार होता है। वर्तमान युग

में इसी रूप को उत्तम माना जाता है। यही कारण है कि प्राय: पी०एच्०डी० प्राप्त विद्वान् अपने उपाधि-निरपेक्ष शोधकार्यों को मान्यता देते प्रतीत नहीं होते। 'पंडित परम्परा के योगदान' पर आयोजित एक संगोष्ठी में यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई थी। सम्भवत: इसीकारण, जब भी शोधकार्य का समाकलन होता है, तब उपाधिपरक शोध का ही विवरण मिलता है, उपाधि निरपेक्ष शोध या शोध कर्त्ताओं के अनुसंधान-क्षेत्रों या महत्वपूर्ण कृतियों का सामान्य निर्देश तक नहीं किया जाता। यह प्रवृत्ति बहुत रुचिकर नहीं प्रतीत होती और न ही यह शोध का पूर्ण विवरण ही प्रस्तुत कर पाती है।

भारत में उपाधि निरपेक्ष शोध से ही 'जैन विद्यायें' पल्लवित हुई हैं। इस कोटि में विषय वस्तु और ज्ञान गरिमा का अनूठा रूप देखने को मिलता है। यह शोध स्वान्त: सुखाय होती है और जीवन के लक्ष्य के रूप में होती है। आजीविका इसका गौण लक्ष्य होता है। नाथूराम प्रेमी, मुख्तार सा०, परमानन्द शास्त्री, दलसुख भाई, मुनि कान्ति सागर, बालचंद्र एवं फूलचंद्र शास्त्री, अगरचंद्र नाहटा, बालचद्र और कुंदनलाल जैन आदि के नाम किसे श्रद्धाप्रेरित नही करते ? आज भी अनेक शोध-विद्वान् प्रकाशस्तम्भ बने हुए हैं। इनमे जी० आर० जैन, मुनि महेन्द्र कुमार, एल० सी० जैन आदि सुज्ञात है।

शोध के ये दोनो ही रूप 'जैन विद्याओं को प्रकाशित करते हैं। इन्हें एक-दूसरे का पूरक और संवर्धक मानना चाहिये। इसलिए लेखक का सुझाव है कि जैन विद्या शोध विवरणिकाओं में उपाधि निरपेक्ष एवं उपाध्युत्तर शोध का भी विवरण होना चाहिए।

शोध का संचरण—

वर्तमान युग में अनुसंधान कार्य का जितना महत्व है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य है—उसका समुचित रूप में संचरण। यह न केवल पूर्व-कृत शोध की जानकारी देता है, अपितु यह शोध के नए क्षितिजों की ओर संकेत भी देता है। आज ज्ञान का सचरण अनेक रूपों मे किया जा सकता है :

(अ) **शोधकार्यों का समुचित रूप में प्रकाशन–** इसका एक रूप है। इस विधा में दो कठिनाइयां अनुभव में आई हैं। प्रकाशित शोध-प्रबंध का मूल्य अधिक होता है। दूसरे, अधिकांश शोध प्रबंध असपादित एवं असंक्षेपित ही प्रकाशित होते हैं। इन्हें लिखने की विधा के जानकार यह कहते हैं कि संपादन से प्रवन्ध दो-तिहाई रह जाता है जिससे उसकी ग्राहकता एवं उपयोगिता बढ़ जाती है।

(ब) **शोध-संगोष्ठियां परिसंवाद**—शोध-सचारण के दूसरे माध्यम हैं। इनमें पठित शोधपत्रो का सपादित प्रकाशन ऐसे आयोजनों का एक अनिवार्य अंग होना चाहिए। पूना और उदयपुर ने इस दिशा मे उदाहरण प्रस्तुत किया है। अनेक आयोजनों मे पठित शोधपत्रो की प्रकाशित या साइक्लो-स्टाइलित प्रतियों के वितरण की परम्परा देखी गई है। यह भी और भी अच्छा होता कि इनके बदले इनका एकीकृत पुस्तकाकार रूप ही वितरित किया जाता।

(स) **शोध संक्षेपिकाएं**—भी शोध-संचरण का एक रूप है। वैज्ञानिक विषयो मे विश्व के किसी भी भाग में होने वाली शोध के सार-सक्षेप को प्रकाशित करने वाली पत्रिकायें (जैसे केमिकल एक्स्ट्रेक्ट) राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं द्वारा प्रकाशित कर अल्पमूल्य में ही खडश: शोधकर्ताओं में प्रसारित की जाती है। जैन विद्याओं के क्षेत्र मे यह परम्परा प्राय: अज्ञात है। **जैन संदेश शोधांक** ने इस दिशा में नेतृत्व किया था, पर उसके सीमित प्रमाण हो अब तक प्रकाशित विवरणिकाओं में उसका नामोल्लेख नही हो सका। अब तो वह भी बद हो गया है। जैन विद्या के क्षेत्र मे, वर्तमान मे, अनेक राष्ट्रीय एव अतर्राष्ट्रीय मान्यता की स्वायत्त-सस्थायें कार्यरत हैं। इनमें से कम-से-कम एक संस्था को अपनी प्रकाशित पत्रिक पत्रिका को 'जैन शोध वार्षिकी' के विशेषाक के रूप में अथवा स्वतन्त्र प्रकाशन के रूप में 'शोध-सार' क्रम से निकालना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि यह संस्था प्रत्येक शोध प्रबंध की माइक्रोफिल्म का फोटोकापी प्राप्त करें और उसका सक्षेपण करायें। इस समय औसतन जैन विद्या में पच्चीस शोधोपाधियां प्रति

वर्ष मिल रही हैं। इनके लिये उपरोक्त कार्य में प्रायः पांच हजार रुपये प्रति वर्ष खर्च होने का अनुमान है। नव-स्थापित बी० एल० इन्स्टीट्यूट, दिल्ली यह कार्यक्रम नियमित रूप से अपनायें, तो उसकी महत्ता और उपयोगिता ही बढ़ेगी।

(द) **शोध-नाभिकायें**-भी शोध-संचरण करती है। इस दिशा में डा० जैन का कार्य उल्लेखनीय है। उन्होने अनेक राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो के अवसर पर जैन विद्याओं मे कृत एव क्रियमाण शोध की नाभिकाये संकलित कर अनेक पत्रिकाओं के सामान्य या विशेषाको मे प्रकाशित की है। इनमे एक सकलन १९७३ मे 'महावीर और उनकी विरासत' मे भी प्रकाशित हुआ है। इसका आधार विभिन्न विश्वविद्यालय रहे हैं। इसमे आठ प्रान्तो के छब्बीस विश्वविद्यालयो की २०४ शोधो का विवरण था। जैन ने एक संगोष्ठी में इसको विषयवार वर्गीकृत कर समीक्षा प्रकाशित की है एवं युगानुरूप शोध के अज्ञात का उपेक्षित क्षेत्रो मे अनुसन्धान का सुझाव दिया है। वर्ष १९८३ में उन्होंने पुनः पूर्व-परंपरा के अनुकरण में एक अन्य शोध नाभिका प्रकाशित की है जब कि काशी से ही एक अन्य शोध.नाभिका पुस्तक विषयवार क्रम के आधार पर प्रकाशित हुई है। डा० जैन की नाभिका 'अ' श्रमण-संकाय पत्रिका के अग के रूप में है तथा हिन्दी-अंग्रेजी में है। पुस्तक-नाभिका 'ब' अग्रेजी मे है और उसमे बौद्ध शोध-नाभिका भी है। नाभिका 'अ' मे कृत और क्रियमाण शोध-विवरण है जब कि नाभिका 'ब' केवल कृत शोध को ही लक्ष्य में रखकर तैयार की गई है। जैन विद्या शोध की दृष्टि से नाभिका 'अ' अधिक उपयोगी दिखती है। फिर भी, दोनों ही बहुमोली है। इसमे उपाधि निरपेक्ष शोध का विवरण नही है और न ही पूर्वोक्त विषयवार गुणात्मक एवं परिमाणात्मक समीक्षा का उल्लेख है। यदि दोनों ही नाभिकाओं को कृतशोध के आधार पर आंका जावे, तो आंकड़ों में अन्तर दिखता है। उदाहरणार्थ, नाभिका 'अ' में इस श्रेणी में जहां ३४१ नाम हैं वहीं 'ब' में कुल ३२४ नाम ही हैं (संभवतः यह कुछ पहले प्रकाशित हुई होगी। नाभिका 'अ' कुछ अपूर्ण भी लगती है। उसमें डा० रायनाडे (बनारस), डा० एस० के० जैन (कुरुक्षेत्र) तथा डा० उषा जैन (जबलपुर) आदि के नाम नहीं हैं। पंजीकृतो में भी रीवा की सा० प्रियदर्शना श्री, सा० सुदर्शना श्री व श्रीमती सरला त्रिपाठी, काशी के कमलेश जैन तथा डा० सी० जैन तथा संस्कृत विश्वविद्यालय की प्रकाशित सूची के नाम नही है। स्वविवेक का ऐसा उपयोग समझ में नहीं आया। अनेक नाम। विषयो मे पुनरावर्तन भी है। यदि किंचित सावधानी बरती जाती और कुछ प्रयत्न किया जाता, तो इसकी गुणात्मकता और अच्छी होती। यद्यपि यह १९७३ की नाभिका की तुलना मे पर्याप्त प्रगत है, इसमे १५ प्रान्तों के ४९ विश्वविद्यालयों के ४२९ शोधों का विवरण है, फिर भी इसके आंकड़े शताधिक विश्वविद्यालयों के आधार पर अपर्याप्त ही माने जावेंगे। इसमें आठ प्रदेशों एवं आठ केन्द्र शासित क्षेत्रों के सम्बन्ध में कोई विवरण नही है। इसमे प्रकाशित शोध प्रबंधों की सूचना तो है, पर प्रकाशन या प्राप्ति स्थान का उल्लेख नही है। मूल्य भी नहीं है। शोध निर्देशक के नाम भी नही है। ये तथ्य दोनों ही नाभिकाओं मे लागू होते हैं। यह उत्तम होगा यदि भविष्य में इन बातों पर ध्यान रख कर प्रकाशन किया जावे।

जैन विद्या शोध की प्रगति का विश्लेषण—

उपरोक्त अनेक अपूर्णताओ के बावजूद भी, दस वर्षों के अंतराल मे प्रकाशित नाभिकाओं के अध्ययन मे भारत में जैन विद्या शोध की वर्तमान स्थिति, प्रगति का वेग तथ्य दिशाओं की विविधताओ मे वृद्धि का आभास होता है। सारणी १, २ ३ मे दोनो नाभिकाओं (अ) पर आधारित तुलनात्मक आंकड़े दिये जा रहे हैं। इनमें नाभिका 'ब' के विषयो का संक्षेपण किया गया है। इनके प्रायः आधे विषय ललित साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इनके विश्लेषण से हम वर्तमान स्थिति के साथ आगामी वर्षों के लिये शोध-दिशाएं आकलित कर जैन विद्याओं की महत्ता को और भी प्रकाशित कर सकते हैं।

सारणी १. जैन विद्याओं तुलनात्मक (१९७३—८३) में शोध : आंकड़े

(अ) सामान्य	१९७३	प्र० शत	१९८३ : अ	प्र० शत	१९८३ : ब	प्र० शत
१. प्रदेश	८		१५			—
२. विश्ववि०	२५		४९			—
३. शोधकर्ता	२०४		४२९		३२४	—
(अ) जैन	९०		८८			—
(ब) जेनेतर	११४		३४१			—
(स) पजी०	८८		८८			—
(द) उपाधि प्राप्त	११६		३४१		३२४	
४. शोध-प्रवध प्रकाशन	३२	१५.६	६८	१५.८५	३९	—

(ब) **विषयवार शोधकर्ता—**

विषय	१९७३	प्र० शत	१९८३ : अ	प्र० शत	१९८३ : ब	प्र० शत
१. ललित साहित्य	१०२	५०	१७५	३९	१५०	४६.२
२. न्याय/दर्शन	२७	१३	३९	९	४४	१३.६
३. भाषा (प्रा०, अ०, वितान)	८	४	३४	८	—	—
४. आगम	१०	५	१२	५	७	२.२
५. नीति, आचार, धर्म	१०	५	४२	९.५	१२	३.७
६. व्यक्तित्व-कृतित्व	११	५	२७	५.९०	२३	६.९
७. कला, पुरातत्व	१०	५	१२	२.६०	—	—
८. इतिहास			३३		—	
९. राजनीति			६		४	
१०. अर्थ-शास्त्र			४		—	
११. समाज-शास्त्र			४		—	
१२. भूगोल			१		—	
१३. मनोविज्ञान			२		—	
१४. शिक्षा			१		—	
१५ आधुनिक विषय (८-१४)	६	३.०	५१	१६.५	४६	(७-१४) १४.२०
१६. तुलनात्मक अध्ययन	१०	५.०	३३	७.७	४०	१२-३
१७. विज्ञान	४	२.०	५	१.२	२	०.६
१८. विविध	६	३.०	०		०	
	२०४		४२९		३२४	

(अ) **शोध और प्रकाशन—**

सारणी १ से स्पष्ट है कि पिछले दस वर्षों में जैन विद्याओं में शोधकर्ताओ की सख्या दुगुनी से अधिक हो गई है। जैनेतर विद्वान् इस क्षेत्र मे अधिकाधिक सख्या मे रुचि ले रहे है। दस वर्ष पहले जहां इनका अनुपात १ : १ २५-२११, वही अब १ : २-८३ हो गया है। इसके विपर्यास मे, शोध प्रवन्ध प्रकाशन की स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। यह प्राय: १५.७ प्रतिशत ही है। इस प्रकार, जहा जैन विद्याओं का शोध प्रतिशत बढ़ रहा है, वहां इसके सप्रसारण की स्थिति शोचनीय है। इसे सुधारने की आवश्यकता है।

(ब) **शोध क्षेत्र**

सारणी २ से प्रकट होता है कि जैन विद्याओ के शोध क्षेत्र की दृष्टि से उत्तर प्रदेश का प्रथम स्थान है जहां ३५.६ प्रतिशत शोध हो रही है। उसके बाद बिहार (१५-१५ प्रतिशत) और मध्य प्रदेश (१० प्रतिशत) आते है। महाराष्ट्र और राजस्थान मध्य प्रदेश से कुछ ही पीछे हैं। दिल्ली और गुजराज मध्यम कोटि में है। दक्षिण के सभी प्रदेशों मे मिलाकर जैन विद्या शोध का प्रतिशत ६.४ है। अन्य प्रान्तो में भी यह काफी कम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नाभिकाओ में जिन क्षेत्रों का विवरण नहीं है, वे जैन विद्या शोध की दृष्टि से शून्य हों। फलत: यह स्पष्ट है कि वर्तमान में जिन क्षेत्रों मे जैन अधिक संख्या में हैं, वहीं शोध प्रतिशत भी अधिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य क्षेत्रों में अधिक शोध होनी चाहिए क्योंकि वहीं जैन इतिहास की निर्मिति हुई है। यदि—

सारणी २. जैन विद्या शोध क्षेत्र, १९८३ में

क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत
१. उत्तर प्रदेश	३५.६०	८. हरियाणा	२.१०
२. बिहार	१५.१५	९. पंजाब	०.६०
३. मध्यम प्रदेश	१०.०२	१०. बंगाल	१.६०
४. महाराष्ट्र	६.८०	११. कर्नाटक	२.३०
५. राजस्थान	७.७	१२. केरल	०.४०
६. गुजरात	५.६०	१३. आंध्र	० ६३
७. दिल्ली	४.८०	१४. तामिलनाडु	२.८०
		१५. उड़ीसा	०.२३

विदेशों की जैन विद्या शोध को समाहित किया जावे, तो वहां अनेक देशों मे कुल प्रतिशतता ६.५ है। यह उत्साह वर्धक तथ्य है।

(स) **शोध दिशाय**—

१९७३ के समीक्षण मे व्यक्त किया गया था कि जैन विद्या शोधो की प्रमुख दिशा ललित साहित्य ही है। यह अब भी सत्य है, यद्यपि इसकी प्रतिशतता १९७३ के ५० से घट कर १९८३ मे ३९ रह गई है। यह शुभ लक्षण है और इस प्रवृत्ति को बढना चाहिये। यह कमी अन्य दिशा की शोधो के रूप मे प्रतिफलित हुई है जैसा सारणी ३ से प्रकट होता है। आलोच्य दशक में कुछ ऐसे विषयों की शोधों में भी कमी आई है, जो चिन्तनीय है। इन विषयों—

सारणी ३. १९७३—८३ के दशक मे जैन विद्या शोध-विषयो मे हानि-वृद्धि

विषय	प्रतिशत हानि	विषय	प्रतिशत वृद्धि
१. साहित्य	११.००	१. आधुनिक विषय	८.७०
२. न्याय/दर्शन	४.००	२. धर्म, नीति, आचार	४.५०
३. विज्ञान	१.००	३. भाषा	४.५०
४. कला	२.५०	४. व्यक्तित्व-कृतित्व	१.००
५. विविध	२.२०	५. तुलनात्मक अध्ययन	२.७०
	२०.७०		२०.७०

की शोधों से ही जैन विद्या के अनेक क्षेत्रों की मौलिकता एवं ऐतिहासिकता का भान होता है। संभवतः न्याय, दर्शन, विज्ञान आदि विषय किंचित् गहन अध्ययन, मनन और श्रम चाहते हैं जो अब विराम होता जा रहा है। यद्यपि इन क्षेत्रों में कुछ उपाधि-निरपेक्ष काम हो रहा है, फिर भी इस शोध को प्रेरित करने के उपाय करना चाहिये। इसके लिए यह आवश्यक है कि इन विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों का हिन्दी/अंग्रेजी मे अनुवाद किया जावे। दूसरा संभावित बाधक कारण वर्तमान जैन शोध निर्देशकों, विद्वानो के अधिकांश का ललित-साहित्य-आधारित होना हो सकता है। इस विषय से अनेक विद्वान् भाषाओं और भाषा विज्ञान तक तो आ गये हैं, पर इससे आगे जाने योग्य शिष्य ही इन्हें नही मिलते। सम्भवतः इसी कारण अनेक व्याकरण और दर्शन के आचार्य व्यापारी बन गये?

यह प्रसन्नता की बात है कि जहां कुछ क्षेत्रों में शोध संख्या मे कमी आई है, वहीं जैन विद्याओं में वर्णित आधुनिक विषयो से सम्बन्धित शोधों की ओर शोधार्थियों की रुचि बढ़ी है। इनमे इतिहास (३३), राजनीति (६), समाज शास्त्र (३), मनोविज्ञान (२), भूगोल (१) एवं भाषिक विषय (३४) मुख्य है। ये शोधें भारतीय विद्याओ के विकास को समझने के लिए 'मील के पत्थर' सिद्ध हो रही हैं जिससे इस ओर शोध प्रवृत्ति बढ़ रही है। इन क्षेत्रो मे विभिन्न स्रोतों मे उपलब्ध सामग्री को एकत्र करने के विवरणात्मक प्रयास अधिक हो रहे हैं, पर ये ही उत्तरवर्ती गहन अध्ययन के आधार-बिन्दु बनेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरातन धर्म, नीति और आचार की ओर वर्धमान उपेक्षाभाव को निरस्त करने के लिए अनेक शोधकर्ता जैन विद्याओं मे समाहित इन विषयो पर उपलब्ध सामग्री का आलोचनात्मक या तुलनात्मक अध्ययन करने में प्रवृत्त हो रहे है। इनसे प्राचीन मान्यताओं का, अनेक प्रकरणों में, समर्थन और व्यापकीकरण ही हुआ है। इन विषयों पर अभी पर्याप्त जैन साहित्य उत्खनन हेतु बचा है और शोध की यह गति अविरत रहना चाहिये। इसी प्रकार तुलानात्मक अध्ययन और व्यक्तित्व-कृतित्व की दिशा में शोध-वृद्धि सराहनीय है। इसे भी गतिशील बनाये रखने की आवश्यकता है। (क्रमशः)

—गर्ल्स कालेज, रीवां

आयुर्वेद में अनेकान्त

□ आयुर्वेदाचार्य राजकुमार जैन, दिल्ली

एकान्त से भिन्न या विपरीत अनेकान्त है। एकान्त में एक ही पक्ष का कथन या प्रतिपादन होता है, जबकि अनेकान्त में अन्य पक्ष का भी प्रतिपादन किया जाता है। एकान्त के अनुसार जो कथन किया जाता है उसमें "यह बात ऐसी ही है" इसका प्रतिपादन किया जाता है, जबकि अनेकान्त के अनुसार "ही" के स्थान पर "भी" शब्द को विशेष महत्व दिया जाता है। अर्थात् यह बात ऐसी ही है कहने की अपेक्षा" यह बात ऐसी भी है"—इस प्रकार कहा जाता है। अनेकान्त मे एक ओर जहां पक्ष भी विशेष या दृस्टिकोण का एक पहलू है वही दूसरी ओर दूसरा पक्ष या पहलू भी कहा जाता है। अत: उसमे दृष्टि-कोण की व्यापकता विद्यमान रहती है। अनेकान्त में दूसरा पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण होगा, जितना पहला पक्ष। अत: यह समानता के दृष्टिकोण पर आधारित है। यही कारण है कि शास्त्र मे एक स्थान पर जो बात कही गई है, अन्य स्थान पर वही बात अन्यथा रूप मे या भिन्न प्रकार से कही जा सकती है। इसका कारण वहा प्रसग या विषय की भिन्नता है। इसीलिए उसमे व्यापकता का दृष्टिकोण रहता है। दृष्टिकोण की व्यापकता उदारता की सूचक होती है, जिससे दूसरे के मत को समझने मे महायता मिलती है। अनेकान्त के कारण विरोधभाव और विग्रह की स्थिति उत्पन्न नही हो पाती और वातावरण मे सभ्यता बनी रहती है।

अनेकान्त का अर्थ सामान्यतः इस प्रकार से किया जा सकता है—"न एकान्तः इति अनेकान्तः" अर्थात् जिसमें एकान्त (एक पक्ष का प्रतिपादन) न हो या जो एकान्त से विपरीत हो वह अनेकान्त है। इसी प्रकार अन्य व्याख्या के अनुसार अनेके अन्ताः धर्मा : यस्मिन् सः-अनेकान्तः अर्थात् जिसमें अनेक अन्त यानी धर्म हों वह अनेकान्त है। धर्म शब्द यहां स्वभाववाची है। कहीं-कहीं यह गुण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि वस्तु के लिए सामान्यतः कहा जाता है कि वह अनेक या भिन्न गुण-धर्म वाली है। जैसे आयुर्वेद के अनुसार वात में पक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विषद, खर आदि अन्यान्य गुण धर्म पाए जाते हैं। पित्त में उष्णता, द्रवता, स्नेह, अम्लता' सर, कटु आदि गुण पाए जाते हैं और श्लेषमा मे शैत्य, श्वैत्य, स्निग्धता, गुरुता, श्लक्ष्णता आदि गुण पाए जाते है। इससे स्पष्ट है कि वस्तु या द्रव्य अनेक गुण धर्मात्मक है।

दार्शनिक सन्दर्भ में "अन्त" शब्द का अर्थ "निर्णय" भी लिया जाता है। अत: "अनेकान्त" पर विचार करने से पूर्व "एकान्त" की विवक्षा भी आवश्यकक है, ताकि विषय की विवेचना समुचित रूप से की जा सके। एकान्तवाद का अर्थ जिस वाद (कथन) में एक (केवल एक धर्म मात्र) का अन्त अर्थात् निर्णय हो वह एकान्तवाद कहा जाता है (एकः केवलम् अन्तः निर्णयः यत्र यत्र वादे सः एकान्तवादः) वस्तुमें यद्यपि अनेक धर्म एक ही साथ रहते हैं ! किन्तु वे सब धर्म एक शब्द द्वारा एक ही समय में नही कहे जा सकते है। उन सब धर्मों की विवक्षा मे वक्ता भिन्न-भिन्न शब्द और समय द्वारा कहता है ! किन्तु शब्द वाचक है और वस्तु वाच्य है एक शब्द द्वारा एक धर्म एक समय में बताया जाता है तो भी वाच्य (वस्तु) सब धर्मों से युक्त ग्रहण की जाती है। अतः एकान्त पक्ष की अनेकान्त पक्ष मे वाधा आती है। वास्तव मे एक शब्द द्वारा एक समय में कथन करने पर एक ही धर्म का निर्णय करना सर्वथा युक्ति समत नहीं है। धर्मा वस्तु से एक ही शब्द द्वारा एक ही समय में सब धर्मों को कथन् करना सम्व नहीं है। फिर भी वस्तु में अनेक धर्मी का निवास रहता ही है। जैसे "जल" शब्द से संघात/"सलिल" शब्द से जमना/"वारि" शब्द से वरण आदि का

ग्रहण होता है। तथापि "जल" शब्द से संघात, जमना, बरण आदि अनेक धर्मों से युक्त "जल" पदार्थ ग्रहण होता ही है।

इसी प्रकार "हरि" शब्द से "हरण" क्रिया" प्राणो, पापों, मन, आदि कर्मों से युक्त करने पर अनेक पदार्थों में प्रयुक्त होता है। प्राणों को हरने वाले "यम" "सर्प" सिंह" आदि मे, पापो को हरने वाले "विष्णु" में, मन को हरने वाले "बन्दर" में "हरि" शब्द के अर्थ का प्रयोग किया जाता है।

अतः जैसे "सिद्धान्त" शब्द मे सिद्ध अन्तः निर्णयः यत्र असौ "सिद्धान्तः" यह सिद्धान्त" शब्द का अर्थ है उसी प्रकार "एकान्त" शब्द का अर्थ एक ही निर्णय है जिसमे ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अनेकान्त में आग्रह के लिए कोई स्थान नही है। आग्रह ही दृष्टिकोण को संकुचित या एक पक्षीय बनाता है। किसी भी वस्तु के विषय मे आग्रह-पूर्वक जब कहा जाता है तो उससे वस्तु स्वरूप का वास्तविक प्रतिपादन नही हो पाता। यही कारण है कि वस्तु को जैसा समझा जाता है वह केवल वैसी ही नही है, उससे भिन्न कुछ अन्य स्वरूप भी उसका है, जिसे जानना या समझना आवश्यक है जैसे "देवदत्त अमुक लड़के का पिता है" जब यह कहा जाता है तो वस्तुतः पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है, अतः यह ठीक है। किन्तु वह देवदत्त केवल पिता ही नही है, अपितु, वह अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है और अपनी बहिन की अपेक्षा से भाई तथा मामा की अपेक्षा से भान्जा भी है। इस प्रकार वह एक ही देवदत्त अनेक धर्मात्मक है। इसका स्वरूप अथवा यह वस्तु स्थिति अनेकान्त के द्वारा भली-भाति समझी जा सकती है।

आयुर्वेद-शास्त्र में भी अनेकान्त का आश्रय लिया गया है और उसके आधार पर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, यह अनेक उद्धरणों से सुस्पष्ट है। आयुर्वेद मे जहा अनेकान्त छ आधार पर विभिन्न विषयों का प्रतिपादन एवं गम्भीर विषयों का विवेचन किया गया है, वहां तन्त्र युक्ति प्रकरण के अन्तर्गत उसका परिगणन कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद-शास्त्र में कुल ३६ तन्त्रयुक्तियां प्रतिपादित की गई हैं, जिसमे अनेकान्त भी एक तन्त्रयुक्ति है। आयुर्वेद शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेकान्त की व्याख्या की है, जो अपने-अपने दृष्टिकोण से उपयुक्त है। सर्वप्रथम आचार्य चक्रपाणि दत्त द्वारा विहित व्याख्या का अनुशीलन करते है जो निम्न प्रकार है—

"अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणं यथा— "ये ह्यातुराः केवलान् भोजादतें भ्रियन्ते न च ते सर्व एव भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्टेरन्।"

—चरक संसिता, सिद्धिस्थान। २/४३ पर चक्रपाणि टीका अर्थात् दूसरे पक्षों का अनवधारण करना अनेकान्त कहलाता है। जैसे—जो रोगी केवल भेषज के बिना मर जाते हैं, वे सभी रोगी भेषज से युक्त होने पर ठीक नहीं होते।

यहां पर केवल एक का ही कथन महर्षि द्वारा नहीं किया गया है, अपितु अन्य पक्ष का समर्थ भी किया गया है। जो रोगी पूर्ण चिकित्सा नही मिल पाने के कारण मर जाते हैं, वे सभी रोगी पूर्ण चिकित्सा मिलने पर ठीक हो ही जाते है, यह आवश्यक नही है। अर्थात् उसमें से भी कुछ रोगी पूर्ण चिकित्सा मिलने पर भी मर जाते हैं—यह आशय है। यहां पर महर्षि ने अपनी बात कहने के लिए अनेकान्त का आश्रय लिया है। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि सभी व्याधियां उपाय साध्य नही होती है। जो रोग उपाय (चिकित्सा) से साध्य है, ये बिना उपाय (चिकित्सा) के अच्छे भी नही होते। असाध्य व्याधियो के लिए षोडशकल भेषज (चिकित्सा का विधान भी नही है, क्योंकि विद्वान् और ज्ञानसम्पन्न वैद्य भी मरणोन्मुख रोगियों को अच्छा करने में समर्थ नहीं होते।

अनेकान्त को महर्षि सुश्रुत ने कुछ दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है, किन्तु आशय नही है। जैसे—

"क्वचित्तथा क्वचिदन्थेति यः सोऽनेकान्तः यथा—केचिदाचार्याः द्रवते द्रव्य प्रधानं, केचिद्वीर्य, केचिद्विपाकमिति।"

—सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र ६५/२४

अर्थात् कही ऐसा और कहीं अन्यथा (दूसरा) इस प्रकार जो कथन किया जाता है वह अनेकान्त है। जैसे— कुछ आचार्य द्रव्य को प्रधान बतलाते हैं, कुछ रस को, कोई वीर्य को प्रधान मानते हैं, तो कोई विपाक को।

यहां जो उदाहरण दिया गया है वह समन्वय एवं व्यापक दृष्टिकोण का प्रतिपादक है। आयुर्वेद-शास्त्र में सामान्यतः द्रव्य, रस, गुण वीर्य, विपाक और प्रभाव में में द्रव्य को प्रधान माना गया है; किन्तु पृथक्-पृथक् रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव को प्रधान मानने वाले आचार्यों के मतों को भी समायुत किया है, जो अनेकान्त पर आधारित है। इसमें यद्यपि कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः वह विरोध या विरोधाभास न हो कर दृष्टिकोण को उदारता और व्यापकता है जो समन्वय मूलक है।

महर्षि चरक ने केवल तत्रयुक्ति के रूप मे ही अनेकान्त को नही अपनाया है, अपितु सिद्धान्त रूप मे भी उसका प्रतिपादन किया है। तद्विषयक अनेक उद्धरण चरक संहिता मे उपलब्ध होते है। उन्होने विभिन्न पक्षो के ऐकान्तिक दुराग्रह की निन्दा करते हुए एक स्थान पर कहा है—

तथर्षीणां विवदतामुदावेदं पुनर्वसुः।
मैवं वोपत तत्व हि दुष्प्रापं पक्ष संश्रयात्॥
वादान् सप्रतिवादन् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छान्ति तिलपीडकवद्गता॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्ट मध्यात्मनुचिन्त्यताम्।
नाविधूते तमः स्कन्धे ज्ञेये ज्ञान प्रवर्तते॥
—चरक संहिता, सूत्रस्थान २५/२६-२८

अर्थात् इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए ऋषियों के वचन सुनकर पुनर्वसु ने कहा कि आप लोग ऐसा नहीं कहें। क्योकि अपने-अपने पक्षों का आश्रय लेकर विवाद करने से तत्व को प्राप्त करना दुष्कर होता है। अर्थात् सिद्धान्त का निर्णय नही हो पाता। वाद (उत्तर) और प्रतिवाद (प्रत्युत्तर) को निश्चित सिद्धांत की तरह कहते हुए किसी एक पक्ष के अन्त तक नही पहुंचा जा सकता है। जैसे तेल पेरने वाला बैल एक निश्चित घेरे में घूमता हुआ जहां से प्रारम्भ करता है, पुनः वहीं पहुंच जाता है। उसी प्रकार पक्ष का आग्रह पूर्वक आश्रय करने वाला वाद-विवाद करता हुआ अन्य पक्ष के खण्डन और स्वपक्ष के मण्डन पूर्वक पुनः उसी बिंदु पर आ जाता है, जहां से उसने आरम्भ किया (श्र) अतः वाद-विवाद की प्रक्रिया को छोड़कर अध्यात्म (यथार्थ तत्व) का चिन्तन करना चाहिये। क्योंकि जब तक अज्ञान रूपी तम का नाश नही होता है, तब तक ज्ञेय (जानने योग्य) विषय में ज्ञान नही होता है।

अनेकान्त प्रतिपादन की दृष्टि से पुनर्वसु आत्रय के उपर्युक्त कथन विशेष महत्वपूर्ण है। एकान्तवादियों के द्वारा स्वरूप प्रतिपादन हेतु किए गए प्रयास की तुलना उन्होने तेल पेरने वाले मनुष्य से की है, जो निरन्तर एक निश्चित दायरे में घूमता हुआ एक ही बिन्दु पर पुनः आ जाता है और अन्य बातें उसके लिए महत्वहीन एवं निःसार होती है। पुनर्वसु आत्रेय ने अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि जब किसी वस्तु या विषय विशेष के अन्वेषण एव लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रवृत्ति की जाती है तो आग्रह पूर्वक स्वपक्ष या अपनी बात दूसरो पर नही लादी जानी चाहिये। यदि ऐसा किया जाता है तो इससे न तो वस्तु स्वरूप की मर्यादा की प्रतीति होना सम्भव है और न ही लक्ष्य प्राप्ति की जा सकती है। एकांत सदैव मत-भेदो को बढ़ाता है, जबकि अनेकांत उन्हें दूर सार्वमौम सत्य का प्रतिपादन करता है। एकांत एकांगी होता है, अतः इससे वस्तु का एक पक्ष ही उद्भावित होता है और सत्य की पूर्णता उसे आवृत नही कर पाती है। सत्य की अपूर्णता वस्तु के यर्थार्थ स्वरूप के प्रतिपादन मे बाधक होती और कई बार उससे भ्रामक बातें ही प्रचारित की जाती है किन्तु अनेकान्त के द्वारा ऐसा नही होता है।

यह निर्विवाद और असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि महत्वपूर्ण विषयो के प्रतिपादन मे आयुर्वेद-शास्त्र में स्थान-स्थान पर अनेकान्त का आश्रय लिया गया है। जैसे वस्तु स्थिति से अनभिज्ञ कतिपय दुराग्रही एव एका-

न्तवादी लोगों का यह दृढ़मत है कि विष का प्रयोग सर्वथा जीवन का हरण करता है। तीक्ष्ण विष के प्रयोग से तो मनुष्य का प्राणान्त अवश्यम्भावी है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। उसी तथ्य को जब अनेकान्त के परिप्रेक्ष्य मे देखा गया तो महर्षि अग्निवेष को कुछ और ही अनुभव हुआ उन्होंने तीक्ष्ण विष के विषय में स्वानुभूत पदार्थ का विवेचन इस प्रकार से किया है—

योगादपि विष तीक्ष्णमुत्तम भेषज भवेत्।
भेषज चापि दुर्युक्तं तीक्ष्ण सम्पद्यते विषम्॥
तस्मान्न भिषजा युक्त युदितअहयेनभेषजम्।
धीमता किंचिदादेय जीवितारोग्यकांक्षिणा॥
—चरक सहिता, सूत्रस्थान १/१२६-२८

अर्थात् विधि पूर्वक सेवन (प्रयोग) करने से तीक्ष्ण विष भी उत्तम औषधि हो जाता है और अविधि पूर्वक प्रयोग की गई श्रेष्ठ औषधि भी तीक्ष्ण विष बन जाती है। इसलिए जीवन और आरोग्य की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान मनुष्य के द्वारा युक्ति बाह्य (युक्ति पूर्वक प्रयोग नही करने वाले) वैद्य से कोई भी औषधि नही लेनी चाहिए।

यहां पर अपेक्षा पूर्वक विष का विषत्व और भेषजत्व प्रतिपादित किया गया है साथ ही युक्ति पूर्वक प्रयोग की अपेक्षा से औषधि का भेषजत्व और विषत्व बतलाया गया है। इस प्रकार का प्रतिपादन अनेकान्त का आश्रय लिये बिना सम्भव नही है। क्योंकि युक्ति की अपेक्षा से ही भेषज श्रेष्ठ औषध हो सकती है। यदि युक्ति की अपेक्षा न रखी जाय तो वही भेषज रोगी का प्राण हरण कर सकती है। जैसा कि आज कल प्राय. देखा जाता है कि स्ट्रेप्टोमाइसिन पेनिसिलिन के इजेक्सन के प्रयोग में बरती गई जरा सी असावधानी रोगी का प्राणान्त कर देती है। यही इंजेक्सन अच्छी तरह विचार कर प्रयोग किये जाने पर जीवनदायी बन जाता है। उसी प्रकार यदि किसी मनुष्य को संखिया, कुचला, धतूर आदि विषवर्गीय किसी द्रव्य का सेवन बिना सस्कार किये ही करा दिया जाय तो निश्चय ही वह काल का ग्रास बन सकता है, किन्तु वही विष जब शुद्ध और संस्कारित करके मात्रा पूर्वक औषध रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो अनेक भीषण व्याधियों का नाश उसके द्वारा किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों ने आमवाद (गठिया वाय) की व्याधि में विधि पूर्वक उचित मात्रा में सर्प विष का प्रयोग उपयोगी एव लाभप्रद सिद्ध किया है। इस प्रकार विषत्व की अपेक्षा से वह विष हैं, किन्तु भेषजत्व की अपेक्षा से वही तीक्ष्ण विष जीवनदायी श्रेष्ठ औषधि है।

इस प्रकार आयुर्वेद-शास्त्र में ऐसे अनेक प्रकरण एवं उद्धरण विद्यमान है जो अनेकान्त का आश्रय लेकर प्रतिपादित किये गये है। इससे न केवल उस विषय की दुरूहता ही समाहित हुई है, अपितु अनेक शंकाओ का अनायास ही निरसन हो गया है। अतः यह कहने में कोई सकोच नही है कि ऐसा करने से आयुर्वेद-शास्त्र के दृष्टिकोण में पर्याप्त व्यापकता आई है और वह पूर्ण उदारतावादी कहलाने का अधिकारी है। जीवन विज्ञान के सदर्भ मे मानव-प्रकृति एव आरोग्य मूलक सिद्धान्तो का प्रतिपादन आयुर्वेद-शास्त्र की अपनी मौलिक विशेषता है। उसमे यदि संकुचित दृष्टिकोण एव दुराग्रहों का आश्रय लिया जाता तो निश्चय ही आयुर्वेद-शास्त्र की शाश्वतता और लोकोपकारी भावना का लोप हो जाता, किन्तु ऐसा नही है। इस दिशा मे पर्याप्त अध्ययन, मनन और अनुचिन्तन के द्वारा पर्याप्त अनुसन्धान अपेक्षित है। अनेकान्त ने आयुर्वेद को कितना सहिष्णु और व्यापक दृष्टिकोण वाला बनाया है उसका सहज आभास उन स्थलो से मिलता है जहाँ अन्य ऋषियो के निम्न दृष्टिकोण मूलक शब्दो को भी समावृत किया गया है। अतः गम्भीर विमर्श पूर्वक इस दिशा मे पर्याप्त अध्ययन, मनन और अनुचिन्तन द्वारा अनुसंधान अपेक्षित है। आशा है विद्वज्जन एवं शोधार्थी इस दिशा मे प्रयत्नरत होगे।

—भारतीय चिकित्सा, केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली

णायकुमार चरिउ में प्रतिपादित धर्मोपदेश

☐ डा० कस्तूरचन्द 'सुमन'

णायकुमार—चरिउ काव्य के कर्ता महाकवि पुष्पदन्त थे। इस चरित काव्य में उन्होंने राजपुत्र नागकुमार से सम्बन्धित घटनाओं को चित्रित किया है। पिता द्वारा निर्वासित होकर यद्यपि वे नाना प्रदेशों में भटकते हैं किन्तु पुण्योदय के कारण सर्वत्र अपने नैपुण्य से प्रभावशाली व्यक्तियों को भी प्रभावित करते है। अनेक राज-कन्याओं को विवाह कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते है। उन्होंने ऐसे-ऐसे कार्य किये जो साधारण लोगों के लिए अशक्य थे।

घटनाओं से यह चरित्र वाल्मीकि कृत रामायण में उल्लिखित रामचरित के समान है परन्तु इस काव्य मे चित्रित धर्मोपदेश काव्य की विशिष्टता का प्रतिबोधक है।

धर्म का स्वरूप—इस काव्य मे आचार्य श्रुतिधर ने नागकुमार के द्वारा पूछे जाने पर धर्म का स्वरूप समझाते हुए कहा कि "जीवों पर दया करना, क्षीण, भीरू, दीन और अनाथो पर कृपा करना, कर्कश वचन, ताडन, बन्धन व अन्य प्रकार की पीडा विधि का प्रयोग नही करना, साथ ही झूठ वचन नही कहना, सत्य व शौच मे रुचि रखना, मधुर करुणापूर्ण वचन बोलने के साथ-साथ दूसरे के धन पर कभी मन नही चलाना, बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नही करना तथा अपनी प्रिय पत्नी से ही रमण करना, पर स्त्री पर दृष्टि नही चलाना और पराये धन को तृण के समान गिनना, गुणवानों की भक्ति सहित स्तुति करना।

इस प्रकार धर्म के विभिन्न अगो का का अभग रूप से पालन करना ही धर्म का स्वरूप बताया गया है। निष्कर्ष यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरत होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन धर्मों के अंगों का पालन करना ही धर्म है। धर्म का स्वरूप है।

धर्म के भेद—संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं। प्रथम वे जो गृहस्थ जीवन यापन करते हैं और दूसरे वे जिन्होंने गृहस्थी से मुख मोड़ गार्हस्थिक बन्धनों से नाता तोड़, तप से सम्बन्ध जोडा है। ऐसे लोग अनगार कहे है। गृहस्थो का धर्म आगार-धर्म और जिस धर्म को मुनि पालते हैं उसे अनगार-धर्म की सज्ञा दी गई है।

सागारधर्म

गृहस्थ धर्म का निर्वाह तभी होता है जब गृही हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह जनित दोषो से बचे। इसके लिए उसे जीव दया करना, विनयवान् होना, सत्य और मधुर वचन बोलना, पर द्रव्य के अपहरण से अपने हाथ खींचे रहना, पर स्त्री से पराङ्मुख रहना और लोभनिग्रह हेतु परिग्रह का प्रमाण रखना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त ऐसे गेही को सूर्यास्त से पूर्व ही भोजन करना पड़ता है, मधु-मांस और मद्य का त्याग करना पडता है, पच उदम्बरों का स्वाद भी त्यागना पडता है। इसे गुरुओ के अनुसार दिशाओ मे गमनागमन को मर्यादा रखनी पड़ती है; वह शिक्षाव्रत पालता है, पापी जीवो की उपेक्षा करता है, वर्षा काल मे बाहर नही जाता, प्रोषधोपवास करता है, पात्रो को आहार देता है, विधिपूर्वक सन्यास ग्रहण करता है, वह कुगुरु, कुदेव आदि को नही पूजता। वह तो शुद्ध सम्यक्दृष्टि होता है। जिनेन्द्र का ध्यान और सामायिक करने मे ही अपना समय व्यतीत करता है।

गृहस्थों का नित्य कर्म-दान

गृहस्थों को आचार्यों ने नित्य करने योग्य छह कर्म बताए है, अर्हत् पूजा, गुरु-सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इनमे आचार्य कुन्दकुन्द ने दान को सर्व प्रमुख

माना है। दान के प्रसंग में पात्र, अपात्र, और कुपात्र का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत काव्य में बताया गया कि जो झूठे शास्त्रों में, कुत्सित आचारों तथा तपस्वियों मे अनुरक्त होता है वह कुपात्र है और जो सम्यक्दर्शन तथा पवित्र व्रतों से रहित है वह अपात्र है।

पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद से तीन प्रकार के है। इनमें शुद्ध रत्नत्रय रूप मुनिव्रतधारी उत्तम पात्र, श्रावक के चारित्र का धारी मध्यम पात्र और जो कुदृष्टियों के गुणो, का कीर्तन, तथा लौकिक और वैदिक मूढ़ताओं का त्याग कर शका, कांक्षा व जुगुप्सा आदि से रहित सम्यक्त्व को धारण करता है किन्तु दोनो प्रकार के सयम रहित होता है वह अधम पात्र बताया गया है।

दान पात्र के अनुसार फलित होता है। अपात्र को दिया हुआ दान शून्य अथवा फल रहित जाता है तथा कुपात्र को दिये गए दान का फल बुरा ही होता है। तीनो प्रकार के पात्रों को दान देने से भूतल मे लोग तीन प्रकार के भोग प्राप्त करते है।

दान-विधि

धर्मोपदेशो मे अचार्यों ने दान के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए यह भी कहा है कि दान तभी सार्थक होता है जब वह विधिपूर्वक दिया जाता है। विधि के अन्तर्गत उन्होने कहा कि उत्तम पात्र को दान नवधा भक्ति से युक्त होकर ही देना चाहिये। उत्तम पात्रो को पड़गाह कर उन्हें उच्चासन देवें, उनका पाद प्रक्षालन करें। प्रक्षालित जल की वन्दनां कर, अर्चना करें और सिर झुका कर प्रणाम करे। तदनन्तर मन-वचन-काय की शुद्धि सहित निर्लोभ भाव से आहार देवें। विधि का महत्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि विधि के अभाव मे दिया गया आहार अरण्यरोदन के समान निष्फल होता है।

आचार्यों ने यह भी लिखा है कि दया भाव से अनाथो दीनों और निर्धनों को भोजन, वस्त्र, आभूषण, गाय-भैस, भूमि और भवन रूपी धन दिया जा सकता है।

दान से सम्बन्धित पात्रो के सम्बन्ध मे जहां एक ओर उन्होंने मुनियों को उत्तम पात्र कहा है दूसरी ओर यह भी विचारा कि यदि दीन-हीन लोगों को सहयोग नहीं दिया गया तो वे सदैव दुःखी रहेंगे। अतः उन्होंने अपने उपदेशों में ऐसे दीन-हीन, लगड़े लूले, गूगे, बहरे, अन्धे, रोगी, और दुःखी लोगों को करुणा का पात्र कहा। उन्होंने कहा कि ये करुणा के पात्र है, किन्तु गुणागार मुनीश्वर करुणा के पात्र नही है। उन्हें तो परम भक्तिपूर्वक ही दान देना चाहिये।

आगे उन्होने यह भी कहा कि जो लोग पापियों को दान देते है वे पापो को बढ़ाते है। पापियो को दान देकर उनका पोषण करना कोश को सुखाना है। वह इस भव में तथा परभव मे दोष ही उत्पन्न करता है। आखेट करना गृहस्थ धर्म नही है, वह घोर पाप है अतः गृहस्थ जन ऐसे पापो से बचे।

अनगार धर्म

यह धर्म का दूसरा भेद है। इस धर्म के धारी मुनीश्वर होते है। वे काम के राग-रंग से दूर हटकर परिग्रह से मुक्त हो पर्वत की कन्दराओ मे रहते है। तपरूपी लक्ष्मी से समृद्ध वे पथ, नगर या देश से बधते नही। मन का मर्दन कर शत्रु, मित्र, धन और तृण मे समता भाव रखते है, शरीर से ममत्व नही रखते, पुत्र और कलत्र से भी स्नेह छोड देते है। तपस्यारूपी अग्नि से तप्त वे विकार रहित प्राप्त भोजन मे ही प्रवृत्त होते है। उनके शरीर में चर्म और अस्थि मात्र ही शेष रहती है। वे केश लोच करते है, नग्न रहकर शिला या भूमि पर शयन करते हैं, शरीर मल से लिप्त हो जाने पर भी वे शरीर से निर्लिप्त रहते हैं, अधखुले नेत्र रख कर नासाग्र दृष्टि से ध्यानस्थ रहते है। उनका अन्तरग शुद्ध होता है, जैसे कछुआ अंगों को संकोच कर लेता है ऐसे ही वे इन्द्रिय और मन का सकोच कर लेते है। उपदेशकों ने समझाया कि यही है अनगार धर्म। उन्होने कहा कि इसी धर्म के द्वारा ही मनुष्य कुकृत्यो का नाश कर परम लक्ष्मी के धारी श्रीधर (नारायण) हलधर, (बलदेव) तथा भरत सदृश चक्रवर्ती, देवेन्द्र और जिनेन्द्र होता है।

मरण और शरण

उपदेशों मे सांसारिक नश्वरता का मनोहारी चित्रण है। यथार्थता को प्रकट करते हुए उन्होने समझाया है कि हे जीव! मरण आने पर कही भी शरण प्राप्त नही नही होती। यमराज के सम्मुख कवच बेकार हो जाते है। अन्त.पुर की स्त्रिया भी मृत्यु के आने पर छाती पीटती रह जाती है। सुख से रहने वाले राज मुकुटबद्ध लोगो का भी आयुबन्ध क्षीण हो जाता है, आती हुई मृत्यु को कोई दुर्ग भी नही रोक सकता। यह सच है कि ध्वजा पताका से विनाश ढका नही रह सकता। राज्य की आकांक्षा के वशीभूत एवं लक्ष्मी के सुखो का उपभोग करने वाले राजाओ मे ऐसे कौन है जो नारकी गण द्वारा मारो मारो ध्वनि से गूजते हुए रौरव नरक मे जाकर नही पड़ते।

पाप क्षय

मन और इन्द्रियाँ पापास्रव की हेतु है। इन्हे ज्ञान रूपी अंकुश से रोका जा सकता है। स्वाध्याय कर सुदृढ़ शृंखला के द्वारा शुभध्यान रूपी खम्भे से उन्हें बाधा जा सकता है। आचार्यों ने कहा कि ऐसा कौन-सा पाप है जो धर्म के द्वारा न खपाया जा सके।

लोक की स्थिति

उपदेशों में लोक के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि यह ससार न ब्रह्मा के द्वारा निर्मित है, न विष्णु द्वारा धारण किया गया है और न ही शिव के द्वारा नष्ट किया जाता है। त्रैलोक्य के बीच अनेक द्वीप-समुद्रो से शोभित यह मध्य लोक अपने आप अनन्तानन्त आकाश के मध्य स्थित है। यह तीन प्रकार है— प्रथम महलक अर्थात् शकोरे के समान, द्वितीय बज्र के समान और तृतीय मृदंग के समान।

मोह

संसार में सर्वाधिक शक्तिमान मोह ही है, जिससे ज्ञानियो का ज्ञान भी ढक जाता है। इससे मिथ्यादर्शन का प्रसार होता है। अतः उपदेशकों की दृष्टि में यह सेव्य नही है।

जैनेतर मान्यताओं की विवेचना

उपदेशकों ने जैनधर्म मे दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए जैनेतर मान्यताओं को उपदेशो में समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होने कहा कि बुद्ध के क्षणिकबाद में यदि जीव क्षण-क्षण मे उत्पन्न होता रहता है, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो जीव घर से बाहर चला जाता है वही घर कैसे लौटता है। इसी प्रकार शून्यवादी जो जगत् में शून्य का विधान करते है तो उनके सम्बन्ध मे प्रश्न उत्पन्न होता है कि उनके पचेन्द्रियदण्डन चीवतरधारण, व्रत पालन सात घड़ी दिन रहते भोजन तथा सिर का मुडन कैसे होता है?

शैव मतावलम्बी गगन को सदाशिव कहते है। गगन निष्कल है। जो निष्कल है वह स्वय कैसे पढेगा और किसी अन्य को कैसे पढ़ायेगा? मोक्ष का मार्ग कैसे दिखावेगा? निष्कल अष्ट प्रकृति रूप अंगो को कैसे धारण करता है तथा दूसरो को कैसे प्रेरित करता और रोकता है।

जो निष्फल है वे तो निश्चल वा ज्ञान शरीरी होते हुए स्वभावतः सिद्ध रूप से रहते है। न वे स्वय मरते है न उत्पन्न होते है, वे ससार यात्रा मे अपने को क्यो डालेगे?

अवतारवाद के सम्बन्ध में मुनियो ने कहा कि जैसे उबले जौ पुनः कच्चे जौ में नही बदले जा सकते, घी पुनः दूध नही बन सकता। इसी प्रकार सिद्ध हुआ जीव पुनः देह भार का ग्रहण और विमोचन करने रूप भवसागर मे भ्रमण नही कर सकता है।

ईश्वरवाद के सम्बन्ध मे उपदेशों मे तर्क संगत प्रश्न मिलते हैं—जैसे, यदि ईश्वर सर्वार्थ सिद्ध है तो उसे बैल रखने से क्या प्रयोजन? यदि वे दयालु हैं तो उन्हे रोद्र शूल रखने से क्या लाभ? जो वे आत्म सन्तोष से तृप्त हैं तो उनके हाथ में भिक्षा के लिए कपाल क्यों? इसी प्रकार यदि वे पवित्र है तो हड्डियों के भूषण की उन्हें चाह क्यों?

वेद अपौरुषेय हैं इस मान्यता के सम्बन्ध में भी मुनियों ने गहराई से विचार किया है। उनका कथन है

कि बिना जीव के शब्द की प्राप्ति नही हो सकती, जैसे बिना सरोवर के नया कमल और बिना गाय के दूध। अत: बिना पुरुष के वेद रचना सम्भव नही है।

सच्चा धर्म

धार्मिक मान्यताओ की विवेचना करने के उपरान्त जब किसी ने प्रश्न किया कि फिर वह यथार्थ धर्म कौनसा होगा जिसका हम पालन करे। इसके उत्तर मे मुनियो ने कहा कि काम भोग की इच्छा और स्वर्ग प्राप्ति की कामनाए जैसे परस्पर विरोधी है, ठीक इसी प्रकार जीव घात और धर्म-पालन दोनो मे सम्बन्ध है, वे दोनो साथ-साथ नहीं हो सकते। सच्चा धर्म जीव घात से रहित है।

यह धर्म दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी है। सच्चा दर्शन उन्ही जीवो को प्राप्त होता है जो न केवल धर्मोपदेश सुनते है अपितु उपदेश सुनकर कषायो का उपशमन करते है और सोलह भावनाओ को भाते है। ऐसे लोग अष्ट मूल गुण रूपी वैभव को भी प्राप्त कर लेते है। देव शास्त्र गुरु तीनो मूढताओं और जाति कुलादि अष्ट मदो से मुक्त होकर वे अनायतनो की भी सेवा नही करते। तप से कर्म-मल को जला, केवल—ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाते हैं। ऐसे तपस्वियो का जहां वास रहा है वे पवित्र तीर्थ हो गये है।

धर्मोपदेशक

उपदेशक कैसा हो? समय-समय पर मुनियो और सन्तो ने अपने उपदेशों के माध्यम से इस सम्बन्ध मे समझाते हुए कहा कि यह आवश्यक है कि मोक्ष के उपदेशक हिंसा और तृष्णा से मुक्त रहे।

उन्होने यह भी कहा कि ज्ञान और मोक्ष की बातें तभी प्रभावशील होती है जब वे आचरण मे उतरती हैं। जो स्वय ही कामनियो के कटाक्ष का शिकार हो जाता है ऐसा उपदेशक यदि ज्ञान का भी क्यो न उपदेश दे तो भी वह उपदेश प्रभावहीन ही रहता है।

इस प्रकार कवि पुष्पदन्त की कृति णायकुमार चरिउ केवल चरित काव्य या कथा मात्र नही है कवि ने कथा के माध्यम से प्रस्तुत कृति में जीवों को वे दुःखी क्यों हैं? दुःख से उन्हे कैसे छुटकारा मिले "ऐसे कल्याणकारी तथ्यों का भी समावेश किया है।

धर्मोपदेशो मे जीव कल्याणार्थी जहां एक ओर मोह और अन्यान्य मतो का सक्षेप से उल्लेख है, दूसरी ओर धर्म का स्वरूप भेद और गृहस्थों के प्रमुख कर्म दान का भी आगमानुसार वर्णन उपलब्ध है। ससारिक-स्थिति को दर्शा करके कवि ने ससार से भयभीत जनो को संसार का कारण पाप और पापो के हेतु मन तथा इद्रियो को वश करने का उपाय भी बताया है। धर्म से ऐसा कौनसा पाप है जो क्षय न हो। इस प्रकार धार्मिक सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तथ्यों से सहित इस कृति को देखकर यदि हम यह कहें कि कवि ने "गागर मे सागर भर दिया है" तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

—जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीर जी

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय

मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी डी—१०५, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

परिग्रह-मोह ने पंचव्रतों के नाम बदलाए

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

आचार्य श्री उमा स्वामी तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता है और जैन के सभी सम्प्रदायो में सूत्र की प्रामाणिकता व महत्ता आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। सूत्र के पाठ करने मात्र से उपवास का फल मिल जाता है। —'दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति। फल स्यादुपवासस्य भाषित मुनिपुंगवैः ॥'—

उक्त सूत्र ग्रन्थ जैन-दर्शन के हार्द को स्पष्ट करने वाला है। इसके सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र मे आचार्य ने व्रत शब्द की जो परिभाषा दी है वह पुण्य-पाप जैसे सभी अंतरंग और धन-धान्यादि बहिरंग परिग्रहो से निवृत्त होने की दिशा का बोध देती है— उसमे किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प तक को स्थान नही, जो यह कहा जा सके कि— तू अमुक को ग्रहण कर। पर, आज तो ग्रहण करने का ग्रहण सब को ग्रस रहा है। भौतिक सुख-सम्पदा है, तो उसे ग्रहण करो, धर्म का कोई अंग है तो उसे ग्रहण करो: आदि गोया, छोड़ने से किसी को प्रयोजन ही नही।

वस्तु स्थिति ऐसी है कि तू अपने मे रहने का पूर्ण अधिकारी है और अपने मे रहने के लिए तुझे शुभ-अशुभ जैसे सभी पर-भावों—परिग्रहो से निवृत्ति आवश्यक है। प्रवृत्ति करना तो अपने को कर्मों से आच्छादित करना है। इसीलिए कहा जाता है कि यह जीव जैसे-जैसे जितने-जितने अंशो में परिग्रह से निवृत्त होता जायगा वैसे-वैसे उतने-उतने अंशो मे शुद्ध होता जायगा। जीव की ऐसी निवृत्ति से उसकी विशेषताओं का स्वय विकास होगा। इसे अहिंसक या सत्यवादी बनने के लिए कुछ ग्रहण करना नहीं होगा— यह निर्विवाद है। खेद है कि— वस्तु की ऐसी मर्यादा होने पर भी लोग संचय करने या पर को पकडने की ओर दौड़ रहे है। देने वाले व्रत आदि दे रहे हैं और लेने वाले ले रहे हैं। दोनो मे से कोई भी विरत नही हो रहा। इस पकड़ में लोग यहा तक पहुच गये हैं कि— उन्होंने पकड़ के नशे में व्रतो के नामो तक को विपरीत दिशा मे मोड़ दिया है। जहा किसी व्रत का नाम 'हिंसाव्रत' था वहां वे उसे 'अहिंसाव्रत' कहने लगे हैं— उन्होने पंचव्रतो के नाम ही पकड़ रूप मे बदल लिए है।

'हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिः* र्व्रतम्।'— यह व्रत की परिभाषा है। इसका अर्थ है कि— हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्ति— विराम लेना अर्थात् इन्हें परिवर्जन करना 'व्रत' है। आचार्य ने व्रत को दो श्रेणियो मे दर्शाया है—१-अणुव्रत २-महाव्रत। अणु का अर्थ अल्परूप में और महा का अर्थ महान् रूप में लिया गया है। हम पांचों व्रतों का नामकरण इस प्रकार करते है—

१—श्री आचार्य उमास्वामी के मत में :— (वारण अर्थ)

अणुव्रत : १. हिंसा से अणुरूप में विरति=हिंसा+अणु+व्रत=हिंसाणुव्रत
२. अनृत से „ „ „ =अनृत+अणु+व्रत=अनृताणुव्रत
३. स्तेय से „ „ „ =स्तेय+अणु+व्रत=स्तेयाणुव्रत
४. अब्रह्म से „ „ „ =अब्रह्म+अणु+व्रत=अब्रह्माणुव्रत
५. परिग्रह से „ „ „ =परिग्रह+अणु+व्रत=परिग्रहाणुव्रत

महाव्रत : १. हिंसा से महान्रूप में विरति=हिंसा+महा+व्रत=हिंसामहाव्रत
२: अनृत से „ „ „ =अनृत+महा+व्रत=अनृत महाव्रत

* 'तेभ्यो विरमणं विरति'—सर्वा० ७/१, "औपशमिकादिचारित्राविर्भावात् विरमणं विरतिः" —त० वा० ७/१

३. स्तेय से ,, ,, ,, =स्तेय + महा + व्रत= स्तेय महाव्रत
४. अब्रह्म से ,, ,, ,, =अब्रह्म + महा + व्रत= अब्रह्म महाव्रत
५. परिग्रह से ,, ,, ,, =परिग्रह + महा + व्रत= परिग्रहमहाव्रत

२—अन्य कई आचार्यों के मत में :— (वरण अर्थ)

अणुव्रत : १. अहिंसा से अणुरूप मे रति=अहिंसा + अणु + व्रत=अहिंसाणुव्रत
२. अनृत ,, ,, ,, ,, =अनृत + अणु + व्रत=अनृताणुव्रत
३. अस्तेय ,, ,, ,, ,, =अस्तेय + अणु + व्रत=अस्तेयाणुव्रत
४. ब्रह्म से ,, ,, ,, =ब्रह्म + अणु + व्रत=ब्रह्माणुव्रत
५. अपरिग्रह ,, ,, ,, =अपरिग्रह + अणु + व्रत=अपरिग्रहाणुव्रत

महाव्रत : १. अहिंसा से महत्रूप में रति =अहिंसा + महा + व्रत=अहिंसा महाव्रत
२. अनृत ,, ,, ,, ,, =अनृत + महा + व्रत = अनृत महाव्रत
३. अस्तेय से ,, ,, ,, =अस्तेय + महा + व्रत=अस्तेय महाव्रत
४. ब्रह्म ,, ,, ,, ,, =ब्रह्म + महा + व्रत=ब्रह्म महाव्रत
५. अपरिग्रह से ,, ,, ,, =अपरिग्रह + महा + व्रत=अपरिग्रह महाव्रत ।

वर्तमान में व्रतों मे प्रचलित नामो से 'विरति' पोषक आचार्य श्री उमास्वामी सहमत नही । प्रचलित नामो से 'रति' पोषक आचार्यों का ही सम्बन्ध है और ये रति-पोषण प्राणियों की राग-भाव प्रवृत्ति के कारण है। क्योंकि जीवो का अभ्यास प्रवृत्तिरूप मे सहज है और वे विरत होने के अभ्यासी नही है। —वे विरतहोने को कठिन समझते है और रत होने में सुख मानते हैं। यही कारण है कि वे 'वृञ्' धातु के 'वृणोति' (वरण करना) के भाव मे निष्पन्न 'व्रत' शब्द को ग्रहण करने के अभ्यासी बनते रहे है और उन्होने अहिंसा आदि को अणु या महत् रूप मे वरण करना श्रेष्ठ माना है, जैसा कि देखने मे आ रहा है—अहिंसा + अणु + व्रत आदि। जब कि उन्हें सोचना चाहिए था कि वरण करने जैसे भाव में परिग्रह से छूट भी सकेंगे या नही ?

आचार्य उमास्वामी की दृष्टि बडी गहरी थी। वे निवारण को इष्ट मानते थे। इसलिए उन्होने 'व्रत' की परिभाषा मे 'विरति' को प्रधानता दी—'रति' को प्रधानता नहीं दी और इसीलिए उन्होने 'वृञ्' धातु के 'वृणोति (वरणार्थक) जैसे रूप को न अपनाकर, उसके निवारणार्थक कर्तृवाच्य, णिजन्तरूप 'वारयति'* को अपनाया। अर्थात् उनके मत में जहां हिंसा का वारण होता है वहां हिंसा-व्रत (हिंसाविरति) होता है; आदि। यदि हम 'व्रत' शब्द को निवारण अर्थ में न लेकर 'वरण' करने के अर्थ में लेंगे तो इससे आ० उमास्वामी का मन्तव्य पूरा बदल जाएगा यानी हिंसा का वरण करना 'हिंसाव्रत होगा और तब सूत्र का 'विरति' शब्द भी व्यर्थ हो जायगा तथा पाप को बढ़ावा मिलेगा।

आ० उमास्वामी सम्मत 'विरति' को मुख्य मानकर जब हम 'विरति' अर्थात् अपरिग्रह को मूल जैन-संस्कृति मानने की बात करते है तब कुछ लोग उसे 'महाभारत' के 'अहिंसा परमोधर्मः यतो धर्मस्ततः ·····'卐 जैसे नारे में विलीन करने का प्रयास करते है। हमे नहीं मालूम कि उक्त वाक्य किस जैनाचार्य का है (किसी जैनाचार्य का हो तो दिशा-बोध दे, हम साभार विचार करेंगे) और-हमारी दृष्टि मे आत्म-विषयक 'समयसार' जैसे अध्यात्म-ग्रन्थ में भी 'अहिंसा' शब्द दृष्टिगोचर नही हुआ जिसे हम आत्म-गुण या जन-संस्कृति का मूल मानने के लिए विवश हो सकें। हाँ, समयसार ग्रन्थ मे 'अपरिग्रह' शब्द का उल्लेख अनेक बार किया गया है। इस विषय में हम इससे अधिक

(शेष पृ० ३ आवरण)

* वृणोति इति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म—'वारयति'-इति।' —निरुक्त २/४/१ पृष्ठ ८८।

卐 महाभारत वन पर्व २०७/७४ और शान्ति पर्व १६६/७० के अंश।

जरा सोचिए !

१. आगम रक्षा : एक समस्या-

लोकालोक के पदार्थों का निरूपण करने वाले आगम के नाम पर आज लोगो में बड़ी गरमागरमी है। अमुक आगम है और अमुक आगम नही है अमुक को निकालो, अमुक को रक्खो ऐसी चर्चा चारों ओर है। जिन लोगो को आगम की परिभाषा और आगम का स्वरूप तक नही मालुम है वे भी समर्थन और विरोध मे उछल रहे है और विद्वान् (?) तो काफी अर्से से दो खेमों मे बँटे हुए है। पर, इन समर्थक और विरोधियो में आगम के स्वरूप को सही रूप में कितनों ने किनना समझा है? समझा भी है या नही? या वैसे ही अखाडेबाजी कर रहे हैं? इसे सर्वज्ञ ही जाने।

हमारी समझ मे दिगम्बरो मे श्रुतकेवली और परम्परित आचार्यों की देशना का मूल-संकलन आगम कहलाया जाता रहा है और इस तथ्य मे किसी को मत-भेद भी नही है और ना ही मूल को लेकर कोई विरोध है। बर्तमान विरोध तो भावार्थ, विशेषार्थ, खुलासा अर्थ या नवीन पुस्तकों आदि को लेकर है। किसी व्यक्ति या समूह ने किसी मूल को अपनी बुद्धि या मन्तव्यानुसार अपनी भाषा और अपने भावों द्वारा प्रकट कर दिया या वैसी कुछ पुस्तकें लिख दी—उनको लेकर विरोध है।

कहा जा रहा है कि विवादस्थ प्रसगों को, विद्वानो से निर्णय कराकर निर्णायक कदम उठाया जाय—जैसा वे मान्य करें—वैसा किया जाय, आदि। पर, उक्त कथन कोई वजन नहीं रखता। क्योंकि इस दिशा मे कई बार ऐसे प्रयत्न होते रहे हैं। खानियां में कई विषयों पर जाने माने उद्भट विद्वानों की लिखित चर्चा भी हुई—वह चर्चा छपाई भी गई। बाद को भी समर्थन और विरोध मे काफी ऊहापोह होता रहा और आज भी वही स्थिति है, विद्वानों के दो खेमों में बँटे होने से भी कोई निर्णय नहीं। आज के समय मे प्राचीन या नवीन कोई ज्ञाता और निष्पक्ष सैद्धान्तिक जज भी ऐसा नही जिसे सब मान देते हों और ना ही कोई निष्पक्ष, अग्रगण्य नेता ही है जिसका आदेश चलता हो। ऐसी स्थिति मे निर्णय कैसे हो?

सब जानते है कि दि० जैनियों में ऐसा कोई आगम उपलब्ध नहीं है, जिसे साक्षात् रूप में गणधर की देशना कहा जा सके*। यहाँ तो परम्परित आचार्यवर्यों द्वारा बद्ध गाथाओं, सूत्रो, श्लोकों गद्य-पद्यात्मक व्याख्याओं को ही आगम मानने का प्रचलन रहा है—सभी मूल-ग्रन्थ आगम है और इन्ही के पढने-पढ़ाने की परिपाटी रही है। सम-सामयिक विद्वान् इनका वाचन करके श्रोताओ को अपनी भाषा मे अपनी बुद्धि के अनुसार मौखिक रूप मे उसकी व्याख्या सुनाते रहे है। वे ये भी सकेत देते रहे हैं कि जो व्याख्यान वे कर रहे हैं वह उनकी अल्पबुद्धि से ही कर रहे है—विशुद्ध-अर्थ और भाव तो श्रुतकेवली या परम्परित आचार्य और आगमज्ञ ही जानें।

कालान्तर मे जब विद्वान् गण मे लेख की परम्परा चली और वे मूल को अपनी भाषा मे व्याख्या, विशेषार्थ, भावार्थ आदि के रूपो मे लिपिबद्ध करने लगे तो उसे भी मूलग्रन्थ के साथ जोड़ा जाने लगा और वह भाग भी आगम कहलाया जाने लगा और आज ऐसे ही लेखन किसी रूप मे विवाद के विषय बन रहे हैं। बात भी सच है कि आगम तो मूल है—श्रुतकेवली और परम्परित आचार्यों द्वारा कृत है। भावार्थ, विशेषार्थ और व्याख्या आदि तो अल्पज्ञो की अपनी समझ के परिणाम हैं और उनकी प्रामाणिकता की भी कोई गारण्टी नही की जा सकती। फिर भी येन-केन प्रकारेण यदि हम ऐसा मान भी ले कि यह सब भी आगम हैं तो सभी रूपान्तरकारो को उन आगमों के निर्माता

---

* 'जिणिन्दमुहाओ विणिग्गयतार, गणिद विगुम्फिय गंथ-पयार।'
'तीर्थंकर की धुनि, गणधर ने सुनि, अंग रचे चुनि ज्ञानमयी।
सो जिनवर वाणी.................................।।'

होने से श्रुतकेवली और परम्परित आचार्यों में मानना होगा—जबकि हम ऐसा मानने को तैयार नही। फलतः—

हमारी दृष्टि में विवाद शान्त करने और आगम को स्वस्थरूप में सुरक्षित रखने का एक ही उपाय है कि मन्दिरों में मूल के सिवाय कोई भी वह कृति न रक्खी जाय जो किन्ही परम्परित आचार्यवर्य की न हो। किन्तु ऐसी प्रक्रिया से अनुवादकगण सहमत हो सकेंगे और वे अपने लेखन को आगम-बाह्य होने जैसे तथ्य को स्वीकार कर सकेंगे, इसमें सन्देह है। दूसरी समस्या यह है कि विवाद-शान्त होने पर नेतागण को क्या काम रह जायगा? उन्हें तो काम चाहिए, वे कोई दूसरा मोर्चा सँभाल लेगे। तो वहा भी फजीता ही खडा हो जायगा।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात ये है कि—यदि मन्दिरो में मल मात्र ही सुरक्षित रहा, तो मूल भाषा से अनभिज्ञो का क्या होगा? वे कैसे स्वाध्याय करेंगे? क्या उन्हें मन्दिरों मे धर्म सुनाने-पढाने के लिए पडितों का निर्माण करना पड़ेगा? सभी जानते है कि इस युग में पंडितों की संख्या में ह्रास हो रहा है। सभी बाते सोचने की है।

उक्त स्थिति के अनुसार यदि हम तीन मंत्रों को अपना ले तो समस्या हल हो सकती है। वे मंत्र हैं—

१. **विसर्जन**—अनुवादक और व्याख्याकार आचार्यपद-प्राप्ति के मोह का विसर्जन करें।
२. **अन्वेषण**—नेतृत्व के मोही नवीन उपयोगी अन्य कार्य का अन्वेषण करें।
३. **उत्पादन**—दि० जैन समाज विद्वानों का उत्पादन करे।

आपकी समझ मे अन्य और क्या उपाय हैं? जरा सोचिए!

—सम्पादक

(पृ० ३१ का शेशाष)

क्या लिखें कि—शास्त्रों में प्रथमतः लिपिबद्ध✱ 'कसाय-पाहुडसुत्त' जो मान्य आचार्य का है, उसमे भी अहिंसा शब्द एक बार भी देखने को नही मिला जब कि पूरा शास्त्र अपरिग्रह और परिग्रह (कर्मानुदय और कर्मोदय) जैसे प्रसगो से पूर्ण है) सहस्रनामो मे भी 'जिन' को अहिंसक जैसे विशेषण से विशिष्ट नही किया गया। अस्तु!

जिनमार्ग मे चारित्र के आधार पर उसके पालकों को श्रावक और मुनि卐 जैसी दो श्रेणियो में विभक्त किया गया है वह परिग्रह और अपरिग्रह की अपेक्षा मे किया गया है वह परिग्रह और अपरिग्रह की अपेक्षा में किया गया है—परिग्रह की मर्यादा मे श्रावक होना है और मुनि अपरिग्रही। यहाँ भी 'विरत' शब्द की मुख्यता है—'देश सर्वतोऽणू महती।' देश-विरत को अणुव्रती और सर्वतः विरत को महाव्रती कहा गया है। उक्त प्रसग मे अहिंसा आदि से तर-तम रूप मे रति करने वाला अणु या महाव्रती हैं,—ऐसा कही नही कहा गया। उक्त स्थिति होने पर भी हम व्रत की शत्रु की भूत 'रति' को प्रमुखता देने के अभ्यासी बन अपने को अहिंसा आदि से रति करने की ओर मोड़ने मे लगे है और अपरिग्रह से नाता तोड़ रहे हैं; यह आश्चर्य ही है।

इसी प्रकार जिन शासन में राग (रति) की गणना परिग्रहों मे की गई है और राग को सभी पापों में कारणभूत माना गया है और अहिंसक या निष्पाप बनने के लिए राग-रूप परिग्रह के त्याग पर ही बल दिया गया है। एक तथ्य यह भी है कि 'राग' चारित्र मोहनीय की प्रकृति है और चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम आदि के बिना, वीतरागता रूप संयम मे श्रद्धा-रूप आचरण का प्रादुर्भाव भी नहीं हो सकता। ऐमें मे तथ्य क्या है? इसे पाठक विचारें।—

✱ 'कालक्रम से जब लोगों की ग्रहण और धारणा शक्ति का ह्रास होने लगा, तब श्रुतरक्षा की भावना से प्रेरित होकर कुछ विशिष्ट ज्ञानी आचार्यों ने उस विस्तृत श्रुत, के विभिन्न अगो का उपसहार करके उसे गाथा सूत्रों में निबद्ध कर सर्वसाधारण में उनका प्रचार जारी रखा। इस प्रकार के उपसंहृत एव गाथा-सूत्र निबद्ध द्वादशाग जैन वाड्मय के भीतर अनुसधान करने पर ज्ञात हुआ है कि कसाय पाहुड ही सर्वप्रथम निबद्ध हुआ है। इससे प्राचीन अन्य कोई रचना अभी तक उपलब्ध नही है।' —कसाय पाहुड सुत्त, प्रकाशकीय

卐 दुविहं संजय चरणं सायार तह णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहृ रहिए णिरायारं॥ च० प्रा० २१

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित ?-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक— बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३९ : कि० २ अप्रैल-जून १९८६

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

महापाप : परिग्रह

परिग्रह को लोक मे हिंसादिक पापों की दृष्टि से नहीं देखा जाता, सभी उसकी चकाचौंध में फँसे हैं, सभी उसके इच्छुक है और सभी अधिकाधिक रूप से परिग्रहधारी बनना चाहते हैं। ऐसे अपरिग्रही सच्चे साधु भी प्राय: नहीं हैं जो अपने आचरण-बल और सातिशय वाणी से अपरिग्रह के महत्त्व को लोक-हृदयों पर भले प्रकार अंकित कर सकते—उन्हें उनकी भूल सुझा सकते, परिग्रह से उनकी लालसा, गृद्धता एवं आसक्तता को हटा सकते, अनासक्त रहकर उसके उपभोग करने तथा लोकहितार्थ वितरण करते रहने का सच्चा सजीव पाठ पढ़ा सकते। कितने ही साधु तो स्वयं महापरिग्रह के धारी हैं—मठाधीश, महन्त-भट्टारक बने हुए है, और बहुत से परिग्रह भक्त सेठ साहूकारों की केवल हाँ में हाँ मिलाने वाले है, उनकी कृपा के भिखारी है, उनकी असत् प्रवृत्तियों को देखते हुए भी सदैव उनकी प्रशंसा के गीत गाया करते हैं—उनकी लक्ष्मी, विभूति एवं परिग्रह की कोरी सराहना किया करते हैं। उनमें इतना आत्मबल नहीं आत्मतेज नही, हिम्मत नही, जो ऐसे महापरिग्रही धनिकों की आलोचना कर सकें—उनकी त्याग-शून्य निर्गल धन-दौलत के संग्रह की प्रवृत्ति को पाप या अपराध बतला सकें। इस प्रकार जब सभी परिग्रह की कीच मे थोड़े बहुत धँसे हुए हैं—सने हुए है, तब फिर कौन किसी की तरफ अँगुली उठावे और उसे अपराधी अथवा पापी ठहरावे ? ऐसी हालत मे परिग्रह को आमतौर पर यदि पाप नही समझा जाता और न अपराध ही माना जाता है तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है।

× × × ×

परिग्रह के होने पर उसके संरक्षण-अभिवर्धनादि की ओर प्रवृत्ति होती है; सरक्षणादि करने के लिए अथवा उसमें योग देते हुए हिंसा करनी पड़ती है, झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी होती है, मैथुनकर्म मे चित्त देना पडता है, चित्त विक्षिप्त रहना है, क्रोधादिक कषायें जाग उठती है, राग-द्वेषादिक सताते है, भय सदा घेरे रहता है, रौद्रध्यान बना रहता है, तृष्णा बढ़ जाती है, आरम्भ बढ़ जाते है, नष्ट होने अथवा क्षति पहुंचने पर शोक-सन्ताप आ दबाते है, चिन्ताओं का ताँता लगा रहता है और निराकुलता कभी पास नहीं फटकती।

× × × ×

मैंने अपनी जरूरत से अधिक परिग्रह का सचय करके दूसरों को उसके भोग-उपभोग से वंचित रखने का अपराध किया है, उसके अर्जन-वर्धन रक्षणादि मे मुझे कितने ही पाप करने पड़े है, उसका निरर्गल बढ़ते रहना पापका—आत्मा के पतन का कारण है।

× × × ×

"परिग्रह को ग्रह-पिशाच के सदृश समझ कर, जो उसका अतिसंग—अत्यासक्ति को लिए हुए सेवन या अतिसंचय—नही करता और आवश्यकता से अधिक परिग्रह का दान करके अपने आत्मा मे शुद्धि बनाये रखता है वही ससार में सुखी तथा वृद्धि को प्राप्त होता है।"

—पं० जुगलकिशोर 'मुख्तार' के विचार
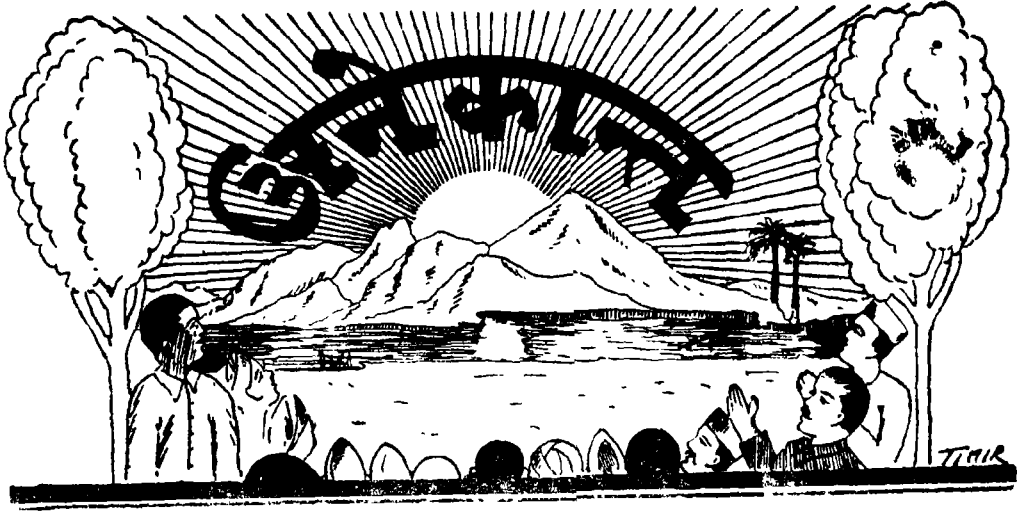
ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३९ किरण २ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५११, वि० स० २०४३ { अप्रैल-जून १९८६

जिनवाणी-महिमा

नित पीजो धी-धारी ।
जिनवानि सुधासम जानके नित पीजो धी-धारी ॥
वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म जरा गद-टारी ।
गौतमादिगुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ॥
सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ।
बन्धविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥
स्वपरस्वरूप प्रकाशन को यह, भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन सुवारी ॥
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥
कोटि जीभ सौं महिमा जाकी, कहि न सकै पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥ □□

अपभ्रंश कविश्री जोइन्दु का साहित्यिक अवदान

□ डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', अलीगढ़

छठी शती[1] के अपभ्रंश कवयिता जोइंदु शात, उदार एवं विशुद्ध अध्यात्मवेत्ता थे। जैन परम्परा मे दिगम्बर आम्नाय के आप मान्य आचार्य थे और थे उच्च कोटि के आत्मिक रहस्यवादी साधक। रूढ़ि विरोधी नवोन्मेष शालिनी शक्तियों की संघर्षात्मक धार्मिक अभिव्यक्ति के कविश्री प्रकृष्ट निदर्शन थे। आपके काव्य मे आत्मानुभूति का रस लहराता है। पारिभाषिक शब्दो की अध्यात्मपरक अर्थव्यञ्जना कवि काव्य की प्रमुख उपादेय विशेषता है।

अपभ्रंश का 'दोहा' लाडला छंद है।[2] अपनी आध्यात्मवादी विचारणा की अभिव्यञ्जना में कविश्री जोइन्दु ने ही सर्वप्रथम 'दोहाशैली' को अपनाया है। समन्वय की उदात्तभावना[3] से अनुप्राणित आपकी दो रचनाएं है— परमप्प-पयासु अर्थात् परमात्मप्रकाश और जोगसारु अर्थात् योगसार[4] दोनो ही अपभ्रंश कृतियां अधिकांशत दोहा छंद मे ही है।[5] 'परमात्मप्रकाश' प्रश्नोत्तर शैली मे आत्मा का प्रकाशन करता है। भट्ट प्रभाकर नाम के जिज्ञासु शिष्य ने कविश्री के सम्मुख ससार के दुःख की समस्या रखी। यथा—

> गउ ससारि वसंताहँ सामिय कालु अणतु।
> पर मइँ कि पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महतु॥
> चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ।
> चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि॥
> (परमात्मप्रकाश १।९-१०)

'परात्मप्रकाश इस समस्या का सुन्दर समाधान है। इस ग्रंथ मे मधुर, सरल आत्मा की अनुभूतिया ही तरगित हैं। यह दो अधिकारो (सर्ग) में विभक्त है। प्रथम अधिकार में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप, निकल और सकल परमात्मा का स्वरूप, जीव के स्वशरीर प्रमाण की चर्चा और द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म निश्चय, सम्यक्दृष्टि, मिथ्यात्वादि का वर्णन है तो द्वितीय अधिकार में मोक्ष स्वरूप, मोक्षमार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पाप-पुण्य की समानता, मोक्षफल और परमसमाधि का उल्लेख है।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से कवि काव्य में औदात्य के अभिदर्शन होते है। कविश्री का 'जिन' शिव और बुद्ध भी है। आपके द्वारा निरूपित परमात्मा की परिभाषा मे केवल जैन ही नही अपितु वेदांत, मीमांसक और बौद्ध भी समा सके है।[6] विभिन्न दृष्टिकोणों[7] से आत्मा का वास्तविक रहस्य समझना ही कविश्री का अभीष्ट रहा है। आपने जैनेतर शब्दावलि का व्यवहार भी किया है।[8] आप जहां पारिभाषिक तथ्यो का जिक्र करते है वहां कविश्री रूढ़ हो जाते है। विषयो की निस्सारता और क्षणभंगुरता का उपदेश देते हुए भी कविश्री ने कही पर भी कामिनी, कंचन और गृहस्थ जीवन के प्रति कटुता प्रदर्शित नही की है।[9] कविश्री ने अनेक उपमाओ और दृष्टान्तो के माध्यम से अपनी भावाभिव्यक्ति को सरल, सुबोध और सुस्पष्ट बनाया है। उपमा और दृष्टान्तो में आपके उपमान सामान्य जीवन की घटनाओं और दृश्यो से चयनित है। यथा—

> राएँ रंगिए हियइ वडए देउ ण दीसइ संतु।
> दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभतु॥
> (परमात्म प्रकाश १।१२०

अर्थात् राग रंजित हृदय मे शांत देव इसी प्रकार नही दीखता जिम प्रकार मलिन दर्पण में प्रतिबिम्ब। यह निश्चय जानिए। 'परमात्मप्रकाश' मे श्लेषालकार के भी अभिदर्शन होते हैं। यथा—

> तलि अहि रणि वरि घण-वडणु संडस्सय-लुंचोडु।
> लोहह लग्गिवि हुयवहहँ पिक्खु पडतउ तोडु॥
> (परमात्मप्रकाश २।११४)

अर्थात् लोहे का सम्बन्ध पाकर अग्नि नीचे रखे हुए

अहरन (निहाई) के ऊपर घन की चोट, सडासी से खीचना, चोट लगने से टूटना आदि दु खो को सहती है। अर्थात् लोहे की सगति से लोक प्रसिद्ध देवतुल्य अग्नि दु,ख भोगती है इसी तरह लोह अर्थात् लोभ के कारण परमात्म तत्त्व की भावना से रहित मिथ्या दृष्टि वाला जीव घनघात सदृश नरकादि दु.खों को भोगता है।

अलकार प्रयोग की यह परम्परा उपनिषद्, गीता आदि सभी भारतीय आध्यात्मिक ग्रथो मे मिलती है। 'परमात्मप्रकाश' की भाषा अधिक समास-बहुल, जटिल तथा 'णत्व' विधान बहुल दिखाई पड़ती है। वाग्धाराओं और लोकोक्तियों के व्यवहार से भाषा सौष्ठव म वर्द्धन हुआ है।[१०] वस्तुत: 'परमात्मप्रकाश' ज्ञान गरिष्ठ और विचारप्रधान है। इसमे कुल ३४५ पद्य है- प्रथम अधिकार मे १२६ और द्वितीय अधिकार मे २१९ है जिनमे ५ गाथाएँ, एक स्रग्धरा, १ मालिनी, १ चतुष्पदिका और शेष सभी दोहे है। पुनरुक्ति होते हुए भी इस ग्रन्थ का विषय विशृंखल नही है। 'परमात्मप्रकाश' के टीकाकार ब्रह्मदेव कहते हैं—'अत्र भावना ग्रथे समाधिशतकवत् पुनरुक्त दूषण नास्ति।' 'परमात्मप्रकाश' पर ब्रह्मदेव की सस्कृत टीका और प० दौलतराम की हिन्दी टीका महत्त्वपूर्ण है।[१]

कविश्री जोइन्दु की दूसरी रचना 'योगसार' है जो कि 'परमात्मप्रकाश' की अपेक्षा अधिक सरल और मुक्त रचना है। विषय विवेचन मे क्रमबद्धता का अभाव है। अपभ्रंश का यह ग्रन्थ वस्तुत: 'परमात्मप्रकाश' के विचारो का अनुवर्त्तन है जो सुबोध और काव्योचित ढग से वर्णित है। १०८ छदों की इस लघु रचना मे दोहो के अतिरिक्त चौपाई और दो सोरठो का भी निर्वाह हुआ है।

'योगसार' मे 'कविश्री जोइन्दु ने आध्यात्मचर्चा की गूढ़ता को बडी ही सरलता से व्यञ्जित किया है जिनमे उनके सूक्ष्मज्ञान एव अद्भुत अनुभूति का परिचय मिलता है। यथा—

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को विमुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को विहवेइ॥

अर्थात् जो पाप है उसको जो पाप जानता है, यह तो सब कोई जानते हैं किन्तु जो पुण्य को ही पाप कहता है, ऐसा पडित कोई विरला होता है। ग्रथ के प्रणयन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कविश्री जोइन्दु कहते है कि ससार से भयभीत और मोक्ष के समुत्सुक प्राणियों की आत्मा को जगाने के लिए मैंने इन दोहो का सृजन किया है। यथा—

ससारहं भय भीयएण जोगिचन्द मुणिएण।
अप्पा सबोहण कया दोहा इक्क मणेण॥
(योगसार ३. १०८)

'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' ग्रन्थों का प्रकाशन श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से डा० ए० एन० उपाध्ये के सम्पादन मे सम्पन्न हो चुका है।[११] 'योगसार पर ब्र० शीतलप्रसाद ने सविस्तार टीका लिखी है जो सन् १९५२ में गुना से प्रकाशित हुई है।[१२]

कविश्री जोइन्दु ने ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि का मोहक विवरण जनसामान्य की भाषा में प्रस्तुत कर अपनी उदार मनोवृत्ति का परिचय दिया है। वस्तुत मुनिश्री जोइन्दु अपभ्रंश साहित्य के महान् आध्यात्मवादी कवि कोविद है जिन्होने क्रातिकारी विचारों के साथ-साथ आत्मिक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा कर मोक्षमार्ग की उपादेयता सिद्ध की है। कविश्री जोइन्द की वाणी में अनुभूति का वेग एवं तत्त्वज्ञान की गम्भीरता समाविष्ट है। कविश्री का प्रभाव अपभ्रंश कवियो के साथ-साथ हिन्दी के सत कवियो पर भी पड़ा है। कबीर के क्रातिकारी विचारधारा का मूलस्रोत कविश्री जोइन्दु का काव्य है। अपभ्रंश वाङ्मय क रहस्यवाद निरूपण मे मुनिश्री जोइन्दु का स्थान सर्वोपरि है तथा भावधारा, विषय, छद, शैली की दृष्टि मे कविश्री जोइन्दु का साहित्यिक अवदान महनीय है।

मगलकलश
३९४, सर्वोदयनगर आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१ (उ० प्र०)

संदर्भ-संकेत

१. (क) 'परमात्मप्रकाश' की भूमिका, श्री ए. एन. उपाध्ये पृ० ६७।
(ख) 'अपभ्रंश काव्यमयी' की भूमिका, श्री गाधी, पृ० १०२-१०३।
(ग) अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डा० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ० ८०।
२. जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, श्री रामसिंह तोमर प्रेमी अभिनदन ग्रंथ, पृ० ४६८।

वर्णी-वाणी से

"अनेक पाप हैं लेकिन सबसे बड़ा पाप परिग्रह ही है। यह सबके मन चंचल बना देता है। इसकी दशा गुड़ के समान है। एक बार गुड़ ने सोचा कि जो देखो वही मुझे खा जाता है यदि सूखा होता हूं तो डली की डली लोग खा जाते हैं, यदि कुछ गीला हो जाता हूं तो पकवान बनाकर लोग खा लेते हैं और कहीं अधिक पतला हो गया—राब बनकर बहने लगा तो तमाखू पीने वाले गुड़ाखू बनाकर पी जाते हैं, इस प्रकार तो संसार में जीना बड़ा कष्ट का है। ऐसा विचार कर वह परमेश्वर के सामने गया और बोला—भगवन्, आप तो सबकी रक्षा करने वाले हैं। मैं भी सबमें से एक हूं अतः मेरी भी रक्षा करो; जो देखो वही मुझे चट कर जाता है। गुड़ की प्रार्थना सुनकर परमेश्वर चुप हो रहे। पांच मिनट बाद गुड़ ने फिर पूछा—महाराज, क्या आज्ञा होती है ? तब परमेश्वर ने कहा—जा, भाग जा, तुझे देख मेरे मुंह में भी पानी आ गया। सो भैया, परिग्रह ऐसी ही चीज है। सबके मन को लुभा लेता है। अतः ऐसा अभ्यास करो जिसमे उससे तुम्हारा सम्बन्ध छूटे।"

× × × ×

'मेरा यह दृढ़तम विश्वास हो गया है कि धनिक वर्ग ने पण्डितवर्ग को बिल्कुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनको कोई बात अपनी प्रकृति के अनुकूल न रुचे तब वे शीघ्र ही शास्त्र-विहित पदार्थ को भी अन्यथा कहलाने की चेष्टा करते हैं।" २०-९-५१

(पृ० ३ का शेषांश)

३. दोहाकोष, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५।

४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० २४८।

५. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डा० नामवरसिंह, पृ० २१७।

६. जैन शोध और समीक्षा, डा० प्रेमसागर जैन, पृ० ५९।

७. गूढ़ आध्यात्म को व्यक्त करने की दो शैलियां है, उपनिषद् मे इन्हें अपरा और परा विद्या कहते है, बौद्धों मे परमार्थ और व्यवहार सत्य कहते है और जैनों में निश्चय और व्यवहार नय की कल्पना है।

८. (i) मध्यकालीन धर्मसाधना, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४।
   (ii) अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, डा० वासुदेवसिंह, पृ० ४४-४५।

९. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृ० २७०।

१०. परमात्मप्रकाश, २.१३८; २.१४०; २.७४; २.७८।

११. श्री ब्रह्मदेव ईसा की तेरहवी शती और प० दौलतराम अठारहवी शती मे हुए।

१२. (अ) अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, डा० अम्बादत्त पंत, पृ० २३६।
   (ब) जैन शोध और समीक्षा, डा० प्रेमसागर जैन, पृ० २३६।

१३. 'योगसार' की टीका ब्र० शीतल प्रसाद ने १३ जून १९३९ को बम्बई श्राविकाश्रम से लिखी तथा पूज्यश्री १०८ मुनि विजय सागर जी तथा श्री १०८ मुनि बिमल सागर जी के दिशा निर्देश मे संवत् २००९ मे गुना (म० प्र०) से प्रकाशित हुई। यह टीका सविस्तार है इसमें एक-एक दोहे को व्यास शैली मे व्याख्यायित किया गया है।

आचार्य सोमदेव की आर्थिक विचारधारा

□ चन्द्रशेखर एम० ए०

आचार्य सोमदेव सूरि दिगम्बर सम्प्रदाय के उद्भट आचार्य थे। उनकी विद्वता मे किसी को भी संदेह नही हो सकता। उनका ज्ञान बहुमुखी था और वे विविध विषयो के ज्ञाता थे। आचार्य सोमदेव बहुज्ञ धर्मशास्त्री महाकवि, दार्शनिक, तर्कशास्त्री एव अपूर्व राजनीतिज्ञ थे। यशस्तिलक चम्पू एवं नीतिवाक्यासृत के अवलोकन से उनके विशाल अध्ययन एवं विविध शास्त्रों के ज्ञाता होने के प्रमाण मिलते हैं। उनकी अलौकिक प्रतिभा पाठको को चमत्कृत कर देती है सोमदेव सूरि कृत साहित्य के अध्ययन से उनका धर्माचार्य होना निश्चित होता है। धर्माचार्य होने के कारण उनमें उदारता का महान गुण भी दृष्टिगोचर होता है। वे धार्मिक, लौकिक, दार्शनिक सभी प्रकार के साहित्य के अध्ययन के लिए सबको समान अधिकारी मानते है।

आचार्य सोमदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ नीतिवाक्यामृतम में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो पुरुषार्थों का वर्णन किया है। अर्थ को धर्म के समकक्ष स्थान प्रदान करके आचार्य ने प्राचीन परम्परा मे एक महान् सुधार किया है। जैन संन्यासी होने हुए भी उन्होने अर्थ के महत्व का भली-भांति अनुभव किया है। धर्म के उपरान्त अर्थ पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि "जिससे सब प्रयोजनो की सिद्धि हो वह अर्थ है।"[1]

जो मनुष्य सदैव अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार अर्थानुबन्ध (व्यापारिक साधनो से अविद्यमान धन का संचय, संचित की रक्षा और रक्षित को वृद्धि) से धन का उपभोग करता है वह उसका धनाढ्य हो जाता है।[2]

नैतिक व्यक्ति को अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करने मे प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योकि ऐसा करने वाला व्यक्ति ही भविष्य मे सुखी रहता है। धन के सदुपयोग पर भी नीतिकार ने बहुत बल दिया है। वे लिखते है कि जो लोभी पुरुष अपने धन से तीर्थों (सत्पात्रों) का आदर नही करता उनको दान नहीं देता उसका धन शहद की मक्खियो के समान अन्य व्यक्ति ही नष्ट कर देते है।[3] मनुष्य को अपने सुखो का बलिदान करके धन सग्रह नही करना चाहिए। यह बात नीति के विरुद्ध है। अनेक कष्ट सहन कर धनोपार्जन करना दूसरो का बोझ ढोने के समान है।[4] धन की वास्तविक सार्थकता तभी है, जब उससे मन और इन्द्रियों की पूर्ण तृप्ति हो।[5]

कोष का महत्व—

राजशास्त्र प्रणेताओ ने राज्यागो मे कोष को बडा महत्त्व प्रदान किया है। आचार्य सोमदेव लिखते है कि कोष ही राजाओ का प्राण है।[6] सचित कोष संकट-काल में राष्ट्र की रक्षा करता है। वही राजा राष्ट्र को सुरक्षित रख सकता है जिसके पास विशाल कोष है। सचित कोष वाला राजा ही युद्ध को दीर्घकाल तक चलाने मे समर्थ हो सकता है। दुर्ग मेस्थित होकर प्रतिरोधात्मक युद्ध को चलाने के लिए भी सुदृढ कोष की आवश्यकता होती है। इसलिए कोष को क्षीण होने से बचाने तथा सचित कोष की वृद्धि करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक उपाय बतलाये है। राजनीति केग्रन्थो में अपने महत्त्व के कारण ही कोष एक स्वतन्त्र विषय रहा है। आचार्य सोमदेव ने भी अन्य आचार्यों की भाति इस विषय पर भी प्रकाश डाला है। नीतिवाक्यामृतम मे कोष समुद्देश सम्बन्धी बातो का दिग्दर्शन कराता है।

आचार्य सोमदेव ने कोष समुद्देश के प्रारम्भ मे ही कोष की परिभाषा दी है। उनके अनुसार जो विपत्ति और सम्पत्ति के समय राजा के तन्त्र की वृद्धि करता है वह कोष है।[7] धनाढ्य पुरुष अथवा राजा को धर्म और धन की रक्षा के लिए तथा सेवको के पालन के लिए कोष की रक्षा करनी चाहिए। कोष की उत्पत्ति राजा के साथ ही हुई है। जैसा कि महाभारत के इस वर्णन से प्रकट होता है— 'प्रजा ने मनु के कोष के लिए पशु और हिरण्य का पचासवाँ भाग तथा धान्य का दसवाँ भाग देना स्वीकार किया[8]।'

समस्त आचार्यों ने कोष के महत्त्व को स्वीकार किया है। आचार्य सोमदेव का उपरोक्त कथन—"कोष ही राजाओ का प्राण है"—इसके महान् महत्त्व का द्योतक है। आचार्य सोमदेव आगे लिखते हैं कि जो राजा कोड़ी-कोडी करके अपने कोष की वृद्धि नही करता उसका भविष्य में कल्याण नहीं होता।[9] आचार्य सोमदेव लिखते हैं राज्य की उन्नति कोष से होती है न कि राजा के शरीर से।[10] आगे वे लिखते हैं कि जिसके पास कोष है वही युद्ध

में विजयी होता है।[11] इस प्रकार आचार्य कोष को राज्य की सर्वांगीण उन्नति एवं उसकी सुरक्षा का अमोघ साधन मानते है। कोष वाले राजा को सेवक और सेना सब कुछ सुलभ होसकते है। परन्तु कोष विहीन राजा को कोई भी वस्तु नही हो सकती।

आय-व्यय—सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले न्यायोचित साधन अथवा उपाय, कृषि, व्यापार आदि एव राज्य द्वारा उचित कर लगाना आदि को कर कहा गया है। स्वामी की आज्ञानुसार धन खर्च करना व्यय है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राजा अपनी आय के अनुसार ही व्यय करे, क्योंकि जो राजा आय का विचार न करके अधिक व्यय करता है वह कुबेर के समान असख्य धन का स्वामी होकर भी भिक्षुक के समान आचरण करने वाला हो जाता है।[12] एक अन्य स्थान पर वे लिखते है कि नित्य धन के भय से सुमेरु भी क्षीण हो जाता है।[13]

राजकर के सिद्धान्त—प्राचीन काल मे कर के कुछ निश्चित सिद्धान्त थे जिनका उल्लेख धर्मशास्त्रो मे किया गया है। राजा प्रजा पर कर लगाने मे स्वतन्त्र नही था, अपितु वह उन्ही करो को प्रजा पर लगा सकता था जिनका प्रतिपादन स्मृति ग्रन्थो द्वारा किया गया है। आचार्य सोमदेव का मत है कि अधिक कर लगाकर जनता का मूलोच्छेदन करना सर्वथा अनुचित है। जिस प्रकार वृक्ष के काटने से केवल एक बार ही फल प्राप्त हो सकते है, भविष्य मे नही।[14] इसी प्रकार यदि जनता पर प्रारम्भ मे ही भारी कर लगा दिए जायेगे तो राज्य को केवल एक बार ही धन प्राप्त हो सकेगा भविष्य मे उसे धन की प्राप्ति नही हो सकेगी क्योंकि भारी करो को एक बार अदा करके जनता गरीब हो जायेगी और फिर वह कर देने योग्य नही रहेगी। अत. राज्य को कभी लोभ अथवा तृष्णा के वशीभूत होकर प्रजा पर भारी कर नही लगाना चाहिए।

राजकर साधन था न कि साध्य—आचार्य सोमदेव ने कोष वृद्धि मे केवल धार्मिक और न्यायिक साधनो का प्रयोग करने की अनुमति प्रदान की है। अधार्मिक साधनो द्वारा कोष वृद्धि का उन्होंने विरोध किया है। वे लिखते है कि जब कोषहीन राजा अन्यायपूर्वक प्रजा से धन ग्रहण करता है तो प्रजा उसका देश छोड़कर अन्यत्र चली जाती है और इस प्रकार राष्ट्र जनशून्य हो जाता है।[15] बिना प्रजा के राज्य का अस्तित्व भी नही रहता। अन्यत्र आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि यदि राजा प्रयोजनार्थियो के इष्ट प्रयोजन न कर सके तो उसे उनकी भेंट स्वीकार नही करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से लोक मे उसकी हँसी और निन्दा होती है। राजा को अपराधियो के जुर्माने से आये हुए, जुआ में जीते हुए, युद्ध मे मारे गए, नदी, तालाब और मार्ग आदि में मनुष्यों के द्वारा भूले हुए धन का तथा चोरी के धन का, पति पुत्रादि कुटुम्बियों से विहीन अनाथ स्त्री का अथवा रक्षकहीन कन्या का धन एव विप्लव आदि के कारण जनता द्वारा छोडे हुए धन का स्वय उपभोग कदापि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के धन का उपयोग प्रजा की भलाई के कार्यों में तो किया जा सकता था किन्तु उसका उपयोग राजा के लिए निषिद्ध था।

आय के स्रोत—प्राचीन काल मे राज्य की आय के दो प्रमुख स्रोत थे—(१) भूमि कर तथा (२) अन्य वस्तुओं पर लगने वाला कर। राजा की आय का प्रमुख साधन भूमि कर ही था, जो उपज का छठा अश ही था। आचार्य सोमदेव ने इस सम्बन्ध में कुछ नही लिखा है कि भूमिकर की दर क्या हो। किन्तु नीतिवाक्यामृत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सोमदेव भी भूमिकर के सम्बन्ध मे उसी प्राचीन परम्परा को मानते थे। त्रयी समुद्देश के चौबीसवे सूत्र से ज्ञात होता है कि नीतिवाक्यामृत मे भी छठे भाग का ही अनुमोदन किया गया है।

आचार्य सोमदेव के अनुसार कृषको के साथ राजा का व्यवहार उदारतापूर्वक ही होना चाहिए। अनावृष्टि के कारण यदि फसल अच्छी न हो तो उनको लगान में छूट देनी चाहिए या कृषको को लगान से पूर्णरूपेण मुक्त कर देना चाहिए। कर ग्रहण करने मे भी उनके साथ कठोरता का व्यवहार नही करना चाहिए। जो राजा लगान न देने के कारण कृषको की गेहू, चावल आदि की अधपकी फसल कटवा कर हस्तगत कर लेता है वह उन्हें देश त्याग के लिए वाध्य करता है। जिसके कारण राजा और प्रजा दोनों को ही आर्थिक सकट का सामना करना

पड़ता है। अतः राजा को कृषकों के साथ इस प्रकार का अन्याय करना सर्वथा अनुचित है।

आयात और निर्यात कर- नीतिवाक्यामृत में आयात और निर्यात कर का भी उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध मे भी आचार्य ने कुछ निर्देश दिए है। उनका कथन है कि जिस राज्य मे अन्य देश की वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाता है तथा वहा के राजकर्मचारी बलपूर्वक अल्प मूल्य देकर व्यापारियो से बहुमूल्य वस्तुए छीन लेते हैं उस राज्य मे अन्य देशों से माल आना बन्द हो जाता है। इससे राज्य की आय का प्रमुख स्रोत समाप्त हो जाता है। अत. बाहर के माल पर अधिक कर नही लगाना चाहिए। अल्प कर लगाने से विदेशी व्यापारियो को देश मे माल लाने की प्रेरणा मिलती है और वे बहुत सा माल लाते है। अधिक आयात होने मे उस पर लगने वाले शुल्क से राजा की आय मे पर्याप्त वृद्धि होती है।

शुल्क स्थानों की सुरक्षा—किसी देश मे बाहर के व्यापारी तभी आ सकते है जबकि उनकी सुरक्षा की उचित व्यवस्था हो। यदि शुल्क स्थानो पर अथवा मार्ग मे उनको चोर आदि लूट ले या वहाँ के अधिकारी अल्प मूल्य देकर उनकी बहुमूल्य वस्तुए हस्तगत कर ले अथवा उनसे उत्कोच आदि लेने का प्रयत्न करे तो वहा पर विदेशी व्यापारियो का आना बन्द हो जाता है। इसी कारण आचार्य सोमदेव शुल्क स्थानो की पूर्ण सुरक्षा को अत्यन्त आवश्यक समझते है। उनका कथन है कि राष्ट्र के शुल्क स्थान जो कि न्याय से सुरक्षित होते है अर्थात् जहा अधिक कर ग्रहण न करके न्यायोचित कर लिया जाता है तथा चोरो आदि द्वारा चुराई गई प्रजा की धनादि वस्तु पुन लौटा दी जाती है वहाँ पर व्यापारियो को क्रय और विक्रय योग्य वस्तुओं को अधिक दुकानें होने के कारण वे स्थान राजा को कामधेनु के समान अभिलषित वस्तुए प्रदान करने वाले होते हैं[21]।

व्यापारी वर्ग पर राजकीय नियंत्रण—राज्य का अन्तिम लक्ष्य जनता का कल्याण एव उसकी सर्वतोमुखी उन्नति करना है। व्यापारी वर्ग जन कल्याण के मार्ग मे बाधक बन सकता है। अत. उस पर कठोर नियन्त्रण रखने का आचार्य सोमदेव ने राज्य को निर्देश दिया है। व्यापार एवं वाणिज्य पर राजकीय नियंत्रण न होने से व्यापारी वर्ग मनमानी करने लगता है। पदार्थों में मिश्रण, तौल में न्यूनता तथा पदार्थों के मूल्य में वृद्धि करना व्यापारी वर्ग की स्वाभाविक मनोवृत्ति होती है। वणिक्जनों के नाप-तौल मे अनियमितता करने तथा मिथ्या व्यवहार के कारण सोमदेव ने उन्हें पश्यतोहर बतलाया है[22]। पश्यतोहर शब्द स्वर्णकार के लिए रूढ है, किन्तु उक्त दूषित प्रवृत्तियो के कारण ही आचार्य सोमदेव ने वणिक्जन को भी पश्यतोहर कहा है। व्यापारी वर्ग को अधिक लाभ लेने से रोकने तथा वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने की ओर भी उन्होंने सकेत किया है[23]। व्यापारी वर्ग मूल्य मे वृद्धि करने के उद्देश्य से सचित धान्य भण्डारो का विक्रय रोक देते है। इससे राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत गम्भीर हो जाती है और जनता को अनेक कष्टो का सामना करना पड़ता है। अतः आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यापार मे नाप-तौल की सच्चाई की रक्षा करे। इसके साथ ही राज्य मे आर्थिक सुव्यवस्था एवं उसके सम्मान की रक्षा के लिए व्यापारी वर्ग में सत्य निष्ठा उत्पन्न करे[24]।

जहां व्यापारी लेन-देन में झूठ का व्यवहार करते है, जहां की तुला अविश्वसनीय है, उस देश का व्यापारिक स्तर अन्य देशो की दृष्टि में हीन और अविश्वसनीय हो जाता है[25]। इसके परिणाम स्वरूप राज्य के व्यापार को महान् क्षति पहुचती है। इस कारण व्यापार मे सत्यता का पालन परम आवश्यक है। जहां पर व्यापारी लोग मनमाना मूल्य बढाकर वस्तुओं को बेचते हैं और कम से कम मूल्य में खरीदते है वहां की जनता दरिद्र हो जाती है[26]। अतः राजा को वहां की ठीक व्यवस्था करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र और स्वर्ण आदि पदार्थों का मूल्य देश, काल और पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा से होना चाहिए[27]। जो राजा यह जानता है कि मेरे राज्य में या अमुक देश में अमुक वस्तु उत्पन्न हुई है अथवा नही उसे देशापेक्षा कहते हैं। इस समय अन्य देश से हमारे देश में अमुक वस्तु का प्रवेश हो सकता है अथवा नहीं इसे कालापेक्षा कहते है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह उक्त देश-

कालादि की उपेक्षा का ज्ञान करके समस्त वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करे जिससे व्यापारी लोग मूल्य बढ़ाकर प्रजा को निर्धन न बना सकें।

इसके साथ ही राजा को उन व्यापारियों की परीक्षा भी करते रहना चाहिए जो बहुमूल्य वस्तुओं मे मिलावट करते है। दो प्रकार की तुला रखते हो तथा नापने तौलने के बाटो आदि मे कमी-वेशी करते हो[१८]। यदि व्यापारी लोग परस्पर की ईर्ष्या के कारण वस्तुओ का मूल्य बढ़ा देवें तो ऐसी स्थिति मे राजा का यह कर्त्तव्य हो जाता है तो वह बढाये हुए मूल्य को व्यापारी वर्ग से छीन ले और उन्हें केवल उचित मूल्य ही दे[१९]। यदि किसी व्यापारी ने किसी की बहुमूल्य वस्तु को धोखा देकर अल्प मूल्य मे क्रय कर लिया है तो राजा विक्रेता की बहुमूल्य वस्तु पर अपना अधिकार कर ले एव विक्रेता को उतना मूल्य दे, जितना कि उसने क्रेता को दिया था[२०]। अन्न संग्रह करने वालो को आचार्य सोमदेव ने राष्ट्र कण्टकों की सूची में रखा है और उन पर पूर्ण नियंत्रण रखने का राजा को आदेश दिया है[२१]। राजा को उनकी उपेक्षा कभी नही करनी चाहिए और उनको कठोर दण्ड देना चाहिए, क्योकि वे लोग अन्न सग्रह करके मूल्यों मे वृद्धि कर देते है जिससे जनता को अनेक प्रकार के कष्टो का सामना करना पड़ता है। ये लोग अन्न-सकट के उत्पन्न करने वाले है। अतः राजा को सदैव इनसे सावधान रहना चाहिए। आचार्य सोमदेव का कथन है कि जो राजा अन्यायो की उपेक्षा करता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है[२२]। इसके अतिरिक्त आचार्य सोमदेव ने दुर्भिक्ष तथा सकट काल का सामना करने के सम्बन्ध मे भी राजा को बहुत सुन्दर परामर्श दिया है। आचार्य का कथन है कि राजा को धान्य एव लवण का संग्रह करना चाहिए क्योंकि यही दो वस्तुएँ संकट काल में प्रजा और सेना को जीवित रखती हैं[२३]। उनका कथन है कि अन्न संग्रह सब संग्रहों से उत्तम है[२४]। इसका कारण यही है कि अन्न के कारण प्रजा और सेना की जीवन यात्रा चलती है। धान्य संग्रह न करने से होने वाली हानि की ओर भी आचार्य ने सकेत किया है। इस संबंध में सोमदेव ने लिखा है कि जो राजा अपने देश में धान्य-सग्रह नही करता और अधिक व्यय करता है तो उसके राज्य मे सदैव दुर्भिक्ष रहा करता है[२५]। अतः राजा को शरद् और ग्रीष्म ऋतु मे दोनो फसलों के समय धान्य संग्रह कर लेना चाहिए। यह धान्य दुर्भिक्ष के समय प्रजा को भी उचित मूल्य पर दिया जा सकता है। इस प्रकार जनता सकट काल का सामना आसानी से कर लेती है।

इस प्रकार नीतिवाक्यामृत में राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने, कोष वृद्धि करने, व्यापार एवं वाणिज्य पर नियन्त्रण रखने एवं वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने के सम्बन्ध मे बहुत उपयोगी विचार व्यक्त किए गये हैं। सोमदेव ने कृषि, व्यापार एवं पशुधन को राज्य की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला बतलाया है। इससे स्पष्ट होता है कि एक धर्माचार्य होने के साथ-साथ आचार्य सोमदेव एक बहुत बड़े अर्थशास्त्री भी थे। उनके उपर्युक्त आर्थिक सिद्धान्त आधुनिक युग के लिए भी महान् उपयोगी है। राज्य की सुदृढ आर्थिक व्यवस्था के लिए इनका अनुकरण अत्यन्त आवश्यक है।

—जैन कालिज, बड़ौत

संदर्भ-सूची

(नीतिवाक्यामृत)

१. २११, २. २१२, ३. २१४, ४. ३१५, ५. ३१६, ६. २११५, ७. २११,

६. २११४, १०. २११७, ११. २११८, १२. १६, १८।

१३. ८, ५, १४. १४, २६, १५. २१, ६, १६. १७, ५०, १७. ६, ५, १८. ध, २४, १६. १६, १५, २०. ८, ११-१२, २१. १६, २१, २२. ८, १७, २३. ८, १५, २४. १८, १६, २५. १८, १३, २६. ८, १४, २७. ८, २५, २८. ८, १६; २६. १८, १८, ३०. ८, १६, ३१. ८, २१, ३२. १८, २७ ३३. १८, ७१, ३४. १८, ६६, ३५. ८, ६।

८. यो विपदि सपदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः।

—महाभारत शान्तिपर्व ६७, २३-२४

प्राच्य भारतीय भाषाओं में पार्श्वनाथ-चरित की परम्परा

□ डा० राजाराम जैन, आरा

संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओ के कवियों मे भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन-चरित बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। आगम-साहित्य एवं विविध महापुराणों मे उनके अनेक प्रासगिक कथानक तो उपलब्ध होते ही हैं, उनके अतिरिक्त स्वतन्त्र, सर्वप्रथम एव महा-काव्य-शैली में लिखित जिनसेन (प्रथम कृत पार्श्वाभ्युदय-काव्य[1] (वि० स० ६वी सदी) एवं वादिराजकृत पार्श्वनाथ-चरितम्[2] (वि० सं० १०८२) संस्कृत-भाषा मे; देवभद्र कृत पासणाहचरियं[3] (वि० सं० ११६८) प्राकृत भाषा में तथा कवि पद्मकीर्ति कृत पासणाहचरिउ[4] (वि० सं० ११८१) अपभ्रंश भाषा मे उपलब्ध है। इन काव्य-रचनाओ से परवर्ती कवियो को बड़ी प्रेरणा मिली और उन्होंने भी विविध कालो एव विविध भाषाओं में एतद्विषयक अनेक रचनाए लिखी, जिनमे से विबुध श्रीधर[5] (वि०स० ११८६) माणिक्यचन्द्र[6] (१३वी सदी), भावदेवसूरि[7] (वि० स० १३५५), असवाल[8] (१५वी सदी), भट्टारक सकलकीर्ति[9] वि० सं० १५वी सदी), कवि रइधू[10] (वि० सं० १५-१६वी सदी, कवि पद्मसुन्दर[11] एव हेमविजय[12] (१६वी सदी) तथा पण्डित भूधरदास[13] (१८वी सदी) आदि प्रमुख है।

विबुध श्रीधर कृत पासणाह रिउ—

'पार्श्वनाथ चरित' सम्बन्धी उक्त रचनाओं में से विबुध श्रीधर कृत 'पासणाहचरिउ', जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है, उस पर प्रस्तुत-निबन्ध मे कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है। इसका कथानक यद्यपि परम्परा प्राप्त ही है, किन्तु कथावस्तु-गठन, भाषा, शैली, वर्णन-प्रसंग, समकालीन संस्कृति एवं इतिहास-सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि में यह रचना विशेष महत्त्व-पूर्ण है।

मूल प्रति परिचय—

उक्त 'पासणाहचरिउ' की एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है, जिसमें कुल ९९ पत्र हैं। इन पत्रों की लम्बाई एवं चौड़ाई १०" × ४॥" है। उसके प्रत्येक पत्र में १२ पंक्तियां तथा प्रत्येक पं० में ३५—४० वर्ण हैं। इसका प्रतिलिपि काल वि० सं० १५७७ है। यह प्रति शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखित है।[14]

अनेक विबुध श्रीधरों की भिन्नाभिन्नता—

जैन-साहित्य मे लगभग आठ विबुध श्रीधरों के नाम एव उनकी लगभग उतनी ही कृतिया उपलब्ध होती हैं। यथा—(१) पासणाहचरिउ[15], (२) वड्ढमाणचरिउ[16], (३) सुकुमालचरिउ[17], (४) भविसयत्तकहा[18], (५) भविसयत्त-पचमीचरिउ[19], (६) भविष्यदत्तपंचमीकथा[20], (७) विश्व-लोचनकोश[21], (८) श्रुतावतारकथा[22]। इनमें से अन्तिम तीन रचनायें सस्कृत-भाषा में तथा पांचवीं रचना अप-भ्रंश भाषा मे निबद्ध है। अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर तथा उनके रचनाकालों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि उन चारो कृतियो के लेखक भिन्न-भिन्न विबुध श्रीधर है। क्योंकि उनका रचनाकाल वि० स०......... से.........तक है, जो कि प्रस्तुत पासणाह-चरिउके रचनाकाल (वि० स० ११८६) से......... वर्षों के बाद की है। इनका परस्पर में किसी भी प्रकार का मेल नही बैठता।

अवशिष्ट प्रथम चार रचनायें अपभ्रंश की हैं। उनकी प्रशस्तियो से ज्ञात होता है कि वे चारो रचनायें एक ही कवि विबुध श्रीधर की हैं, जो विविध आश्रयदाताओं के आश्रय मे लिखी गयीं।

कवि परिचय—

सन्दर्भित 'पासणाहचरिउ' की प्रशस्ति में विबुध श्री-धर ने अपने पिता का नाम गोल्ह एवं माता का नाम वील्हा बतलाया है। इसके अतिरिक्त उसने अपना अन्य किसी भी प्रकार का पारिवारिक परिचय नहीं दिया।

'पासणाहचरिउ' की समाप्ति के एक वर्ष बाद प्रणीत अपने 'वड्ढमाणचरिउ' में भी उसने अपना भाव उक्त परिचय ही प्रस्तुत किया है। वह गृहस्थ था अथवा गृह विरत त्यागी, इसकी उसने कोई भी चर्चा नही की। कवि की 'विबुध' नामक उपाधि से यह तो अवश्य ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अपनी काव्य प्रतिभा के कारण उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त रहा होगा, किन्तु इससे उसके पारिवारिक जीवन पर कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता। 'पासणाहचरिउ' एवं 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रशस्तियों के उल्लेखानुसार कवि ने 'चंदप्पहचरिउ'[१३] एवं संत 'जिणेसरचरिउ'[१४] नामक दो रचनाएं और भी लिखी थीं। किन्तु ये दोनों अभी तक अनुपलब्ध ही हैं। हो सकता है कि कवि ने अपनी इन प्रारम्भिक रचनाओं की प्रशस्तियों में स्व-विषयक कुछ विशेष परिचय दिया हो, किन्तु यह सब तो उन रचनाओं की प्राप्ति के बाद ही कुछ कहा जा सकेगा।

काल निर्णय —

विबुध श्रीधर की जन्म अथवा अवसान सम्बन्धी तिथियां भी अज्ञात है। उनकी जानकारी के लिए सन्दर्भ-सामग्री का सर्वथा अभाव है। इतना अवश्य है कि कवि की उपलब्ध निम्न चार रचनाओं की प्रशस्तियों में उनका रचना-समाप्तिकाल अंकित है। इनके अनुसार 'पासणाह-चरिउ' तथा 'वड्ढमाणचरिउ' का रचना-समाप्तिकाल क्रमशः वि० सं० ११८९ एवं ११९० तथा सुकुमालचरिउ एवं भविसयत्तकहा का रचना समाप्तिकाल क्रमशः वि० सं० १२०८ और १२३० है[१५]। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, 'पासणाहचरिउ' एवं 'वड्ढमाणचरिउ' में जिन पूर्वोक्त 'चंदप्पहचरिउ' एवं 'सन्तजिणसरचरिउ' नामक अपनी पूर्वरचित रचनाओं के उल्लेख कवि ने किए है,[१६] वे अद्यावधि अनुपलब्ध ही हैं। उन्हें छोड़कर बाकी उपलब्ध चारों रचनाओं का रचनाकाल वि० स० ११८९ से १२३० तक का सुनिश्चित है। अब यदि यह मान लिया जाय कि कवि को उक्त प्रारम्भिक रचनाओं के प्रणयन मे ५ वर्ष लगे हो तथा उसने २० वर्ष की आयु से साहित्य-लेखन का कार्यारम्भ किया हो तब अनुमानतः कवि की कुल आयु लगभग ६३ वर्ष की सिद्ध होती है और जब तक अन्य ठोस सन्दर्भ-सामग्री प्राप्त नहीं होती, तब तक मेरी दृष्टि से कवि का कुल जीवन-काल वि० सं० ११६४ से १२३० तक माना जा सकता है।

निवास एवं साधना स्थान तथा समकालीन राजा—

'पासणाहचरिउ' की प्रशस्ति में उसने अपने को हरयाणा देश का निवासी बताया है और कहा है कि वह वहा से 'चंदप्पहचरिउ' की रचना-समाप्ति के बाद यमुना नदी पार करके 'ढल्ली आया था'[१७]। उस समय वहां राजा अनंगपाल तोमर का राज्य था, जिसने कि हम्मीर जैसे वीर राजा को भी पराजित किया था। यथा—णिरुदल वट्टिय हम्मीर वीरु······पास० १।४।२।

१८वी सदी के अज्ञात कर्तृक 'इन्द्रप्रस्थ प्रबन्ध'[१८] नामक ग्रन्थ मे उपलब्ध तोमरवंशी १६ राजाओं मे से उक्त अनंगपाल १६वाँ राजा था। इनमे अनंगपाल नाम के ३ राजा हुए जिनमे से प्रस्तुत अनंगपाल तीसरा था। इसने जिस हम्मीर वीर को पराजित किया था प्रतीत होता है कि वह कांगड़ा नरेश हाहुलिराव हम्मीर रहा होगा, जो एक बार हुंकार भरकर अरिदल मे जा घुसता था और उसे रौंद डालता था। इसी कारण हम्मीर को 'हाहुलिराव' की संज्ञा प्रदान की गई थी, जैसा कि 'पृथिवीराजरासो' मे एक उल्लेख मिलता है :—

"हाँ कहते ढीलन करिय हलकारिय अरि मथ्थ।
ताथे विरद हम्मीर को "हाहुलिराव" सुकथ्थ॥

सम्भवतः इसी हम्मीर को राजा अनंगपाल ने हराया होगा। युद्ध मे उसके पराजित होते ही उसके साथी अन्य राजा भी भाग खड़े हुए थे। यथा —

सेंधव सोण कीर हम्मीर वि सगर मेल्लि चल्लिया॥छ॥
—पास० ४।१३।२

अर्थात सिन्धु, सोन एवं कीर नरेशो के साथ राजा हम्मीर भी संग्राम छोड़कर भाग गया[१९]।

विबुध श्रीधर ने जिस दिल्ली नगर की चर्चा की है, आधुनिक दिल्ली का ही वह तत्कालीन नाम है। कवि के समय मे वह हरयाणा-प्रदेश का ही एक प्रमुख नगर था। 'पृथिवीराजरासो' में पृथिवीराज चौहान के प्रसंगों मे ढिल्ली के लिए 'दिल्ली' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उसमे इस नामकरण की एक मनोरंजक कथा भी कही गई है, जिसे तोमरवंशी राजा अनंगपाल की पुत्री अथवा

पृथिवीराज चौहान की माता ने स्वय पृथिवीराज को सुनाई थी। उसके अनुसार राज्य की स्थिरता के लिए एक ज्योतिषी के आदेशानुसार जिस स्थान पर कीली गाडी गई थी, वह स्थान प्रारम्भ मे "किल्ली के नाम से प्रसिद्ध हुआ, किन्तु उस कील को ढीला कर देने से उस स्थान का नाम 'ढिल्ली' पड़ गया, जो कालान्तर मे दिल्ली के नाम से जाना जाने लगा। १८वी सदी तक दिल्ली के ११ नामो में से ढिल्ली भी एक नाम माना जाता रहा जैसा कि "इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध"[३१] (श्लोक सख्या १४-१५) मे एक उल्लेख मिलता है :—

शक्रपन्था इन्द्रप्रस्था शुभकृत् योगिनीपुर।
दिल्ली ढिल्ली महापुर्या जिहानाबाद इष्यते॥
सुषेण महिमायुक्ता शुभाशुभकरा इति।
एकादश मित नाम्ना दिल्ली पुरी च वर्त्तते॥

इस प्रकार पासणाहचरिउ मे राजा अनगपाल, राजा हम्मीर-वीर एव ढिल्ली के उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण है। इन सन्दर्भों तथा समकालीन साहित्य एव इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन से मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कई प्रच्छन्न अथवा जटिल रहस्यो का उद्घाटन सम्भव है।

आश्रयदाता नट्टल साहू—

जैसा कि पूर्व मे लिखा जा चुका है कि प्रस्तुत रचना की आद्य-प्रशस्ति के अनुसार कवि अपनी 'चदप्पहचरिउ' की रचना-समाप्ति के बाद असख्य कार्य-व्यस्त ग्रामो वाले हरयाणा-प्रदेश को छोड़कर यमुना नदी पारकर ढिल्ली आया था, तथा वहा राजा अनगपाल के एक मन्त्री साहू अल्हण से उसकी सर्वप्रथम भेट हुई। साहू अल्हण उसके 'चदप्पहचरिउ' का पाठ सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने कवि को नगर के महान् साहित्य रसिक एव प्रमुख सार्थवाह साहू नट्टल से भेट करने का आग्रह किया, किन्तु कवि बडा सकोची था। अत: उसने उनसे भेट करने की अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा कि—"हे साहू, ससार मे दुर्जनों की कमी नही, वे कूट-कपट को ही विद्वत्ता मानते है, सज्जनो से ईर्ष्या एव विद्वेष रखते है तथा उनके सद्‌गुणों को असह्य मानकर उनसे दुर्व्यवहार करते है। वे उन्हे कभी तो मारते है और कभी टेढ़ी-मेढ़ी आंखें दिखाते है अथवा कभी वे उनका हाथ, पैर अथवा सिर ही तोड़ देते है। किन्तु मै तो ठहरा सीधा, सादा, सरल स्वभावी, अत: मैं किसी के घर जाकर उससे नही मिलना चाहता[३१]।

किन्तु अल्हण साहू के पूर्ण विश्वास दिलाने एवं बार-बार आग्रह करने पर कवि साहू नट्टल के घर पहुंचा तो वह उसके मधुर-व्यवहार से बड़ा सन्तुष्ट हुआ। नट्टल ने कवि को प्रमुदित होकर स्वयं ही आसन पर बैठाया और सम्मान-सूचक ताम्बूल प्रदान किया। उस समय नट्टल एवं श्रीधर दोनो के मन में एक साथ एक ही जैसी भावना उदित हुई। वे परस्पर मे सोचने लगे कि :—

ज पुव्व जम्मि पविरइउ किंपि इह विहिवसेण परिणवइ तंपि [१।८।६]

अर्थात् "हमने पूर्वभव मे ऐसा कोई सुकृत अवश्य किया था, जिसका आज यह मधुर फल हमे मिल रहा है।"

साहू नट्टल के द्वारा आगमन-प्रयोजन पूछ जाने पर कवि ने उत्तर मे कहा—"मै अल्हण साहू के अनुरोध से आपके पास आया हूं। उन्होंने मुझसे आपके गुणो की चर्चा की है और बताया है कि आपने एक 'आदिनाथ-मन्दिर' का निर्माण कराकर उस पर "पचरगे झण्डे" को फहराया है। आपने जिस प्रकार उस भव्य मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई है, उसी प्रकार आप एक "पार्श्वनाथ-चरित" की रचना कराकर उसे भी प्रतिष्ठित कराइए जिससे आपको पूर्ण सुख-समृद्धि प्राप्त हो सके तथा कालान्तर में जो मोक्ष-प्राप्ति का कारण बन सके। इसके साथ-साथ आप चन्द्रप्रभ स्वामी की एक मूर्ति अपने पिता के नाम से उस मन्दिर में प्रतिष्ठित कराइए[१६]। कवि के कथन को सुनकर साहू नट्टल ने तत्काल अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

कुछ भ्रान्तियां—

कुछ विद्वानो ने 'पासणाहचरिउ' के प्रमाण देते हुए नट्टल साहू द्वारा दिल्ली में पार्श्वनाथ मन्दिर के निर्माण कराए जाने का उल्लेख किया है[१७] और विद्वज्जगत में अब लगभग वही धारणा बनती जा रही है, जबकि वस्तुस्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। यथार्थत: नट्टल से दिल्ली में पार्श्व-

नय मन्दिर नहीं आदिनाथ जिन मन्दिर का निर्माण कराया था जैसा कि आद्य-प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है :—
तित्थयरु पइट्ठावियउ जेण पढमउ को भणियइँ सरिसु तेण।
[१।६।६]

कारावेवि णाहेयो णिकेउ पविइण्णु पंचवण्ण सुकेउ।
पइं पुणु पइट्ठ पविरइय जेम पासहो चरित्तु जइ पुणु वितेम ।।
पास० १।६।१-२

अर्थात् आपने नाभेय-निकेत [आदिनाथ जिनमन्दिर] का निर्माण कराकर उस पर पाच वर्ण वाले ध्वज को फहराया है। जिस प्रकार आपने उक्त मन्दिर का निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा कराई है, उसी प्रकार यदि मैं 'पार्श्वचरित' की रचना करूँ तो आप उसकी भी उसी प्रकार प्रतिष्ठा कराइये।

उक्त वार्त्तालाप कवि श्रीधर एव नट्टल साहू के बीच का है। उस कथन में पार्श्वनाथचरित नामक ग्रन्थ के निर्माण एवं उसके प्रतिष्ठित किए जाने की चर्चा तो अवश्य आई है, किन्तु पार्श्वनाथ के मन्दिर के निर्माण की कोई चर्चा नहीं और कुतुबुद्दीन ऐवक ने नट्टल साहू द्वारा निर्मित जिस विशाल जैन मन्दिर को ध्वस्त करके उस पर "कुव्वत-उल-इस्लाम" नाम की मस्जिद का निर्माण कराया था, वह पार्श्वनाथ का नही आदिनाथ का मन्दिर था[३६]। पार्श्व-नाथ -मन्दिर के निर्माण कराए जाने के समर्थन मे विद्वानो ने जो भी सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं उनमें से किसी एक से भी उक्त तथ्य का समर्थन नहीं होता[३७]। प्रतीत होता है कि पार्श्वचरित को ही भूल से पार्श्व-मन्दिर मान लिया गया जो सर्वथा भ्रमात्मक है। इसमे सुधार होना अत्यावश्यक है।

इसी प्रकार साहू नट्टल को अल्हण साहू का पुत्र[३८] मान लिया गया, जो कि सर्वथा मिथ्या है। मूलग्रन्थ का विधिवत् अध्ययन न करने अथवा उनकी भाषा को न समझने या आनुमानित आधारों पर प्रायः ऐसी ही भ्रम-पूर्ण बातें कह दी जाती हैं जिनसे यथार्थ तथ्यों का क्रम ही लड़खड़ा जाता है। पासणाहचरिउ की प्रशस्ति के अनुसार अल्हण एवं नट्टल दोनों वस्तुतः घनिष्ट मित्र थे, पिता-पुत्र नहीं। अल्हण राज्यमन्त्री था, जब कि नट्टल साहू ढिल्ली नगर का एक सर्वश्रेष्ठ सार्थवाह, साहित्य-रसिक, उदार, दानी एवं कुशल राजनीतिज्ञ। वह अपने व्यापार के कारण अग, बग, कलिंग, गौड़, केरल, कर्नाटक, चोल, द्रविड, पांचाल, सिंध, खश, मालवा, लाट, जट्ट, नेपाल, टक्क, कोंकण, महाराष्ट्र, भादानक, हरयाणा, मगध, गुर्जर एवं सौराष्ट्र जैसे देशों में प्रसिद्ध तथा वहां के राज-दरबारों में उसे सम्मान प्राप्त था[३९]। कवि ने इसी नट्टल साहू के आश्रय मे रहकर 'पासणाहचरिउ' की रचना की थी। इस रचना की आदि एवं अन्त की प्रशस्तियों एवं पुष्पि-काओ में साहू नट्टल के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का अच्छा परिचय प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत "पासणाहचरिउ" मे कुल मिलाकर १२ संधियांएव २४० कडवक है। कवि ने इसे २५०० ग्रन्थ-प्रमाण कहा है। कवि ने वर्ण्य-विषय का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है :—

सन्धि १— आद्य-प्रशस्ति के बाद वैजयन्त विमान से कनक-प्रभदेव का चयकर वामादेवी के गर्भ में आना।
सन्धि २—राजा हयसेन के यहां पार्श्वनाथ का जन्म एव बाल-लीलाएँ।
सन्धि ३—हयसेन के दरबार मे यवन नरेन्द्र के राजदूत का आगमन एवं उसके द्वारा हयसेन के सम्मुख यवन नरेन्द्र की प्रशसा।
सन्धि ४—राजकुमार पार्श्व का यवन-नरेन्द्र से युद्ध तथा मामा रविकीर्त्ति द्वारा उसके पराक्रम की प्रशसा।
सन्धि ५—रविकीर्त्ति द्वारा पार्श्व से अपनी पुत्री के साथ विवाह कर लेने का प्रस्ताव। इसी बीच में वन में जाकर जलते हुए नाग-नागिनी को अन्तिम बेला में मन्त्र-प्रदान एवं वैराग्य।
सन्धि ६—हयसेन का शोक-सन्तप्त होना। पार्श्व की घोर-तपस्या का वर्णन।
सन्धि ७—पार्श्व-तपस्या एवं उन पर कमठ द्वारा किया गया घोर उपसर्ग।
सन्धि ८-९—कैवल्य-प्राप्ति एव समवशरण-रचना एवं धर्मोपदेश।
सन्धि १०—रविकीर्त्ति द्वारा दीक्षा-ग्रहण।
सन्धि ११—धर्मोपदेश।

सन्धि १२—पार्श्व के भवान्तर तथा हयसेन द्वारा दीक्षा-ग्रहण। अन्त्य-प्रशस्ति।

पासणाहचरिउ में उपलब्ध समकालीन कुछ ऐतिहासिक तथ्य—

पासणाहचरिउ यद्यपि एक पौराणिक महाकाव्य है, उसमें पौराणिक इतिवृत्त तथा दैवी-चमत्कार आदि प्रसगो की कमी नहीं। इसका मूल कारण यह है कि कवि विबुध श्रीधर का काल संक्रमणकालीन युग था। कामिनी एव काञ्चन के लालची मुहम्मद गोरी के आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे, उसकी विनाशकारी लूट-पाट ने उत्तर भारत को थर्रा दिया था। हिन्दू राजाओ मे भी फूट के कारण परस्पर में बड़ी कलह मची हुई थी। ढिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल को अपनी सुरक्षा हेतु कई युद्ध करने पड़े थे। कवि ने जिस हम्मीर-वीर के अनगपाल द्वारा पराजित किए जाने की चर्चा की है, सम्भवत वह घटना कवि की आँखों देखी रही होगी। कवि ने कुमार पार्श्व का यवन-राज के साथ तथा त्रिपृष्ठ का हयग्रीव के साथ जैसे क्रम-बद्ध एवं व्यवस्थित युद्ध वर्णन किए है, वे वस्तुत. कल्पना प्रसूत नहीं किन्तु हिन्दू-मुसलमानो अथवा हिन्दू राजाओ के पारस्परिक युद्धों के आँखो देखे अथवा विश्वस्त गुप्त-चरों द्वारा सुने गए यथार्थ वर्णन जैस प्रतीत होते है। उसने उन युद्धों मे प्रयुक्त जिन शस्त्रास्त्रों की चर्चा की है, वे पौराणिक ऐन्द्रजालिक अथवा दैवी नही अपितु खुरपा, कृपाण, तलवार, धनुष-बाण जैसे वे ही अस्त्र है जो कवि के समय में लोक प्रचलित थे। आज भी वे हरयाण एव दिल्ली प्रदेशों में उपलब्ध है और उन्ही नामो से जाने जाते हैं। ये युद्ध इतने भयंकर थे कि लाखो-लाखों विधवा नारियों एवं अनाथ बच्चो के करुण-क्रन्दन को सुनकर संवेदन-शील कवि को लिखना पड़ा था :—

……दुक्करु होइ रणगणु रिउ वाणावलि पिहिय णहंगणु।
संगरणामु जि होइ भयकरु तुरय-दुरय-रह-सुहड-खयकरु॥
२।१४।३, ५

कवि श्रीधर भावों के अद्भुत चितेरे है। यात्रा-मार्गों में चलने वाले चाहे सैनिक हो अथवा अटवियो मे उछल-कूद करने वाले बन्दर, वन-विहारो मे क्रीड़ायें करने वाले प्रेमी-प्रेमिकायें हों अथवा आश्रमों मे तपस्या करने वाले तापस, राज-दरबारो के सूर-सामन्त हों अथवा साधारण प्रजाजन, उन सभी के मनोवैज्ञानिक वर्णनो में कवि की लेखनी ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। इस प्रकार के वर्णनो मे कवि की भाषा भावानुगामिनी एव विविध रस एव अलकार उनका अनुकरण करते हुए दिखाई देते है।

पार्श्व प्रभु विहार करते हुए तथा कर्वट, खेड, मडब आदि पार करते हुए जब एक भयानक अटवी में पहुंचते है तब वहां उन्हें मदोन्मत्त गजाधिप द्रुतगामी हरिण, भयानक सिह, घुरघुराते हुए मार्जार एव उछल-कूद करते हुए लंगूरों के झुण्ड दिखाई पड़ते है। इस प्रसग में कवि द्वारा प्रस्तुत लगूरो का वर्णन देखिए, कितना स्वाभाविक बन पड़ा है :—

……………… ……सिर लोलिर लगूर॥
केवि कूरु घुरुहुरहिँ दूरत्थ फुरुहुरहि॥
केवि करहिँ ओरालि णमुवली पउरालि॥
केवि दाढ दरिसति अइविरसु विरसंति॥
केवि भूरि किलकिलहिँ उल्ललेवि वलि मिलहिँ॥
केवि णिहय पडिकूल महि हणिय लगूर॥
केवि करु पसारंति हिंसण ण परंति॥
केवि गयणयले कमहिँ अणवरउ परिभमहिँ॥
केवि अरुण णयणेहि भमुरिय वयणेहि॥
…… …… तासंत अकयत्थ तसति॥
केवि धुणहिँ सविसाण, कपविय पर पाण॥
केवि दुट्ठ कुप्पति परिकहि झड्प्पति॥
केवि पहुण पावति उसणत्थु धावति॥
७।१४।४-१६

अन्य वर्णन-प्रसगो मे भी कवि का कवित्व चमत्कार पूर्ण बन पड़ा है। इनमे कल्पनाओ की उर्वरता, अलकारो की छटा एव रसो के अमृत-मय प्रवाह दर्शनीय है। इस प्रकार के वर्णनो मे ऋतु-वर्णन, अटवी-वर्णन, सन्ध्या, रात्रि एव प्रभात-वर्णन तथा आश्रम-वर्णन आदि प्रमुख हैं। कवि की दृष्टि में सन्ध्या किसी के जीवन मे हर्ष उत्पन्न करती है तो किसी के जीवन मे विषाद। वस्तुत: वह हर्ष एव विषाद का विचित्र संगम काल है। जहाँ कामीजनों, चोरों एवं उल्लुओं एव राक्षसों के लिए वह श्रेष्ठ वरदान है, वही पर नलिनी-दल के लिए घोर-विषाद का काल।

वह उसी प्रकार मुरझा जाता है, जिस प्रकार इष्ट जन के वियोग में बन्धु-बान्धव गण। सूर्य के डूबते ही उसकी समस्त किरणे अस्ताचल मे तिरोहित हो गई है। इस प्रसग में कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहता है कि ठीक ही है विपत्ति काल मे अपने कर्मों को छोडकर और कौन किसका साथ दे सकता है? सूर्य के अस्त होते ही अस्ताचल पर लालिमा छा गई है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानों अन्धकार के गुफा-ललाट पर किसी ने सिन्दूर का तिलक ही जड़ दिया हो। यथा :—

अत्थइरि-सिहरिवि रत्तु पवट्टलु तम-विलउ,
सझए अवर-दिसि वयसियहा सिंदूरे कउ-लिलउ ॥
३।१७।१३-१४

अन्धकार मे गुफा ललाट पर सिन्दूर के तिलक की कवि-कल्पना सचमुच ही अद्भुत एव नवीन है।

कवि का रात्रि-वर्णन प्रसग भी कम चमत्कार-पूर्ण नही। वह कहता है कि समस्त ससार घोर अन्धकार की गहराई मे डूबने लगा है इस कारण विलासिनियों के कपोल रक्ताभ हो उठे है तथा उनके नीवी-बन्ध शिथिल होने लगे है। कवि कहता है :—

छुट्ट नीवी गय सझ विलासिणी अरुणत्तण गुण-घुसिण-
विलासिणी। ३।१८।३

बाल-लीला वर्णन—

कवि श्रीधर ने शिशु पार्श्व की लीलाओ का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उनकी बाल एव किशोर लीलाए, उनके असाधारण सौन्दर्य एव अंग-प्रत्यग की भाव-भंगिमाओं के चित्रणो मे कवि की कविता मानो सरसता का स्रोत बनकर उमड पडी है। कवि कहता है कि शिशु पार्श्व कभी तो माता के अमृतमय दुग्ध का पान करते, कभी अंगूठा चूसते, कभी मणि-जटित चमचमाती गेंद खेलते तो कभी तुतली बोली मे कुछ बोलने का प्रयास करते। कभी तो वे स्वय रेंग-रेंगकर चलते और कभी परिवार के लोगों की अंगुली पकड़कर चलते। जब वे माता-पिता को देखते तो अपने को छिपाने के लिए वे हथेलियों से अपनी हो आँखें ढँक लेते। चन्द्रमा को देखकर वे हँस देते थे। उनका जटाजूट धारी शरीर निरन्तर धूलि-धूसरित रहता था। खेलते समय उनकी करधनी की शब्दायमान किंकणियां सभी को मोहती रहती थी।" कवि के इस बाल-लीला वर्णन ने हिन्दी के भक्त कवि सूरदास को सम्भवत: सर्वाधिक प्रभावित किया है। कृष्ण की बाल-लीलाओ के वर्णनों की सदृशता तो दृष्टिगोचर होती ही है, कही-कही अर्धालियो में भी यत्किञ्चित् हेर-फेर के साथ उनका उपयोग कर लिया गया प्रतीत होता है। यथा—

श्रीधर—अविरल धूली धूसरिय गत्त २।१५।५.
सूर—धूरि धूसरित गात १०।१००।३.
श्रीधर—होहल्लरु (ध्वन्यात्मक) २।१४।८.
सूर—हलरावें (ध्वन्यात्मक) १०।१२८।८.
श्रीधर—खलियक्खर वयणिहिं वज्जरतु २।१४।३.
सूर—बोलत श्याम तोतरी बतियां १०।१४७.
श्रीधर—परिवारगुलि लग्गउ सरतु २।१४।४.
सूर—हरिकी लाइ अगुरी चलन सिखावत १०।१२८।८

इस प्रकार दोनो कवियो के वर्णनो की सदृशताओं को देखते हुए यदि सक्षेप मे कहना चाहे तो कह सकते हैं कि श्रीधर का सक्षिप्त बाल-वर्णन सूरदास कृत कृष्ण की बाल-लीलाओ के वर्णन के रूप मे पर्याप्त परिष्कृत एवं विकसित हुआ है।

वनस्पति-वर्णन—

कवि श्रीधर की विविध वनस्पतिया भी कम आश्चर्यजनक नही। अटवी-वर्णन के प्रसग मे विविध प्रकार के वृक्ष, पौधे, लताएँ, जिमीकन्द आदि के वर्णनो में कवि ने मानो सारे प्रकृति-जगत को साक्षात् उपस्थित कर दिया है। आयुर्वेद एवं वनस्पति शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से कवि की यह सामग्री बड़ी महत्वपूर्ण है। कवि द्वारा वर्णित वनस्पतियो का वर्गीकरण निम्न प्रकार है"।

शोभा-वृक्ष—हिंताल, तालूर, साल, तमाल, मालूर, धव, धम्मण, वस, खदिर, तिलक, अगस्त्य, प्लक्ष, चन्दन।

फल-वृक्ष—आम्र, कदम्ब, नीबू, जम्बीर, जामुन, मातुलिंग, नारगी, अरलू, कोरटक, अंकोल्ल, फणिस, प्रियंगु, खजूर, तिन्दुक, कैथ, ऊमर,

(शेष पृ० २३ पर)

गतांक से आगे :

जैन विद्याओं में शोध : एक सर्वेक्षण

☐ डा० नन्दलाल जैन

विषय-संबद्ध शोधों का विश्लेषण

(अ) ललित साहित्य

इस विषय के अन्तर्गत हिन्दी, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में लिखित काव्य, महाकाव्य, चंपू, पुराण, स्तोत्र, कथा, पूजा, शतक एवं बारहमासा आदि रूप समाहित है। सर्वाधिक शोधकार्य राम कथा (१५) के विविध पक्षों पर हुआ है। पउमचरिउ, प्रद्युम्न चरित, कुमारपाल चरित, हरिवंश पुराण, (१५) और पुष्पदन्त ने अनेक शोधकर्ताओं को आकृष्ट किया है। अब तक लगभग तीन दर्जन संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों पर अध्ययन हो चुका है। इनमे क्षत्र चूडामणि छूट गया लगता है, चउपन्न महापुरिस चरिउ भी अछूता है। इस बीच अनेक स्रोतों ने प्राकृत अपभ्रंश जैन साहित्य की सूचियां प्रकाशित हुई है। अकेले अपभ्रंश के ही पांच सौ ग्रन्थों की सूची शास्त्री ने बनाई है। इससे अनुमान लगता है कि इस क्षेत्र मे अभी जो शोध हुई है, वह "आटे में नमक" के बराबर है। अब यह शोध समन्वित नीति के अनुसार होगी, ऐसी आशा है। इसके लिये यह आवश्यक है कि शोध नामिकाए एवं सर्वेक्षण समय-समय पर तैयार कर विश्वविद्यालयों एवं शोधकर्त्ताओं व निर्देशकों के पास निःशुल्क या सशुल्क पहुचते रहें।

(ब) भाषागत विषय

प्राचीन जैन साहित्य की मुख्य भाषा मागधी, शौरसेनी, प्राकृत और संस्कृत है। मध्यवर्गीय काल मे अपभ्रंश भी रही हैं। भाषा और उसका साहित्य दो पृथक् विषय हैं तथापि नामिका 'ब' मे उन्हे सम्मिलित रूप में ही लिया गया है। भाषाओं का अध्ययन उसके व्याकरण, कोष, शब्द रचना, शब्दोत्पत्ति का इतिहास, शब्द विन्यास, तथा अन्योन्य-भाषा-सम्बन्ध आदि से किया जाता है। उदाहरणार्थ डा० अग्रवाल पाणिनि व्याकरण के आधार पर एक ऐतिहासिक ग्रंथ ही लिख दिया है। यह विषय अब भाषा-विज्ञान के नाम से प्रतिष्ठित हो गया है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में शोध में पर्याप्त वृद्धि हुई है। विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का मूल भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी हुआ है। कुछ अध्ययन पाश्चात्य विद्या के अनुसार भी हुए हैं। इनसे विश्व के विभिन्न खण्डों के मनुष्यों की भाषायी दृष्टि से एक पूर्वजता की धारणा बनी है। इससे सांस्कृतिक एकता के परिपोषण मे सहायता मिली है। इन क्षेत्रों मे प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरण और कोषों मे जैनो के योगदान तथा हेमचन्द्र, शाकटायन आदि के विषय में तुलनात्मक अध्ययन हुए है। यह शोध क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत एवं व्यापक है। यह निश्चित रूप से प्रगति करेगा क्योंकि सीमित धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के ज्ञान और आलोडन की आवश्यकता नहीं होती।

(स) जैन न्याय एवं दर्शन

सारणी मे स्पष्ट है कि १९७३-८३ के बीच इस क्षेत्र में शोध मे पर्याप्त कमी हुई है। दार्शनिक मान्यताओं में आत्मतत्व पर सर्वाधिक शोध की गई है। मोक्ष, पुद्गल, परमाणु, सर्वज्ञता एवं कर्मवाद ने भी शोध में स्थान पाया है। नयवाद, स्याद्वाद, प्रमाण विद्या, ज्ञान एवं ज्ञानोपाय तथा तर्कशास्त्र पर भी काम हुआ है। अनेक न्यायग्रंथों के हिन्दी या अंग्रेजी के अनुवादों के बावजूद भी परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, अष्ट सहस्री, आप्तपरीक्षा, न्यायावतार पर काम नही हुआ है। प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र भी अछूते पड़े है। इनमे से अनेक ग्रन्थों के

सम्पादकों की भूमिकायें महत्वपूर्ण हैं और उपाधिक्षमता रखती हैं। इनका अनुवाद और समीक्षण अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण होगा। इनमें अनेक विषय-ज्ञानोपाय, शब्द, चक्षु-श्रोत्र की क्रियाविधि, पदार्थवाद, परमाणुवाद, आकाश द्रव्यवाद, प्रामाण्यवाद या विश्वसनीयता ख्यातिवाद आदि ऐसे हैं जिनका आधुनिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन कर ज्ञान-प्रवाह के विकास को भापा जा सकता है। इनका अध्ययन वैचारिक प्रगति के सोपानों को भी निर्धारित करेगा। इन विषयों पर कुछ तुलनात्मक लेख लेखक ने लिखे हैं जिनका शोध दृष्टि मे विस्तार आवश्यक है।

(द) आगम

सामान्यतः परम्परा से चले आ रहे श्रुत एवं उपदिष्ट ज्ञान के सकलन को आगम कहा जाता है; इनके देश मे इन पर शोध काफी देर मे प्रारम्भ हुई, पर विदेशो मे यह बहुत पहले चालू हो चुकी थी। आजकल आगम साहित्य दो रूपो मे पाया जाता है। (१) मूल आगम और (२) उनके विविध अगों पर आधारित मूल और व्याख्या ग्रथ। ग्यारह उपलब्ध आगमों में आचाराग (४) और उसी के अनुरूप मूलाचार तथा भगवती सूत्र पर कुछ अध्ययन हुए हैं। सूत्र कृताग, उपासक दशांग, ज्ञाता धर्म कथांग भी पंजीकरण में आ गए है। अन्य आगम अभी उपाधि शोध के क्षेत्र मे नहीं आ पाए है। हां, स्थानांग और समवायाँग सानुवाद जैन विश्वभारती से प्रकाशित हुये हैं। इनके टिप्पण शोध, नहीं, परशोध को निरूपित करते है। अंगबाह्य मे उत्तराध्ययन, अनुयोग द्वार सूत्र, निशीथचूर्णि एव विशेषावश्यक भाष्य शोध क्षेत्र मे आ गए हैं, पर दशवैकालिक जैन विश्व भारती ने ही संजोया है। तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, भाष्य एवं कुन्द कुन्द साहित्य पर काम हुआ है। डा० अमरा जैन का तत्त्वार्थ सूत्र की अनेकों टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन निश्चितरूप से सम्पादित कर प्रकाशनीय है। फिर भी, सम्पूर्ण आगम साहित्य को ध्यान मे रखते हुये यह शोध अल्प ही है। इस साहित्य के गहनतर, तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है। भौतिक जगत से सम्बन्ध रखने वाले अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट आगमो का समीक्षात्मक और तुलनात्मक अध्ययन वर्तमान युग की मांग है। जीवाभिगम, षट् खण्डागम, कषाय पाहुड एवं शान्ति सूरि का जीव विचार प्रकरणं आदि ऐसे ही अध्ययन चाहते हैं। इस दिशा में वर्तमान आगमिक विद्वानों का मार्गदर्शन आवश्यक है। अब यह सभी जैन विचारक स्वीकार करते हैं कि आगम साहित्य के गहन अनुशीलन से ही जैन धर्म और दर्शन की अनेक मान्यताओं के आधार पुष्ट होंगे जिससे श्रमण संस्कृति अधिकाधिक प्रकाशित होगी। इस कार्य मे विश्वविद्यालयीय शोध सम्भवतः अपेक्षित सक्रियता न प्रदर्शित कर सके पर जैन शोध संस्थाएं इस दिशा मे योजनाबद्ध काम कर सकती है। सारणी १ से स्पष्ट है कि पिछले दस वर्षों में आगम शोध की प्रतिशतता में कोई वृद्धि नही हुई है।

(य) नीति, आचार और धर्म

सारणी ३ से स्पष्ट है कि पिछले दस वर्षों में नीति, आचार और धार्मिक मान्यताओ से सम्बन्धित शोधों की संख्या काफी बढी है। इसमे कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी समाहित है। जैन नीतिशास्त्र के विविध पक्षों पर अनेक शोधकर्ताओं का ध्यान गया है। यह निश्चियरूप से मथित होकर आधुनिक युग मे समथित ही हुआ है। अहिंसा ने अनेक लोगो को आकृष्ट किया है। वर्तमान में जैन शास्त्रों मे वर्णित योग, सर्वोदय, स्याद्वाद आदि पर सामान्य और तुलनात्मक शोध भी होने लगी है। आचार के क्षेत्र में सागर धर्मामृत, मूलाचार, समन्तभद्र और आचारांग पर अनेक प्रकार के अध्ययन किए गये है। आज के विसंवादी अनागारी आचार स्वतन्त्र शोध चाहता है। जैन-बौद्ध आचारों के तुलनात्मक अध्ययन के समान अन्य आचार संहिताओं का भी एकीकृत एवं तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। आचार शोध भी सामयिक विचारधाराओं के विकास की प्रतीक है। सभी प्रकार के आचारों का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन आज की आवश्यकता है क्योंकि नई पीढ़ी प्रत्येक परम्परागत आचार के प्रति उपेक्षणीय वृत्ति प्रदर्शित करती है।

(र) व्यक्तित्व और कृतित्व

इस क्षेत्र में भी शोध की संख्या और प्रतिशतता कुछ बढ़ी है। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, पुष्पदन्त, स्वयम्भू, रइधू, पोन्न, राजचन्द्र, आचार्य

भिक्षु, आशाधर के साथ भूधरदास, बनारसीदास, टोडरमल, हरिचन्द्र, नयसेन, भागचन्द्र, भट्टारक सकलकीर्ति, कुशललाभ, जिनदास, जिनहर्ष, हस्तिमल्ल, वादीभसिंह, ज्ञान सागर और नयचन्द्र के विषय मे अध्ययन हुए है। इन अध्ययनो की सख्या अनेक दृष्टियों से कम है। अनेक आचार्यों के विषय में जानकारी अपूर्ण है, अनिर्णीत है। उनके समकालिक एव उद्धरित साहित्य के अध्ययन के आधार पर इसे निर्णायक रूप देना चाहिए। आगम लेखी आचार्य, पूज्यपाद, वीरसेन, यतिवृषभ, उग्रादित्य; श्रुत सागर, द्यानतराय, नेमचन्द चक्रवर्ती आदि के सम्बन्ध मे शोध मौन प्रतीत होती है। यह विषय न केवल व्यक्ति-विशेषो के समग्र परिचय मे सहायक है अपितु यह उत्तरवर्ती शोध का प्रेरक भी है।

जैन कला एवं पुरातत्व

इस क्षेत्र मे शोध कार्य की गति मे विशेष परिवर्तन नही हुआ है। पूर्व मे अहार, देवगढ़, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण भारत की जैन मूर्तिकला पर काम हो चुका है। इधर जैन प्रतिमा विषय पर एक-दो पुस्तके भी प्रकाशित हुई हैं। शिलालेखो, ग्रन्थ भण्डारो एव प्रकाशित सग्रहो पर भी कुछ काम हुआ है। इस दिशा में अभी बुन्देलखड के तीर्थक्षेत्रो, जैन सिद्ध क्षेत्रो एवं खजुराहो तक ने किसी को आकृष्ट नही कर पाया। पण्डित फूलचन्द्र मूर्तिलेखो के आधार पर जैन इतिहास को सवारना चाहते है। उनके एक-दो लेख शोध-प्रेरक है। इन मूर्तिलेखों के सग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण के आधार पर अनेक जैन उपजातियो एव अज्ञात व्यक्तियो का इतिहास लिखा जा सकता है। मूर्तिकला के साथ मूर्तिकारो व प्रतिष्ठापको का इतिहास भी जुडा होता है। इसे भी शोध मे समाहित करने की आवश्यकता है। यद्यपि "जैन कला और स्थापत्य" के प्रकाशन से इस दिशा मे शोध सीमित हो गई है; पर पुरातत्व का विशाल क्षेत्र सदैव आकर्षण का चुम्बकीय ध्रुव बना रहेगा।

(ब) आधुनिक विषय

१९७३-८४ के बीच जैन विद्याओ मे समाहित आधुनिक विषयों पर शोध को क्षमता मे काफी वृद्धि (८०%) हुई है। इन विषयो से सम्बन्धित व्यक्तियो, गणों, राजतन्त्रो, प्रदेशो एवं स्थानो के इतिहास पर काफी काम हुआ है। इनमे लिच्छवि, वैशाली, भट्टारक, कुमारपाल, राजस्थान कर्नाटक, बिहार, आंध्र आदि से सम्बन्धित सामग्री विवेचित की गई है। जैन ग्रन्थों पर वर्णित राजनीतिक विचारो पर छह शोधें हुई है, आर्थिक विचारों पर चार शोधकर्ताओं ने काम किया है। जैन सिद्धांतों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तो दो शोधो का विषय बनी है। सामान्य एव नारी की सामाजिक दशा के विवेचन से समाज शास्त्रीय शोध ने भी जन्म लिया है। जैन-शिक्षा और प्राचीन भूगोल पर भी एक-एक शोध हुई है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि इन शोधो मे अभी दो-तिहाई शोध इतिहास से सम्बन्धित हैं। इस दशक की विशेषता यह है कि अन्य विषयो मे शोध चालू हो गई है और इसमें पर्याप्त प्रगति अपेक्षित है। विभिन्न युगों के विविध साहित्य के सांस्कृतिक और सामाजिक विवेचन एवं तुलनात्मक अध्ययन हमे विकास के चरणों का भान कराते हैं और अपनी स्थिति को मूल्यांकित भी करते हैं।

(श) तुलनात्मक अध्ययन :

सारणी ३ से स्पष्ट है कि १९७३-८३ के दशक में जैन सिद्धान्तो, कथाओ एवं अन्य विद्याओ के जैनेतर अनुरूपो या भाषायी रूपों के तुलनात्मक अध्ययनों २-५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। शोध की यह दिशा समन्वयात्मक दृष्टि को विकसित करने, समकालीन एवं भिन्नकालीन विचारो के विकास व इतिहास को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह प्रत्येक युग के विकास के मूल्यांकन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में रामकथा, प्रमाणशास्त्र, योग, आचारशास्त्र, कर्मवाद, भाषा विकास आदि पर अनेक अध्ययन सामने आये हैं। ये अध्ययन प्रायः किन्ही दो विशिष्ट पक्षों पर ही आधारित पाये गय है। उपयोगिता एवं महत्ता की दृष्टि से समग्रत: तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। विभिन्न धर्मों एवं देशों मे रामायण का अध्ययन एक प्रारूपिक उदाहरण है। अनेक विषय अभी इन अध्ययनों में समाहित ही नहीं हो पाये है। जैन विधाओं में वर्णित वैज्ञानिक मान्यताओं की समीक्षा इनमे से एक है। इस क्षेत्र में कुछ उपाधिनिरपेक्ष शोध एक नया आयाम दे रही है। इन अध्ययनों का समग्र

प्रतिशत बढ़ाने की महती आवश्यकता है।

(ब) विज्ञान :

जैन विद्याओं के आगम, आगमेतर धार्मिक और दार्शनिक साहित्यमें भौतिक जगत संबंधी विवरण स्फुट रूप में पाये जाते हैं। ये भौतिकी, रसायन, वनस्पति एवं प्राणिशास्त्र, भूगोल, ज्योतिष, गणित, आहार और औषधि शास्त्र आदि से संबंधित हैं। ये विवरण तत्कालीन ज्ञान के निरूपक है। इन विवरणों का विषयवार संकलन एवं तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। इन विवरणों की समीक्षात्मक प्रामाणिकता नयी पीढ़ी की धार्मिक आस्था को बलवती बनावेगी।

इस क्षेत्र में शोधकर्ता तो अनेक हैं, पर उपाधि हेतु शोध की मात्रा में कमी ही आई है। अभी तक गणित(२), पुद्गल, परमाणुवाद, भूगोल एवं सृष्टि विद्या पर एक-एक शोध सामने आई है। आयुर्वेद में दो शोधें पंजीकृत हैं, स्फुट लेख अवश्य प्रकाशित हुए हैं। इस क्षेत्र मे शोध की पर्याप्त संभावनाएं है। इसे प्रेरित करने के लिए वरीयता से इस क्षेत्र मे छात्र वृत्तियां देनी चाहिए। साथ ही, शोध-निर्देशको को भी इन विषयों में शोध कराने मे गहन रुचि लेनी चाहिए।

यह प्रसन्नता की बात है कि इन दिशाओं में उपाधि-निरपेक्ष शोध पर्याप्त होती दिख रही है। मध्य प्रदेश ऐसी शोध का प्रारम्भ से ही अग्रणी रहा है। प्रो० जी० आर० जैन, एफ० सी० जैन, जे० सी० सिकदर और एन० एफ० जैन यही रहे है। मुनि श्री महेन्द्र जी, जे० एस० जवेरी, के० एल० लोढ़ा, एस० एस० लिरक आदि विद्वानो ने जैन विद्याओ के अनेक वैज्ञानिक पक्षों को सकलित और विवेचित कर अनेक पुस्तिकाए और शोधपत्र प्रकाशित किए है। इनका एक संक्षिप्त रूप दो अभिनन्दन ग्रंथों के विज्ञान खण्डो मे देखा जा सकता है। लोकोत्तर गणित के कुछ शोधपत्रों ने तो विदेशी पत्रिकाओ मे भी स्थान पाया है। ये विषय ऐसे हैं जिनके प्राचीन विवरणों की सत्यता भौतिक या यांत्रिक चक्षुओ से परखी जा सकती है। इनके अध्ययन से वैज्ञानिक विकास के इतिहास मे जैन विद्याओं के योगदान का मूल्यांकन किया जा सकता है। विभिन्न वैज्ञानिक पक्षों का तुलनात्मक अध्ययन और उनकी अनुरूपता की प्रतिष्ठा हमें लोकोत्तरीय घटनाओं की सत्यता के प्रति भी प्रेरित कर सकेगी।

(स) विदेशों में जैन विद्या शोध :

जैन विद्या भारतीय विद्या का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके अध्ययन के बिना भारतविद्या का ज्ञान अधूरा ही माना जाता है। फलत: इस देश के अतिरिक्त अन्य देशों में भी इस विद्या के अन्तर्गत या स्वतंत्र रूप से जैन विद्याओं के अध्ययन, अध्यापन और शोध की ओर ध्यान गया। यह एक अचरजकारी तथ्य ही है कि जैन विद्याओं पर आधुनिक दृष्टि से शोध का प्रारम्भ अठारहवीं सदी के अन्तिम दशक में विदेशों में ही हुआ। इस सम्बन्ध में अनेक जैन विद्वानों ने विवरण दिये हैं पर शोधनामिकाओं में डा० जैन ने ही इन्हें १९७३ और १९८३ में स्थान दिया है। इन्हें देखने से लगता है कि १९८३ की नामिका एक नाम को छोड़कर १९७३ की अनुकृति ही है। दस वर्षों में विदेशों में जैन विद्याओं पर कोई उपाधिहेतुक शोध न हुई हो, इस पर विश्वास नहीं हो पाता। फलतः इस नामिका की अपूर्णता के बावजूद भी, यह अनुमान सहज है कि विदेशों मे जैन विद्या शोध अधिकांश में जर्मनी में हुई है। विभिन्न विवरणों के अनुसार—फ्रांस, आस्ट्रिया, अमरीका, रूस, इंग्लैंड और जापान में भी जैन विद्याओं पर शोध हो रही है। इस शोध को भी नामिकाओ में समाहित करना चाहिए। इस शोध में आगम, ललित साहित्य, भाषा विज्ञान एवं न्यायशास्त्र के विविध पक्ष आये हैं। एक अभिनन्दन ग्रन्थ में इसकी झांकी देखी जा सकती है। यह हर्ष का विषय है कि अनेक जैन विद्वान अब विदेश जाने लगे हैं और कुछ जैन संस्थाएं भी इस दिशा में रुचि लेती दिखती हैं। यह संपर्क और रुचि भविष्य में प्रकाशित होने वाली नामिकाओं की उक्त अपूर्णता दूर कर सकेंगी।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि १९७३-८३ के दशक में जैन-विद्या-शोध में ललित साहित्य का ही सहयोग रहा है। अन्य क्षेत्रों में गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों ही दृष्टियों से शोध काफी कम है। लेखक का विश्वास है कि नई पीढ़ी अनुसंधान के नये क्षितिजों की ओर अधिक ध्यान देगी। —गर्ल्स कालिज, रीवां

पं० शिरोमणिदास कृत : 'धर्मसार सतसई'

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल, दिल्ली

अथ चतुर्थ संधि प्रारभ्यते—

चौपाई—श्रेणिक सुनहु कर्म उतपाति,
जातैं जीव होय बहु भांति।
ऊंच नीच बहु दुख को धरता,
आपुही कर्त्ता आपुही भुक्ता ।।१
पुण्य पाप जब करनी करै,
ऊंच नीच पदवी तब धरै।
करहि पाप जो मन वच काय,
मगन होय आगै मद पाय ।।२
इन्द्रियन पंच विषय रस पगै,
विकथा व्यसन कषायनि लगै।
करि मिथ्यात्व पंच दुखदाय,
ए छत्तीस प्रकृति सुनि राय ।।३
छत्तीस प्रकृति को बंधन करै,
तब जीव इतर निगोद पद धरै।
भाव कलंक गहै अति जास,
यातैं निगोद न मुंचइ वास ।।४
जनम मरण दुख तहं अति भयो,
अनंतकाल जीव भ्रमतनि गयो।
अठारह मरण जनम जीव लहै,
एक स्वास में, जिनवर कहै ।।५

दोहा—छयासठ सहस अरु तीन सौ पुनि छत्तीस बखानि।
अंतर्मुहूर्त एक में निगोद मरण जीव जानि ।।६
काल अनंतानंत जु लहै निगोद दुख जो केवली कहै।
तिनसौं दुख कह्यो नहिं जाय,
मैं मनुष्य कंह कहऊं बनाय ।।७
।। इति निगोद दुख ।।

चौपाई—पर जीव मारे अपने हेतु,
करि हिंसा पुनि औरनि देत।
चोरी झूठ भुगते पर नारी,
बहु आरंभ करै अति भारी ।।८
क्रोध लोभ माया मद साधि,
अनंतानुबंधी प्रकृति तैं वांधि।
लेश्या कर्म करै संताप,
रौद्रध्यान करि बांधै पाप ।।९
ऐसो कर्म जीव जब करै,
तब जीव जाय नरक पद धरै।
बहुत दुख भुगतै तहं घोर,
को बुध कहै न जानहुं ओर ।।१०
सात नरक हैं दुख की खानि,
तिनके नाम जु कहौं बखानि।
घम्मा कहि पुनि वंसा नाम,
मेघा अंजन है दुखदाय ।।११
अरिठा मघवी माघवी सात,
उपजै जीव गलित तहं गात।
तेरा गेरा पाथरे (डे) सुनिजै,
नव पुनि सात पांच जे मुनिजै ।।१२
तीन एक जानो दुखदाई,
अब सुन बिले कहौं समुझाई।
तीस लाख पहले अथ जानि,
पुनि पच्चीस लाख दुख दानि ।।१३
तीसरे पन्द्रह लाख जु कहीजै'
चौथे पुनि दश लाख जु भणिजै।
पांचइ तीन लाख अति सुनै,
छटै एक लाख पञ्चानवै ।।१४
सातैं पांच लाख बिले अति घोर,
सर्व लाख चौरासी जोर(ड)।
मातैं धनुष पांच सौ देह,
अर्ध हीन पुनि छटै जु एह ।।१५

पुनि आधी पांचै अघ होइ,
ऊपर इह विधि गनिजै सोइ।
हुड़उक देह धरै जीव तहां,
लिंग नपुंसक कहिए जहां ॥१६
मन सैं दुख उपजै घनो,
अपनी देह आप आप जो हनो।
उपजैं रोग अनेक जु आइ,
भूमि स्वभाव न नैकु सुहाइ ॥१७
अवधि विभंगा जु तहाँ प्रकासै,
पूरव बैर तहां अति भासै।
लै लै घन कूटै तहं चंड,
बाण बेधि पुनि देहि जु दंड ॥१८
कर्ण नासिका काटै दोषी,
नेत्र काढ़ मारै अति रोषी।
एकन जंत्रनि पेरै पापी,
मूगरनि मारि करै संतापी ॥१९
एकन सूली रोपन रचै,
पुनि लै अग्नि कुण्ड मे पचै।
झूठ वचन कह पारी वाटै,
तातैं अघ में करवत काटै ॥२०
रे रे मूढ़ मदिरा तुम पियो,
तातैं तोहि नर्क मे दियो।
ऐसो कहि सीसो पिघलाय,
मुख मैं भरै महा दुख पाय ॥२१
हा हा करि रोवै तहं दीन,
भय चिंता कपै तनु छीन (क्षीण)।
तिल तिल खंडइ तहं पुनि देह,
फिर फिर मिलै ज्यों पारो नेह ॥२२
तूं रे दुष्ट मांस बहु भख्यो,
अब तूं जानि नरक मे लख्यो।
ऐसो कहि तामो (ताम्र) तहं ओटि,
मुख में देहि करै पुनि घोटि ॥२३
पर नारी भुगती सुख हेतु,
अब तोहि आनि मिली इह खेत।
ताती(गर्म) लोह पुतरिया लाल,
लै संयोग करो तत्काल ॥२४

हा हा दव दैव नित कर,
पुनि तहं देह आपुही जरै।
आपस में दुख दें अति घोर,
अगरनि सेज लुटारै जोर ॥२५
बहती नदी बैतरणी जहां,
महा दुर्गंध रुधिर जल तहा।
तामैं बोरि (डुबोकर) करै शत खंड,
कृमि अनेक काटै अति चंड ॥२६
ताड़ वृक्ष दीसै असि पत्र,
ऊपर परहि आनि बहु जत्र।
छिन्न भिन्न होय तिनकी जु देह,
गिरै बाण ज्यो बरसै मेह ॥२७
करवत काटि करै दो भेद,
पुनि छिन मिलहि करहि बहु खेद।
अग्नि कुण्ड मे डारै जारि,
पुनि लै पारे जल मे डारि ॥२८
पूरब बैर सुनि चित मे धरै,
मारो मारो ते सब मिल करै।
असुर कुमार पुनि देहिं वताय,
उठै क्रोध पुनि अंगन माय ॥२९
सर्प्प सिंह अरु गीध बहु जाति,
धरै विक्रिया नाना भाति।
आप आप मे पुनि ते भखै,
पूरव बैर भाव सब लखै ॥३०
मन एक लक्ष लोह को पिंड,
क्षण मे गलै महा प्रचंड।
शीत उष्ण धरती है जहां,
बहुत दुख जीव पावहि तहां ॥३१
सकल जीव के पुद्गल पाइ,
तउ वन खात न भूख बुझाइ।
ऐसी क्षुधा सदा दुख वहै,
सरसों समान न कबहूं लहै ॥३२
सकल समुद्र को जल जु पीजै,
तउ तृषा नहीं पूरण हूजै।
बूंद एक नही कबहूं पेखै,
ऐसे सदा काल दुख देखैं ॥३३

कहीं आयु उत्कृष्ट बखानि,
सागर एक प्रथम अघ जानि।
सागर तीन दूसरी मही,
सागर सात तीसरी कही ॥३४
दस सायर चौथे दुखदाई,
पांचे सत्रह सागर आई।
छहे में नरक होइ बाबीस,
सात में पुनि जानहु तेतीस ॥३५
प्रथम दूसरो अघ दुखदाई,
राजू एक सुनो तुम राय।
अघ पांचो की सख्या कही,
राजू एक एक है सही ॥३६

दोहा—राजू एक निगोद पुनि, कही ऊंचाई जानि।
अधोलोक सब जानिजै राजू सात प्रमाण ॥३७
नरक सकल इह विधि कहै सकल पाप फल जानि।
गणधर जो वर्णन करै तो वन सकइ बखानि ॥३८
इति नरक दुख वर्णन ॥

अथ तिर्यंच करनी फल वर्णन :—

चौपाई—अप्रत्याख्यान चौकड़ी बाधै,
आर्त ध्यान सदा अति माधै।
चिंता शोक मोह अधिकार,
लेश्या नील काम बहु भार ॥३९
हिंसा हेतु करहि प्रपच,
यातै जीव होय तिर्यंच।
शीत उष्ण वर्षा अधिकार,
क्षुधा तृषा भय दुख अपार ॥४०
जबहि जीव मिथ्यात्वै आवै,
विकल त्रय गति निश्चय पावै।
मिथ्यात्व थापना थापै जबही,
नाना योनि जीव धरै तबही ॥४१
नाहर सिंह क्रोध ते होय,
मान उदय खर लभइ सोय।
होय परेवा (कबूतर) विषयनि लीन,
पुनि ते नर्क पड़ै अति हीन ॥४२
बहुत मोह तै प्रेत बताइ,
अजगर सर्प लोभ तै जाइ।
रात को भोजन जे नर करै,
अरुवा गीध लहि दुर्गति परै ॥४३
परधन-पाय पोखि निज गात,
तप जप सयम धरै न बात।
यातै बहुत भार अति वहै,
ऊट, वृषभ, महिषा गति कहै ॥४४
अनगाल्यौ जल पीवै पापी,
दुर्गति दुख लहै संतापी।
यह तिर्यंच दुख की खानि,
को पडित सब कहै बखानि ॥४५
॥ इति तिर्यंच करनी फल ॥

प्रत्याख्यान चौकडी कहिए,
होय मनुष्य शुभाशुभ किये।
अशुभ कर्म तै खोटी जाति,
लहइ जीव गति नाना भांति ॥४६
मुनि की निन्दा कोढ़ी होय,
महा दुःख भुगतै नर सोय।
जिनवर धर्म द्रोह अति कर,
होय नीच पुनि दुर्गति परै ॥४७
पर नारी देखे अकुलाय,
बहुत विकार करै दुखदाय।
दर्शनावरणी होय जु बध,
यातै जीव होय पुनि अध ॥४८
करि कुतीर्थ हिंसा आनद,
मिथ्या मारग थापै फद।
पर जीव छेदन देखे अग,
यातै जीव होय मरै पगु ॥४९
ले निर्माल्य पोखै गात,
कुटुम्ब सहाय करै सुख वात।
यातै कुटुम्ब नाश अति होय,
भव भव दुख देखे नर सोय ॥५०
धन जे पाय धर्म नहिं करै,
तृष्णा कर हिंसा शिर धरै।
होय निर्धनी यातैं रीख,
घर घर फिरहिं न पावै भीख ॥५१

पूजा हेतु काहुं फल दियो,
लोभ जानि कै आपहिं लियो।
यातै होय पुत्र करि हीन,
संतति मुख देखे नहीं दीन ॥५२
पर वियोग करि परहिं सतावै,
इष्ट हानि नर यातैं पावै।
बार बार अति करहिं जु शोक,
यातै होय अनिष्ट सजोग ॥५३
जिनवर वाणी लोपै मूढ़,
विकथा वचन कहै अति गूढ़।
ज्ञानावरणी बंधै सोय,
यातै भव भव मूरख होय ॥५४
कुत्सित व्रत करि दडै देह,
समकित भेद न जानै एह।
भवनत्रिक मे जे नर भ्रमैं,
अनंतकाल तहं मिथ्या गमैं ॥५५
जिन गुरु देख न मायो नमैं,
अपनी इच्छा जह तहं भ्रमैं।
यातैं पर घर होय जु दास,
शीत उष्ण भुगतै अति त्रास ॥५६
वेश्या दासी भुगतै पापी,
कुत्सित विषय करै सतापी।
यातै होय नपुंसक दोषी,
मनसा विषै जरै अति रोषी ॥५७
माया करि जे फंद बनावै,
पर को मोहि आप सुख पावै।
सदा करै विषयनि की बातै,
नारी देह धरे जीव यातै ॥५८
उत्तम करनी मनसा आनै,
उत्तम देव धर्म गुरु जानै।
छोड़ कपट मुद्ध मति लीन,
यातै पुरुष होय प्रवीण ॥५९
विद्या दान सदा हित देहिं,
ते नर पंडित पदवी लेहिं।
दुखित देखकै करुणा आवै,
ते नर रोग लेश नहीं जानै ॥६०
अल्प वित्त में देहि जु दानं,
गुरु की सेवा करै अति मान।
भव भव ते नर भुगतै भोग,
बहु धन पाय भलो संयोग ॥६१
पर उपकार करै जे प्राणी,
दीरघ आयु लहै शुभ वाणी।
करै साधु सगत मन लाय,
उत्तम कुल उपजै सुखदाय ॥६२
जे जिन मन्दिर रचहिं अनूप,
तहां धर्म बहु बढ़ै सरूप।
पुनि जिन विम्ब भरावै सार,
लक्षण व्यंजन सहित सुढार ॥६३
छत्र चंवर सिंहासन धरै,
चन्द्रोपम भा मण्डल करै।
दुंदुभी सहित करै करताल,
झालर घण्टा ताल रसाल ॥६४
झारी कलश धूप घट-जहां,
जलोट कर्निका सोहै तहां।
गीत नृत्य वादित्र बजाय,
करहि महोत्सव बहु धन लाय ॥६५
संघ सहित पुनि तीरथ चलै,
सिद्ध क्षेत्र बहु पुण्यं मिलै।
पूजा वस्तु द्रव्य अति घनी,
महा सुगंध उज्ज्वल अति बनी ॥६६
पूजा वस्तु भग नही कीजै,
होय पाप अति धर्महि छीजै।
सकल वस्तु जैसी गुरु कही,
विधि सो करै आप नर सही ॥६७
संघ सहित देहिं बहु दान,
पूजा करि बहु राखै मान।
इह विधि करहि प्रतिष्ठा होय,
चक्रवर्ती पद पावै सोय ॥६८
होय ऋद्धि अति सुख की खानि,
को पंडित तहं कहइ बखानि।
रथ अश्व गज चौरासी लाख,
कोटि चौरासी किंकर राख ॥६९

अश्व पवन नभ में चलहिं सुरंग,
कोटि अठारह कहे तुरंग ।
सहस चालीस जे पत्तन जानि,
कोटि छयानवै ग्राम बखानि ॥७०
बत्तीस सहस सुन्दर पुर कहीजे,
चौदह सहस वाहन पुनि लहीजे ।
सहस निन्यानवै कहे बताय,
द्रोणा मुख तुम जानहु राय ॥७१
खेट सहस षोडश अति वसै,
दीप जो छप्पन तिनके दिसै ।
सहस अट्ठाईस वन तहं सोहैं,
कोटि एक धारी मन मोहै ॥७२
कोटि एक हल चलहि जु सीर,
तीन कोटि गो खिरका भीर ।
कुल वय रूप चतुर अधिकारी,
सहस छयानवै नारी प्यारी ॥७३
सहस बत्तीस नर्तकी जानि,
दासी दास को कहे बखानि ।
चौरासी लख मन्दिर साल,
नव निधि चौदह रतन विशाल ॥७४
अठारह सहस म्लेच्छपति राय,
कर जोड़ें सोनै बसु पाय ।
बत्तीस सहस विद्याधर ईस,
कर जोड़ें पुनि नावै शीस ॥७५
व्यंतर देव सेवा बहु करैं,
भोग्य वस्तु लै आगे धरै ।
मिष्ट आहार सेज सुखदाई,
भोग विलास करै सुख पाई ॥७६
दोहा—सैंतालीस सहस जोजन कहै, दो सौ त्रेसठ जानि ।
दृष्टि चक्रवर्ती जानिजे, गणधर कही बखानि ॥७७
बारह योजन शब्द सुनि, पुनि धरै विक्रिया रूप ।
सहस छयानवै रूप धरि, सुभुगतै भोग अनूप ॥७८
सोरठा—चक्रवर्ती पद सार, जिनवर पूजा तै लहैं ।
उपजै ऋद्धि अपार, को पंडित तहं गिनु कहै ॥७९
चौपाई—जो जिनेन्द्र पूजै मन लाय,
मन वच काय शुद्ध धरि माय ।
प्रात काल जिन पूजा करै,
सो नर पाप पुंज परि हरै ॥८०
(क्रमशः)

(पृष्ठ १४ का शेषांश)

कठूमर, चिंचिणी, (चिलगोजा) नारिकेल, वट, सेंवल, ताल ।
पुष्प-वृक्ष— चम्पक, कचनार, कणवीर, (कनैर), टउह, करुह, बबूल, जासवण्ण, (जाति ?), शिरीष, पलाश, बकुल, मुचकुन्द, अर्क, मधुवार ।
फल एवं पुष्प लताएं—लवंग, पूगफल, बिरिहिल्ल, सल्ल, केतकी, कुरव, कर्णिकार, पाटलि, सिन्दूरी, द्राक्षा, पुनर्नवा, बाण, वोर, कच्चूर ।
कन्द—जिमीकन्द, पीलू, मदन एवं गंगेरी ।

युनिवर्सिटी प्रोफे० (प्राकृत) एवं अध्यक्ष
संस्कृत-प्राकृत विभाग, ह० दा० जैन कालेज,
आरा (बिहार) (मगध विश्व विद्यालय)

सन्दर्भ-सूची

१. निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित (१९०९ ई०) ।
२. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला बम्बई से प्रकाशित (१९१६ ई०) ।
३. देखो भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान पृ० १३५ ।
४. प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी से प्रकाशित (१९६५ ई०) ।
५-१३. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (वैशाली १९७४ ई०) ।
१४. दे० आमेरशास्त्र भण्डार जयपुर की ग्रंथसूचियां भा. २
१५-२२. दे० वड्ढमाणचरिउ (सम्पा० डा० राजाराम जैन) भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली पृ० ४-७ ।
२३-२४. पासणाह० १।२।३-४ ।
२५-२७. दे० वड्ढमाणचरिउ, भूमिका पृ० ३०-११ ।
२८-२९. पासणाह० १।२।५-१६ ।
३०. राजस्थान पुरातत्त्व विद्यामन्दिर जोधपुर से प्रकाशित (१९६३ ई०) ।
३१-३२. वड्ढमाणचरिउ भूमिका पृ० ७० ।
३३. पासणाह० १।२।७-८ ।
३४. दे० पासणाह० १।९।१-४ ।
३५-३७. दे० दिल्ली जैन डाइरेक्टरी पृ० ४ ।
३८. तीर्थंकर महावीर एवं उनकी आचार्य परम्परा ४।१३८ एवं जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह द्वि० भाग भूमिका पृ. ८४.
३९. दे० पासणाह० अन्त्य प्रशस्ति ।
४०. दे० पासणाह ७।२.

उड़ीसा की प्राचीन गुफाओं में दर्शित जैन धर्म एवं समाज

□ श्री हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा

उदयगिरि एवं खंडगिरि पर्वतों की प्रसिद्धि प्राचीन जैन गुफाएँ उड़ीसा राज्य के पुरी जिले में स्थित है। ये भुवनेश्वर रेलवे स्टेशन से लगभग ८ किलोमीटर पश्चिम में अवस्थित हैं। खंडगिरि पर एक आधुनिक जैन मन्दिर भी निर्मित हैं।

यहाँ पर जैन मुनियो के लिये उत्खनित ये प्राचीन गुफाएँ मेघवाहन वश के तीसरे प्रसिद्ध शासक खारवेल की कृतियाँ हैं, जिनकी तिथि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व है खारवेल का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिलेख उदयगिरि के हाथी गुम्फा की एक दीवार पर उत्कीर्ण है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। अपने शासन के तेरहवे वर्ष मे उसने जैन मुनियो के लिए ये गुफाये खुदवायी। हालांकि, यहाँ जैन गति-विधियो के, और भी पहले प्रारम्भ होने की सम्भावनाओ से इन्कार नही किया जा सकता।

हमे इन गुफाओ के माध्यम से जैन धर्म से सम्बन्धित बहुत अधिक सूचनाये नही मिलती, क्योंकि, जैसे कि उन दिनों जैन धर्म के स्थानीय नियम थे—मानव रूप मे तीर्थंकरो की मूर्ति-पूजा वर्जित थी। परिणामत: इन गुफाओं की दीवारो पर तत्कालीन समय में तीर्थंकरों की मूर्तियां उत्कीर्ण नही की गई। किन्तु प्रतीक पूजा के प्रचुर प्रमाण मिलते है। उदाहरण स्वरूप उदयगिरि की जय-विजय गुम्फा (सख्या-५) तथा खडगिरि की अनन्त गुम्फा (संख्या-३) की दीवारो पर एक-एक वृक्ष अङ्कित है, जिन पर पुष्पांजलि अर्पित करते हुए भक्तगण चित्रित किये गये हैं। पुन: उदयगिरि की मंचपुरी गुम्फा (संख्या-१) मे राज-परिवार को एक अस्पष्ट प्रतीक की पूजा करते हुए दर्शाया गया है। अनन्त गुम्फा की पिछली दीवारों पर जैनों के 'अष्ट मंगलो' मे से कुछ, यथा :—नंदीपाद, स्थापना, स्वस्तिक तथा श्रीवत्स उत्कीर्ण हैं। ठीक ऐसे ही प्रतीक मथुरा के जैन आयाग पट्टों पर अंकित पाए गये हैं।

मध्ययुगीन काल में जब इन गुफाओं का पुनरुद्धार हुआ, तब यहां की दीवारों पर तीर्थंकरो एवं उनकी शासन-देवियों की मूर्तियां उत्कीर्ण की गयीं, जो हमें आज भी इन गुफाओ की दीवारों पर देखने को मिलती हैं।

प्रारम्भिक उत्किर्णियो से हमें तत्कालीन समाज की हल्की सी झलक भर मिलती है। तत्कालीन वेश-भूषा एवं आभूषण इन मूर्तियों मे ईमानदारी से प्रदर्शित किये गये हैं। पुरुष मुख्यत: धोती ही धारण करते थे, जबकि स्त्रियां साडियां। स्त्रियो की साड़ियां कमर पर एक कमर-बन्ध से बन्धी होती थीं, तथा आंचल सामने झूलता था। स्त्री-पुरुष कोई ऊर्ध्व वस्त्र नही पहनते थे। फलत: उनका शरीर कमर से ऊपर वस्त्र-हीन होता था। विशेष अवसरों पर वे गले मे एक कपडा लपेटते थे। पुरुष पगड़ी बांधते थे, जिसमें सामर्थ्यानुसार रत्न आदि जड़े होते थे। महिलाएं सर पर साड़ी तो डालती थी, किन्तु घूंघट का प्रचलन नहीं था। स्त्रियो का वेश-भूषा मे विभिन्नता थी तथा आभूषणों की बहुतायत थी। पुरुष कर्णाभूषण, हार तथा कड़े पहनते थे, तो स्त्रिया इन सबके अलावा मेखला, बांह तथा सर के आभूषण भी पहनती थी।

घर के उपस्करों मे चारपाई, स्टूल, मेज, मोढ़ा; बर्तनों में कटोरियां, प्लेट एवं घड़े; एवं घरों के अन्य सामानों मे छतरी, पंखे, मंजूषा आदि इन गुफाओं में उत्कीर्ण दृश्यों में देखे जा सकते हैं। उदयगिरि की रानी गुम्फा (सख्या-१) से उत्कीर्ण सिर्फ एक दृश्य में एक दो-मंजिला मकान दिखलाया गया है। हालांकि, मुख्यत: वहां पायेदार एक मंजिले मकानों का ही प्रचलन आम रहा होगा, जैसा कि उत्किर्णियों के अध्ययन से पता चलता है घरों को वेदिकाओं से घेरने की प्रथा भी आम तथा लोकप्रिय थी।

(शेष पृ० ९२ पर)

सुकेतु श्रेष्ठी की कथा

जम्बूद्वीप—पूर्वविदेह—पुष्कलावती देश—पुण्डरीकिणी नगरी मे वसुपाल नाम का राजा राज्य करता था। वहाँ एक जैनधर्म में अतिशय श्रद्धालु सुकेतु नाम का वैश्य अपनी स्त्री धारिणी सहित रहता था। वह एक बार व्यापार के लिए द्वीपान्तर जाने को घर से निकलकर शिवंकर उद्यान मे नागदत्त श्रेष्ठी के बनवाये हुए नागभवन के निकट प्रस्थान करके ठहरा था। धारिणी मध्याह्न के समय उसके लिए घर से रसोई तैयार करके वहाँ ले गई। सुकेतु अतिथि-संविभाग व्रत धारण किये था, इसलिए वह मुनियो के आने की बाट देखने लगा। इतने में गुणसागर मुनि अपनी प्रतिज्ञा के पूरी होने पर चर्या के लिए वहां से निकले। सुकेतु ने उनका विधिपूर्वक पड़गाहन करके अन्तरायरहित आहार दिया, जिसके प्रभाव से पंचाश्चर्य हुए। तथा सुकेतु के अधिक निर्मल परिणामो के कारण साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा हुई। नागदत्त श्रेष्ठी ने यह कहकर कि "ये रत्न मेरे नागभवन के आंगन में बरसे हैं, इसलिए मेरे हैं" उन्हें अपने घर ले गया। परन्तु वे रत्न थोड़ी देर मे आप ही आप जहा के तहां चले गये। तब नागदत्त फिर इकट्ठे करके उन्हें ले गया। परन्तु आश्चर्य की बात है कि वे वहीं के वही फिर पहुच गये। यह देख कर क्रोधित हो नागदत्त ने उन रत्नों को फोड़ने का विचार करके एक रत्न को शिला पर दे मारा, किन्तु वह फूटा नहीं, उलटा लौटकर उसके ललाट में जोर से लगा। यह देखकर देवो ने हँसी करके उसका नाम मणिनागदत्त रख दिया।

तब नागदत्त अतिशय क्रोधित हो महाराज वसुपाल के समीप आकर बोला—हे देव, मैंने जो नागभवन बनवाया है, उसके आगे रत्नों की वर्षा हुई है। सो आपको उन्हें अपने भडार मे मंगाकर रखना चाहिए। राजा ने कहा—ऐसा अकारण द्रव्य मुझे नही चाहिए। परन्तु नागदत्त माना नही, पैरो में जा गिरा। तब राजा ने उसके अधिक आग्रह से उन्हें अपने भंडार मे मंगाकर रख लिया। परन्तु थोड़ी ही देर मे वे वही के वहीं पहुंच गये। राजा ने पूछा—ऐसा क्यों हुआ ? तब किसी ने कह दिया कि सुकेतु श्रेष्ठी के दिए हुए मुनिदान के प्रयास से ये रत्न बरसे हैं, इसीलिए शायद ऐसा हुआ होगा। तब राजा ने 'बिना विचारे हाय ! मैंने यह क्यों किया', इस प्रकार पश्चाताप करते हुए सुकेतु को बुलाया। वह पंचरत्न और कल्पवृक्षो के फूल लेकर आया और महाराज को भेंट किए। उन्होंने कहा—सेठ जी ! मैंने जो बिना सोचे-विचारे अकृत्य किया है, उसे क्षमा करके सुख से अपने घर रहिए। तब श्रेष्ठी ने कहा—महाराज, आप मेरे स्वामी हैं, क्षमा करने की कौन सी बात है। रत्नो की क्या बड़ी बात है ? प्रयोजन हो सो जितने चाहे रत्न इस सेवक के घर से मगा लीजिए। राजा ने कहा—तुम्हारे घर में रखे हुए रत्न क्या मेरे नहीं हैं ? जब आवश्यकता होगी, तब मगा लूगा। श्रेष्ठी प्रसन्न होकर अपने घर गया और सुख से रहने लगा।

राजा सुकेतु पर इतना प्रसन्न हुआ कि जो कोई सुकेतु की प्रशसा करता था उससे वह प्रसन्न होता था और मणिनागदत्त की जो स्तुति करता था उससे द्वेष करता था। एक दिन राजा ने सुकेतु की बहुत प्रशंसा की, परंतु उसे जिनदेव नाम का एक श्रेष्ठी सह न सका। इसलिए बोला—महाराज, आप सुकेतु के रूप गुण की प्रशंसा करते हैं तो कीजिए। और यदि धन-वैभव की करते हो, तो पहले मेरे साथ धन-वाद कराइए और जो जीते उसी की प्रशंसा कीजिए। यह सुनकर सुकेतु ने कहा—ऐश्वर्य का क्या घमंड करता है ! चुप रह। जिनदेव ने कहा—पुरुष को कोई कीर्ति का काम करना चाहिए, इसलिए मैंने प्रार्थना की है कि तुम मेरे साथ धन-वाद करो। सुकेतु बोला—जैनी को वाद करना उचित नही है। तथापि जिनदेव ने आग्रह नही छोड़ा और सुकेतु को धन-वाद स्वीकार करना पड़ा।

दोनों ने प्रतिज्ञापत्र लिखकर राजा के हाथ सौप दिए कि जो हारेगा, जीतने वाला उसकी लक्ष्मी ले लेगा। पश्चात् दोनों ने अपने-अपने घर जाकर मैदान मे सारे धन का ढेर लगाया और राजादिकों ने दोनों के धन की परीक्षा कर सुकेतु को विजयपत्र दे दिया। क्योंकि धन भंडार उसी के यहां अधिक था। तब जिनदेव बोला कि यथार्थ में मैं जीता हूं। क्योंकि सुकेतु सरीखे सखा की सहाय से आज आनंद संसार को बढ़ाने वाले मोह-महारिपु को मैंने जीत लिया है। ऐसा कहकर सबसे क्षमा मांग सुकेतु के रोकने पर भी जिनदेव ने संसार-देह-भोगों से विरक्त हो जिनदीक्षा ले ली। तब सुकेतु जिनदेव के पुत्र को उसकी सम्पूर्ण लक्ष्मी देकर दानादिक सत्कार करता हुआ सुख से रहने लगा।

मणिनागदत्त सुकेतु के वैभव को देख नही सकता था, इसलिए उसने एक दिन अपने नागालय में तपश्चरण पूर्वक नागों का आराधन किया। पहले नागदत्त का पुत्र भवदत्त एक अर्जुन नाम के चांडाल को संबोधन करती हुई यक्षी को देखकर कामज्वर से पीड़ित होकर मर गया था और उस नागालय मे उत्पल नाम का देव हुआ था। सो नागदत्त के आराधन से प्रसन्न हो वह बोला—हे नागदत्त, यह कायक्लेश क्यो करता है?

नागदत्त—तुम्हारा आराधन करता हूं।

उत्पलदेव बोला—किस लिए?

नागदत्त—जिस लक्ष्मी से मैं सुकेतु की लक्ष्मी को जीत सकू, वह मुझे तुम्हारे प्रसाद से मिल जावे, इसलिए।

उत्पल—तुम पुण्यहीन हो, इसलिए तुम्हें उसकी लक्ष्मी नही दे सकता हू।

नागदत्त—पुण्यहीन हूं, इसीलिए तो तुम्हारी आराधन करता हूं, नही तो तुम्हारी आराधना का प्रयोजन ही क्या था?

उत्पल—लक्ष्मी को छोड़कर और जो कुछ तुम कहोगे, सो करूंगा।

नागदत्त—तो, सुकेतु को मार डालो।

उत्पल—निर्दोष पुरुष को नही मार सकता। उसे कुछ दोष लगाकर अलबत्ता मार डालूंगा।

नागदत्त—किसी भी उपाय से मारो, परंतु मारो। उसके मरने से मैं संतुष्ट हो जाऊंगा।

उत्पल—तो मैं बन्दर का रूप धारण करता हू। मुझे सांकल से बांधकर तुम सुकेतु के निकट ले चलो। वह जब पूछे कि यह बन्दर क्यों ले आये? तब तुम कहना मैं वन मे गया था, वहां मुझे यह बन्दर दिखलाई दिया। देखते ही इसने पूछा कि क्या देखते हो? मैने कहा—तू बन्दर होकर मनुष्य सरीखा बोलता है! इसने कहा—मैं बंदर नही हूं, पुण्यदेवता हू। मेरा स्वभाव उलटा है। मैने कहा—सो कैसा? तब यह बोला—जो मेरा स्वामी होता है, वह जो कुछ आज्ञा करता है, उसे मैं कर लाता हू। परन्तु यदि वह कुछ आज्ञा नही देता है, तो मैं उसे मार डालता हूं। और इसी विरुद्ध स्वभाव से किसी का आश्रय नही लेकर मैं वन मे रहता हू। इसकी उक्त आश्चर्यजनक बातें सुनकर इसे आपके पास ले आया हूं, यदि आप मे आज्ञा देते रहने की सामर्थ्य है तो इसे रख लीजिए, नहीं तो मैं इसे छोड़ देता हूं।

उत्पल की बातें सुनकर नागदत्त ने वैसा ही किया और सुकेतु ने उस बन्दर को अपने यहां रख लिया। रखते देर नही हुई थी कि वह बोला—स्वामिन्, आज्ञा कीजिए। सुकेतु ने कहा—इस नगर के बाहर अनेक जिनमंदिरो से युक्त एक रत्नमयी नगर बनाओ। बन्दर ने कहा मुझे छोड़ दीजिए, अभी जाकर बनाता हूं। सुकेतु ने उसे छोड़ दिया। तब उसने बाहर जाकर थोडे ही समय मे मनुष्यो को कौतुक उत्पन्न करने वाला वैसा ही नगर तैयार कर दिया। और लौट कर फिर आज्ञा मांगी। तब सुकेतु ऐसा कहकर कि 'मैं राजा के समीप जाकर आता हूं, तब तक तू ठहर' राजा के पास गया, और बोला—देव, मैंने एक नगर बनवाया है, वहाँ आप राज्य कीजिए। राजा ने कहा—तुम्हारे पुण्य के उदय से वह नगर बना है, सो अब वहां का राज्य तुम्ही करो। यह सुनकर सुकेतु राजा का आभार

(शेष आवरण पृ० ३ पर)

संस्मरण :

संस्थाओं की सुरक्षा : टेढा प्रश्न

श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

जिन लोगों को सम्पन्नता ने राग-रग और सुख भोगो का कीड़ा बना दिया है, उन्हें राग-रग मे लिप्तता के कारण पढ़ने का समय नही मिलता और जो विपन्न है उन्हें गुजारे योग्य आवश्यक सामग्री जुटाने से फुरसत नही मिलती। ऐसे मे सिद्धान्त सम्बन्धी खोज पूर्ण तथ्यो पर मनन चिन्तन करने वाले कहा, कितने सम्भव है ? हा, यदा कदा जो पढ भी लेते होंगे उनमे कुछ तो चिचकते भी होगे कि कहा से नई बाते पैदा करके दी जा रही है ? उदाहरण के लिए जैसे 'अपरिग्रह को मूल जैन सस्कृति' बतलाकर भूले हुए मूल सूत्र का उद्घाटन करना, जीव-रक्षण, करुणा, दया आदि जैसे भावो को अहिंसा न कह 'लेश्या' नाम देना और व्रतो मे जैनत्व के अनुकूल विरति भाव पोषक 'हिंसाव्रत' जैसे नामो की पुष्टि कर जैनत्व विरोधी, रतिपोषक, 'अहिंसाव्रत' जैसे नामो को निरस्त करना, जैसी बाते पाठको के गले कहा तक उतरती होंगी। यह हम नहीं जानते। हा इतना अवश्य कहते हैं कि—

जैन समाज धार्मिक और श्रद्धाप्रधान समाज है। पिछले समय मे इसमे पर्याप्त तत्त्व चिन्तक भी रहे है और थोड़े बहुत अब भी है। कुछ लोग ऐसे विचारो को पढते भी है और कुछ लोग अपने अभिमत भी भेजते है। हम भी जो लिखते है वह बिना किसी पूर्वाग्रह के यह मान कर लिखते है कि पाठको के समक्ष अपनी समझ का दृष्टिकोण रखे और पाठक उसमे सशोधन दे। निश्चित ही ऐसा करने से तत्व चिंतन तो होता ही है, साथ ही निर्णायक दौर की सन्निकटता का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

वर्तमान के वातावरण को तो सभी जानते हे। लोगों मे सिद्धान्त ज्ञान और आचार-विचार पालन का स्थान मिट्टी, पत्थर और जड़ की खोज ले बैठे है नए-नए स्थानों को पुराने तीर्थों की जगह दिलाने की कोशिशें भी लोग करने लगे है, सभी ओर आत्मज्ञान का ह्रास है। अधिक क्या कहे जो सस्थाएं धार्मिक तत्त्व-चिंतन खोज और सुधार हेतु स्थापित है उनमे भी कही-कही दुष्प्रवृत्ति दृष्टिगोचर है। हमे स्मरण है कि पहिले कभी जब हम एक सस्था का कार्यभार सभालने पहुचे तो एक दिन हमने देखा कि—सस्था के मुख्य कक्ष मे संस्था के कुछ कर्णधार सामूहिक रूप मे बैठे ताश खेल रहे थे, चाय, पान का दौर चल रहा था और उनमे से कई की सिगरेटो के धुए से प्रागण धूमायमान हो रहा था। हम आश्चर्य मे पड़ गये, सर्विस पर नए-नए गए थे। हम अधिकारियों के बीच क्या कहते ? चुपचाप अपना सिर धुनते रहे और सोचते रहे—हाय री, दिगम्बर समाज और उसके ऐसे ये कर्णधार तथा हम जैसे गुलाम पंडित, जिन्होंने पढ़कर भी खो दिया—जो दुराचार के विरोध मे चूं तक न कर सके।

कुछ दिनो बाद अवसर पाकर बड़ी हिम्मत जुटाकर डरते-डरते हमने सस्था के मुख्याधिकारी से एकान्त में ऐसे निवेदन किया जैसे मानो हम किसी वरदान पाने की साध मे किसी देवता को मना रहे हों। हम सोचते भी रहे कि यदि कही इन्हे बुरा लग गया या इन्होने अपनी और अपने पद की बेइज्जती (Insult) समझी तो हमारा पत्ता साफ होने मे सन्देह नही। और यदि इन्होंने हमें कोई इल्जाम लगाकर नौकरी से निकाल दिया तो गृहस्थी भूखो मर जायेगी। क्योंकि निश्चय ही ऐसे लोगों पर निकाल देने से बडा अन्य हथियार सुरक्षित नही होता। पर गनीमत हुई कि निकल जाना हमे बड़ी बात नही थी हम निकाले जाने की सजा के अभ्यासी हो चुके थे—एक स्थान से तो इसी प्रकार के सुकार्य के कारण हम बुरी

तरह निकाले भी जा चुके थे। ऐसे लोगों की दृष्टि मे हमारा सुकार्य अक्सर कुकार्य होता था। हम आश्वस्त रहे।

एक जगह तो रुष्ट होकर अधिकारी ने बड़े रौब से दया भाव दिखाते हुए कहा—पंडित जी, आपको निकाल कर हम आपका रिकार्ड खराब नहीं करना चाहते, अच्छा हो आप इस्तीफा दे दें। हमें उनकी बुद्धि पर तरस आया कि उन्हें यह नही मालूम कि उनकी खुद की कीमत क्या है? जो समाज की सम्पत्ति पर चौधरी बने बैठे है और जिनके निकालने से हमारा रिकार्ड खराब हो जायगा। हमने कहा—आपकी मर्जी है तो हमे निकाल दीजिए। बस उन्होंने हमे निकाल दिया। और हमारा रिकार्ड बना ही रहा, जब कि कुछ वर्षों के बाद सस्था के चुनाव मे वे अपना रिकार्ड गँवा चुके। हम अभी तक के जीवन मे जैन संस्थाओं में हैं, रहे और रहेंगे। संस्थाए हमारा जीवन है।

हमें खुशी हुई कि सांकेतिक सस्था के तत्कालीन मुख्याधिकारी ने हमारी बात गौर से सुनी और हमे 'दाद' दी। उनके बाद जब तक हम उस सस्था मे रहे वहा ताश खेलना सिगरेट पीना, आदि जैसे निद्यकार्य नही हुए और ना ही संस्था क्लब रूप मे लोगो का अड्डा रही—जैसे पहले थी। ये सब मुख्याधिकारी की समझदारी से हुआ, धन्यवाद। आशा है वहाँ यह स्थिति अब भी जारी होगी।

प्रसंग वश हम 'जैन स्तोत्र' निर्वाणकाण्ड का स्मरण करा दें। इसके पढ़ने से जैन की प्राचीन आधुनिक दशाएं सामने आ जाती हैं। पाठक सोचे, तब धर्मात्माओं—निष्परिग्रहियों की कितनी सख्या थी एक-एक संघ मे हजारों मुनिराज होते थे और मोक्ष जाने वालो की सख्या भी सैकड़ों मे होती थी। सघरूपी सस्थाओ के कर्णधार तीर्थंकर और आचार्य अपने आदर्शो मे आदर्श थे। उन संस्थाओं से आज की सस्थाओ की तुलना कीजिए। तब पूरी बागडोर कर्मठो के हाथों थी और अब गाहे-बगाहे दूध की रखवाली बिल्ली के हाथ जाना भी अपवाद नही।

बुरा न मानें। यहां हम व्यक्तिगत सस्थाओं की बात नहीं कर रहे और कहने के अधिकारी भी नही। हमारा प्रयोजन उन संस्थाओं से है जो सामाजिक धरोहर है। ऐसी अधिकाश संस्थाएँ किन्हीं कमेटियों के अधीन होती है। और कमेटियो के सदस्यों के चुनाव, संस्था की कार्य विधि या तदनुकूल योग्यता पर आधारित न होकर जन या धन शक्ति के साथ होते हैं। और ये शक्तियां अपने स्वभावानुसार सस्था की कार्य विधि में जन, धन शक्ति की बढ़वारी सोचने तक सीमित रह जाती है—संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति से इन्हें प्रयोजन नहीं रहता। कई सदस्य तो यह भी सोचते हों कि सस्था में उनके जन अधिक हों संस्था की चल-अचल सम्पत्ति पर उनके जन और उनका पूरा अधिकार हो और पीढ़ी दर पीढी रहता रहे, तो आश्चर्य नही। धन और जन शक्ति अपने अधिकारत्व में रखने की ऐसी दौड़ में कही कही तो केवल हाथ उठाऊ लोग तक सदस्यो मे चुने जाते रहे हों तब भी आश्चर्य नही। ऐसे मे संस्थाएँ धीरे-धीरे विवाद बन जाती है और कई समझदार उनसे हाथ खींच लेते हैं। संस्था मे भाग न लेने तक जो शान्त होते है वे अशान्त हो जाते है।

ऐसा सर्वथा ही होता हो—यह भी नही है। हमने ऐसे अधिकारियो के साथ भी काम किया है जो संस्था से निस्पृही, सेवाभावी और हमारे (विद्वान) पद के प्रति सदा विनम्र रहे हों। और ऐसो के पास भी काम किया जिन्हें अपने कार्यों से फुर्सत नहीं और जो बात-बात मे ताना मारते हों "हम कोई नोकर तो नही है, हमे तनख्वाह थोड़े ही मिलती है आदि।"

तात्पर्य ऐसा कि सस्थाओं मे योग्य-अयोग्य सभी तरह के लोग आते रहते है। प्रयत्न होना चाहिए कि योग्य लोग सस्थाओं की बागडोर संभाले और यह चुनाव विधि पर निर्भर है कि किस प्रकार उपयुक्त, योग्य और उदार व्यक्ति का चुनाव हो। फलत: ऐसे व्यक्ति की क्या परख हो, इसे सभी को देखना होगा। अन्यथा, जन साधारण के लिए आज की अधिकांश-संस्थाएँ प्राय: ईंट, पत्थर, चूने और धन के ढेर जैसी चल-अचल सपत्ति मात्र बनकर रह गई है और कतिपय जन उन्है आत्मसात् किए बैठे हों तब भी आश्चर्य नहीं। ऐसे लोगों की दृष्टि में सस्थाओं की परिभाषा ही बदली होगी। अस्तु, "जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।"

जरा सोचिए !

आगम-रक्षा : एक समस्या

सर्वमान्य आगम तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि मे **आचार्य पूज्यपाद** स्वामी ने 'श्रुत मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेद' **सूत्र की व्याख्या** में आगम-वक्ता के तीन रूप प्रस्तुत किए **हैं और वे वक्ता** रत्नकरण्ड मे मान्य देव, गुरु के लक्षण से **पूर्ण मेल खाते हैं** और मूल आगम के सच्चे वाहक ये ही **हो सकते हैं तथाहि**—'त्रयो वक्तारः। सर्वज्ञ तीर्थकर। **इतरो वा श्रुतकेवली**। आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परम**र्षिणा परमचिन्त्य** केवलज्ञानविभूति विशेषेण अर्थत: आगम **उद्दिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च** प्रामाण्यम्। **तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः** श्रुतकेवलिभि**रनुस्मृतग्रन्थरचनमंगपूर्वलक्षण** तत्प्रमाण, तत्प्रामाण्यात्। **आरातीयैर्पुनराचार्यैः** कालदोषसंक्षिप्तायुर्मतिवलशिक्षानुग्र**हार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्ध** तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति। **क्षीरार्णव** जलं घटगृहीतमिव।' —सर्वार्थ १-२०

अर्थात् वक्ता तीन प्रकार के है (१) सर्वज्ञ तीर्थकर व **सामान्य केवली** (२) श्रुतकेवली और (३) आरातीय। **इनमें से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और** अचिन्त्य केवलज्ञान **रूपी विभूति विशेष से युक्त हैं।** इस कारण उन्होने अर्थ-**रूप से आगम का** उपदेश दिया। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और **दोषमुक्त हैं इसलिए** प्रमाण हैं। इनके साक्षात् शिष्य और **बुद्धि के अतिशय रूप** ऋद्धि से युक्त गणधर श्रुतकेवलियो **ने अर्थरूप आगम का** स्मरण कर अंग और पूर्वग्रथो की **रचना की। सर्वज्ञदेव** की प्रमाणता के कारण ये भी प्रमाण **हैं तथा आरातीय** आचार्यों ने, काल दोष से जिनकी आयु, **मति और बल घट गया है** ऐसे शिष्यो का उपकार करने **के लिए दशवैकालिक** आदि ग्रन्थ रचे। जिस प्रकार क्षीर **सागर का जल घट** में भर लिया जाता है उसी प्रकार वे **ग्रन्थ भी अर्थरूप में वे ही हैं इसलिए** प्रमाण है।

पाठकों **की जानकारी के** लिए यहां आगम के कुछ **लक्षण दिये जा रहे हैं।** ये सभी लक्षण आगमों से उद्धृत है, इसलिए प्रमाण है, कल्पित नही। देखें—

१. 'तस्मुहग्गद वयणं पुव्वावरदोसविरहिय सुद्धं।
   आगमभिदि परिकहिय·············· ।। नियमसार ८१
२. 'आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणिदियत्थ विसओ अचितिय सहाओ **जुत्तिगोयरातीदो**।'
   —धवला पु० ६ पृ० १५१
३. 'आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीत।
   —भग० आ० विजयो० टी० २३
४. 'आप्त वचनादि निबंधनमर्थज्ञानमागमः।'
   —परीक्षा ३।९९ न्यातदी० पृ० ११२
५. 'आगमो वीतराग वचनम्।' धर्म र.प्र स्वो. वृ.पृ. ५६
६. 'अत्तसवयणमागमो।' —अनु० चू७ पृ० १६
७. 'आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
   तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्र कापथघट्टनम्।'
   —न्यायावतार, रत्नकरण्ड ९

अर्थात्—केवली के मुख से प्रकट वचन पूर्वापर दोष-रहित, शुद्ध है। उनके द्वारा कहे गये वचन **आगम** है। जो केवलज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्राय. अतीन्द्रिय पदार्थों को (भी) विषय करने वाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्ति के विषय से परे है उसका नाम **आगम** है। सर्वज्ञ जो (नियमत.) राग द्वेष रहित है उनके द्वारा रचा गया **आगम** है। आप्त वचनादि से होने वाले पदार्थ ज्ञान का नाम **आगम** है। वीतराग वचन को **आगम** कहते है। आप्त के वचन **आगम** है।

आगम लक्षण के उपर्युक्त क्रम मे सातवा क्रम न्यायावतार और स्वामी समतभद्र के मन्तव्यो का है। श्लोक की उत्थानिका में क्रमशः—'तत्किंभूतमिति तद्विशेषणान्याह' (शास्त्र कैसा है, उसके विशेषण कहते है) और '**कीदृश** तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह' (जो उन्होने रचे है वे शास्त्र कैसे है) लिखा है। अर्थात् श्लोक मे दिए गए सभी विशेषण आप्तोपज्ञ (आगम) के **हैं और** ये विशेषण आप्तोपज्ञ **होने के कारण से ही हैं।** कहा भी है—'**यस्मात्तदाप्तोपज्ञ**

तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लध्यं । कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्यं सर्वज्ञ प्रणीतं शास्त्र ततस्तत्सार्वं ।'—(प्रभाचन्द्र वृत्ति ६) अर्थात् वे आप्त द्वारा कथित होने से इन्द्र आदि (आचार्यों) द्वारा अनुल्लघ्य है, सर्वज्ञप्रणीत होने से सर्वहितकारी—सार्वजनीन है। अत हम ऐसा मानते हैं कि आगम सर्वज्ञवाणीरूप होने से स्वय प्रमाण और अपरीक्ष्य हैं। इसके सिवाय ऊपर लिखे आगम लक्षण (न० २) मे तो धवलाकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि—**आगम युक्ति आदि के गोचर नहीं है**। ऐसी अवस्था मे स्वय अप्रमाणिक, हम जैसा कोई मन्दबुद्धि यदि अपनी कमजोर बुद्धिरूपी कमजोर कसौटी पर कसकर आगम मे प्रामाणिकता लाने की बात करे तो इसे आगम की अवहेलना ही कहा जायगा। भला, कोई मदबुद्धि सर्वज्ञवाणी (आगम) की परीक्षा करेगा भी कैसे ? एक ओर तो हम आगम को स्वत: प्रामाण्य मानें और दूसरी ओर किन्ही विशेषणो से उसकी परख की बात कर, आगम को परत प्रामाण्यसिद्ध करने की बात करे तो यह आगम के स्वत. प्रामाण्य का विरोध ही होगा।

सच तो यह है कि हम दिगम्बर सर्वज्ञ की मूलवाणी और श्रुत केवलियो द्वारा सकलित अग पूर्वों का सर्वथा लोप मान बैठे* या शेष रहे दृष्टिवाद श्रुत ❀ की सीमा मे न रह सके और कुछ लोग 'अनात्मार्थ विनारागैः' की अवहेलना कर सग्रंथो और आरम्भियो की कृतियो को आगम मे मिश्रित कर उन्हे आगमरूप मे अर्घ चढ़वाने लगे, तब आगम की परीक्षा की बात पैदा हुई। जबकि अल्पबुद्धि और परिग्रहियो के लिए आगम-परीक्षणकार्य सर्वथा अशक्य है—'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना: ।'—जैसा कि आज हो रहा है और जिसके कारण इसे निकालो, इसे रखो जैसा आंदोलन चल पड़ा है।

यद्यपि पं० प्रवर टोडरमल जी से पहिले, चामुण्डराय, पं० आशाधर और राजमल प्रभृति श्रावकों द्वारा अनेक ग्रंथ लिखे गये और वे पडित जी के समक्ष (जानकारी में) थे, पर पडित जी ने अपने स्वाध्याय ग्रंथों में उन्हें स्मरण न कर परम्परित मान्य आचार्यों (निर्ग्रन्थ गुरुओं) के ग्रंथों को ही सम्मान दिया।✳ यदि सग्रन्थो द्वारा रचित ग्रंथ आगम होते तो पडित जी उनमे से किसी एक के नाम का तो उल्लेख करते, जैसा उन्होने नही किया। फलित होता है प० जी की दृष्टि परपरित आचार्यों को प्रामाणिक मानने तक ही सीमित रही है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्यों को आगम वक्ता स्वीकार किया ही है—गृहस्थों को नही।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान मे आगम वे ही हैं जो आप्तकथित और परम्परित प्रामाणिक निर्ग्रन्थ-गुरुओं द्वारा (जैसा कि सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है) निबद्ध हों। अन्य कृतियो को हम आगमानुसारी कह सकते हैं और वह भी गारण्टी के बिना। कारण स्पष्ट है कि गृहस्थियों मे 'अनात्मार्थं विना रागैः' पद घटित नही होता और वे विषयो की आशा से रहित, निरारम्भी और निष्परिग्रही नही होते और इन गुणों के बिना वे आप्त और निर्ग्रन्थ गुरुओं जैसा निर्दोष व्याख्यान नही कर सकते। आगम लक्षणों से और सर्वार्थसिद्धि १–२० की टीका से भी हमारे कथन की पूर्ण पुष्टि होती है।

अमुक को रक्खो, अमुक को निकालो जैसी एक लक्ष्य-विकृति के निवारणार्थ हम पहिले भी कह चुके हैं कि—

---

* 'दिगम्बरो ने पाटलिपुत्र मे सकलित आगमो को मानने से इन्कार कर दिया और उन्होने यह घोषणा कर दी कि अग और पूर्व नष्ट हो गये।' —जैन साहि० इति-पूर्व पीठिका पृ० ४९६

❀ 'श्वेताम्बर परम्परा जिस दृष्टिवाद श्रुत का उच्छेद मानती है उसी दृष्टिवाद श्रुत के अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद पूर्व से षट् खडागम, महाबध, कषायपाहुड आदि दिगम्बर सिद्धान्त ग्रन्थो की रचना हुई है।' —जैनदर्शन (प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ० १३

✳ ······ उपयोगी ग्रन्थनि का किंचित् अभ्यास करि टीका सहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र अर क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड, आत्मानुशासन आदि शास्त्र अर श्रावक मुनि का आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र, अर सुष्ठुकथा सहित पुराणादि शास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं।' —मोक्षमा० प्रकाशक (प्रथम अधिकार)

'मन्दिरों में मूल के सिवाय कोई भी वह कृति न रखी जाय जो किन्हीं परम्परित आचार्यवर्य की न हो।' इसमें हमारा भाव 'आगमरूप में न रखी जाय' ऐसा रहा है। जैसा कि हमने अपने लेख के प्रारम्भ मे स्पष्ट भी कर दिया है—'अमुक आगम है, और अमुक आगम नही है, अमुक को निकालो, अमुक को रखो ऐसी चर्चा चारों ओर हैं', आदि। उक्त प्रसंग हम आज भी दुहराते है और चाहते हैं कि विवाद शान्त करने के लिए सभी प्रकार की घुसपैठ रोक दी जाय। पूर्वाचार्यों के आदेशानुसार परम्परित निर्ग्रन्थ आचार्यों की रचनाएं ही आगम श्रेणी में मानी जांय और अन्यों-कृत भावार्थ, विशेषार्थ, खुलासा अर्थ और स्वतंत्र रचनाओं को (जिनसे मतभेद—विवाद पनप सकता है) आगम न कहा जाय। भले ही उसे आगमानुसारी श्रेणी मे, (बिना किसी गारन्टी के) रख लिया जा सकता हो। किसी प्रकार की कोई सीमा न होने से एक मन्दिर मे तो हमने एक अभिनन्दन ग्रन्थ तक को शास्त्र की चौकी पर, स्वाध्याय के रूप मे देखा है। यानी कुछ भी हो, कोई ग्रंथ हो, चल मन्दिर मे—ऐसी परम्परा चल पड़ी है। सोच लेना चाहिए कि समोसरण कोई ऐसी लाइब्रेरी नही है जहां सभी प्रकार के ग्रंथ रख दिए जांय। मन्दिर की अपनी मर्यादा है, मन्दिर मे शास्त्र-भण्डार है, जिसमे मूल और प्रामाणिक दिव्यध्वनि ही स्थान पा सकती है। पूजा और जैन पदों की पुस्तकें वीतरागभक्ति के लिए रखी जा सकती है।

हम जिन, जैन, जिनवाणी और अपने विद्वान् गुरुगण तथा गुरुसमो के श्रद्धालु है। लोग जिन भाषातरकार विद्वानो के गुणगान करेंगे, शायद उन विद्वानो के अपेक्षाकृत हम अधिक भक्त होंगे। कितनो ही को तो हम किसी हद तक प्रामाणिक भी मानते होगे। पर, हमसे यह पाप न हो सकेगा कि हम उन्हे 'जिन' और निर्ग्रन्थ आचार्यों के सम बिठा, उनके भाषान्तरों आदि को जिनवाणी के साथ अर्घ दिला जिनवाणी की अवहेलना करें। उनके भाषान्तर चाहे बहुमत की दृष्टि मे ठीक ही क्यो न हो? हम तो उन भाषान्तरों को आगमानुकूल भी हो सकते है ऐसा कह, आगम नहीं हैं—ऐसा ही कहेंगे। हमारा यह भी विश्वास है कि स्वयं कोई भाषान्तरकार भी अपने भाषान्तर को आगम घोषित करने की चेष्टा न करेगा। अस्तु:

जब हमने परम्परित प्रामाणिक निर्ग्रन्थ आचार्यों की मूलकृतियों मात्र को मन्दिरो में रखने की बात कही तो एक प्रमुख ने हमसे कहा—इससे तो आगम भाषा से अजान लोगों का संकट बढ़ जायगा। हमने कहा—अपना संकट बचाओ या मूल आगम की रक्षा करो। दोनों बातें तभी हो सकती है जब विद्वन्मुख से मूल का (मौखिक रूप) अर्थ सुना जाय। अर्थ के मौखिक होने से किसी गलत रिकार्ड बनने की शंका भी न रहेगी और आगम भी सुरक्षित रहेगा। प्रारम्भिक समय मे ऐसा ही होता रहा है। भाषान्तरकारो की लेखरूप में भाषान्तर करने की उदारता भी आज संभावित भावी विद्वत्समाज के वंश को ले बैठने में एक कारण बनी है? क्योंकि आज सभी को भाषान्तर सुलभ हैं—चाहे वे गलत ही क्यो न हो—लोग उन्हें पढते है। उन्हें विद्वानों की आवश्यकता प्रतीत नही होती और वे विद्वानों के उत्पादन से मुख मोड बैठे हैं। पाठशालाएं भी समाप्त प्राय: हैं। पंडितों ने अपनी पीढ़ी तैयार करने से भी इसीलिए विराम लिया है कि अब समाज को उनकी आवश्यकता नहीं। भाषान्तरों की बहुतायत से पहिले एक समय था जब सरस्वती सदा लक्ष्मी के सिर पर बैठती थी—लोग पंडितों को सन्मान देते थे, जबकि आज लक्ष्मी ने सरस्वती को दासी बना लिया है। दूसरी बात इन भाषान्तरो से यह हुई कि आगम मे अनागम भी घुसपैठ करने लगा—गलत भाषान्तर भी अर्घ पाने लगे—जिनवाणी अप्रामाणिक (मिश्रित) होने लगी। और तीसरी बात जो सर्वाधिक भयावह है वह है—मूल आगम के भावो लोप का प्रसग। जब सभी लोग मूल की उपेक्षा कर मात्र भाषान्तर पढ़ते रहेंगे तो एक समय ऐसा भी आयेगा जब मन्दिरों में शेष बचा मूल-आगम भी रखा-रखा जीर्ण-शीर्ण हो जायगा। लोगों के ज्ञान मे तो उसके रहने का प्रश्न ही नही।

हम यह भी जानते है कि हमारी उक्त योजना से धार्मिक-साहित्य के प्रति व्यापारी मनोवृत्ति के लोगों के मन और उनके व्यापार को धक्का लग सकता है, वे इसका विरोध भी करें तो हमें आश्चर्य नही। पर, हमें यह भी इष्ट नहीं कि किसी व्यापार के लिए धर्म और आगम का स्वरूप ही बदल दिया जाय। सोचने की बात यह है कि जिस धर्मके अपने मूल-आगम ही सुरक्षित नही रहें उस धम

के अनुयायी कैसे सुरक्षित रह सकते हैं ? फिर तो ऐसा ही होगा कि अपने को जैन घोषित करते रहो और जैसी चाहो धर्मविमुख प्रवृत्तियां करते रहो। आखिर, रजनीश भी तो भगवान न होते हुए, अपने को भगवान घोषित किए बैठे हैं।

हम एक बात फिर कह दें कि हम जो विचार देते है नम्र होकर देते हैं और वे हर व्यक्ति को विचार कर निर्णय के लिए होते है, किसी खंडन-मंडन या उत्तर-प्रत्युत्तर के लिए नही होते। पसद आएँ तो ग्रहण करें अन्यथा छोड़ दें। यह हम इसलिए भी लिख रहे हैं कि कोई सज्जन इन्हें समाज में विघटन का मुद्दा न बना लें जैसी कि आज प्रथा चल पडी है। हमारी भावना यही है कि—मूल आगम सुरक्षित-निर्दोष रहें, विद्वानों का उत्पादन हो, पाठशालाएं चलें और मूल-आगम को विद्वन्मुख से मौखिक रूप मे पढ़ा और सुना जाने की परिपाटी पुनः चालू हो। मौखिक इसलिए ताकि कोई गलत रिकार्ड न बने—सभी विद्वान् विभिन्नमति हो सकते है—कोई अर्थ मे चूक भी सकते है। हम बारम्बार विनम्र प्रार्थना करते रहे है कि अमूल्य जिनवाणी की रक्षा हेतु हल्के और काल्पनिक यद्वा-तद्वा लेखन—नए प्रकाशन के व्यापार को बन्द कर प्राचीन मूल आगम ग्रन्थों के प्रकाशन, पठन-पाठन पर बल दिया जाय।

क्या कहें ? आज जन-दृष्टि प्रायः 'पर' पर केन्द्रित हो बैठी है, सभी 'पर' के सुधार को लक्ष्य बनाए हुए हैं। पूछते हैं—हमारा लड़का कैसे धर्मात्मा रह सकेगा या अमुक अन्य का सुधार कैसे हो सकेगा ? नई पुस्तकें छपाने और अन्य साधारण में उनके प्रचार को भी उन्होंने इसीलिए चुन रखा है। ऐसे लोगों को मालूम होना चाहिए कि यदि उनका ज्ञान, ध्यान और आचरण ठीक होगा तो आगे सभी ठीक होगा। अतः उन्हें पहिले अपना व्यवहार सुधारने पर बल देना चाहिए। आज नेता चिल्लाते हैं, कोई सुनता नहीं, नेता को खीज उठती हैं। यही खीज यदि नेता को अपने आचरण के प्रति उठे, तब कार्यसिद्धि हो। हमारा निवेदन है कि नेतागण और सर्व साधारण, सभी मूल जिनवाणी को गुरुमुख से पढ़ें, उसे समझें और तदनुरूप आचरण करें तो सभी धार्मिक प्रसग सहज स्थिर और उन्नत हो सकते है और जिनवाणी भी सुरक्षित रह सकती है।

—सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

गुफाओ में उत्कीर्ण दृश्यो से हमे तत्कालीन जैन-समाज में प्रचलित आमोद-प्रमोद के माध्यमो एवं साधनों का भी आभास मिलता है। मनोरजन के लिए खेल-कूद, संगीत, नृत्य तथा झील-विहार आदि का प्रचलन आम था। नृत्य-संगीत पर स्त्रियों का एकाधिपत्य लक्षित होता है। बांसुरी एव मृदंग आदि वाद्य-वृन्द गुफाओ में उत्कीर्ण दृश्यो में देखे जा सकते हैं। आखेट के दृश्यों मे लोगों को हिरण का शिकार तीर-धनुष से, सिंह का शिकार भालों से तथा हाथियों का शिकार गदा एव बड़े-बड़े डंडों से करते हुए दिखलाया गया है। युद्ध एवं द्वन्द्व के दृश्य भी देखने को मिलते है। युद्ध के दृश्यों का अध्ययन करने से पता चलता है कि युद्ध मे तीर-कमान तथा तलवार एव ढाल आदि अस्त्र-शस्त्रो का व्यवहार होता था। सतरियों को तलवार के अलावा भाला एव डडे से लेस भी दिखलाया गया है। सेना मे पैदल सेना, घुड़सवारों तथा हाथी-बल का समावेश था। युद्ध में राजा को स्वय सेना का नेतृत्व करते हुए दिखलाया गया है। एक दृश्य में चार घोड़ो से जुते रथ का अंकन है। राजा अपनी दिग्विजयों में हमेशा दो परिचायकों द्वारा घिरा दिखाया गया है, जिनमें एक छत्र पकड़े हुए है तथा दूसरा पताका। ये दोनो चीजें राजकीय महत्व की हैं। युद्ध-विजय कर वापस आने पर राजा का समारोह पूर्वक भव्य स्वागत होता था।

स्त्रियों की दशा पर भी इन कलाकृतियों से प्रकाश पडता है। समाज में स्त्रियों का सम्मान था। उत्किर्णियों में कई स्त्रियों को अपने पतियों के साथ धार्मिक अनुष्ठानों एवं अन्य समारोहो में भाग लेते हुए दर्शित किया गया है। उन्हें हाथी की सवारी करते हुए तथा आखेट में भाग लेते हुए भी चित्रित किया गया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि यदि इन प्राचीन स्मारकों एव उनमें उत्कीर्ण मूर्तियों आदि का गहन अध्ययन किया जाए तो तत्कालीन जैन समाज के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश पड़ेगा तथा बहुत-सी नई जानकारियां मिलेंगी।

नेहरू नगर, पटना-८०००१३
(बिहार)

आत्मानुभवी परम्परित निर्ग्रन्थ आचार्यों का ग्रन्थ-कर्तृत्व

'दिव्य ध्वनि करि उपदेश हो है। ताकै अनुसरि गणधरदेव अंग प्रकीर्णकरूप ग्रन्थ गूंथें हैं। बहुरि तिनके अनुसारि अन्य-अन्य आचार्यादिक नाना प्रकार ग्रन्थादिक की रचना करैं है।'—

'बहुरि केतेक कालतांई थोरे अंगनि के पाठी रहे (तिनने यह जानकर जो भविष्य काल में हम सारिखे भी ज्ञानी न रहेंगे, तातैं ग्रन्थ रचना आरम्भ करी और द्वादशांगानुकूल प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ रचे) पीछे तिनका भी अभावभया। तब आचार्यादिकनिकरि तिनके अनुसारि बनाए ग्रन्थ वा ग्रन्थनि के अनुसारि बनाए ग्रन्थ तिनही की प्रवृत्ति रही।'—

'प्रथम मूल उपदेश दाता तो तीर्थंकर भए सो तो सर्वथा मोह के नाशतैं सर्व कषायनिकरि रहित ही हैं। बहुरि ग्रन्थकर्ता गणधर वा आचार्य ने मोह का मन्द उदय करि सर्व बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह को त्यागि महामन्द-कषायी भए है। तिनके तिस मंदकषायकरि किंचित् शुभोपयोग ही की प्रवृत्ति पाइए है।'—

'मूलग्रन्थ कर्ता तो गणधर देव है ते आप चार ज्ञानधारक है अर साक्षात् केवली का दिव्यध्वनि उपदेश सुनैं हैं ताका अतिशय करि सत्यार्थ ही भाषै है। अर ताही के अनुसारि ग्रन्थ बनावैं हैं। सो उन ग्रन्थनि विषै तो असत्यार्थपद कैसे गूथे जांय अर अन्य आचार्यादि ग्रन्थ बनावैं हैं तो भी यथायोग्य सम्यग्ज्ञान के धारक हैं। बहुरि ते तिन मूल ग्रन्थनि की परम्परा करि ग्रन्थ बनावैं है।'

'बहुरि वक्ता का विशेष लक्षण ऐसा है जो याकै व्याकरण, न्यायादिक वा बड़े-बडे जैन शास्त्रनि का विशेष ज्ञान होय तो विशेषपने ताको वक्तापनो शोभै। बहुरि ऐसा भी होय अर अध्यात्म-रसकरि यथार्थ अपने अनुभव जाकै न भया होय सो जिन धर्म का मर्म जाने नाही, पद्धतिकरि ही वक्ता होय है। अध्यात्मरसमय सांचा जिन धर्म का स्वरूप वाकरि कैसे प्रगट किया जाय। तातैं आत्मज्ञानी होइ तो सांचा वक्तापनो होइ।'—

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पहिला अधिकार

(पृ० २६ का शेषांश)

मानता हुआ घर आया। आते ही बन्दर बोला—स्वामिन्, आज्ञा दीजिए। सुकेतु बोला—अच्छा अब सबको ले जाकर मेरे उस नवीन नगर मे ठहराओ। बात की बात मे उसने ऐसा ही कर दिखाया। और सुकेतु को उसकी स्त्री धारिणी सहित राजभवन मे ले जाकर सिंहासन पर बैठाया और फिर आज्ञा मागने लगा। तब सुकेतु ने कहा—गंगाजल लाकर धारिणी सहित मेरा राज्याभिषेक करके राज्यमुकुट पहनाओ। बन्दर ने वैसा ही किया और आज्ञा मागने लगा। सुकेतु बोला—नागदत्तादि सब लोगो को महल मकान देकर उनको अक्षय धनधान्यादि से पूर्ण कर दो। उसने तत्काल ही वैसा भी कर दिया, और फिर आज्ञा मांगी। तब सुकेतु ने खिसियाकर कहा, अच्छा मेरे राजमहल के आगे एक खंभा गाड़कर उसकी जड से एक साकल बांध उस साकल के सिरे पर एक कड़े मे अपना सिर फँसाकर जब तक मैं नही रोकूं, तब तक खभे के ऊपर चढ और नीचे उतर। बेचारे बन्दर ने इस आज्ञा के अनुसार दो-तीन दिन तक खभे पर वह कसरत की, परन्तु जब सुकेतु ने नहीं रोका, तब थककर वह वहा से भाग गया।

सुकेतु सेठ बहुत समय तक राज्य करके एक दिन अपने सिर में श्वेत बाल देखकर ससार से विरक्त हो गया। इसलिए वह अपने पुत्रको राज्य देकर राजा वसुपाल से अपने को छुड़ा अर्थात् आज्ञा ले मणिनागदत्तादि बहुत लोगों के साथ भीम भट्टारक के निकट दिगंबर मुनि हो गया और तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त हुआ। धारिणी भी तपकर अच्युत स्वर्ग में देव हुई। मणिनागदत्तादि यथायोग्य गतियों को प्राप्त हुए। सुकेतु के घर से निकलते ही वह देवमयी नगर लोप हो गया।

इस प्रकार एक बार के दान के फल से सुकेतु को देवदुर्लभ सुख प्राप्त हुए और अंत मे मोक्ष प्राप्त हुआ। इसलिये सब लोगों को दान-धर्म में तत्पर रहना चाहिए। □□

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८६

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वर्णी-वाणी-स्मरण

—संसार मे जहां परिग्रह होता है वही पारस्परिक सौमनस्य की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। अत: मनुष्यों ने विचार किया कि जब परिग्रह अनर्थ का मूल है तब इसे ऐसे कार्यों में लगाओ जहाँ इसके द्वारा अशान्ति न हो। परन्तु यह तो जिस परिणाम का है, जहाँ गया अपना कार्य करेगा। और की कथा छोड़ो, मन्दिर मे गया तो वहाँ पर भी इसने अपना रङ्ग जमाया। मन्दिर के निधि-रक्षक के हृदय में ऐसा अभिमान उत्पन्न किया कि "मैं मन्दिर का खजाञ्ची हूं।" फूलकर कुप्पा हो गया। (२०-१-५१)

—द्रव्य अनर्थकारी है परन्तु मन्दिर का द्रव्य तो सबसे अधिक अनर्थकारी है। जो मनुष्य मन्दिर के द्रव्य का स्वामी बन जाता है वह शेष को तुच्छ समझने लगता है और जो मन्दिर का द्रव्य जिसके हाथ में रहता है उसको अपना समझने लगता है। परिणाम यह होता है कि समय पाकर दरिद्र बन जाता है और अन्त में जनता की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा नही रहती। अत: मनुष्यता की रक्षा करने वाले को उचित है कि मन्दिर का द्रव्य कभी भी अपने निजो उपयोग में न लावे। द्रव्य वह वस्तु है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य न्यायमार्ग से च्युत होने की चेष्टा करने लगता है। (१०-३-५३)

—वासना में अनेक प्रकार के सकल्प रहते है जो प्राय: प्रत्येक मनुष्य के अनुभव में आ रहे हैं। यही कारण है जो लोक मे प्राय: सभी दु:खी देखे जाते हैं। सुख का अनुभव उसी को होगा जो सब चिन्ताओ से रहित हो जावे। अन्य की कथा छोडो जो घर छोड देते हैं वे भी गृहस्थो के सदृश व्यग्र रहते है। कोई तो केवल परोपकार के चक्र मे पड़कर स्वकीय ज्ञान का दुरुपयोग कर रहे है। कोई हम त्यागी है, हमारे द्वारा संसार का कल्याण होगा ऐसे अभिमान मे चूर रहकर काल पूर्ण करते हैं। (३१-५-५१)

—यदि अन्तरग गृद्धता है तब त्यागी होना समाज को भार है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, इसका उपयोग करो। उसमे हर्ष-विषाद मत करो; अन्यथा वह उदय जो आया है, निर्जीर्ण होकर भी आगामी बन्ध का जनक होगा। जैसे—गज स्नान तो करता है; स्नान मे पूर्व धूलि का सम्बन्ध विलग हो जाता है। परन्तु फिर नवीन धूलि का सूंडके द्वारा सम्बन्ध कर लेता है और प्राचीन दशा का भोक्ता होता है। (आषाढ सुदी ५)

—शान्ति का मार्ग इस लोकेषणा से परे है। लोक प्रतिष्ठा के अर्थ त्याग व्रत सयमादि का अर्जन करना धूल के अर्थ रत्न को चूर्ण करने के समान है। पचेन्द्रिय के विषयों को सुख के अर्थ सेवन करना जीवन के लिए विष भक्षण करना है। जगत् के मनुष्य आत्मीय स्वार्थ के लिए ही कोई कार्य करते है। यह कोई निन्दा की बात नही। सामान्य मनुष्यो की कथा तो छोडो किन्तु जो विद्वान् है वह भी जो कार्य करते है आत्मप्रतिष्ठा के लिए ही करते है। यदि वह व्याख्यान देते है तब यही भाव उनके हृदय मे रहता है कि हमारे व्याख्यान की प्रशंसा हो अर्थात् लोग कहें कि महाराज! आप धन्य है, हमने तो ऐसा व्याख्यान नही सुना जैसा श्रीमुख से निर्गत हुआ। हम लोगों का सौभाग्य था जो आप जैसे सत्पुरुषों द्वारा हमारा ग्राम पवित्र हुआ। ग्राम ही नही आज हम लोगो के गृह आपके चरणस्पर्श से पवित्र हो गये। महान् पुण्य का उदय होता है तभी आप जैसे महात्माओं का मिलाप होता है। इत्यादि वाक्यों को सुनकर व्याख्याता महोदय हृदय मे प्रसन्न हो जाते है। (२४-६-५१)

—आजकल सब मनुष्य नेता बनने के प्रयास मे हैं। जो मनुष्य आत्मीय गुणों का विकास करने में असमर्थ है, निरन्तर व्यग्र रहता है, जिसका कोई लक्ष्य नही ऐसा उद्देश्य शून्य मनुष्य क्या उपकार करेगा? जो स्वयं दरिद्र है वह पर का पोषण क्या करेगा? जो स्वय अन्धा है वह पर को मार्ग नही दिखा सकता। इसी तरह जो स्वयं आत्मज्ञानशून्य है वह पर के हित की वार्ता क्या करेगा? (२६-७-५१)

(वर्णी-वाणी भाग ३ से साभार)
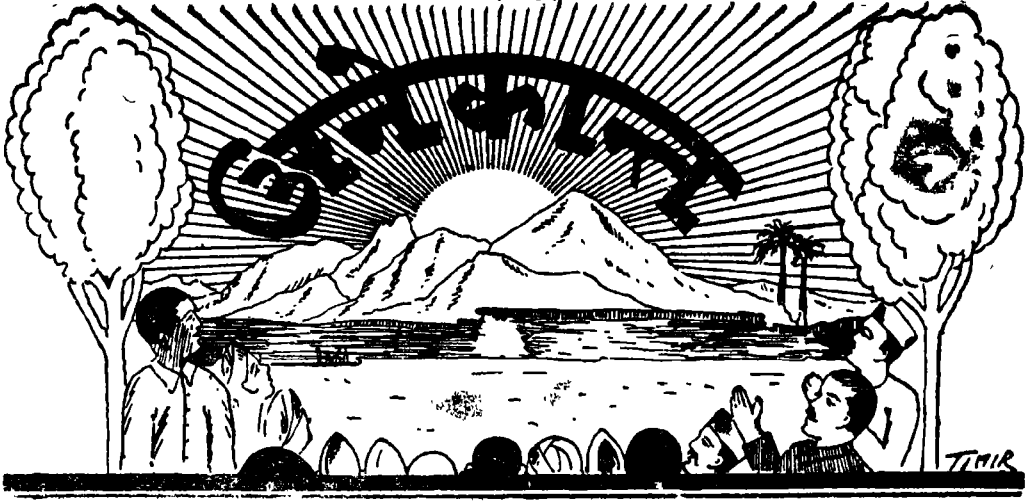
ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

वर्ष ३९ किरण ३ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५११, वि० सं० २०४३ { जुलाई-सितम्बर १९८६

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥
जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥
भद्दं मिच्छादंसण समूह मइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स॥
परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत कल्याण॥
'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश॥

अनन्त-धर्मा-तत्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे—हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुख पूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिनके (अनेकान्त गर्भित) वचन के भद्र (कल्याण) हों। □□□

गणीन्द्र गौतम का २५००वां निर्वाण वर्ष

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

अन्तिम तीर्थंकर भगवान वर्द्धमान महावीर (ई० पू० ६००-५२७) के धर्मतीर्थ में उन सर्वज्ञ-वीतराग-हितोपदेशी जिननाथ के पश्चात् सर्वप्रथम स्थान उनके अग्रशिष्य एवं प्रधान गणधर भगवत् इन्द्रभूति गौतम का है। प्रत्येक शुभ-कार्य के प्रारंभ में पढ़े जाने वाले मंगल-श्लोक—"मगल भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी" आदि में भी भगवान महावीर के साथ ही साथ गौतम गणेश का मंगल स्मरण नित्य किया जाता है।

वस्तुत: भगवान महावीर का तीर्थङ्करत्व तब तक सार्थक नही हुआ जब तक कि उन्हें गौतम स्वामी के रूप में सर्वथा उपयुक्त गणधर का सुयोग प्राप्त नहीं हो गया। भगवान को केवल ज्ञान की प्राप्ति वर्तमान बिहार राज्य मे ऋजुकूला नदी के तटवर्ती जृंभिक (जम्हुइ) ग्राम के वाहर एक शालवृक्ष के नीचे, ईसा पूर्व ५५७ की वैशाख शुक्ल दशमी के अपराह्न में, हुई थी। इन्द्रादि देवों ने आकर पूजोत्सव किया, समवसरण भी रचा गया, किन्तु भगवान की वाणी नही खिरी—वह ६६ दिन तक मौन रहकर विहार करते रहे, और आषाढ़ शुल्क पूर्णिमा के दिन मगध महाराज्य की राजधानी राजगृह अपरनाम पञ्चशैलपुरके वैभार पर्वत पर आ विराजे। उसी दिन, वहीं स्वत: प्रेरित होकर, अथवा वटुक-वेषी इन्द्र की प्रेरणा से समस्त वेद-वेदांगों का अधिकारी आचार्य द्विजोत्तम इन्द्रभूति गौतम अपने शिष्य समुदाय सहित, आत्म-तत्व विषयक अपनी शंकाओं के समाधानार्थ पधारा। समवसरण के मध्य गन्धकुटी के ऊपर अन्तरीक्ष विराजमान उन श्रीमत् केवलज्ञान-साम्राज्य-पदशाली परम तेजस्वी अर्हत् परमात्मा के साक्षात् दर्शन प्राप्त करते ही उस ख्याति प्राप्त विद्वत् शिरोमणि विप्रश्रेष्ठ महापण्डित इन्द्रभूति गौतम का सम्पूर्ण ज्ञानमद विगलित हो गया, वह विनम्र एवं विनयाभूत हो गया, उसकी समस्त शंकाएँ स्वत: निर्मूल हो गईं। और उसने अपने समस्त शिष्यों सहित भगवान महावीर का शिष्यत्व सहर्ष स्वीकार कर लिया। तभी से वह पावन आषाढी पूर्णिमा लोक मे गुरुपूर्णिमा के नाम से प्रसिद्ध रहती आई है। गौतम स्वामी के अनुज वायुभूति एवं अग्निभूति तथा अन्य उन्ही जैसे आठ दिग्गज पण्डित भी अपने-अपने शिष्य समूहों सहित उसी समय दीक्षित हुए, और गौतम सहित भगवान महावीर के ये ग्यारह गणधर बने। अगले दिन, श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के प्रात:काल सूर्योदय की प्रथम किरण के साथ, अभिजित नक्षत्र में, निकटस्थ विपुलाचल के शिखर पर, जहाँ उस समय समवसरण-सभा जुडी थी, चतुर्विध श्रीसघ (मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका) के समक्ष त्रैलोक्य-पूजित जगद्गुरु तीर्थंकर महावीर की सर्वकल्याणकारी दिव्य ध्वनि खिरी, क्योंकि उसे झेलने मे सर्वथा समर्थ गौतम रूपी गणीन्द्र का सुयोग मिल गया था। परिणामस्वरूप, उसी दिन, उसी समय, उसी स्थान पर वीर प्रभु की प्रथम देशना के साथ उनके धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई, उनके धर्मचक्र का प्रवर्त्तन हुआ, श्री वीर उनके शासन का ॐ नम: हुआ। भगवान महावीर रूपी हिमाचल से प्रसूत वह श्रुत-सरिता रूपी ज्ञानगगा, गुरुगौतम के मुखरूपी कुण्ड से नि:सृत होकर ही "सर्वसत्वानाहिताय, सर्वसत्वानां सुखाय" लोक में प्रवाहित हुई।

सर्वज्ञ भगवान के दिव्योपदेश को हृदयंगम् करके गौतम गणेश ने उसके सार-संक्षेप को सुव्यवस्थित रूप से अंग-पूर्व ज्ञान में निबद्ध किया। तीर्थंकर भाषित एवं गणधर गूंथित इस दिव्य श्रुत के दो विभाग थे—अंग-प्रविष्ट में आचारांग आदि बारह अंग थे, जिनमें से अन्तिम दृष्टिप्रवादांग के पांच विभाग थे। इन विभागों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पूर्वगत-ज्ञान जो चौदह पूर्वों में विभक्त था, और जिसमें जिनोपदिष्ट तत्वज्ञान, सिद्धान्त एवं दर्शन का पूर्व

परंपरा से चला आया ज्ञान समाविष्ट था। एक विभाग में पौराणिक अनुश्रुतियों एवं इतिहास के आधारभूत प्रथमानुयोग या धर्मकथानुयोग का सूत्र रूप से व्याख्यान था। इस अंगप्रविष्ट के अतिरिक्त अगबाह्य श्रुत में १४ प्रकीर्ण या पयन्ना सकलित थे। सामान्यतया इस सम्पूर्ण ज्ञान को द्वादशांग-श्रुत अथवा 'ग्यारह अग-चौदह-पूर्व' कहा जाता है। जैन-धर्म-सस्कृति के मूलाधार इस द्वादशांग श्रुत के मूलस्रोत एवं अर्थकर्त्ता तो भगवान तीर्थंकर देव है, किन्तु उसके ग्रन्थकर्त्ता, उपसंहारकर्त्ता, व्याख्याता एवं प्रकाशनकर्त्ता श्री गणधर देव हैं।

तदनन्तर, कई शताब्दियों तक यह श्रुतागम रूपी ज्ञानगंगा गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक द्वार से ही प्रवाहित होती रही। कालदोष से उसमे शनैः-शनैः ह्रास एव व्युच्छत्ति भी होने लगी। अन्ततः ईस्वी सन् के प्रारभ के लगभग, श्रुतरक्षा की भावना से प्रेरित होकर कई श्रुतधराचार्यों ने अग-पूर्वो के तदावशिष्ट ज्ञान के अधिक महत्वपूर्ण एव उपयोगी अशो को पुस्तकारूढ़ कर दिया और कई अन्यों ने मूलश्रुतागम के आधार से तदनुसारी विविध-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचने प्रारभ कर दिये। पाचवी शती ई० के उत्तरार्ध मे श्वेताम्बर परम्परा-सम्मत तदावशिष्ट आगम या आगमाश भी पुस्तकारूढ़ कर दिये गये। उभय आम्नायो के इनआगमो एव आगमिक ग्रन्थो पर विविध एव विपुल टीका साहित्य भी रचा जाने लगा। इस प्रकार जिन-भारती का एक भव्य प्रासाद उत्तरोत्तर उन्नत एव विशाल होता चला गया जो किसी भी अन्य परपरा के धार्मिक साहित्य से गुणवत्ता, वैविध्य एवं विपुलता की दृष्टियो से इक्कीस ही है, उन्नीस नही।

तो जैन सास्कृतिक परम्परा की इस महती उपलब्धि का प्रधान श्रेय शायद भगवान महावीर से भी अधिक उनके अग्रशिष्य, प्रधान गणधर एव सुयोग्य उत्तराधिकारी इन्द्रभूति गौतम को है। किन्तु विचित्र बात है कि सम्पूर्ण जैन साहित्य मे उनका एक भी व्यवस्थित पुरातन जीवन-चरित्र उपलब्ध नही है, न तो दिगम्बर परम्परा में और न ही श्वेताम्बर परम्परा मे। भगवान महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकरों अनेक शलाका पुरुषो तथा अन्य कई प्रसिद्ध पुरुषो एवं महिलाओं के भी पौराणिक चरित्र लिखे गये। स्वयं भगवान महावीर के साधिक एक दर्जन चरित्र है, उनके समसामयिक एवं उत्तरवर्ती श्रेणिक, जीवंधर सुदर्शन सेठ, अभयकुमार, धन्यकुमार, शालिभद्र, जम्बू स्वामी आदि के चरित्र रचे गये, भद्रबाहु, स्थूलिभद्र, कालक, कुन्दकुन्द आदि कई आचार्यों के भी चरित्र लिखे गये, परन्तु गणधरदेव गौतम स्वामि का एक भी नहीं। गौतम-पृच्छा, गौतम स्वामि सज्झाय जैसी दो एक परवर्ती प्रकीर्णक रचनाएँ हैं, किन्तु वे चरित्र कोटि में नहीं आतीं।

दिगम्बर परम्परा के गुणभद्रीय उत्तरपुराण, पुष्पदन्तीय महापुराण तथा अन्य महापुराणों के अन्तर्गत महावीर चरित मे, और असग, विबुध, श्रीधर रइधु, सकलकीर्ति आदि के महावीर-चरित्रो मे प्रकाण्ड वैदिक आचार्यों, गौतय गोत्रीय ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम के भगवान महावीर के समक्ष आने, उनका शिष्यत्व स्वीकार करने और उनके प्रधान गणधर के पद पर प्रतिष्ठित होकर उनकी दिव्य ध्वनि की द्वादशांगो में गूथने का संक्षिप्त उल्लेख मात्र है।

दिगम्बर परम्रा के सर्वोपरि सिद्धान्तग्रन्थों, धवल एव जयधवल मे भगवान महावीर के अर्थकर्तृत्व एवं तीर्थोत्पादन की द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से प्राचीन गाथाओ के आधार से प्ररूपणा करते हुए जो विशद एव महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है वह इस परिप्रेक्ष्य मे ध्यातव्य है। गौतम को भगवान के सम्मुख लाने वाले प्रेरक निमित्त के रूप में सौधर्मेन्द्र का भी बहुधा उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के पुराणो, पौराणिक चरित्रो एव कथाग्रन्थो आदि के प्रारभ मे प्रायः यह कथन रहता है कि राजगृह के विपुलाचल पर रचित समवसरण मे मगध नरेश श्रेणिक गौतम स्वामी से उक्त कथानक विशेष को जानने की जिज्ञासा करता है, और तब गौतम स्वामि उस पुराण, चरित्र या कथा का व्याख्यान करते हैं। वायुभूति और अग्निभूति, दोनों इन्द्रभूति गौतम के अनुज-सहोदर थे भारी विद्वान थे और उन्ही के साथ दीक्षा लेकर द्वितीयादि गणधर बने थे यह उल्लेख भी है। यह भी प्रायः सर्वत्र प्रतिपादित है कि जिस दिन भगवान महावीर ने निर्वाण लाभ किया उसी दिन, प्रायः उसी समय, गौतम स्वामि ने केवल ज्ञान प्राप्त

किया। महाकवि असंग के अनुसार गौतमादि का जन्म एवं निवास स्थान गौतम नामक ग्राम था, रईधु उन्हें पोलासपुर ग्राम का निवासी रहा बताते हैं, और श्वेताम्बर साहित्य में उन्हें गोबर या गोब्बर ग्राम का निवासी बताया है। वहाँ यह भी बताया है कि उनके पिता का नाम वसुभूति और माता का पृथ्वी था। इस विषय मे भी दोनों परम्पराएँ एकमत हैं किगौतम स्वामि का निर्वाण महावीर-निर्वाण से १२ वर्ष बाद हुआ किन्तु निर्वाण स्थल के विषय में कुछ मतभेद है—एकमत गुणशील-चैत्य बताया है जिसका समीकरण पावापुरी के निकटस्थ वर्तमान गुणावा से किया जाता है, कुछ अन्य विपुलाचल को तथा कुछ सम्मेदशिखर को उनका निर्वाण स्थल बताते हैं। यतिवृषभ, गुणभद्र, पुष्पदन्त आदि ने भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों के नाम भी दिये हैं, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि क्या वे सब ब्राह्मण थे, अथवा उनमें कोई क्षत्रिय आदि भी था। उनके माता-पिता, निवास स्थान आदि का भी उल्लेख नहीं है। उत्तरपुराण में गौतमस्वामि को आदित्य नामक देवविमान से चयकर इस भव में आया भी बताया है। यह भी प्रायः सभी ने प्रतिपादित किया है कि गौतम समस्त वेद-वेदांगों (चार वेद, छः वेदांग, तथा चार उपांगों) में निष्णात था. और गणधर पद पर प्रतिष्ठित होते ही वह मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय नामक चार ज्ञानों और सप्त-ऋद्धियों का स्वामी बन गया था। श्वेताम्बर परम्परा के भगवतीसूत्र, उपासकदशांग, उत्तराध्ययन, आवश्यक निर्युक्ति आदि आगमों में गौतम विषयक फुटकर ज्ञातव्य मिलते हैं, तथापि दिगम्बर परम्परा के वृत्तान्तों से वे सब मिलकर पर्याप्त अधिक एवं विस्तृत हैं। उनके अनुसार गौतम आदि अपापापुरी (पावापुर) में आयोजित सोमिल नामक गृहस्थ के यज्ञ में भाग लेने आये थे—वे वहीं से भगवान के समवसरण में आये थे, अपने ग्राम से नहीं। सभी गणधर विभिन्न गोत्रीय ब्राह्मण विद्वान थे। इन ग्रन्थों में भगवान महावीर और गौतम स्वामि के संबंधों को लेकर अनेक रोचक एवं बोधप्रद प्रसग भी प्राप्त होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में तो ती० पार्श्व की परम्परा के आचार्य केशिकुमार और ती० महावीर के गणधर गौतम के मध्य हुआ रोचक संवाद भी। गौतम भ० महावीर से ८ वर्ष जेठे थे, अर्थात् उनका जन्म ईसा पूर्व ६०७ मे हुआ था, दीक्षा एवं गणधर पद प्राप्ति ई० पू० ५५७ मे, केवल ज्ञान ई० पू० ५२७ मे और निर्वाण ई० पू० ५१५ में। इस प्रकार १६८५ ई० में गणधरदेव गौतम स्वामि के निर्वाण को २५०० वर्ष हो हो चुके। श्वेताम्बर समाज मे तो इस महोत्सव को मनाने का अभियान भी चला, कई पत्र-पत्रिकाओ में विशेषांक भी निकाले, किन्तु विशेष कुछ हुआ नही। दिगम्बर समाज इस विषय मे उदासीन ही प्रतीत होते हैं। जिन शासन के परम उपकारक परम गुरु गणधर देव गौतम स्वामि का गुण स्मरण और उनके, सुचरित्र का प्रकाशन प्रचार तो होना ही चाहिए।

ज्योति निकुञ्ज,
चारबाग, लखनऊ-२२६०१६

(पृ० १२ का शेषांश)

विवाह का प्रस्ताव भेजती है जिसे रुक्मी अस्वीकृत कर देता है तब प्रद्युम्न और शाम्ब चाण्डाल का रूप बनाकर "भोजकट" नगर पहुंचते हैं। अपने मधुर संगीत से रुक्मी का मन मोह लेते हैं और सगीत के प्रभाव से ही उन्मत्त गज को वशीभूत करते हैं। उपहार के रूप में वे रुक्मी से वैदर्भी की मांग करते हैं पर भोजकट नरेश उन्हें तिरस्कृत करता है। रात्रि मे प्रद्युम्न विद्याबल से वैदर्भी के कक्ष में प्रविष्ट होकर उससे गन्धर्व विवाह कर लेता है। प्रातःकाल सुहाग चिन्ह देखकर रुक्मी वैदर्भी से उसके विषय में पूछता है तो वह कुछ नहीं बताती। अतः क्रुद्ध पिता उसे चाण्डालों (प्रद्युम्न शाम्ब) को दे देता है। बाद में अनुचरों से वस्तुस्थिति ज्ञात होने पर रुक्मी उत्सव पूर्वक दोनों का विवाह करवाता है। साधारुकृत के "प्रद्युम्न चरित" में इस वेशधारी प्रद्युम्न शाम्ब, "रूपचन्द" (रुक्मिणी का भाई को पकड़ द्वारिका ले जाते हैं। वहां कृष्ण एव रुक्मिणी से स्वागत आतिथ्य पाकर रूपचन्द सहर्ष वैदर्भी का विवाह प्रद्युम्न से कर देता है (५४)

कामदेव प्रद्युम्न

□ डा० इन्दुराय, लखनऊ

जैन परम्परा में मान्य चौबीस कामदेवों में से इक्कीसवें कामदेव प्रद्युम्न कुमार थे। ये तीर्थंकर नेमिनाथ के समय में हुए तथा ये नेमिप्रभु के चचेरे भाई नारायण श्रीकृष्ण के गर्भ से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र थे। प्रद्युम्न अपने अतिशय सौन्दर्य, अद्‌भुत बल पराक्रम और कौतुक पूर्ण लीलाओं के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। उनके आकर्षक जीवन-चरित को विभिन्न पुराणो एव चरित-काव्यो मे विस्तार पूर्वक वर्णित किया गया है। इस निबन्ध मे प्रद्युम्न कुमार की कथा को आचार्य जिनसेन कृत हरिवश पुराण के आधार पर प्रस्तुत किया है क्योकि वह प्राचीन ग्रंथो मे से एक होने के साथ-साथ अधिकांश "प्रद्युम्न-चरित" काव्यो का उपजीव्य रहा है। अन्य ग्रन्थो की कथा का अन्तर एवं वैषम्य "फुटनोट" मे स्पष्ट किया गया है।

आकाशचारी नारद मुनि के "द्वारिका" आगमन के साथ ही "प्रद्युम्नकथा" का बीजारोपण हो जाता है।[1] नारद, यादवराज श्रीकृष्ण की सभा मे सम्मान प्राप्त करने के अनन्तर सत्यभामा (कृष्ण पत्नी) के अन्त पुर मे पहुंचते है। सत्यभामा अपने शृंगार मे व्यस्त रहते हुए नारद जी की अवमानना करती है। उसी क्षण नारद भी सत्यभामा का मान भंग करने की ठान, उसके रूप को अतिक्रांत करने वाली सुन्दर कन्या[2] की खोज करते-करते कुण्डिनपुर पहुंचते हैं। वहा राजा भीष्म की अपरूप सुन्दरी कन्या रुक्मिणी को देख स्तम्भित रह जाते है।

रुक्मिणी जैसे ही नारद को अभिवादन करके उठती है, वे उसे आशीर्वाद देते है "द्वारकाधीश कृष्ण तुम्हारे स्वामी हों" इस प्रकार रुक्मिणी के हृदय में कृष्ण के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न करके नारद उसका चित्र एक पट पर अंकित करके[3] पुनः कृष्ण की सभा मे उपस्थित होते हैं। चित्रपट में रुक्मिणी का सौन्दर्य देखकर कृष्ण के मन में उससे परिणय की तीव्र लालसा उत्पन्न हो जाती है।[4]

उधर कुण्डिनपुर के राजा भीष्म की बहन[5] रुक्मिणी को बताती है कि एक बार अतिमुक्तक मुनि वहाँ आए थे और उन्होने कहा था कि "रुक्मिणी नारायण श्री कृष्ण के वक्षस्थल का आलिगन करेगी" परन्तु तुम्हारा भाई रुक्म तो तुम्हारा विवाह शिशुपाल से निश्चित कर चुका है, तब रुक्मिणी के आग्रह पर उसकी बुआ अपना दूत श्रीकृष्ण के पास इस सन्देश के साथ भेजती है कि "माघ शुक्ला अष्टमी को रुक्मिणी नाग पूजा हेतु नगर के बाहर उद्यान मे जाएगी आप उसका हरण कर ले"। योजना के अनुसार ही कृष्ण और बलराम रुक्मिणी का हरण कर लेते है और शख द्वारा उसकी उसकी उद्‌घोषणा भी कर देते है, जिसे सुनते ही रुक्म एव शिशुपाल विशाल सेना के साथ युद्ध करने आते हैं। रुक्मिणी के आग्रह पर कृष्ण रुक्म को क्षमा[6] कर देते है परन्तु शिशुपाल का शिरोच्छेदन करने के पश्चात् "रेवतक" पर्वत पर रुक्मिणी से विधि विवाह करते है।[7]

द्वारिका लौट कर श्रीकृष्ण रुक्मिणी का महल सत्यभामा के भवन के निकट ही बनवाते है। कृष्ण के व्यवहार से सौत के सौभाग्य को लक्ष्य कर सत्यभामा रुक्मिणी से मिलने की उत्सुकता व्यक्त करती है। तब श्रीकृष्ण सत्यभामा को उस उद्यान मे भेजते है जहां रुक्मिणी मणिमय आभूषणो से सज्जित आम्रलता को पकड़े खड़ी थी। सत्यभामा उसे देवांगना समझ कर उसके चरणो मे पुष्प समर्पित कर अपने सौभाग्य की याचना करती है। उसी समय श्रीकृष्ण उपस्थित होकर दोनों का परस्पर परिचय करवाते है और वह दोनों मित्रतापूर्वक रहने लगती है।

एक दिवस कुरुराज दुर्योधन अपने दूत द्वारा नारायण कृष्ण के पास प्रस्ताव भेजता है कि सत्यभामा और

रुक्मिणी में से जिस किसी के पुत्र होगा, वह अपनी कन्या का विवाह उसी से करेगा। कृष्ण यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। यह समाचार जानकर सत्यभामा रुक्मिणी के पास अपनी दासी भेजकर शर्त रखती है कि "उस विवाह के समय जिनके पुत्र न होगा उसी की कटी कटी हुई केशलता को पैरो के नीचे रखकर ही वर-वधू स्नान करेगे।"[11] रुक्मिणी और सत्यभामा लगभग एक समय में गर्भवती होती है तथा दोनों एक ही दिन पुत्रो का प्रसव करती है। यह शुभ समाचार कृष्ण को सुनाने हेतु दोनो रानियां अपने-अपने सन्देशवाहक भेजती है। उस समय कृष्ण शयन कर रहे थे।[12] रुक्मिणी के दूत श्रीकृष्ण के चरणो के समीप तथा सत्यभामा के अनुसार उनके सिर के समीप खड़े हो जाते है।[13]

जब कृष्ण निद्रा से उठते हैं तो उनकी दृष्टि पहले रुक्मिणी के सेवको पर पड़ती है और उनके शुभ समाचार प्राप्त कर वे आभूषण आदि से उन्हें पुरस्कृत करते हे तदुपरात सत्यभामा के पुत्र की सूचना सुन, उसके वाहकों को भी पुरस्कार देकर विदा करते है।

धूमकेतु नामक असुर उस समय आकाश मार्ग से बिहार कर रहा था। रुक्मिणी के महल के ऊपर उसका विमान स्वतः रुक जाता है। विभंगावधि ज्ञान से रुक्मिणी के पुत्रजन्म की बात जानकर तथा पूर्व जन्म के बैर का स्मरण आते ही वह सबको मायामयी निद्रा में मग्न करके शिशु का अपहरण कर लेता है। पहले तो उसके हृदय मे शिशु को मार डालने का विचार आता है फिर यह सोचकर कि "यह तो मास पिंड है इसे मारने से क्या लाभ"[14] वह शिशु को खदिर अटवी मे तक्षशिला के नीचे छोड़कर चला जाता है।[15]

सयोगवश मेघकूट नगर का राजा (विद्याधर) कालसवर अपनी रानी कनकमाला[*] के साथ विमान मे विहार करते हुए उस ओर आता है। तक्षशिला के ऊपर उसका विमान स्वतः रुक जाता है तब वह नीचे उतरकर बालक को शिला के नीचे से निकालकर कनकमाला को यह कहते हुए सौप देता है कि "तुम्हारे कोई पुत्र नही है अतः यह तुम्हारा पुत्र हुआ।" रानी कनकमाला कहती है "आपके कुल में उत्पन्न पांच सौ पुत्र हैं और यदि वे इसके साथ दुर्व्यवहार करेंगे तो मुझसे देखा नहीं जाएगा।" इस बार कालसंवर कान का सुवर्ण पत्र लेकर बालक का युवराज पद हेतु पट्ट बन्ध कर देता है।[17] मेघकूट नगर पहुंचकर वह निपुण विद्याधर यह घोषणा करता है कि गूढ़ गर्भ को धारण करने वाली महादेवी कनकमाला ने इस पुत्र को जन्म दिया है। तब नगर मे जन्मोत्सव मनाए जाते हैं। और स्वर्ण की कान्ति वाले इस बालक का नाम प्रद्युम्न रखा जाता है।[18] मेघकूट नगर में प्रद्युम्न दिन पर दिन बुद्धि, बल व सौन्दर्य मे बढ़ने लगता है।

उधर द्वारकापुरी मे जब रुक्मिणी मायनिद्रा से जागती है तो समीप पुत्र को न पाकर विलाप करती है। कृष्ण भी चिंतित हो जाते है तभी वहा नारद आते हैं और बालक के विषय मे जानकरी प्राप्त करने का आश्वासन देकर पूर्व विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकणी नगरी पहुंचते है। तीर्थंकर सीमन्धर के समवशरण मे पहुच कर नारद उनसे रुक्मिणी पुत्र के विषय मे जिज्ञासा करत है तो सीमन्धर स्वामी बताते है कि उस बालक का नाम प्रद्युम्न है। सोलहवा वर्ष[*] आने पर वह सोलह लाभ प्राप्त करके तथा प्रज्ञप्ति नामक महाविद्या से समलकृत होकर पुनः अपने माता पिता से मिलेगा।[20] तत्पश्चात वे प्रद्युम्न और शाम्ब (कृष्ण-जाम्बवती पुत्र) के पूर्व भवो की कथा सविस्तार सुनाते है।[21] समस्त वृतान्त जानकर नारद पहल कालसवर के प्रासाद के महल मे जाते है। वहा प्रद्युम्न को आशीर्वाद देकर द्वारिका लौटते है और सभी समाचार रुक्मणी को बताते है।[22]

विजयार्ध पर्वत पर प्रद्युम्न का विकास होने लगा। बाल्यावस्था म ही वह विद्याधरो की विद्या मे पारगत हो गया। अपने रूप लावण्य, सौभाग्य और पौरुष द्वारा वह शत्रु, मित्र, पुरुष-स्त्री, सभी का मन हर लेता। युवा होने पर कामदेव प्रद्युम्न समस्त अस्त्र-शस्त्रों की विद्या मे पूर्ण कुशल हो जाता है, तथा काम, मनोभव, कामदेव, मन्मथ, मदन, अनंग इत्यादि नामो से युक्त होता है।[23] कालसंवर के पाच सौ पुत्र उसके विरोधी सिंहरथ[24] को परास्त नहीं कर पाते, उस सिंहरथ को प्रद्युम्न पराजित कर युवराज पद प्राप्त करता है। अतः ईर्ष्यावश वे पांच सौ कुमार प्रद्युम्न के विनाश का उपाय करने, उसे सिद्धायतन गोपुर,

के अग्रभाग पर चढ़ने को तत्पर करते हैं। प्रद्युम्न गोपुर पर चढ़कर वहां से मुकुट और निधि प्राप्त करके लौट आता है।

इसी प्रकार पांच सौ कुमारों द्वारा प्रेषित प्रद्युम्न-कुमार महाकाल नामक गुफा के निवासी देव को वशीभूत करके तलवार, ढाल, छत्र एवं चंवर लेकर आता है। नाग गुफा के देव से उत्तम पादपीठ, नागशय्या, वीणा तथा भवन-निर्माण विद्या प्राप्त होती है। वापिका के देव को पराजित करके प्रद्युम्न मकर-चिन्हित ध्वजा प्राप्त करता है। तदनन्तर अग्नि कुण्ड में प्रविष्ट हो अग्नि नामक वस्त्र लेकर लौटता है। मेषाकृति पर्वत की गुफा के निवासी देव से कानों के कुण्डल प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् पाण्डुक नामक वन का देव प्रद्युम्न कुमार को मुकुट तथा अमृतमयी माला देता है। "कापित्थ" वन के विद्यामय हस्ती की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार "बाल्मीक" वनदेव से कवच, कड़ा, बाजूबन्द, कण्ठाभरण और "शूकर" वन से शंख एवं धनुष प्राप्त होते है। मनोवेग नामक विद्याधर को छुडा देने पर हार तथा इन्द्रजाल उपहार स्वरूप मिलता है, आगे एक भव के अधिपति से पुष्पमय धनुष तथा पंचशर (उन्माद, मोह, सताप, मद तथा शोक उत्पन्न करने वाले वाण) उपलब्ध होते है दूसरी नाग गुफा में जाने पर चन्द्रहार, फूलो का छत्र एवं पुष्प शैय्या प्राप्त करता है और अन्त मे जयन्तगिरि पर्वत पर विद्याधर की रति नामक कन्या को लेकर पांच सौ कुमारों के पास लौटता है।

विभिन्न लाभों[१४] से युक्त प्रद्युम्न मेघदूत नगर पहुच कर रानी कनकलता को प्रणाम करता है तो कामदेव के अपरूप सौन्दर्य को देखकर रानी के भावों मे परिवर्तन हो जाता है।[१५] वह विचार करती है "यदि मुझे प्रद्युम्न का आलिंगन प्राप्त होता है तभी मेरा रूप, लावण्य, सौभाग्य सफल है अन्यथा सब व्यर्थ है।[१६] प्रद्युम्न का प्रणय प्राप्त करने की चिन्ता मे कनकमाला अस्वस्थ हो जाती है, तब कुशल क्षेम पूछने प्रद्युम्न उसके समीप जाता है। रानी की अनुचित चेष्टाओ से चकित प्रद्युम्न, सागरचन्द मुनिराज से इसका कारण पूछता है तो वे उसे पूर्व भव का वृत्तान्त बताते हैं तथा यह भी कहते है कि कनकमाला से उसे प्रज्ञप्ति विद्या प्राप्त होने वाली है। पुन: भवन में लौटकर प्रद्युम्न रानी से प्रज्ञप्ति विद्या के विषय में जिज्ञासा करता है। उत्तर में कनकमाला कहती है कि "यदि तुम मुझे चाहते हो तो गौरी एव प्रज्ञप्ति नामक विद्याएं तुम्हें देती हूं।"

विद्याएं प्राप्त कर लेने पर प्रद्युम्न कनकलता को अपनी माता और गुरू बनाकर चला जाता हैं।[१८] इस प्रकार स्वयं को छला गया जानकर कनकमाला अपने अंगों को क्षत-विक्षत करके पति से प्रद्युम्न की चरित्रहीनता का दोषारोपण करती है। क्रुद्ध कालसवर अपने पांच सौ कुमारों को प्रद्युम्न को मार डालने का आदेश देता है। कुमार जब उसको मारने पहुंचते है,[१९] तो प्रद्युम्न कृत्रिम शरीर से वापिका मे कूद जाता है। उसके पीछे-पीछे सभी सवर पुत्र भी कूद जाते हैं तो वह एक को छोड़कर शेष सभी को अधोमुख करके कील देता है तथा उस एक को समाचार राजा तक पहुंचाने हेतु भेज देता है। जब अत्यधिक क्रोधित कालसवर[१०] स्वय वापिका तक पहुंचता है तब तक प्रद्युम्न विद्या के प्रभाव से एक बड़ी सेना तैयार कर लेता है। यह स्थिति देखकर कालसवर अपनी रानी कनकमाला से प्रज्ञप्ति विद्या मांगता है तो वह झूठ ही कह देती है कि "बाल्यावस्था मे दूध के साथ ही वह विद्या मैं प्रद्युम्न को दे चुकी हूं।"[११]। इस उत्तर से दुखित राजा पुन भीषण युद्ध के लिए तत्पर होता है तभी नारद वहा उपस्थित होकर समस्त वृत्तात सुनाकर उनमें परस्पर प्रीति उत्पन्न करते है। प्रद्युम्न सभी कुमारों को मुक्त कर देता है। तत्पश्चात् विद्याधर से आज्ञा प्राप्त कर वह नारद के साथ विमान से द्वारका के लिए प्रस्थान करता है।

हस्तिनापुर के कुछ आगे उन्हें सैन्य जमाव दिखाई देता है। प्रद्युम्न के जिज्ञासा करने पर नारद बताते है कि कुरुराज दुर्योधन की पुत्री उदधि, सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार से विवाह करने हेतु द्वारिका जा रही है। प्रद्युम्नकुमार भील का वेश धारण करके दुर्योधन के सैनिकों से शुल्क के रूप मे सारभूत वस्तु की मांग करता है। सैनिको के यह कहने पर "सर्वाधिक सार वस्तु तो स्वय उदधि कुमारी है तथा उन्हे केवल विष्णु से उत्पन्न

पुत्र को ही दिया जा सकता है"। सैनिक प्रद्युम्न पर प्रहार करने को उद्यत होते हैं तब प्रद्युम्न विद्यावल से भील सेना तैयार करके सभी को परास्त कर उदधि का हरण कर लेता है।[११] तथा विमान में आरूढ होने के पश्चात् अपने वास्तविक रूप में आ जाता है। नारद के साथ द्वारका पहुंचने पर प्रद्युम्न नगरोद्यान में भानुकुमार को घोडे को व्यायाम करवाते देखता है तो एक मायामयी घोडा निर्मित करके स्वयं वृद्ध का वेश धारणकर, भानुकुमार के पास पहुंचता है। भानु जब उस अश्व पर आरूढ होने का प्रयास करता है तो अश्व उसे विभिन्न प्रकार से प्रताडित करता है। प्रद्युम्न के हंसने पर भानु उसे ही आरूढ होने को कहता है। वृद्ध वेषधारी प्रद्युम्न आरूढ होने के लिए भानु का सहयोग मांगता है और विद्याबल से अपने शरीर को इतना भारी कर लेता है कि उसे उठाना दुर्भर हो जाता है। अन्ततः वह स्वयं अश्वारूढ हो तीव्रगति से सत्यभामा के उपवन पहुंच कर वाकचातुरी से माली को मूर्ख बनाकर सारा उपवन उजाड देता है।[३१] तत्पश्चात् सत्यभामा के भवन में विप्र बनकर जाता है।[१४] और वहां ब्राह्मणों के लिए जितना भी भोजन बनाया गया था अकेले ही खा जाता है और तत्काल ही वमन[३५] भी कर देता है. फिर क्षुल्लक वेश धारण कर रुक्मिणी से प्राप्त 'मोदक' खाकर ही सन्तुष्ट होता है। उसी समय सत्यभामा का नाई पूर्व निश्चित "शर्त" के अनुसार रुक्मिणी के केश लेने आता है, तो प्रद्युम्न उसे तिरष्कृत कर वापस भेज देता है। तब बलराम स्वयं वहां आते हैं परन्तु द्वार पर लेटे विप्ररूप धारी प्रद्युम्न को टस से मस नहीं कर पाते और आश्चर्य मे पड़ जाते हैं।[३६]

इसी अवसर पर रुक्मिणी मे मातृत्व भाव जाग्रत होता है और प्रद्युम्न भी वास्तविक रूप में प्रकट होकर माता को प्रणाम करता है। रुक्मिणी के यह कहने पर कि "कनकमाला धन्य है जिसने तेरी बालक्रीड़ाओं का दुर्लभ सुख प्राप्त किया।" प्रद्युम्न पुनः बालक बनकर बालसुलभ क्रीडाओं द्वारा मां को सुख प्रदान करता है।[१७] तदुपरान्त वह रुक्मिणी को विमान में बैठाकर यादव सभा में ऊपर पहुंच यदुराज कृष्ण को ललकारता है कि मैं रुक्मिणी का हरण करके ले जा रहा हूं यदि किसी में शक्ति हो तो उसे छुडा ले" तब आकाशस्थित प्रद्युम्न से नारायण कृष्ण का युद्ध होता है।[१८]

कृष्ण को सफलता नहीं मिलती तो वे निर्णायक बाहु युद्ध को तत्पर होते हैं तभी नारद स्थल पर पहुंचकर पिता पुत्र का परिचय करवाते हैं। दीर्घ अवधि के बाद पुत्र को पाकर श्रीकृष्ण अत्यन्त हर्षित होते हैं। तदनन्तर प्रद्युम्न का उदधि,[११] वैदर्भी[४०] आदि सुन्दर कन्याओं से विवाह होता है। बहुत काल तक सुखपूर्ण भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने के बाद तीर्थंकर नेमिनाथ से द्वारिका की विनाश की गाथा सुनकर प्रद्युम्न में वैराग्य भाव जागृत हो जाता है। घोर तपस्या द्वारा समस्त घाति अघाति कर्मों का क्षय करके वह मोक्ष पद प्राप्त करता है।

□

संदर्भ-सूची

१. हरिवंशपुराण—सर्ग ४२, श्लोक। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित श्लोक ७ उत्तरपुराण में नारद प्रसंग में नहीं है। बलराम की जिज्ञासा पर गणधर वरदत्त द्वारा शाम्ब प्रद्युम्न के पूर्वभव वृतांत वर्णन से कथा का आरम्भ हुआ है।

"प्रद्युम्नशम्भषोत्पत्तिसंबन्धः पृच्छयते स्म सः।
वरदत्त गणेन्द्रो नु एन्द्रबुद्धयेत्यमब्रवीत ।।पर्व ७२/२

महासेनाचार्य कृत "प्रद्युम्न चरित" १४ सर्गों का स्वतंत्र महाकाव्य है अतः उसमें प्रमुख कथा द्वितीय सर्ग से आरम्भ हुयी है प्रथम सर्ग में स्तुति, द्वारिका वर्णन तथा यदुराज वंश परिचय वर्णित है।

ब्रह्मरायल्ल ने भी "प्रद्युम्नरास" ग्रंथ में प्रारम्भिक आठ छन्दों में स्तुति वन्दना एवं कृष्ण परिचय देकर नारद आगमन का उल्लेख किया है। कवि साधारु ने "प्रद्युम्न चरित" २५वीं चौपाई में नारद के द्वारिका आगमन की कही है इससे पूर्व वन्दना एवं द्वारिका वैभव वर्णन है। ब्रह्म नेमिदत्त के "नेमिनाथ पुराण" में उत्तर पुराण की भांति पूर्वभव वर्णन से प्रद्युम्न कथा प्रारम्भ हुयी है (१५वां सर्ग)

२. (क) तवस्या रूप सौभाग्यगर्व पर्वत चूरणम् ।
प्रतिपक्ष बद्ध वज्रसमातेन करोम्यहम् ।:
हरि० पु० ४२/३०

(ख) त्रिषष्टि ८/६/९

(ग) इक स्याली अरु वीछी खाई,
इक नारद अरुचलीउ रिमाई ।३४
इह रूप जु आगली, सो परणाउ णारि ।३६
प्रद्युम्नचरित-साधारु कवि

(घ) हो नारदादि हियहै बात विचारी,
हो नारायण आणो नारी ।
इहि थे रूपि जो आगली जी,
हो सैकि तणै दुखि घणैं विसूरे ।
राति दिवसि कुहि वो करै जी,
हो बहुडि पराया मरमन चगे ।९'
प्रद्युम्न रास-ब्रह्मरायमल्ल

३. द्वारिकापतिपत्न्या, सौऽभ्यनन्दमदानताम् ।

(क) नारद हिन्दी आसिका जी,
हो होजे किस्न तपी पटराणी ।३३।
प्रद्युम्नरास-ब्रह्मरायमल्ल

(ख) देखि रुक्मिणी त्रोलइ सोड,
पाटधरपि नारायपि होई ।४३।
प्रद्युम्नचरित-कवि साधारु

(ग) त्रिषष्टि ८/६/१०

४. "विलिख्य पट्टके स्पष्टं रुक्मिपण्या रूपमभ्द्रुतम ।
हरये दर्शयादगत्वा त्रिसंमोहकारपम ।
हरि० पु० ४२/४५

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित में नारद से रुक्मिणी-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर श्रीकृष्ण विवाह प्रस्ताव रुक्मिन रुक्मिणी का भाई के पास भेजते हैं जिसे वह यह कहकर अस्वीकृत कर देता है कि "कृष्ण गोप है व नीचे कुल में उत्पन्न है"। तदुपरांत ही श्रीकृष्ण रुक्मिणी हरण की सोचते हैं।

६. हरिवंश पुराण में बहन के नाम का उल्लेख नही है परन्तु त्रिषष्टि में उसका नाम "धृति" और साधारु-कृत, प्रद्युम्न चरित में "सुरसुन्दरी" है।

७. शुक्लाष्टभ्यां हिमापत्य वर्दि माधव । रुक्मिणीम ।
त्वमैत्यहरसि छिप्रं तवेयमविसंशयम । हरि०पु० ४२/६१

(क) त्रिषस्टि में भी यही उल्लेख है परन्तु प्रद्युम्न चरित (साधारुकृत) में हरण की समस्त योजना नारद स्वयं बनाते हैं और रुक्मिणी कृष्ण । पहचान सकें इसके लिए सात ताल बींधने की योजना रखते हैं।६४।

८. त्रिषस्टिशलाकापुरुष चरित के अनुसार बलराम रुक्मिन को केशविहीन करके छोड़ देते हैं इस लज्जा-वश वह कुण्डिन नगर न लौटकर "भोजकट" प्रदेश में नगरी बसाकर रहने लगता है।

९. द्वन्द युद्धे शिरस्ङ् शिशुपालस्य पातितन ।.........
रुक्मिणी परणीयासौ गिरौ खेतक हरिः ।
हरि० पु० ४२/९४, ९६

(क) सिरछेद्यो सिसपाल को जी हो रूपकुमार साधिकर लीय
खेत पर्वति ते गयाजी, हो ब्याहु रुक्मिण कैसो कीयो ।
प्र० रास ५२

(ख) उत्तरपराण में तीर्थंकर नेमिनाथ के समवशरण में रुक्मिणी की जिज्ञासा पर वरदत्त गणधर बताते हैं— "तुम्हारे पिता वासव (कुण्डल नरेश) तुम्हारा विवाह भेषज पुत्र शिशुपाल से कराने को तत्पर हो गये तब युद्ध को चाह रखने वाले नारद ने यह वृत्तांत श्रीकृष्ण को सुनाया। अतएव नारायण ने छः प्रकार की सेना के साथ जाकर शिशुपाल का वध किया और तुम्हें महादेवी के पद पर नियुक्त किया।
उत्तर पुराण ६१/३५५-३५६

(ग) त्रिशस्टि० में शिशुपाल के पलायन का वर्णन है वध का नहीं।

१०. निरूप्यरुक्मिणीं सत्यादेवताभव रूपिणीम ।
देवतेयामितिध्यात्वा विकीर्यकुसुमांजलिम ।।
निपत्य पादयोस्तस्याः स्व सौभाग्यम यावत ।
विपस्पस्यतुदौर्भाग्यमी ष्यशिल्यकलंकिता ।।
हरि० पु० ४३/१३-१४

(क) त्रिषष्टि० के अनुसार श्रीकृष्ण उद्यान में रखी "श्री" की मूर्ति को हटाकर उसके स्थान पर रुक्मिणी को स्थापित कर देते हैं अतः उसे ही देवी लक्ष्मी जान; सत्यभामा अपने सौभाग्य की कामना करती है।

११. तत्रापत्यविहीनाया विलूनालकवल्लरीम ।
स्नास्यतस्तामधः कृत्वा पादयोस्तु वप्पूवरो ॥
हरि० पु० ४३/२६

(क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित एवं "प्रद्युम्न चरित" में सत्यभामा यह शर्त बलराम की साक्षी में रखती हैं।

१२. त्रिषष्टि० के अनुसार एक दासी श्री कृष्ण को रुक्मिणी के पुत्र जन्म की सूचना देती है। नारायण कृष्ण रुक्मिणी-भवन में आते हैं और नवजात शिशु को गोद में उठाकर, उसकी अभूतपूर्व कान्ति देख उसका नाम तक्षण 'प्रद्युम्न' रखते हैं।

१३. शिरो न्ते सत्यपविष्णोः पादान्तेतस्युरन्यया।
ह० पु० ४३/३६

१४. त्रिशष्टि० में धूम्रकेतु स्वयं रुक्मिणी का वेश बनाकर आता है और शिशु का हरण करके उसे वैताढ्यगिरि में भूतरमण उद्यान की तक्षशिला के नीचे छोड़ जाता है।

१५. (क) हरि० पु० ४३।३६-४८
(ख) उत्तरपुराण ३२।५१-५३
(ग) बाधनहाथ सिला सोपेखि,
इहितल धरउ मरउ दुख देखि।
प्रद्युम्न चरित-साधारु कृत छन्द ।२५

१६. (क) उत्तरपुराण, प्रद्युम्न चरित (महासेना चार्य) प्रद्युम्न चरित (साधारु) में कालसंवर की पत्नी का नाम कांचन माला है।
(ख) त्रिशष्टि० में कालसंवर के लिए विद्याधर की अपेक्षा खेचर (आकाशचारी होने के कारण) सम्बोधन प्रयुक्त है। पत्नी का नाम कनकमाला ही दिया है।
(ग) कवि साधारु ने कालसंवर के स्थान पर, कदमवित अधसाश्य की दृष्टि से, "यमसंवर" नामक प्रयोग किया है।

१७. इत्युध्कते सान्त्वयित्वा तां गृहीत्वा कर्णपत्रकम्।
(क) युवराजो यमित्युक्त्वा पट्टमस्य बबन्ध सः।
हरि० पु० ४३।५७
(ख) तत्कर्णगन सौवणपत्रेणारवि पट्टकः। उ०पु० ७२।५६

१८. गूढ गर्भा महादेवी प्रसूता तनयं शुभम।
इतिवार्तापुरैकृत्वा कोविदः।
(क) कालसंवर।······प्रकृष्टद्युम्नधामत्वात प्रद्युम्न इति संज्ञितः। ह० पु० ४३।५६, ६१
(ख) उत्तरपुराण के अनुसार विद्याधर शिशु का नाम देवदत्त रखता है। ७२।६०
(ग) त्रिषष्टि० में कृष्ण शिशु का नाम प्रद्युम्न रख चुके थे पर संवर भी संयोगवश उसका नाम "प्रद्युम्न" रखता है।

१९. साधारुकृत "प्रद्युम्न चरित" की प्रकाशित प्रति में १२वें वर्ष में लौटने का उल्लेख है। जबकि अन्य सभी कृतियों में १६वें वर्ष ही वापस आने का वर्णन है।

२० प्रद्युम्न इतिनाम्ना सो पितृभयां माक्ष्यते पुनः।
संप्राप्त षो शेवर्ष प्राप्त षो शलाभकः।
स प्रज्ञप्ति महा विद्याप्रद्योतित पराक्रमः।
हरी० पु० ४३।६६

२१. "प्रद्युम्न" एवं जाम्बवती पुत्र "शाम्ब", के पूर्वभवों में उनके क्रमशः श्रृगाल अग्निभति वायुभूति, स्वर्ग विमान के देव, पर्णभद्र-मणिभद्र, सोधर्म, स्वर्ग के देव, मधु-कैटभ, अच्युत स्वर्ग के देव. इन भवों का हरिवंश पुराण, नेमिनाथ पुराण, प्रद्युम्न चरित (महासेना चार्य) त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित सभी में समान एवं विस्तृत वर्णन है। उत्तर पुराण में भी इन्हीं पूर्वभवों का वर्णन है केवल इसमें कैटभ के स्थान पर "क्री इव" नाम दिया है।

२२. उत्तर पुराण के नारद पहले मे ही पूर्व विदेह क्षेत्र के स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्रद्युम्न के विषय में सारी जानकारी प्राप्त करके आते हैं और रुक्मिणी के विलाप पर बताते हैं कि तीर्थंकर प्रभु के अनुहार वह पुत्र विभिन्न लाभों से युक्त है। १६ वर्ष बाद माता पिता से समागम करेगा। उ० पु० ७२।६१-७०

२३. हरिवंश पुराण—४७।२५

२४. उत्तरपुराण में कालसंवर के विरोधी का नाम अग्निराज दिया है। ७२।७३

२५. हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण, 'प्रद्युम्न-चरित' आदि मे उक्त लाभों की प्राप्ति का वर्णन है यद्यपि उनके नामों में किंचित भेद है परन्तु त्रिषष्टि० में इस प्रसंग

की कोई तल्लेख नहीं है। "प्रद्युम्न रास" में सम्पूर्ण प्रसंग को केवल तीन छन्दो में व्यक्त किया गया है।

२६. (क) उत्तरपुराण २।७७

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित के अनुसार कनकमाला की प्रारम्भ से ही प्रद्युम्न मे आसक्ति थी और प्रद्युम्न के युवा हो जाने पर वह उससे प्रणय निवेदन करती है।

२७. रूपलावण्य सौभाग्य वैदग्ध्य गुणगोरवरण।
कामश्लेषस्य सौलभ्ये दौर्लभ्येस्यातुणं तु मे॥
हरि० पु० ४६।५३

२८. (क) प्रसरितकरो विद्यं गृहीत्वा प्रमदी स ताम।
प्राण विद्याप्रदानान्मे गुरुस्त्वामिति सद्वचा।
हरि० पु० ४७।६५

(ख) त्रिषष्टि० मे कनकमाला स्वय प्रद्युम्न को अपने पिता निध से प्राप्त "गौरी" और पति से प्राप्त "प्रज्ञप्ति" विद्याओ के विषय म बताती है विद्याये हस्तगत कर लने म पहचान यहा भी प्रद्युम्न कनकमाला को माता और गुरू कहकर प्रेम प्रस्ताव अस्वीकार कर देता है।

(ग) प्रद्युम्न रास म कचनमाला द्वारा प्रद्युम्न को तीन विद्याय देन का उल्लख ह :—
हो राणी यणं राउ रमानं; हो विद्या तीनि लेहुधो धाने
११६

(घ) साधारु कृत प्रद्युम्न चरित म मुनि महाराज प्रद्युम्न सेकहते हैं कि "पूर्वजन्म म अनुराग वश कनकमाला तुम्हारे म अनुरूप है उसे छलकर तीनो विद्याये प्राप्त कर लो। तदनुसार हा प्रद्युम्न रानी से यह कहकर "यदि तुम मुझ तीनों विद्याए दे तो मै तुम्हे प्रसन्न करने का उपाय कर सकता हू" विद्याए प्राप्त कर लेता है। फिर जैसे माता और गुरू बता चला जाता है। प्र० च० २४० से २४८ तक

(च) उत्तरपुराण मे यह प्रसग हरिवशपुराण के अनुरूप हा है परन्तु कथा के क्रम मे अन्तर है। उत्तरपुराण क अनुसार रानी कचनमाला प्रद्युम्न को "प्रज्ञप्ति" विद्या उसी समय दे देती है जब वह सवर के विरोधी अग्निराज को पराजित करके आता है। बाद में प्रद्युम्न द्वारा उसके प्रणय निवेदन को अस्वीकृत करने पर वह उस पर दोषारोपण कर अपने पाँच सौ पुत्रों को प्रद्युम्न के वध का उपदेश देती है। विद्युद्दंष्ट्र आदि पांच सौ कुमार जब प्रद्युम्न के विनाश के उद्देश्य से उसे विभिन्न गुफाओं से ले जाते हैं तभी वह विभिन्न लाभ प्राप्त करता है। जबकि हरिवंशपुराण मे वह युवराज बनने के बाद ही कुमारों की ईर्ष्या के फलस्वरूप षोडश लाभ प्राप्त कर चुका था।
उ० पु० ७२-७७ से १३० तक

२९. त्रिषष्टि० में यह प्रसंग अत्यन्त सक्षिप्त है उसमें केवल इतना ही उल्लेख है कि प्रद्युम्न सरलता से सभी संवर पुत्रो का सहार कर देता है।

३०. वीर रसप्रिय कवि साधारु ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि क्रोधित यम सवर चतुरगिणी सेना सजा कर प्रद्युम्न से लड़ने पहुचा :—
जाई पहुतल दल अतिवत, नहा हाकि भी इ गयगत।
रावत सा रावत रण भिरई, पाइल स्योपाइक अभि इ।
२६

३१. (क) स्तन्ये सह बाल्ये स्मे मया दतिति सावदत।
हरि० पु० ४७।७७

(ख) त्रिशष्टि० मे प्रद्युम्न ही कालसवर को बताता है कि किस प्रकार उसे विद्यायें कनकमाला से प्राप्त हुयीं "खेचर तब क्षमा माँगता है।

(ग) प्रद्युम्न चरित (साधारु) में रानी कहती है कि प्रद्युम्न ने विद्यायें उससे छीन ली। इसी सन्दर्भ में कवि ने स्त्री की चरित्रहीनता पर बारह स्वतंत्र छंद रच डाले है।

३२. (क) हरिवश पुराण ४७।६४ से ६८ तक

(ख) उत्तरपुराण म भीलवेश धारी प्रद्युम्न द्वारा दुर्योधन के सैनिक के तिरस्कार का वर्णन है परन्तु शुल्क माँगने और उदधि हरण का उल्लेख नहीं है।

(ग) त्रिशष्टि० मे उदधिहरण प्रसंग है परन्तु वहाँ प्रद्युम्न का भील का वेश बनाने और शुल्क मांगने जैसी बात नहीं है।

(घ) साधारु कृत प्रद्युम्न चरित में सम्पूर्ण घटना हरिवंश पुराण जैसी है। (छन्द २९६ से ३०६ तक)

(च) "प्रद्युम्न चरित" (महासेनाचार्य कृत) में प्रद्युम्न "बनचर" का वेश बनाकर उदधि का हरण करता है। (देखें नवम सर्ग)

३३. (क) हरिवंश पुराण ४७।१०१-१०७

(ख) उत्तरपुराण, नेमिनाथ, प्रद्युम्नचरित सभी में उक्त प्रसग प्रायः समान ही है।

३४. त्रिशष्टि० के अनुसार विप्ररूप धारी प्रद्युम्न सत्यभामा की एक वक्र अंगों वाली दासी को पुनः रूपवान कर देता है और वही दासी प्रद्युम्न को रानी के भवन ले जाती है। विप्र मे महात्म्य के विषय में जानकर सत्यभामा निवेदन करती है—"मुझे रुक्मिणी से भी सुन्दर बना दीजिए तब विप्रवेश धारी प्रद्युम्न उसे सुझाव देता है "सौन्दर्य शून्यता ही सौन्दर्य को अतिक्रान्त कर सकती है अतः तुम केश कटवाकर शरीर पर कालिख लगा फटे वस्त्र धारण कर लो" सत्यभामा वैसा ही करती है।

३५. उत्तरपुराण, त्रित्रष्टि०, प्रद्युम्न चरित (महासेन) में "वमन" करने का उल्लेख नही है।

३६. (क) संकर्षणस्य हत्वेच्छा वादाकर्षणकारिणः।
अरराम चिरं स्वेच्छ लोक विस्मयकृत्कृतो ॥
हरि० पु० ४७।११२

(ख) उत्तरपुराण मे प्रद्युम्न सिह का वेश धरकर बलभद्र को निगलकर अहृत्य कर देता। ७२।१६२

(ग) साधारु कृत "प्रद्युम्न चरित" में भी सिह बन कर बलराम को अखाड़े मे फेक देने का वर्णन है। (४५२)

(घ) त्रिषष्टि० के अनुसार बलभद्र जब रुक्मिणी के भवन पहुचते है तो प्रद्युम्न कृष्ण बनकर, रुक्मिणी को आलिगन बद्ध कर लेता है। यह दृश्य देखकर हलधर लौट जाते है और सभा मे भी उपस्थित कृष्ण को देख आश्चर्य मे पड़ जाते है। वे श्री कृष्ण से पूछते है कि वे एक ही समय मे दो स्थानों पर कैसे ? तब वास्तविक स्थिति जानने के लिए दोनो पुनः रुक्मिणी कक्ष की ओर जाते है पर तभी प्रद्युम्न शंखनाद द्वारा रुक्मिणी हरण की सूचना देता है।

३७. (क) बालभवमहं मातर्दर्शयामी द्रश्यताम।
हरि० पु० ४७।१२०

(ख) उत्तरपुराण और त्रिषष्टि० में बाल लीलाओं की पुनरावृत्ति का उल्लेख नहीं है पर महासेन ने "प्रद्युम्न चरित" में प्रद्युम्न द्वारा विद्याबल से बाल क्रीड़ाओं द्वारा माता रुक्मिणी को हर्ष प्रदान करने का वर्णन किया है। साधारु के "प्रद्युम्न चरित" मे प्रद्युम्न माता के आग्रह पर बाल्यकाल की घटनाओं को विस्तार पूर्वक सुनाते हैं।

३८. (क) उत्तरपुराए के अनुसार जब श्रीकृष्ण रुक्मिणी को छुडाने के लिए आए तो भील रूपधारी प्रद्युम्न ने 'नरेन्द्र जाल' नामक विद्या से उन्हें जीत लिया। तत्पश्चात् ही नारद ने उपस्थित हो परिचय करवाया। ७२।१६२-१६६

(ख) 'प्रद्युम्न रास' तथा 'प्रद्युम्न चरित' (साधारुकृत) मे कृष्ण के अतिरिक्त पाँचो पाण्डवो को भी अलग-अलग ललकारने का वर्णन है। प्रद्युम्नरास मे कृष्ण प्रद्युम्न युद्धका वर्णन निम्न शब्दो मे है—

हो असवारां मारै असवारा, हो रथ सेधी रथजुरे झुझारो।
हस्थीस्यो हस्ती भीडे जी, हो घणी कहां तो होई विस्तारो ॥
१७४

परन्तु कवि साधारु ने इस भयकर युद्ध का वर्णन करने में पूरे ६८ छंद रच डाले है। (४७४ रे ४५२ तक)

३९. (क) हरिवश पुराण ४७।१३६-१३७

(ख) उत्तर पुराण ७२।१७८-१८०

(ग) साधारुकृत प्रद्युम्न चरित में प्रद्युम्न उदधि विवाह के समय विद्याधर कालसवर एव उसकी पत्नी के उपस्थित होने का उल्लेख है यहां वर्णन महासेनाचार्य के 'प्रद्युम्न चरित' मे भी है।

(घ) त्रिषष्टि. के अनुसार प्रद्युम्न उदधिका विवाह सत्यभामा के पुत्र भानुकुमार से ही करवाता है।

४०. हरिवश पुराण, उत्तर पुराण, प्रद्युम्न चरित (महासेन) मे प्रद्युम्न और वैदर्भी विवाह की घटना संक्षेप में व्यक्त है जबकि त्रिषष्टि० में विस्तार पूर्वक वर्णित है। त्रिषष्टि के अनुसार :—वैदर्भी रुक्मी (रुक्मिणी के भाई) की पुत्री थी। रुक्मिणी प्रद्युम्न के वैदर्भी से

(शेष पृ० ४ पर)

गतांक से आगे :

पं० शिरोमणिदास कृत : 'धर्मसार सतसई'

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल, दिल्ली

मध्य काल पूजै जिनराय,
पुत्र कलत्र सब पूरै काज।
आथमें (अस्तकाल) जिन पूजा चित देय,
कामदेव पद सो नर लेय ॥८१

दोहा—सोम श्री कन्या भली, दीनी जल की धार।
राज ऋद्धि पद साधकै देव भयो द्युति धार ॥८२
मदनावली विद्याधरी जिनपद चदन चर्चि।
छिन मे रोग विनाशकै सुभई देवकरि अचि ॥८३
अक्षत सो जिन पूजकै सुवा सुई निज हेत।
देवलोक पद तिन लहै अष्टो ऋद्धि समत ॥८४
दादुर पखुरी लै चल्यो जिन पूजा मनु लाय।
मरकै सुरलोकहि गयो, देव भयो सुखदाय ॥८५
चरु सो जिन पद पूजिकै हालिक सेठ सुजान।
राज ऋद्धि सुख पायकै, पुनि पहुचे निर्वान ॥८६
जिन को दीप चढ़ाइकै, विनयधर जुकुमार।
देवलोक पद पायकै, भयौ इन्द्रद्युति धार ॥८७
जिन पद धूप चढ़ाइकै, रोग सकल तह छीन।
ध्रुवकुमार पदवी लही, गये दव परवीन ॥८८
फल सो श्री जिन पूजकै, जिन मत नारी नाम।
क्षणमे स्त्री पद नाशकै, देव भयो सुख धाम ॥८९

चौपाई—जो नर अष्टौ विधि बनाय,
नियम सहित पूजै जिन राय।
ते नर लहै सुख अधिकार,
पुनिते होय मुक्ति उर हार ॥९०
जे पुष्पांजलि व्रत मन लावै,
ते नर खेचर पदवी पावै ॥९१
चढ़ विमान विद्या बहु सिद्धि,
भोग अनेक भुगते धन ऋद्धि।
जो दश लक्षण धरै प्रवीन,
धारें ते शील महा तप लीन।
ते नर ब्रह्म ऊपजै स्वर्ग,
लौकातिक पद पावै वर्ग ॥९२

दोहा—सहस तिहत्तर जानिकै दोकरि अधिक जु एव।
चार लाख पुनि ते कही, लौकातिक वर देव ॥९३
रत्नत्रय व्रत जे नर करै, भव सागर तें लीजै तरै।
अवर अनेक कहै जिनराय,
सो महिमको कहै बढ़ाय ॥९४

त्रेपन क्रिया पालहि व्रती,
लेश्या शुक्ल धरै बहुमती।
आर्त रौद्र कुध्यानहि त्यागै,
धर्म ध्यान के मारग लागै ॥९५
संज्ज्वलन चौकड़ी जावही उदै(य),
तप व्रत सयम पालहि मुदै।
धरि संवेग निर्वेद जु लीन,
समाधि मरण कर पापहि छीण ॥९६
चार प्रकार आराधना राधै,
तब जीव स्वर्ग लोक पद साधै।
सपुट सिला उपज्जइ एव,
जय जय सब करै शुभ देव ॥९७
पुष्प वृष्टि वरषै असरार,
वायु सुगध चलै हितकार।
बाजे अनहद बाजै घने,
देवी देव बहुत सुख जनै ॥९८
बहुत पुण्य तुम पूरब कियो,
तातैं आनि इन्द्र पद लियो।
यह इन्द्रासन तुम्हरो देव,
ये सब देव करै तुम सेव ॥९९
रत्न भूमि कोमल सुख हेत,
कल्प वृक्ष तह सब सुख देत।
निधि चिंता मणि दीसै भूरि,
कामधेनु तहं बहु सुख पूरि ॥१००

शची अष्ट सुन्दर शुभ गात,
विकसित वदन कहें ते बात।
सदा काल नव यौवन रहे,
कोमल देह सुगंध अति बहे ॥१०१
कठिन नीव उर कुच कलस विराजै,
मुख की ज्योति कोटि शशि लाजै।
कोटि सत्ताईस देवी मन हरनी,
भोग विलास रूप सुख धरनी ॥१०२
शृंगार बहुत आभूषण लिए,
हाव भाव विभ्रम रस किए।
अति कटि क्षीण, कमल दल नैन,
कला गीत बोलैं शुभ बैन ॥१०३
जनम सफल पुनि हमरो भयो,
जब तुम आनि देव पद लयो।
ऐसे वचन सुने सुखदाई,
भयो आनन्द महा सुख पाई ॥१०४
एक घड़ी मे अवधि प्रकाशै,
पूरब पुण्य सकल हित भासै।
मैं तप पूरब कीन्हों घोर,
व्रत क्रिया पाली अति जोर ॥१०५
मैं जिनेन्द्र पूजे अति शुद्धि,
पात्रहिं दान दियो हित बुद्धि।
सो वह पुण्य फलो मोहि आज,
सकल मनोरथ पूरे काज ॥१०६
सकल हेतु जानो सुर राय,
वह व्रत तप पुण्य यहां न आय।
है जिनेन्द्र पूजा इक सार,
सो मैं करों सकल सुख कार ॥१०७
यह विचारि उठि ठाड़े भये,
देविन सहित स्नान हित गये।
अमृत वापिका रत्ननि जड़ी,
महा सुगंध कमल बहु भरी ॥१०८
तहां स्नान करे सुख हेतु,
बढ्यो प्रेम रस बहु सुख देत।
करी विनोद क्रीड़ा सुख पाय,
आनन्द उमग्यो अंत न आय ॥१०९

उज्ज्वल कोमल वस्त्र सुगंध,
पहरें देव महा सुख बंध।
कंकण कुण्डल मुकुट अनूप,
भूषण अनेक को कहै स्वरूप ॥११०
गीत नृत्य वादित्र निर्घोष,
देविन सहित चल्यो सुर पोष।
जिनवर मन्दिर देखे जाय,
बहु आनन्द करे सुर राय ॥१११
अष्टो विधि लै पूजा करी,
शीस नवाय जिन स्तुति विस्तरी।
जनम सफल मेरो अति भयो,
जब मैं तुम्हरो दर्शन लयो ॥११२
सकल धर्म फल प्रकट्यो आज,
नैन निहारि देखे जिनराज।
देविन सहित प्रदक्षिणा दई,
बहुत भक्ति करि शुभ मति भई ॥११३
कर जोड़े ते बंदे पाय,
पुनि इन्द्रासन पे बैठे आय।
वीणा बैन मृदंग डफताल,
नचै अप्सरा रूप रसाल ॥११४
किनन्नर गावै (स्वर) सुरधरि जहां,
बहुत सौख्य रस उपजै तहां।
विकसित वदन देवी मुंह मुख देखें,
रूप राशि छबि भानु विशेषै ॥११५
शीत उष्ण वर्षा नहीं तहां,
जरा रुजा भय दुख न जहां।
रात दिवस दीसै नहीं भेद,
मल मूत्र मूत्र विवर्जित स्वेद ॥११६
शुक्र रुधिर तहां अस्थिन चर्म,
मांस मसा भेदा नहीं कर्म।
धातु उपधातु रहित तनु आय,
नभ स्फटिक मणि सोहै काय ॥११७
निद्रा आलस पल नहीं भेष,
चढइ विमान विक्रिया भेष।
द्वीप समुद्र असंख्यनि फिरै,
जिन यात्रा करि पातक हरै ॥११८

अणिम महिमा गरिमा सार,
लघिमा ईसत्व वंसत्व गुणधार।
काम कामत्व बुद्धि बहु लहीजै,
ए अष्टौ ऋद्धिदेव की कहीं जै ॥११६
दोहा—देव सुख को गनि कहै, सोलह स्वर्ग प्रमाण।
नाम आयु विधि सुख कहै, सुनि हौ चतुर सुजान ॥१२०
चौपाई—सौधर्म प्रथम ईशान जुजानि,
तहां पटल इकतीस वखानि।
विमान साठ लाख द्युति धार,
ऊंचो सकल सुनौ विस्तार ॥१२१
दोहा—मरे तरैं (नीचे) तें लेखि जे राजु डेढ उचित्त।
सौधर्म कहो ईशान पुनि यह प्रमाण सुनिमित्त ॥१२२
चौपाई—सागर दोय आयु उत्कृष्ट,
हाथ सात उन्नत तनु इष्ट।
काया सौं सुख भुगतैं धीर,
अब सुनु जु (यु) गल दूसरो वीर ॥१२३
सनतकुमार माहेन्द्र जु नाम,
बीस लाख तहं कहे विमान।
सात पटल पुनि सोहै जहां,
राजु डेढ़ उचित्त है जहां ॥१२४
सागर सात आयु तहं कहीजै,
कर छह उन्नत देह लहीजै।
देह स्पर्शन सुख हित काम,
युगल तीसरो कहीजै नाम ॥१२५
ब्रह्म ब्रह्मोत्तर जानहु स्वर्ग,
विमान चार लाख सुनि वर्ग।
राजु आध उचित्त अवकाश,
चार पटल सोहै सुख वासु ॥१२६
सागर दस तहं आयु जु लीन,
पंच हाथ तहं देह प्रवीन।
रति सुख माने देखे रूप,
चौथो युगल सुनो पुनि भूप ॥१२७
लातव अरु कापिष्ट बखानि,
राजु अर्ध उचित्त सु जानि।
पटल दोय तहं सोहै घने,
सहस पचास विमान अति बने ॥१२८
चौदह सागर आयु जु कही,
पंच हाथ तनु उन्नत सही।
रूप देख पुनि माने भोग,
पंचम युगल सुनो नृप जोग ॥१२६
शुक्र जु महाशुक्र अभिराम,
सहस चालीस विमान शुभ धाम।
पटल एक सुनि श्रेणिक भूप,
राजू एक उचित्त स्वरूप ॥१३०
सोलह स्वर्ग आयु तहं लहै,
हाथ चार देह उन्नत शुभ कहे।
शब्द ? सुनै मानैं शुभ काम,
युगल षटौ सुनियो तुम राम ॥१३१
सतार जु अरि कहिए सहश्रार,
विमान सहस्र षट सोहे सार।
राजु उचित्त आध तंह लेखि,
पटल एक पुनि कहिये पेखि ॥१३२
साढ़े तीन हाथ तनु उच्च,
शब्द सुनैं सुख मानैं उच्च।
अठारह सागर आयु शुभ अंत,
सातवां जुगल कहो पुनि संत ॥१३३
आनत प्राणत है सुख (इ) दाय,
सागर बीस आयु तहं आइ।
करत तहां तीन देह अति सोहै,
मन की उमंग यहां सुख मोहै ॥१३४
अष्टम युगल सुनौ तुम नाम,
आरण अच्युत है सुख धाम।
हाथ अढ़ाई सो है देह,
मन तैं सुख भुगतैं रतिनेह ॥१३५
सागर आयु कही बाईस,
पुनि तुम पटल सुनो न रईस।
स्वर्ग चार छःह पटल वखानि,
राजु एक ऊंच सब जानि ॥१३६
विमान सात सो चार हुंथोक,
इह विधि कहो सुनो सुरलोक।
अधोग्रैवेयक पटला है तीन,
विमान एक सो ग्यारह लीन ॥१३७

(शेष पृ० २६ पर)

महाकवि धवल और उनका 'हरिवंशपुराण'

श्रीमती अलका प्रचण्डिया 'दीति' एम० ए०

अपभ्रंश काव्यधारा में पुराणकाव्य और चरितकाव्य दो प्रभेद उल्लिखित हैं। पुराने कवियों की मूल रचना होने से इस प्रभेद को 'पुराण' कहा जाता है। पुराणों का प्रणयन प्रायः जैन प्रणेताओं द्वारा हुआ है। पुराण की परम्परा अपभ्रंश में संस्कृत के हिन्दू पुराणों से सर्वथा भिन्न है। जैन वाङ्मय आगम कहलाते हैं। आगम के चार अनुभाग निर्दिष्ट हैं—(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग के ग्रंथ ही पुराण संज्ञा से सम्बोधित हुए हैं। इतिहास और पुराण में भेदक रेखा खींचते हुए कहा जा सकता है कि इतिहास एक पुरुष की कथा होती है और पुराण तिरसठ पुरुषों की जीवन कथा। वस्तुतः अपभ्रंश के पुराण पौराणिक शैली में रचित प्रबंधकाव्य अथवा महाकाव्य है।

अपभ्रंश वाङ्मय के प्रबंधकाव्य-प्रणेताओं में महाकवि धवल का नाम अग्रगण्य है। प्रो० हीरालाल जैन ने "इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज" भाग १, सन् १६२५ में कवि धवल द्वारा १२२ सन्धियों एवं १८ हजार पद्यों में विरचित 'हरिवंशपुराण' का निर्देश किया था। कैटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनुस्क्रिप्ट्स इन दि सी० पी० एण्ड बरार, नागपुर सन् १६२६ में पृष्ठ ७६५ पर भी इस ग्रंथ का कुछ उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत ग्रंथ श्री दिगम्बर जैन मंदिर (बड़ा १३ पंथियों का) जयपुर में विद्यमान है। इस महाकाव्य की हस्तलिखित प्रति का अवलोकन डा० कोछड़ ने डा० कस्तूरचंद जी कासलीवाल की कृपा से किया था। पंडित नाथूराम प्रेमी ने भी धवल कृत 'हरिवंशपुराण' का उल्लेख अपने इतिहास में "कुछ अप्राप्य ग्रंथ" शीर्षक में किया है।

महाकवि धवल के पिता श्री का नाम सूर और मातु श्री का नाम केसुल्ल था। आपके गुरू का नाम अम्बसेन था। आप ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे परन्तु बाद में आपने जैन धर्म अपनाया था। कवि द्वारा निर्दिष्ट उल्लेखों के आधार पर उनकी प्रतिभा और कवित्व शक्ति का परिज्ञान हो जाता है। 'हरिवंशपुराण' के आरम्भ में महाकवि धवल ने अपने पूर्ववर्ती कवियों एवं काव्यों का उल्लेख किया है जिनमें अधिकांश कवि नवीं शती के हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि महाकवि धवल ने महाकवि पुष्पदंत का नामोल्लेख नहीं किया जबकि वह एक असाधारण कवि थे। प्रो० हीरालाल जैन ने महाकवि धवल को पुष्पदंत का समकालीन मानते हुए उन्हें दसवीं शताब्दी में रखा है। निर्दिष्ट कवियों में से असग को छोड़कर सब नवीं शताब्दी के लगभग या उससे पूर्व हुए हैं। असग ने 'अपना वीर-चरित' ६१० शक सं० अर्थात् ६८८ ई० से लिखा था। अतः कल्पना की जा सकती है कि महाकवि धवल भी १०वीं शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। वस्तुतः धवल शक संवत् की १०वीं शती के अन्तिम पाद या ११वीं शती के प्रथम पाद के महाकवि थे।

'हरिवंशपुराण' में २२वें तीर्थंकर यदुवंशी नेमिनाथ का जीवन वृत्त अंकित है। साथ ही महाभारत के पात्र कौरव और पाण्डव तथा श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों के जीवन वृत्त भी गुम्फित हैं। १२२ सन्धियों के इस काव्य ग्रंथ में प्रत्येक संधियों में कडवकों की संख्या भिन्न-भिन्न है। ७वीं सन्धि में २१ कडवक है और ११९वीं सन्धि में केवल चार। संधियों के अंतिम घत्ता में 'धवल' शब्द का प्रयोग परिलक्षित है। ग्रंथ में प्रायः प्रत्येक सन्धि की समाप्ति पर महाकवि ने भाषा वर्ण्णः, पंचम वर्ण्णः, मालवेसिका वर्ण्णः, कोद्र वर्ण्ण: इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के शब्दों में मगलपंच, टकार, पंचम, हिंदोलिका, वकार, कोलाह आदि शब्दों का भी व्यवहार हुआ है।

ग्रंथारम्भ में महाकवि ने 'हरिवंशपुराण' को 'सरोरुह' (कमल) कहा है और इस कथा के पूर्व वक्ताओं में चतुर्मुख और व्यास को आदर पूर्वक स्मरण किया है तदनंतर मंगलाचार के रूप में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। महाकवि धवल क्षणभंगुर शरीर की नश्वरता का वर्णन करते हुए स्थायी अविनाशी काव्यमय शरीर रचना का विचार करते हैं। यथा—

जो णवि मरइ ण छिज्जइ णवि पीडिज्जइ,
अक्खउ भुवणि भुवणि अँ भीरुवि।

(शेष पृ० कवर ३ पर)

महाकवि अर्हद्दास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

□ डा० कपूर चन्द जैन, खतौली

भाषा भावों की संवाहिका है, प्राचीन भारतीय भाषाओं में संस्कृत को वरेण्य स्थान प्राप्त है किन्तु प्राचीन संस्कृत है या प्राकृत ? यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है । 'प्राकृत' और 'संस्कृत' नामों से तो प्राकृत ही प्राचीन सिद्ध होती है । जैन मनीषी और कवियों ने आरम्भ में प्राकृत भाषा में ही ग्रंथों का प्रणयन प्रारम्भ किया इसी कारण प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही उपलब्ध होता है, किन्तु 'अनुयोगद्वार सूत्र', जैसे ग्रंथों में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं को ऋषिभाषित कहने के कारण[1] संस्कृत में भी विपुल मात्रा में जैन साहित्य का निर्माण हुआ जिसमें से अधिकांश भाग आज भी अलमारियों में पड़ा अन्वेषकोंकी बाट जोह रहा है।

प्राचीन जैन वाङ्मय में 'द्वादशांगवाणी' को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है । आचार्य समन्तभद्र ने जैन काव्य निर्माण का श्रीगणेश किया और तब से यह धारा अब तक अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है ।

ईसा की तेरहवी चौदहवी शताब्दी जैन काव्यग्रंथ-निर्माण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस समय अनेक जैन काव्य ग्रंथों का प्रणयन हुआ । अर्हद्दास जैसा प्रतिभाशाली महाकवि भी इसी समय हुआ जिसने 'पुरूदेव चम्पू' "मुनिसुव्रत काव्य" और "भव्यजनकण्ठाभरण" रूप तीन रश्मियों का सुन्दर उपहार जैन साहित्य को दिया ।

भव्यजनकण्ठाभरण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हिन्दू शास्त्रों के अप्रतिम अध्येता तथा विद्वान् थे ।उक्त ग्रथ मे जगह-जगह दिये गये हिन्दी-शास्त्रों के उद्धरण इसके समुज्ज्वल निदर्शन है । इसी आधार पर प० कैलाशचन्द शास्त्री ने उनके जैन धर्मानुयायी न होकर अन्य धर्मानुयायी होने का अनुमान लगाया है ।[2] श्री नाथूराम प्रेमी[3] का अनुमान है कि अर्हद्दास नाम न होकर विशेषण जैसा हीं मालूम पड़ता है ।[4] अत: सम्भव है कि उनका नाम कुछ और ही रहा हो ।

वे जन्मपर्यन्त गृहस्थ ही रहे । गृहस्थ रहते हुए भी उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी का उपयोग साधारण व्यक्ति के चित्रण में नहीं किया । 'मुनिसुव्रतकाव्य' तथा 'पुरूदेव चम्पू' में उन्होंने मुनिसुव्रत तथा ऋषभदेव के चरित्र को प्रतिपाद्य बनाया, तो भव्यजनकण्ठाभरण में आप्तादि तथा सम्यग्दर्शन की महिमा का विवेचन किया है । प्राकृत व्यक्ति की प्रशंसा करने वाले कवियों को अर्हद्दास तुच्छ दृष्टि से देखते थे । और राजा महाराजा आदि धन-सम्पन्न मनुष्यों की कविता द्वारा प्रशंसा करना जिनवाणी का अत्यधिक अपमान समझते थे ।

"सरस्वतीं कल्पलता स को वा
सम्वर्द्धयिष्यन् जिनपारिजातम् ।
विमुच्य काजीरतरूपमेषु व्यारोपयेत्प्राकृतनायकेषु ॥"[5]

अर्हद्दास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके ग्रंथो में व्यर्थ का विस्तार नही है । हां 'पुरूदेवचम्पू' जैसे ग्रंथो मे जहां उन्होंने अपनी कला की कलाबाजियां दिखाई हैं, वहां उनके वर्णन देखते ही बनते हैं । न केवल उनके गद्य ही 'गद्य: कवीनां निकष वदन्ति' की कसौटी पर सही उतरते है अपितु पद्य भी विभिन्न छन्दों में गुथे और श्लेषानुप्राणित होकर सहृदयों को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं ।

जन्मस्थान :

महाकवि अर्हद्दास ने अपने स्थान के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी । श्री नाथूराम प्रेमी ने उनके ग्रंथों का प्रचार कर्नाटक में अधिक होने के कारण उनके कर्नाटक में रहने का अनुमान लगाया है ।[6] पण्डित आशाधर अपने अन्तिम समय मे अवन्ती के नलकच्छपुर मे रहे थे और वहीं उन्होंने 'जिनयज्ञकल्प, अनगारधर्मामृत-

टीका आदि ग्रंथ लिखे थे, यदि अर्हद्दास आशाधर के अन्तिम समय में उनके पास पहुंचे तो उनका स्थान अवंती प्रदेश मानना होगा किन्तु समुचित प्रमाणों के अभाव में कुछ निश्चित लिख पाना सभव नही है।

श्री नाथूराम प्रेमी ने मदनकीर्ति यतिपति के ही अर्हद्दास बन जाने का अनुमान लगाया है। मदनकीर्ति यतिपति, वादीन्द, विशालकीर्ति, जिन्होंने पं० आशाधर से न्यायशास्त्र पढ़कर विपक्षियों को जीता था, के शिष्य थे। वि० स० १४०५ में रचित राजशेखरसूरि के "चतुर्विशति प्रबन्ध" मे "मदनकीर्तिप्रबन्ध" नाम का एक प्रबन्ध है, जिसमें मदनकीर्ति के कर्णाटक जाकर विजयपुर नरेश कुन्तिभोज की सभा में काव्य-रचना करने और उनकी पुत्री से विवाह करने का वर्णन है। मदनकीर्ति का बनाया "शासनचतुस्त्रिंशिका" ग्रथ उपलब्ध है। प्रेमी जी ने लिखा है—"चतुर्विशति कथा को पढ़ने के बाद हमारा यह कल्पना करने को जी अवश्य होता है कि कही मदन-कीर्ति ही कुमार्ग में ठोकरे खाते-खाते अन्त मे आशाधर की सूक्तियों से अर्हद्दास न बन गए हो। पूर्वोक्त ग्रन्थो में (पुरुदेवचम्पू आदि मे) जो भाव व्यक्त किये गए है, उनसे इस कल्पना को बहुत कुछ पुष्टि मिलती है और फिर यह अर्हद्दास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम पडता है। सभव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो, यह नाम एक तरह की भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।"[७] पुष्ट प्रमाणों के अभाव मे इस मत को भी वास्तविक रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।

पण्डित आशाधर महान् विद्वान् होते हुए भी मुनि नही बने अपितु उन्होने मुनियो के चरित्र मे पनप रही तत्कालीन शिथिलता की कडी आलोचना की है, वे गृहस्थ पण्डित थे अतः उनके शिष्य अर्हद्दास का भी पण्डित होना सभव है। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने अर्हद्दास को गृहस्थ पण्डित ही माना है।[८]

आशाधर का शिष्यत्व :

यह विवादास्पद विषय है कि महाकवि अर्हद्दास पंडित आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या नही। उन्होने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियो में पण्डित आशाधर का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। अतः यहाँ तीनों ग्रंथों की प्रशस्तियां देना असमीचीन न होगा। मुनि-सुव्रत काव्य का अन्तिम पद है—

मिथ्यात्व कर्मपटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशो, कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदजन संप्रयोगे—
रच्छीकृते पृथलसत्पथमाश्रितोस्मि।

अर्थात् मेरे नयनयुगल चिरकाल से मिथ्यात्वकर्म के पटल से ढके हुए थे और मुझे कुमार्ग में ले जाने के कारण थे। आशाधर के उक्तिरूपी अंजन के प्रयोग से स्वच्छ होने पर मैंने जिनेन्द्र भगवान के सत्पथ का आश्रय लिया, इसी प्रकार पुरूदेव चपू का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेस्मिन्
आशाधरोक्तिकतक प्रसरैः प्रसन्ने।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या
तच्चंपु दंभजलजेन समुज्जजृम्भे॥

अर्थात् जो पहले मिथ्यात्वरूपी पंक से मलिन था तथा पीछे चलकर आशाधर जी के सुभाषित रूपी कतक फल के प्रभाव से निर्मल हो गया ऐसे मेरे इस मानसमन रूपी मानसरोवर मे पुरूदेव जिनेन्द्र की भक्तिरूपी शरद ऋतु के द्वारा उल्लास को प्राप्त हुआ यह पुरूदेवचंपू रूपी कमल वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

इन दोनो पद्यों से इतना तो स्पष्ट है कि अर्हद्दास की दृष्टि या मानस आशाधर की सूक्तियो से निर्मल हुआ था पर उनके साक्षात् शिष्य होने का प्रमाण नही मिलता, भव्यजनकण्ठाभरण का यह पद भी द्रष्टव्य है—

सूक्त्येव तेषा भरभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः।
त एव शेषाश्रमिणा सहाय्या धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः।[९]

अर्थात् उन आचार्य वगैरह के सद्वचनों को सुनकर ससार से डरे हुए जो गृहस्थाश्रम मे रहते हुए आत्मधर्म का पालन करते है और बाकी के ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा साधु आश्रम में रहने वालो के सहायक होते हैं वे आशा-धर सूरि प्रमुख धन्य है।

इस पद्य के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि "इस पद्य मे प्रकारान्तर से आशाधर की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे जैन धर्म का पालन करते थे तथा अन्य

आश्रमवासियों की सहायता भी किया करते थे। इस पद्य में आशाधर की जिस परोपकार वृत्ति का निर्देश किया गया है, उसका अनुभव कवि ने सभवतः प्रत्यक्ष किया है और प्रत्यक्ष में कहे जाने वाले सदवचन भी सूक्ति कहलाते हैं, अतएव वहुत संभव है कि अर्हद्दास आशाधर के समकालीन हों।"[१०] पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी उक्त आधार पर अर्हद्दास का आशाधर के लघुसमकालीन होने का अनुमान किया है।[११] किन्तु इस सन्दर्भ में पण्डित नाथूराम प्रेमी और पण्डित हरनाथ द्विवेदी के मतों को दृष्टि से ओझल नही किया जा सकता। प्रेमीजी ने लिखा है कि 'इन पदों में स्पष्ट ही उनकी सूक्तियो या उनके सद्ग्रन्थों का ही संकेत है, जिनके द्वारा अर्हद्दास को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी, गुरू शिष्यत्व का नही।'[१२] इसी प्रकार माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रथमाला से प्रकाशित पुरूदेवचंपू के सपादक पण्डित जिनदास शास्त्री फडकुले के मत पर कटाक्ष करते हुए पण्डित हरनाथ द्विवेदी ने लिखा है—पुरूदेवचपू के विज्ञ सपादक फड़कुले महोदय ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका मे लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियों से कविवर अर्हद्दास पण्डिताचार्य आशाधर जी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते है। किन्तु कम से कम मैं आपकी इस निर्णायक सरणी से सहमत हो आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने मे असमर्थ हूं। क्योंकि प्रशस्तियों से यह नही सिद्ध होता कि आशाधर जी को साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नही। सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हे गुरू मान रखा था, यह प्रामाणिक प्रतीत नही होता। क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचना-बद्ध ग्रन्थ-संदर्भ का भी हो सकता है।"[१३]

हमारे अनुमान से यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि आशाधर के अन्तिम समय अर्थात् वि० स० १३०० मे अर्हद्दास आशाधर जी के पास पहुंचे होगे और १-२ वर्ष साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त कर उनके धर्मामृत से प्रभावित होकर काव्य रचना में प्रवृत्त हुए होगे। जैसा कि उनके "धावनकापथ" " (मुनिसुव्रत काव्य १०/६४) पद्य से भी व्यक्त होता है।

अर्हद्दास नाम के अनेक विद्वान्

अर्हद्दास नाम के दूसरे कवि रट्ट कवि अर्हद्दास है। यह जैन ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम नागकुमार था जो गंगा मारसिंह के चमूपति का डमरस १५वी पीढ़ी मे हुए थे। इनका समय भी १३०० ई० के आसपास स्वीकार किया गया है।

रट्ट कवि अर्हद्दास कन्नड़ भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होने कन्नड़ भाषा मे अठ्ठमत नाम के महत्त्वपूर्ण ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रथ पूरा नही मिलता। शक सवत् की चौदहवी शताब्दी में भास्कर नाम के आंध्र कवि ने इस ग्रथ का तेलगु भाषा में अनुवाद किया था। इस ग्रथ के उपलब्ध भाग मे वर्षा के चिह्न, शकुन, वायु-चक्र, गृहप्रवेश, भूकम्प-भूजात-फल, उत्पात-लक्षण, इन्द्रधनु लक्षण आदि विषयो का निरूपण किया गया है।[१४] पर ये अर्हद्दास पुरूदेवचम्पू के कर्त्ता अर्हद्दास से भिन्न है।

अर्हद्दास का समय :

संस्कृत के अन्य महाकवियों की तरह महाकवि अर्हद्दास का समय भी अन्धकाराच्छन्न है। यतः उन्होने अपने जन्म-समय, जन्म-स्थान, माता पिता आदि के सबंध मे कोई उल्लेख नहीं किया है। फिर भी कतिपय प्रमाण ऐसे है, जिनसे उनका समय निर्धारण करना सम्भव है।

अर्हद्दास के काल-निर्धारण मे पूर्व और अपर सीमा निर्धारण के लिए क्रमशः आशाधर और अजितसेन महत्त्वपूर्ण मानदण्ड है। अर्हद्दास ने अपनी कृतियो मे आशाधर का नामोल्लेख जिस सम्मान और श्रद्धा से किया है, उससे तो इस अनुमान के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है कि वे आशाधर के संक्षिप्त शिष्य रहे होंगे। किन्तु आशाधर ने अपने ग्रथो में जिन आचार्यो और कवियों का उल्लेख किया है, उनमे अर्हद्दास का उल्लेख नही है। यहा तक कि उनकी अन्तिम रचना अनगारधर्मामृत की टीका मे अर्हद्दास या उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नही है।[१५]

इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि वे आशाधर के पश्चात्वर्ती है। साथ ही आचार्य अजितसेन ने अपनी अलंकार चिन्तामणि में जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट आदि के साथ ही अर्हद्दास के मुनिसुव्रतकाव्य के अनेक श्लोक

उदाहरण स्वरूप दिये है—

चन्द्रप्रभं नौमि यदंगकान्ति
ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः।
चकोरयूथं पिबति स्फुटन्ति
कृष्णेऽपि पक्षे किलकैरवाणि ।।[६]

'अत्र चन्द्रप्रभागकान्तौ ज्योत्स्ना बुद्धिः ज्योत्स्नासादृश्यं बिना न स्यादिति सादृश्यप्रतीतो भ्रान्तिमदलंकारः।'

'अत्रारोपविषये जिनांगकान्तौ चकोरादीनां ज्योत्स्नानुभवः।' ...अलंकार चिन्तामणि ज्ञानपीठ सस्करण, पृष्ठ १२३, १३५ तथा २६६।

इसी प्रकार मुनिसुव्रत काव्य के १।३४. २।३१, २।३२ तथा २।३३ श्लोक अलंकार चिन्तामणि के पृष्ठ २०५, २२८,२२८ तथा २११ पर उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए गए हैं।

इन श्लोको से यह स्पष्ट है कि अर्हद्दास अलंकार-चिन्तामणि के कर्त्ता आचार्य अजितसेन से पूर्ववर्ती हैं।

सौभाग्य से हमें आशाधर के काल निर्धारणार्थ अधिक नही भटकना होगा उन्होंने अपनी अन्तिम रचना 'अनगारधर्मामृत की टीका' वि० स० १३०० में पूर्ण की थी।[१७] इससे पूर्व वे त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र', 'जिनयज्ञकल्प', सागारधर्मामृत' की टीका' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। ऐसा उक्त ग्रन्थों की प्रशस्तियों से विदित होता है। यतः उन्होंने अपनी अन्तिम कृति 'अनगारधर्मामृत की टीका' १३०० वि० स० (१२४३ ई०) में पूर्ण की थी। अतः उनका रचना काल ईसा की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित है। अलंकार चिन्तामणि के कर्त्ता अजितसेन का रचनाकाल डा० नेमिचन्द्र[१८] शास्त्री ने वि० सं० १३०७-१३१७ तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने १२४०-१२७० ई० (१२९७-१३२७ वि० स०) माना है।

आशाधर और अजितसेन के मध्यवर्ती होने के कारण अर्हद्दास का समय १३वी शताब्दी ई० का मध्य-भाग मानना समीचीन होगा।[१९] (क्रमशः)

अध्यक्ष संस्कृत विभाग, जैन कालेज
बड़ा बाजार खतौली २५१२०१ (उ० प्र०)

संदर्भ-संकेत

१. 'सक्कया पायया चेव भणिईओ होति-दोण्णिवा।
सरमंडलम्मि गिज्जन्ते पसत्था इसिभासिया।।'
अनुयोग द्वारसूत्र : व्यापार २०१० सत्र १२७ (सन्दर्भ-जैन : संस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान)।
२. भव्यजनकण्ठाभरण, भूमिका, पृ० ८
३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४३
४. दासो भवाम्यर्हतः, (मुनिसुव्रत काव्य १०·४६) से भी यही ध्वनित होता है।
५. मुनिसुव्रतकाव्य, १·१२
६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४३
७. जैन साहित्य और इतिहास पृ० १४३
८. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-६, पृ० १४
९. भव्यजनकण्ठाभरण पद्य सं० २३६
१०. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-४. पृ० ५०
११. भव्यजनकण्ठाभरण, प्रस्तावना, पृ० १०
१२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४२
१३. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका, पृ० ख १
१४. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ०२४५
१५. गुरु गोपालदास वरैया स्मृतिग्रन्थ पृ० ५०१ तथा भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अनगारधर्मामृत की प्रस्तावना।
१६. मुनिसुव्रतकाव्य, १.२
१७. 'नलकच्छपुर श्रीमन्नेमि चैत्यालयेसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके।।'
अनागारधर्मामृत टीका प्रशस्ति, ३१
१८. अलंकार चिन्तामणि, प्रस्तावना, पृ० ३४ भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण।
१९. व्यक्तिगत पत्र दिनांक २७-९-६२ के आधार पर।

भगवती आराधना में तप का स्वरूप

❑ कु० निशा, बिजनौर

कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः अर्थात् कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो तपा जाता है उसे तप कहते है। यह तप का निरुक्त्यर्थ है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को जानकर अकर्त्तव्य का त्याग करना चारित्र है वही ज्ञान है और वही सम्यग्दर्शन है, उस अकर्त्तव्य के त्यागरूप चारित्र मे जो उद्योग और उपयोग होता है, उसको जिन भगवान ने तप कहा है अर्थात् चारित्र मे उद्योग और उपयोग ही तप है। तप शब्द का अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए इष्ट-अनिष्ट विषयों की आकांक्षा के निरोध का नाम ही तप है। इसके दो भेद हैं—१. बाह्य तप, २. आभ्यन्तर तप। उनमें भी प्रत्येक के छह-छह भेद हैं। अनशन, अवमोदर्य, रसों का त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशय्या ये छह प्रकार के बाह्य तप है और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये आभ्यन्तर तप हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर तप—बाह्य जन अन्य मत वाले और गृहस्थ आदि भी इन तपों को जानते है, इसी कारण अनशनादि तपों को बाह्य तप कहते है तथा जो सन्मार्ग को जानते हैं, उनके द्वारा जिसका आचरण किया जाता है, ऐसे तप आभ्यन्तर तप कहे जाते है। प्रायश्चित्त आदि तपो मे बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न होकर अन्तरग परिणामों की मुख्यता रहती है तथा इनका स्वयम् ही सवेदन होता है, ये देखने में नहीं आते तथा इनको अनार्हत लोग धारण नहीं कर सकते, इसी कारण प्रायश्चित्तादि को अतरंग तप[७] कहा जाता है। कर्मों की निर्जरा मे समर्थ आभ्यन्तर तपो की वृद्धि के लिए अनशनादि बाह्य तप किये जाते हैं। अतः आभ्यन्तर तप ही प्रधान है। यह आभ्यन्तर तप शुद्ध और शुभ परिणामो से युक्त होता है, इसके बिना बाह्य तप निर्जरा में समर्थ नहीं होता है।[८]

आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि का चिह्न अनशनादि बाह्य तप है, जैसे किसी मनुष्य के मन में क्रोध उत्पन्न होने पर उस क्रोध का चिह्न भृकुटी चढाना होता है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर तपो में लिङ्ग-लिङ्गी भाव है।[९]

बाह्य तप के भेद—

(१) **अनशन**—न अशन अर्थात् अशन के न करने को या अल्प भोजन को अनशन[१०] कहते हैं। यह तप तभी माना जाता है जब कर्मक्षय के लिए किया जाता है। अनशन तप दो[११] प्रकार का होता है—१. अद्धाशन २. सर्वानशन।

अद्धाशन (चतुर्थ उपवास से छह मास का उपवास) गृहणकाल और प्रतिसेवनाकाल में किया जाता है तथा सर्वानशन सन्यास ग्रहण करने से लेकर मरणपर्यन्त तक किया जाता है।

(२) **अवमौदर्य**—बत्तीस ग्रास प्रमाण पुरुष के और अट्ठाइस ग्रास प्रमाण स्त्री के आहार मे से एक-दो ग्रास आदि की हानि के क्रम से जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमौदर्य तप है।[१२] यह तप उत्तम क्षमा आदि रूप धर्म की, छह आवश्यको की, आतापन आदि योग की प्राप्ति के लिए, वायु आदि विषमता को दूर करने के लिए निद्रा को जीतने आदि के लिए किया जाता है।[१३]

(३) **रसपरित्याग**- दूध, दही, घी, तेल, गुड़, पत्रशाक, लवण आदि सबका अथवा एक-एक का त्याग रसपरित्याग[१४] नामक तप है। इसकी चार महाविकृतियां होती हैं—नवनीत, मद्य, मांस और मधु। ये क्रमशः अभिलाषा प्रसंग, दर्प और असंयम को उत्पन्न करने वाली है।[१५] इन्हें महाविकृतियाँ इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये मन को अत्यधिक विकासयुक्त कर देती है।[१६] अतः जिन भगवान की आज्ञा को धारण करने वाले, पाप से भयभीत तथा तप में एकाग्रता के इच्छुक को इन महाविकृतियों का सर्वथा

त्याग कर देना चाहिए।[१९]

(४) **वृत्तिपरिसंख्यान**—मुमुक्षु को यह तप आशा की निवृत्ति के लिए इन्द्रिय सयम के लिए, तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए सदैव करना चाहिए। श्रमण भिक्षा से सम्बद्ध, दाता, चलना, पात्र गृह आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के सकल्पों के द्वारा शरीर के लिए वृत्ति करता है और यही वृत्तिपरिसख्यान तप है।[२०] उदाहरणार्थ—पूर्व गमन किये हुए मार्ग से लौटते हुए भिक्षा मिलने पर ही ग्रहण करूँगा, सीधे मार्ग से जाने पर यदि मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही आदि मार्ग विषयक।[२१] सोने, चाँदी, कांसी अथवा मिट्टी के पात्र द्वारा दी गयी भिक्षा ही ग्रहण करूंगा अन्यथा नही आदि पात्रविषयक। स्त्री, बालिका, युवती, वृद्धा अथवा अलकार युक्त या अलकार रहित स्त्री से ही ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं आदि दाता विषयक।[२२] कुल्माष आदि से युक्त भात, चारो ओर व्यन्जन के मध्य में पुष्पावली के समान रखते चावल आदि[२३] भोजन मिलने पर ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा नही। इस प्रकार के अनेक भोजन सम्बन्धी नियम लेना वृत्तिपरिसख्यान है।

(५) **कायक्लेश**—कायोत्सर्ग करना, शयन, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, उनके द्वारा आगमानुसार शरीर को कष्ट देना ही कायक्लेश नाम का तप है।[२४] उदाहणार्थ—तेज धूप में सूर्य की ओर मुख करके गमन करना, जिस ग्राम मे मुनि ठहरे हो उस ग्राम से अन्य ग्राम मे भिक्षा के लिए गमन करना और जाकर लौटना, चिकने स्तम्भ आदि के सहारे खड़ा रहना, एक स्थान पर निश्चल स्थित रहना, एक पैर से खड़े रहना, वीरासन आदि आसन लगाना, मृतक के समान निश्चेष्ट सोना, खुले आकाश मे शयन करना, न थूकना, न खुजाना, केशलोच, रात्रि-जागरण तथा आतापन आदि योग करना कायक्लेश नामक तप है।[२५]

(६) **विविक्तशय्या**—जिस वसति में मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श के द्वारा अशुभ परिणाम नही होते अथवा स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न नहीं होता।[२६] जो खुले हुए अथवा बन्द द्वार वाली सम अथवा ऊँची-नीची भूमि वाली, बाहर के भाग में स्थित हो। स्त्री, नपुंसक पशुओं से रहित, ठडी या गर्म[२७], उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषो से रहित, शय्या रहित हो ऐसी वसतिका के अन्दर या बाहर खड़ा होना बैठना अथवा शयन करना विविक्तशयनासन नाम का तप है।[२८] ऐसे एकान्त स्थान मे निवास करने वाले साधु असाधु लोगों के ससर्ग से उत्पन्न होने वाले मोह, राग और द्वेष से सन्तप्त नही होते।[२९]

बाह्य तप की विशेषता—बाह्य तप के करने से यति में अनेक गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, जसे—बाह्य तप से आत्मा, अपना कुल, गण, शिष्यपरम्परा सुशोभित होती है। आलस्य नष्ट हो जाता है। विशेषतः संसार का मूलकर्म नष्ट होता है।[३०] बाह्य तप से बहुत से प्राणी ससार से भयभीत हो जाते है, मिथ्यादृष्टियों मे सौम्यता आ जाती है तथा इस तप के करने से मोक्ष मार्ग प्रकाशित होता है। क्योकि तप के अभाव में कर्मों की निर्जरा सम्भव नही है इसके साथ ही जिन भगवान की आज्ञा का पालन हो जाता है।[३१] इस तप से शरीर मे लघुता और उससे सम्बद्ध स्नेह का नाश, रागादि का उपशम होता है।[३२] अनशनादि तप से अनर्थकारी सुखशीलता का नाश, शरीर मे कृशता, ससार से विरक्ति होती है, इन्द्रियां दान्त होती है, वीर्याचार में प्रवृत्ति तथा यति के जीवन के प्रति इच्छा भी समाप्त हो जाती है। बाह्य तप से शरीर, रस और सुख में आसक्ति नही रहती तथा कषायों का मर्दन होता है। मरणकाल मे जिस समस्त आहार का साधु को त्याग करना पड़ता है, उसका अभ्यास उसे बाह्य तप से ही हो जाता है, वह दुःख-सुख मे समभाव को प्राप्त होता है, निद्रा पर विजय प्राप्तकर लेता है और ब्रह्मचर्यको धारण करता है।[३३]

आभ्यन्तर तप के भेद—

१ **प्रायश्चित**—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पहले किये हुए पापो से विशुद्ध हो जाता है, वह प्रायश्चित्त[३४] नामक आभ्यन्तर तप है। यह तप आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप छेद, मूल परिहार और श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है।[३५] भगवती-आराधना विजयोदया टीका मे आलोचना आदि ६ प्रकार का प्रायश्चित तप कहा है।[३६] ९ प्रकार इस प्रकार हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन।[३७]

आचार्य आदि के समक्ष अपने दोषों का चारित्र आचारपूर्वक निवेदन करना आलोचना नामक प्रायश्चित है।[३८] यह दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष। जिस मुनि को मूल नामक प्रायश्चित दिया जाता है वह सामान्य आलोचना तथा इसके अभाव में वह विशेष आलोचना करता है।[३९] अनेक अपराध करने वाला तथा सम्यक्त्व व्रत आदि का घात करने वाला मुनि सामान्य आलोचना करता है। मैं आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूं और मैं रत्नत्रय से हीन हूं। इस प्रकार आलोचना करना ही सामान्य आलोचना है।[४०] दीक्षा से लेकर सब काल और क्षेत्र में जिस भाव और क्रम से जो दोष दिया गया है, उसकी उसी प्रकार आलोचना करना ही विशेष आलोचना है।[४१] विशुद्ध परिणाम वाले क्षपक के आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया प्रशस्त क्षेत्र मे, पूर्वाह्न अथवा अपराह्न-काल में, शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ समय में होती है।[४२] सुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पार्श्व मे पीछी के साथ हाथों की अंजलि को मस्तक से लगाकर मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक गुरु की वन्दना करके सभी दोषों से रहित होकर आलोचना करता है।[४३]

प्रतिक्रमण—ससार से भयभीत और भोगों से विरक्त साधु के द्वारा किये गये अपराध को, मेरे दुष्कृत मिथ्या हो, मेरे पाप शान्त हों। इत्यादि उपायो के द्वारा दूर करने को प्रतिक्रमण[४४] नामक प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् दोषो की निवृत्ति को प्रतिक्रमण कहते है। यह नाम प्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण के भेद से छह प्रकार का है।[४५] भट्टिनी, दारिका आदि अयोग्य नामो का उच्चारण न करना नामप्रतिक्रमण है। लिखित या खोदी हुई आप्तभासों की मूर्ति; त्रस और स्थावरों की आकृतियों को स्थापना शब्द से कहा गया है, उनमें आप्तभासो की मूर्तियों के समक्ष पूजन न करना स्थापना प्रतिक्रमण है तथा त्रस, स्थावर आदि रचनाओं को नष्ट न करना स्थापना प्रतिक्रमण है। गृह, खेत आदि दस परिग्रहों का उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषो से दूषित वसतिकाओं का, उपकरणों का और भिक्षाओं का, अयोग्य आहारादि का और तृष्णा, मद तथा सक्लेश के कारणरूप द्रव्यों का त्याग करना द्रव्यप्रतिक्रमण है। जल, कीचड़ और त्रस स्थावर जीवों से युक्त क्षेत्रों में गमन-आगमन का त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है अथवा जिस क्षेत्र में रहने से रत्नत्रय की हानि हो, उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। रात, तीनों सन्ध्या, स्वाध्याय और छह आवश्यकों के काल में गमन-आगमन आदि का व्यापार न करना कालप्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग-द्वेष, आहारादि संज्ञा, निदान, आर्त-रौद्र आदि अशुभ परिणामो का तथा पुण्यास्रवभूत शुभ परिणामों का त्याग भावप्रतिक्रमण है।[४६]

तदुभय—दुःस्वप्न, संक्लेश आदि से होने वाले दोषों के निराकरण के लिए जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों प्रायश्चित किये जाते हैं, उसे तदुभय[४७] प्रायश्चित कहते हैं।

विवेक[४८]—ससक्त अन्नादि में दोषों को दूर करने में असमर्थ साधु जो संसक्त अन्नादि के उपकरणादि को अलग कर देता है, उसे विवेक प्रायश्चित्त कहते हैं। इसी प्रकार यदि साधु भूल से स्वयं अथवा दूसरों के द्वारा कभी अप्रासुक वस्तु को ग्रहण कर लेता है, तब स्मरण होते ही उसको छोड़ देना विवेक प्रायश्चित है, अथवा त्यागी हुई प्रासुक वस्तु भी यदि साधु ग्रहण कर लेता है तो स्मरण होते ही उसका त्याग कर देना विवेक है। यह गणविवेक और स्थानविवेक के भेद से दो प्रकार का है।[४९]

मूल[५०]—पार्श्वस्थ, संसक्त, स्वच्छन्द, अवसन्न और कुशील मुनियों को अपरिमित अपराध होने से सम्पूर्ण दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देना मूल प्रायश्चित है। जो सुखशील होने से बिना कारण अयोग्य का सेवन करता है वह पार्श्वस्थ कहलाता है अथवा जो निरतिचार संयम का मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु संयम के पार्श्ववर्ती मार्ग में चलता हे, वह न तो एकान्त से असंयमी और न निरतिचार से संयमी है, अतः उसे पार्श्वस्थ[५१] कहते है। एक अन्य स्थान पर पार्श्वस्थ के विषय में कहा गया है कुछ साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधु संघ के मार्ग को छोड़कर साधुओं के पार्श्ववर्ती हो जाते हैं, यही कारण है कि यह पासत्थ या पार्श्वस्थ कहे जाते हैं।[५२] संसक्त साधु-नट के समान अनेक रूप धारण करने वाला होता है वे पार्श्वस्थ के संसर्ग से पार्श्वस्थ, कुशील के संसर्ग

से कुशील, और स्वच्छन्द के संसर्ग से स्वच्छन्द हो जाते हैं अर्थात् वे दूसरे में मिलकर उन जैसे ही हो जाते हैं। इसी कारण संसक्त कहे जाते हैं।[५३] जो मुनि साधु संघ से निकल कर आगम विरुद्ध मार्ग की इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाछन्द साधु है।[५४] इन्द्रिय और कषाय-रूपी तीव्र परिणाम होने के कारण सुखपूर्वक समाधि में लगा जो साधु तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी है और चरित्र भ्रष्ट साधु की क्रिया करता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है।[५५] जिस प्रकार जो कोई कीचड़ में फंस गया या मार्ग में थक गया तब उसको अवसन्न कहा जाता है और वह अवसन्न द्रव्यरूप से है, उसी प्रकार चारित्र अशुद्धके भावसे अवसन्न होता है। वह उपकरण, वसतिका, स्वाध्याय, विहार करने की भूमि के शोधन में ईर्यासमिति आदि में स्वाध्याय के काल का ध्यान रखने में तथा समिति में तत्पर नहीं रहता, छह आवश्यकों में आलस्य करता है। इस प्रकार चरित्र का पालन करते हुए वह खेद खिन्न होने के कारण अवसन्न कहा जाता है।[५६] कुत्सित शील वाले मुनि को कुशील कहा जाता है। यह कौतुक कुशील, यूतिकर्मकुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कक्वकुशील, कुहन कुशील, सम्मूर्छनकुशील, प्रवातन कुशील आदि अनेक प्रकार का होता है।[५७]

तप—शास्त्रविहित आचरण में दोष लगाने वाला, किन्तु सत्त्व, धैर्य आदि गुणों से युक्त श्रमण जो प्रायश्चित शास्त्रोक्त उपवास आदि करता है, वह तप प्रायश्चित है।

छेद—असंयम के प्रति ग्लानि प्रकट करने के लिए दीक्षा काल को कम कर देना छेद प्रायश्चित है। अनगार धर्मामृत (गा० ७।५३) में कहा है—जो साधु चिरकाल से दीक्षित है, निर्मद है, समर्थ है और शूर है यदि उससे अपराध हो जाए तो दिन, पक्ष या मास आदि का विभाग करके दीक्षा छेद देने को छेद प्रायश्चित कहते हैं।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. सर्वार्थसिद्धि ९।६, २. पद्मनन्दिपंचविंशतिका १।९८, ३. भगवती आराधना गा० ९-१०, ४. अनगार धर्मामृ१ गा० ७२, ५. मूलाचार गा० ३४५, ६. भ० आ० गा० २१०, मू० आ० गा० ३४६, ७ मू० आ० गा० ३६०, ८. भ० आ० गा० १०६ की विजयोदया टीका, ९. अनगार धर्मामृत ७।३३, १०. भ० आ० गा० १३४२ की वि०, ११. भ.आ. गा. १३४४, १२. अं० धर्मा. गा. ७।११ टीका

१३. अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसण भणियं।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥२११ भ.आ.

१४. एगुत्तरसेढीय जावय कवलो वि होदि परिहीणो।
अमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥२१४॥
भ.आ., मू.आ.गा० ३५०

१५. अं.धर्मा. ७।२२, १६. भ. आ. गा. २१७, मू.आ. ३५२

१७. चत्तारि महाविमडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू।
करवापसंगदप्पाइसंजमकारीओ एदाओ ॥२१५॥
भ०आ०, मू०आ० ३५३

१८. अं०धर्मा०पृ० ५०७, १९. भ.आ. २१६, मू.आ. ३५४, २०. अं. धर्मा. ७।२६, २१. भ० आ० गा० २२०, २२. भ० आ० गा० २२३, २३. भ० आ० गा० २२२।

२४. ठाणसयणासणेहिं य विवि हेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं।
अणवीचीपरितावो कायकिलेसो हवदि एसो ॥३५६॥

२५. भ०भ० २४४-२३९, २६. भ० आ० गा० २३०, २७. भ०आ० गा० २३१, २८. भ०आ०गा० २३२, २९, अं० धर्मा० ७।३१।

३०. आदा कुलं गणो पवयण च सो भाविदं हवदि सव्वं।
अलसत्तणं च विजइं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥२८५॥

३१. बहुगाणं सवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाण।
मग्गो य दीविदो भगवदो य अणुणालिया आणा ॥२४५

३२. देहस्स लाघव संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं।
जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥२४६ भ.आ.

३३. भ०आ०गा० २२९-२४२, ३४. मृ०आ०गा० २६१। ३५. मू०आ०गा० २६२, ३६. भ०आ०गा० ४०४ की वि. ३७. उमास्वामी त० सूत्र ९।२२, ३८. मू०आ० पृ० २९३ ३९. भ०आ०ग० ५३५, ४०. वही ५३६, ४१. वही ५३७ ४२. वही ५५६, ४३. वही ५६३, ४४. अं. धर्मा. गा. ७४७ ४५. भ०आ०गा० ११८ की वि० ४६. वही ११८ की वि. ४७. अं० धर्मा० ७।४८, ४८. वही ७।४९-५०। ४९. मू.आ. गा. ३६२ की आचा. ५०. अं. धर्मा, गा. ७।५५ ५१. भ.आ गा. १९४४ की वि. ५२. भ. आ. गा. १२९० ५३. भ.आ. १९४४ वि. ५४. भ.आ. १३०४, १९४४ वि. ५५. भ.आ. १२८९ ५६. भ. आ. गा. १९४४ ५७. वही।

मुक्ति में करुणा : एक विसंगति

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

सर्व विदित है कि करुणा, अहिंसाधर्म का एक अंग है और करुणा को आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह का चिन्ह कहा है—मोह की सत्ता को इंगित करने का साधन कहा है। तब कर्म-रहित मुक्त आत्माओं में करुणा की पुष्टि करना, उन्हें मोह से आवृत मानना, आस्रव-युक्त मानना कहां का न्याय है? ऐसे में मुक्त और संसारियों में अन्तर ही क्या होगा?

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

'अट्ठे अजधागहणं, करुणाभावो य तिरिय मणुएसु।
विसएसु च पसंगो, मोहस्सेदाणि लिंगाणि॥'

प्रवचनसार ८५

पदार्थ का अयथार्थ ग्रहण और तिर्यंच-मनुष्यों के प्रति करुणा का भाव तथा विषयों का प्रसंग (इष्ट विषयों में प्रीति और अनिष्ट विषयों में अप्रीति) ये तीनों ही मोह के चिन्ह—मोह के अस्तित्व को इंगित करने वाले हैं।

'अर्थानामयथातथ्य प्रतिपत्त्या, तिर्यङ्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्य बुद्धया च मोहमभीष्ट विषय प्रसगेनरागमभीष्ट विषयप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः।'

—प्रव० सा० तत्त्वदीपिका ८५

पदार्थों की अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति और प्रेक्षकभावयोग्य तिर्यंचोंमनुष्यों में करुणाबुद्धि तथा इष्ट विषयों की आसक्ति से राग और अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष उक्त तीनों चिन्हों से मोह की पहिचान कर मोह को (संभावित भी जानकर) तुरन्त त्याग देना चाहिए।

उक्त गाथा की तात्पर्यवृत्ति मे तो आचार्य ने शुद्धात्मोपलब्धि में करुणा को संयमभाव से विपरीत यानी असंयमभाव तक कह दिया है। तथाहि—

'शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षा, संयमाद्विपरीतः करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः'।

—ता० वृ० वही

उक्त तथ्य होते हुए भी यदि कोई मुक्त आत्माओं में करुणा के अस्तित्व को स्वीकार करता है तो हम उसके पक्षपाती नहीं और ना ही हम उसे मूल आगम-रक्षक मानने को तैयार हैं।

जैसा कि हम पहिले से लिखते रहे हैं कि हम मूल आगम को प्रमाण मानते हैं, भाषान्तरों की प्रामाणिकता में हमारी सहमति नहीं, कुछ भाषान्तर सिद्धान्तघातक भी हो सकते हैं; और कुछ जनसाधारण की समझ से बाहर भी। गत दिनों किसी ने हमारा ध्यान एक पोस्टर की ओर खींचा, जिसे पढ़कर हम अवाक् रह गए। पोस्टर में प्रवचन का विषय छपा था—'करुणा आत्मा और परमात्मा का स्वभाव है।' जब हमने छानबीन की तो पता चला कि उक्त शीर्षक का आधार एक श्लोक का भाषारूपान्तर है, जिसने पोस्टर छपाने वालों को भरमा दिया। पाठकों की जानकारी के लिए हम उसे यथावत् दे रहे हैं। प्रसंग मुक्त जीव का है। वहां कहा गया है—

'जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं, जगत्कारुण्यतः पुनः।
तस्य बन्ध प्रसंगो न, सर्वास्रवपरिक्षयात्॥'

भाषान्तरकार का अर्थ—'मुक्तजीव मुक्त होने के बाद भी करुणापूर्वक जगत को जानते तथा देखते हैं, पर इससे उनके बंध का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि उनके सर्व प्रकार के आस्रवों का पूर्णरूप से क्षय हो चुकता है।'

विचारना यह है कि क्या उक्त अर्थ पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द और समस्त जैन आगम की मान्यता में ठीक है? जबकि कुन्दकुन्द करुणा को मोह का चिन्ह मान रहे हैं और समस्त जैन आगम मुक्त आत्मा में कर्मों का सर्वथा अभाव मान रहे है। श्लोक में मुक्ति में सर्व आस्रव-क्षय होने का स्पष्ट निर्देश होने से यह भी सिद्ध होता है कि करुणा को मोह का चिन्ह मानने पर **'करुणापूर्वक' अर्थ** की संगति नहीं बैठती, क्योंकि जहां करुणा है वहां आस्रव और बन्ध दोनों ही अवश्यंभावी हैं। फलतः—

उक्त भाषान्तर से तो ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे भाषान्तरकार की दृष्टि मूल जैन सिद्धान्त को ओझल कर सरल अन्वय और शब्दार्थ पर ही केन्द्रित हो गई हो। स्मरण रहे—आगम का अर्थ करने की कुछ सीमाएं हैं। जहाँ मूल-सिद्धान्त का व्याघात होता हो, वहाँ द्रविड़-प्राणायाम करना पड़ता है और शब्द, अर्थ तथा फलितार्थ में पूर्वापर सोचना पड़ता है तथा ऐसा अन्वयार्थ करना होता है जो सिद्धान्त का घात न करे। जबकि ऊपर के भाषान्तर से समस्त जैन-सिद्धान्त का ही घात हो गया है। यदि अजैनों—मान्य ईश्वर की भांति जैन-मान्य परमात्मा में भी करुणा की कल्पना की गई, तो इसमें सन्देह नहीं कि कालान्तर जैन-परमात्मा में भी जगत्कर्तृत्व, कर्मफलदातृत्व और मुक्ति से पुनरावृत्तित्व के चक्कर में पड़ जाएँगे। अन्यों की भांति वे भी करुणा-वश सब कुछ करने लगेंगे, आदि।

श्लोकवार्तिक में शंका उठाई है कि मुक्त आत्मा करुणा पूर्वक जानते-देखते हैं तो उनके पुन: बन्ध होगा? आचार्य कहते हैं कि उनके सर्व आस्रवों के क्षय होने से पुन: बन्ध नहीं होता। यह भी स्पष्टीकरण देते हैं कि वीतराग में स्नेह की पर्याय रूप करुणा की असंभावना है…। तथाहि—

'पुन: प्रवर्तनप्रसंगो जानत: पश्यतश्च कारुण्यादिति चेन्न, सर्वास्रव परिक्षयात्। वीतरागे स्नेहपर्यायस्यकारुण्यासंभवाद्भक्ति स्पृहादिवत्।' —त० श्लो० वा० १०।४.

इसी प्रसंग को राजवार्तिक में ऐसे उठाया गया है—'स्यादेतत्—व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेषं जानत: पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते ततश्च बन्ध इति; तन्न; किं कारणम्? सर्वास्रवपरिक्षयात्। भक्ति स्नेहकृपा स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्ति इति।' राज० वा० १०।४।५

यदि शंकाकार को ऐसी सम्भावना हो कि व्यसन समुद्र में डूबे समस्त जगत को जानते देखते हुए मुक्त जीवों को करुणा उत्पन्न होगी और उससे उसे बंध होगा? आचार्य समाधान करते हैं कि ऐसी बात नहीं है; (उनके न करुणा होती है और ना ही बंध होता है), क्योंकि उनके सब आस्रवों का क्षय हो गया है, और भक्ति, स्नेह, कृपा, स्पृहा आदि सब राग रूप विकल्प हैं और ये सभी विकल्प वीतरागी में नहीं हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जैसे व्यवहार में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं को वभाविक—कर्मोदयजन्य होते हुए भी जीव की स्वाभाविक संज्ञाएं कह दिया गया है अथवा जैसे गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि मार्गणाओं को जीव की कह दिया गया है—कोई भी संसारी जीव क्यों न हो सब में ये सब होना स्वाभाविक हैं। और ये सब कथनी संसारी जीवों के लिए और संसारियों में है। वैसे ही आगम में करुणा को वैभाविक होते हुए भी कहीं-कहीं जीव का स्वभाव कह दिया गया है। पर, यह सब संसारी जीवों तक ही सीमित व्यवहार है। वास्तव में तो करुणा मोहनीय के क्षयोपशम से और अकरुणा मोहनीय के उदय से होती है। यह सब अपेक्षा-भाव के कारण हैं, जब कि शुद्ध-स्वभावी मुक्त आत्माओं में अपेक्षा का सर्वथा अभाव है। यह भी स्मरण रहे कि मूल-स्वभाव सदा पर-निरपेक्ष और सदाकालभावी होता है और विभाव पर-सापेक्ष और सीमित काल भावी होता है और संसारी जीवों में ही होता है।

ये हम इसलिए लिख रहे हैं कि पाठक कहीं धवला १३-५-५ पृष्ठ ३६२ पर आए व्याख्यान 'करुणाएजीवसहावस्स' से ऐसा न मान लें कि करुणा आत्मा और परमात्मा का स्वभाव है। यह उक्त कथन तो संसारी जीवों की मार्गणाओं के व्याख्यान प्रसंग में है और संसारी-जीवों के लिए ही है मुक्तात्मा के लिए नहीं।

प्रश्न होता है कि क्या जीव और आत्मा की परिभाषा जुदा-जुदा है? हाँ, वास्तव में जीव शब्द व्याप्य (मात्र संसारियों तक सीमित) है और आत्मा शब्द व्यापक है। जीव-शब्द कर्म-सत्ता की अपेक्षा मात्र तक सीमित है। जब तक जीवन है, आयु हैं, प्राण हैं तब तक इसे जीव कहने का व्यवहार है, पर मूल में तो वह आत्मा ही है। जब इसका संसार से (आयु, प्राण, जीवन से) छुटकारा हो जाता है इसे शुद्धात्मा या 'परमात्मा' कहा जाता है। कहीं भी इसे परमात्मा के बजाय 'परम जीव' नाम से संबोधित नहीं किया गया। यदि कहीं कर भी दिया गया हो तो उसे व्यवहार कथन ही समझना चाहिए और ऐसा सब अभ्यास दशा से ही हुआ है। कहा भी है—'आउ पमाणं जीविदं णाम' अर्थात् आयु के प्रमाण का नाम

जीवित है। जहाँ तक आयुकर्म है वहाँ तक जीव, जीवन या जीवित निर्देश है।

जीव और आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में धवला पुस्तक १४, ५, ६, १६ पृ० १३ में जो प्रसंग शंका-समाधान द्वारा उठाया है वह दृष्टव्य है। वहां जीवत्व को औदयिकभाव तक कह दिया है। तथाहि—

'सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे ? ण, उवयारस्स सच्चत्ताभावादो। सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्तं ण पारिणामियं किंतु कम्मविवागजं……। तत्तो जीवभावो ओदइओ त्ति सिद्धं।'

—सिद्ध जीव नही है, जीवित पूर्व है।

शंका—सिद्धो के भी जीवत्व स्वीकार क्यो नही किया जाता ?

समाधान—नही, सिद्धों में जीवत्व उपचार से (कहा) है (और) उपचार को सत्य मानना ठीक नही। सिद्धों मे प्राणो का अभाव अन्यथा बन नही सकता। इसलिए जीवत्व पारिणामिक भाव (स्वभाव-भाव) नही है किन्तु **कर्मोदय जन्य** है……। इसलिए 'जीव' (ये) भाव औदयिक है, ऐसा सिद्ध है।

धवलाकार ने सिद्धान्त को सुरक्षित रखने की दृष्टि से इस बात को भी खोला है कि तत्त्वार्थ सूत्र मे जिस जीवत्व को पारिणामिक भाव कहा है, वह (सांसारिक) प्राणो पर आधारित न होकर आत्मा के चेतना गुण को लक्ष्य कर ही कहा है। भाव ऐसा है उनकी दृष्टि व्यवहार प्ररूपित जीव पर न होकर व्यापक शब्द आत्मा के चेतन गुण पर ही रही है। तथाहि—

'तच्चत्थे जं जीवभावस्स पारिणामियत्तं परूविदं तं पाणधारणत्तं पडुच्च ण परूविदं किंतु चेदणगुणमवलंबिय तत्थ परूवणा कदा।' धव० पु० १४।५।६।१६ पृ० १३

उक्त सभी तथ्यो के प्रकाश में हमें सोचना होगा कि हम 'मूल' की सुरक्षा को बढ़ावा दें या भाषान्तरों के प्रचार का सम्मान करें। हमने तो ऐसा देखा है कि कहीं-कही अर्थकर्ता अपने भाषान्तर में पद के पद बिना अर्थ के ही छोड़ देते है, इससे पाठक वास्तविकता से अजान रह जाते है जैसे हमने एक गाथा का अर्थ इस भांति देखा है जो अधूरा है—

'गोम्मट संगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मटं रइयं।
कम्माण णिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च॥

जो यह गोम्मटसार ग्रथ का सग्रहरूप सूत्र है वह श्री वर्धमान नामा तीर्थंकर देव ने नयप्रमाण के गोचर कहा है और वह ज्ञानावरणादि कर्मों की निर्जरा के लिए तथा तत्त्वो के स्वरूप का निश्चय होने के लिए जानना चाहिए।'

उक्त अर्थ मे **'गोम्मट देवेण गोम्मटं रइय'** का मूल अर्थ छोड़कर, गाथा मे अनिर्दिष्ट शब्दो का अर्थ 'श्री वर्धमान नामा तीर्थंकर देव ने नय प्रमाण गोचर कहा है' जोड़ दिया है।

इस प्रकार की विसगतिया इकट्ठी न हो और मूल आगम सुरक्षित रहे, इस दृष्टि से हम यद्वा-तद्वारूप भाषान्तरो के अनुकूल नही। हम तो ऐसे सिद्धान्तज्ञो के निर्माण के पक्ष मे है जो भविष्य मे मूल-आगमो को सुरक्षित रखकर मूल अर्थ का सही प्रतिपादन कर सके। उक्त प्रसग मे ऊपर आए 'जानत. पश्यतश्चोर्ध्वं' श्लोक का आगमानुकूल अर्थ भी सोचिए ! हम तो इतना ही प्रार्थना करेगे कि—

'देवदेवस्य यश्चक्र, तस्य चक्रस्य या प्रभा।
तयाच्छादित सर्वांगं, विद्वासाध्नन्तु मागमम्॥'

तीर्थंकर समूह की ज्ञानप्रभा से जिसका सर्वाङ्ग आच्छादित है, ऐसे आगम की विद्वद्गण हत्या न करे।

☐

पतन का कारण : परिग्रह

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

आज विश्व संत्रस्त है, चारों ओर आपा-धापी, मारा-मारी की भरमार है। भले ही शाकाहारी-पशु मिल-बाँट कर खा लें यह संभव है। पर, यह कदापि सभव नहीं कि अभक्ष्य-भक्षी मानवरूपी क्रूर दानव मार-धाड़ और छीना-झपटी से विराम ले सके, जबकि साधारण और शाकाहारी व्यक्ति भी परिग्रह लालसा और एक छत्र राज्य की चाह में दूसरे के अस्तित्व को ही समाप्त करने की चाह मे देखे जाते हैं। आज इस विसंगति को दूर करने के लिए अहिंसा, करुणा, दया जैसे पुण्यों के सचय और हिंसा, निर्दयता तथा क्रूरता जैसे पापो के परिहार पर जोर दिया जा रहा है, चारों ओर मासाहारी और शाकाहारियो द्वारा इनके प्रचार की धूम मची है। किसी अश मे मासारिक-निर्विघ्न जीवन के लिए यह शुभ सकेत है। हम चाहते है—लोगो का ध्यान और भी गहराई पर जाए और वे इस अनर्थ ताण्डव की जड़ को पकड़े। जब तक इसके मूल पर प्रहार नही किया जाता, आत्म-तोष और पर—परिग्रह-सचय की मर्यादा नही बाधी जाती, परिग्रह-निर्वृत्ति को लक्ष्य नही बनाया जाता तब तक चाहे जैसे भी, जितना भी शोर मचाएं—सुख-शान्ति सर्वथा ही असभव है।

हम कहते रहे है कि सब पापो का मूल परिग्रह है। जैन-तीर्थंकरो ने दिगम्बर—निष्परिग्रही होकर ही सर्व-पापों के परिहार-रूप धर्म का मार्ग प्रशस्त किया। हम यह मानने को कदापि तैयार नही कि परिग्रह के होते हुए अन्य कोई व्रत अणु या महाव्रत रूप मे पूर्णता को प्राप्त हो सकता हो। यदि ऐसा सभव होता तो वस्त्र या राग-द्वेषरूप परिग्रह की बढ़वारी मे भी अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतपूर्ण फलित हो जाते और सवस्त्र श्रावक भी महाव्रती बन सकते थे—परिग्रह में भी मुक्ति हो जाती; पर, ऐसा नही है। इसी भांति आज दुनियां मे जो अनर्थ हैं और जो पहिले होते रहे है वे सब परिग्रह-भावना के ही फल हैं। उन अनर्थों को अपरिग्रह धर्म के प्रचार से ही दूर किया जा सकता है। लोगो की विस्तार-लालसा जैसे जैसे न्यून होती जायगी वैसे वैसे उन अंशों में सुख-शान्ति होती जायगी। क्या कहें? आज महान परिग्रही व्यसनसेवी व्यक्ति तक अहिंसा का नारा लगाकर दूसरों को जगाने का दम्भ भरने में लगा है। राज-चोर भी अधिक पूजा-पाठ और अधिक स्वाध्याय में लीन तक देखा जाता है; पर, इससे उसके चोर-कर्म या संचय-भाव मे शायद ही कोई कमी आती हो। दूसरे शब्दो में वह पराए-अश को आत्मसात् करने के कारण पर-दुखदायी होने से महान हिंसक भी है। नीतिकारो ने कहा है—**जैसे शुद्ध जल से सागर नहीं भरते वैसे कोई एक व्यक्ति भी शुद्ध-न्याय-नीति से उपार्जित धन से धनी नहीं हो सकता।** अति परिग्रही बनने के लिए ही अनेक पाप-पुंजों के साधन अपनाने पड़ते हैं; फिर भी खेद है कि यह मानव अपने मे समाहित दानवपन छोड़ने के लिए मूल-अपरिग्रह धर्म को नही अपनाता। अपितु अपनी दानवता को छुपाने के लिए भ० महावीर की अहिंसा आदि जैसे बचकाने नारे लगाकर अन्य लोगो को भरमाता है और स्वयं मे महान हिंसक बना रहता है, झूठ बोलता है, चोरी आदि दुष्कर्म करता रहता है। यहा तक कि कई लोग बाह्य छोड़ने का दिखावा कर परायो के उपकार के बहाने धन के सग्रह मे लगे तक देखे जाते हैं। हालां कि उद्देश्य की पूर्ति होना, न होना भवितव्याधीन है। हां ऐसे लोग परोपकार के बहाने प्रत्यक्ष मे अपना अपकार अवश्य कर लेते हैं। वे स्वयं भगवद् भजन से वंचित रह जाते है। कहा भी है—

'आए थे हरिभजन को ओटन लगे कपास।'

वर्षों पहिले एक चर्चा के मध्य हमने काशी में चन्दा इकट्ठा करने वाले, भभूतधारी एक गैरुक संन्यासी से कहा—महाशय, जब आपने गैरुकबाना धारण कर भगवद् भजन का ध्येय बना लिया, तब आपको पराई चिन्ता का

प्रश्न ही कहां रह गया ? जो आप घर-घर, दुकान-दुकान घूमकर इस गैरुक थैली में पैसा इकट्ठा कर रहे हैं। बोले—हम पैसा छूते नहीं—भक्तों को ही दे देते है वे ही धर्मशाला का निर्माण कार्य कराते हैं—इस काम से लोगों को लाभ होगा। हमने कहा—आपने सन्यास भगवद् भजन को लिया है या धर्मशाला निर्माण कराने को ? बोले—हम कृतघ्न तो नही, जो प्राण-दान देने वालो का प्रत्युपकार न करें। लोग अन्नदान देकर हमारे प्राणो की रक्षा करते है और शास्त्रों मे अन्न को प्राण कहा गया है। यदि लोग हमें अन्न न दे तो हम मर जाएगे और तब—जिसके लिए हमने संन्यास ग्रहण किया है वह भगवद् भजन ऐसे ही रखा रह जायगा। हमने कहा—यदि प्राण रक्षा ही मुख्य है तो वह तो आप गृहस्थी में ही भलीभांति कर रहे होगे; सन्यासी क्यो बने ? वे बोले—हमारा जीवन चरित्र आपको मालूम नही है, इसी लिए आप ऐसी बाते कर रहे है। हम तो 'नारि मुई घर संपति नासी। मूड़ मुड़ाय भए संन्यासी।' के चक्कर में संन्यासी हुए हैं।' हमने सोचा कि आज न जाने कितने संन्यासी इस श्रेणी के होंगे ?

हमने पढ़ा है—राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) को वैराग्य तब हुआ जब उन्होने अर्थी (मुर्दे के जनाजे) को देखकर 'अर्थ' (पदार्थ) स्वभाव का चिन्तवन किया। पर, आज का वातावरण बदला हुआ है। अब तो लोग अर्थी (धनिक) को देखकर अर्थ (धन) का चिंतवन करते हैं और इसी भाव मे वे धनिको को प्रथम दर्जा देते है। जैसा कि नही होना चाहिए। हमारे जैनाचार्यों ने परिग्रह और परिग्रही दोनो से दूर रहने का सदेश दिया है। हमारे यहां जब परिग्रह त्याग का प्रसग आया, तब आचार्यों ने स्पष्ट कहा कि तिल-तुषमात्र परिग्रह भी ससार का बीज है—अत. वही कल्याण कर सकेगा जो सब कुछ (अन्तरंग-बहिरंग) परिग्रह छोड़कर परम दिगम्बर बन जायगा और वही कर्म-बन्धन को काटने मे समर्थ हो सकेगा। ●

(पृ० १५ का शेषांश)

मध्यम ग्रैवेयक सख्या कही,
पटल तीन तहं सो है सही।
विमान एक सौ सात विराजै,
देवि निसग विवर्जित राजै ॥१३८
ऊपर ग्रैवेयक सो है जहां,
पटल तीन पुनि कही तह जानि।
विमान एकानवै तहँ जु वखान।
दो कर देह कही तहं जान ॥१३९
सागर तीस आयु अधिकाई,
अवर भेद को कहै बढ़ाई।
नव निमतरं नौ जु विमान,
एक पटल तह कहऊ प्रमाण ॥१४०
मर तहं डेढ़ शरीर सुख देइ,
सागर इकतीस आयु तहं लेइ।
पद्मराग मय छबि तह लीन,
पंचपंचोत्तरे कहऊ प्रवीन ॥१४१
पटल एक तहं छबि अधिकाई,
पंच विमान कहे समुझाई।
सागर आयु तहां तेतीस,
कर इक देह कही जगदीश ॥१४२

दोहा—त्रेसठ पटल जुगन कहे, सकल सुखनि की खानि।
पुण्य जोग तै पाइए, उत्तम करनी जानि ॥१४३
ऊपर सोलह स्वर्ग तै, मोक्ष स्थान पर्यन्त।
ऊचौ राजु एक सब, इह विधि गनि जै सत ॥१४४

चौपाई—अब सुनिए देविन आयु जु सही,
पल्ल पांच सौधर्म जु कही।
सात पल्ल ईशान बताई,
दो दो बढ़त बार है जाई ॥१४५
सात सात पुनि ऊपर कहीजै,
सोलहै पचपन पल्ल जु लही जै।
यह सक्षेप समुच्चय कही,
अन्य भेद ग्रन्थनि में सही ॥१४६

दोहा—कर्म विपाक सब विधि कही, सुनी जु श्रेणिक भूप।
मिथ्या धर्म जु छोड़िकै, धरौ धर्म दृढ़ रूप ॥१४७
वीतराग जिनदेव जू, सकल कीर्ति मुनि धीर।
पडित शिरोमणिदास को, करहु कर्म सब दूरि ॥१४८

इति श्री धर्मसार ग्रथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति उपदेशात् पंडित शिरोमणिदास विरचिते कर्मविपाक कथन नाम चतुर्थ संधि समाप्तः।

६८, विश्वास रोड, विश्वास नगर,
शाहदरा दिल्ली-११००३२

जरा सोचिए !

१. धार्मिक शिक्षा के कम्प्यूटर :

यह कम्प्यूटर युग है और विश्व तथा अपने देश भारत ने इस दिशा मे पर्याप्त प्रगति की है। जो कार्य पहिले महीनो और सालो मे पूरा किया जाता था, वह अब कम्प्यूटरो द्वारा त्वरित संपन्न कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया मे समय और द्रव्य दोनों की बचत है। यद्यपि थोड़ी हानि भी है और वह है—क्लर्कों आदि की छँटनी के आसार की, उनके बेकार हो जाने की संभावनाओ की। पर, सरकार बड़ी समझदार है। जब वह सरकार बनी है, तो वह प्रजा के हितो के मार्ग भी खोजेगी। यह उसका कार्य और फर्ज है; 'हमे इससे क्या लेना-देना। अस्तु।'

हम तो इस समय धर्म-क्षेत्र मे बैठे है और धर्म की बात कर रहे है। स्मरण होगा कि पहिले समय मे जीवन का तिहाई-अंश व्यय कर—वह भी बड़े परिश्रम से शिक्षा ग्रहण की जाती थी और फिर भी निष्णात होने मे संदेह रह जाता था और वर्ष-दो वर्ष ट्रेनिंग-सेन्टर के चक्कर लगाकर उस सन्देह को दूर किया जाता था— तब कहीं संतोष होता था। आज तक के सभी निष्णात विद्वान् बुजुर्गों को इसी मार्ग से गुजरना पड़ा है। ऐसी स्थिति और आज की स्थिति का मुकाबला करने से अब तो ऐसा स्पष्ट होने लगा है कि वास्तव मे आज धर्म-क्षेत्र मे शिक्षा के साधन मे कम्प्यूटर का निर्माण हो चुका है। जो कार्य दीर्घकाल मे सम्पन्न होता था वह कार्य अब साप्ताहिक या पाक्षिक शिक्षण-शिविरो द्वारा अल्प समय मे पूरा होने लगा है। नेताओ के शब्दो मे इस चमत्कार तक कह दिया जाय तो भी सन्देह नहीं ! ठीक भी है वह नेता ही क्या जो कोई चमत्कार न करे। अस्तु,

हमने ऐसे कम्प्यूटराइज्ड कई शिक्षण-शिविरो को देखा है और आद्योपान्त—उद्घाटन से विसर्जन पर्यन्त देखा है। व्यवस्थापकों, शिक्षकों और शिक्षार्थियो को भी देखा है। हमने किसी शिक्षण-शिविर के उद्घाटन मे नेताओ को स्टेज पर विराजमान देखा, उन्हे मालाएँ पहनते देखा और 'परस्पर प्रशंसन्ति' का अनुसरण करते हुए देखा। यह सब हमारे मन्तव्य के अनुकूल न हो ऐसी बात भी नही। परन्तु हमे दुख तब होता है जब किसी बारात में वर को पीछे फेंक स्वयं बाराती पहिले से मालाएँ पहिनने लग जायें और यश लूटने लग जाये। एक शिविर-उद्घाटन मे हमने देखा कि शिविर मे निमन्त्रित शिक्षक विद्वान् नीचे जन साधारण मे मौन से नीचा मुख किए बैठे थे (मानो वे अपनी अव-हेलना के दर्द मे हों) और आयोजक तथा नेता ऊँची स्टेज पर विराजमान थे। हमारा शिर शर्म से नीचे झुक गया। एक शिक्षक ने हमे इसका इशारा भी किया। इससे ऐसा न समझें कि हम किसी के सन्मान के पक्षपाती नही। हम सन्मान देना चाहते है पर लक्ष्मी से पहिले सरस्वती को। और ऐसा करना-देखना हमारी धमनियो और रक्त मे समाया हुआ है। हम तब भी पीड़ा होती है जब कोई विद्वान् व्यक्ति कभी अमुक किसी धन या धनी का सन्मान न करे; उसकी खुशामद करे। यतः हमारी दृष्टि मे सन्मान और खुशामद दोनों क्रमशः उठे और गिरे, दो भिन्न स्तर है।

हाँ, तो कम्प्यूटर की बात है। हम तो ऐसे शिक्षण-सत्रो को कम्प्यूटर और कम्प्यूटर तैयार करने की फैक्टरी ही कहेंगे, जिनसे अल्पकाल मे ही शिक्षक रूपी-कम्प्यूटर नए कम्प्यूटरों को तैयार करते है और तैयार नये कम्प्यूटर अन्य नए कम्प्यूटरो को। इनसे एक लाभ यह भी होगा कि हम स्वयं आचार-विचार पालकर बच्चों को कोई आदर्श उपस्थित करने के कष्ट से छुटकारा भी मिला रहेगा कम्प्यूटर, कम्प्यूटरो का निर्माण सस्ते मे ही करते रहेंगे। अस्तु; इस विषय मे हम तो बाद मे लिखेंगे। पहिले आप ही सोचिए, कि यह उपाय धर्म-शिक्षा मे कितना कारगर रहेगा? कहीं ऐसा तो नहीं कि जैसे सरकारी कम्प्यूटर कभी-कभी प्राय: गलत बिजली बिल बनाते है, वैसे अध-कचरे धर्म-कम्प्यूटर जैन धर्म की गलत तस्वीर खींच धर्म को विकृत करने मे सहायी सिद्ध हो। सोचिए

इससे ऐसा भी न समझें कि हम सत्रों के प्रतिकूल हैं, अपितु हम तो चाहते हैं—सत्र लम्बे चलें। जिन्हें समय हो उनके रेगुलर चलें। हमें खुशी होगी। यदि कुछ प्रशिक्षणार्थी लम्बे समय तक, नियमित 'वीर सेवा मन्दिर' का सहयोग लेने की दिशा में सोचें। वीर सेवा मन्दिर उनके शिक्षण की समुचित व्यवस्था करेगा ऐसा हमारा विश्वास है। कृपया इस संबंध में सोचें और 'महासचिव' से संपर्क कर मार्ग प्रशस्त करें।

एक बात और समाज में चारों ओर शोर है कि विद्वान नहीं मिलते। इसलिए भी शायद धर्म पढ़ाने के लिए शिक्षक तैयार किए जा रहे हों। बड़ी खुशी की बात है कि काम आगे बढ़े और सभी जगह कुछ न कुछ धार्मिक शिक्षा चलती रहे। स्कूलों में अन्य विषयों के अध्यापकों को शिक्षित कर उन्हें अतिरिक्त अल्पराशि देकर काम चलाया जाने की स्कीम ठीक हो। पर हम यह सोचते हैं कि कहीं ऐसा न हो जाय कि इससे किन्हीं स्कूलों में जमे हुए धार्मिक निष्णात विद्वानों को हानि उठानी पड़ जाय। क्योंकि यह अर्थ-युग है, हर व्यक्ति पैसा ज्यादा चाहता है, और देने वाला भी पैसा बचाना चाहता है। ऐसे में महंगे विद्वानों को कौन रखेगा ? जब उसे सस्ते में शिक्षक मिलते हों। इस दिशा में यदि प्रबन्धकों की दृष्टि सही रहे और वे विद्वानों को (जो जहां हैं) जमे रहने दें और पहिले पूर्ण निष्णात विद्वानों को स्थान दें, और पैसा का लोभ न करें तभी ठीक होगा। अन्यथा, अर्थ की दृष्टि में संकुचित लोग, पैसा बचाने के ख्याल में, लगे हुए विद्वानों तक को जवाब देकर यह नारा और बुलन्द न कर दें कि—विद्वान मिलते ही नहीं हैं। आगे क्या होगा इसे तो हम नहीं जानते, समय ही बतायेगा कि विद्वानों को ठोकरें खानी पड़ेगी या उनका सम्मान रहेगा या धर्म की पढ़ाई ठीक चलेगी भी या नहीं ? हो सकता है कहीं ये धर्म-वृद्धि के सस्ते बहाने, धर्म-ह्रास का ही श्रीगणेश न हो ! जरा सोचिए।

२. अपरिग्रह ही क्यों ?

ऊँचे स्वर में अहिंसा का जयकारा देने वाले तथा अपनी सत्यवादिता, ईमानदारी और सुशीलपने का दावा करने वाले किसी व्यक्ति के घर चोरी हो जाय, डाका पड़ जाय, या कोई आयकर अधिकारी व बिक्रीकर अधिकारी छापा डाल दे, तो ऐसी घटनाओं के घटन को आप उस व्यक्ति का दुर्भाग्य कहकर घटना के सूत्रधार चोर, डाकू व सम्बन्धित राज्याधिकारियों को कोसेंगे तथा जिसके साथ ऐसी घटनाएँ घटी हों उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करेंगे। ऐसा क्यों ? इसीलिए न कि वह आपका हमसफर है—आप भी उसी श्रेणी के हैं जिसमें रहकर वह लोगों में जीवित है। आप सोचते हैं कि कल को हमारे साथ भी ऐसी ही घटना हो सकती है। हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे ही तो हैं। यदि कहीं ऐसा हमारे साथ घट गया तब हमें कौन पूछेगा ? कोई सान्त्वना भी न देगा और न कोई हमारी सहायता ही करेगा। बस, आप उसके हमदर्द हो जाते हैं।

अब जरा संबन्धित व्यक्ति की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए। यद्यपि वह अहिंसा का प्रचारक, सत्यवादी, लोगों में प्रामाणिक और सदाचारी भी है फिर भी उसके छापा पड़ गया, चोरी हो गई। इसमें आप आश्चर्य न करें क्योंकि अहिंसक सत्यवादी आदि के साथ ऐसी घटनाओं का कोई विरोध नहीं—अहिंसक सत्यवादी, प्रामाणिक और सदाचारी व्यक्तित्व में धन हो सकता है और धन होने पर चोरी भी हो सकती है, डाका भी पड सकता है और छापा भी पड सकता है। हां यदि उसके पास धन (परिग्रह) न होता तो ऐसी नौबत की संभावना से अवश्य बचा जा सकता था। और इसी धन आदि पर-वस्तु को हम परिग्रह के नाम से संबोधित कर रहे हैं। जो समस्त संकटों का कारण बनता है।

शायद आप हमारी दृष्टि से सहमत हो सकें, इसीलिए हम उसका संकेत दे रहे हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि कोई भी व्यक्ति हिंसा आदि पाप करने को कब और क्यों मजबूर होता है ? वह हिंसा आदि पाप तभी करता है जब उसमें मिथ्यात्व, क्रोध-मान माया, लोभ की मात्रा हो और इनकी मात्रा तभी होगी जब उसमें राग-द्वेष हों और राग-द्वेष के कारण ही उसमें हास्य, रति-अरति, शोक भय, जुगुप्सा और वेद भी होंगे। इन सभी बातों को जैन-दर्शन में अन्तरंग-परिग्रह कहा गया है और इन्हीं के कारण बहिरंग-परिग्रह की तर-तम मात्रा भी होती है। अतः सब पापों का मूल-परिग्रह है ऐसा मानना चाहिए और पंच-

परमेष्ठी का पद भी परिग्रह के बिना अर्थात् अपरिग्रह में ही होता है। कोई भी परिग्रही, परमेष्ठी पद में नहीं पहुंचा और कोई भी परिग्रही अन्य चार पापों का त्याग भी पूर्ण न कर सका। फिर भी आश्चर्य है कि लोग अहिंसा को ही बढ़ावा क्यों दे रहे हैं और अहिंसा के मूल अपरिग्रह की उपेक्षा कर रहे हैं ?

आए दिन घटनाएँ घट रही हैं। एक जैनी ने किसी परिवार के आठ सदस्यों को मौत के घाट उतार दिया। अमुक किसी अन्य ने मंदिर से लाखों की चोरी कर ली और किसी ने किसी राजकीय कार्यालय में जाकर वहाँ के स्टाफ के साथ अभद्र व्यवहार किया। इन सभी काण्डों की जड़ में हिंसादि की भावनाएँ प्रमुख नहीं थीं अपितु ये सब घटनाएँ परिग्रह को लेकर घटित हुईं। परिग्रह की लालसा ने हत्या कराई, परिग्रह की लालसा ने चोरी कराई और तीव्र-राग, तीव्रकषाय व मूर्च्छा रूपी परिग्रह ने ही अभद्र व्यवहार की प्रेरणा दी।

जैन आगमों में जहाँ जो और जितना भी उपदेश है, सभी मोह रूपी परिग्रह के त्याग पर विशेष बल देने के प्रसंग में है और मोहनीय कर्म आठों कर्मों का राजा है। इसी कर्म के उदय से सब पाप होते हैं। मोह को हम मूर्च्छा भी कहते हैं और मूर्च्छा ही परिग्रह है। इस मोह की महिमा विचित्र है। यदि किसी का भाई, भतीजा या बेटा कुव्यसनी है और वह संकट में है तो मोह ही संरक्षकों को उसकी बुराइयों को छिपाकर, उसकी सहायता और उपचार में लाखों-लाखों द्रव्य व्यय करने को मजबूर करता है। कहीं-कहीं ऐसी कुव्यसनी, क्लेशकारी और अवहेलना करने वाली सन्तान को भी माता-पिता आदि छाती से लगाकर रखते हैं और स्वयं संकट मोल लेते हैं। जब कि धार्मिक जगत की दृष्टि में वे सभी त्याज्य होते हैं। भला, पापी में अपनापन कैसे न्याय्य हो सकता है ? तत्वज्ञ की दृष्टि में जो बुरा है वह बुरा ही है—हेय है। यदि मानव ऐसा दृढ़ हो और ऐसे में मोह—परिग्रह को जड़-मूल से काटने का यत्न करे तो वह शेष चारों पापों का सहज ही परिहार कर सकता है। पर, दिक्कत यह है कि हम मोही ने परिग्रह की चाह में अहिंसा आदि को संग्रह का मार्ग बना रखा है। आज अहिंसा का नारा देने वाला कहीं अधिक परिग्रही भी हो सकता है—अपेक्षाकृत जन-साधारण के। आज अधिक परिग्रही (यदि वह मोही है तो) दया के नाम पर अधिक दानी बनकर लोगों में यश लूटने और दूसरों पर अपनी थोथी निःस्वार्थता की धाक जमाने की कोशिश करे तो भी आश्चर्य नहीं। ऐसा मनुष्य अवसर बिना चूके अनुकूल समय आने पर अपने धन और यश के भण्डार भरता रहे तो भी कोई बड़ी बात नहीं।

वे दानी, जो परिग्रह-त्याग के मिस किसी अनुष्ठान या किसी निर्माण आदि के निमित्त लाखों-हजारों का दान देते हैं। क्या वास्तव में वे सभी स्व-द्रव्य का सही मायनों में उत्सर्ग करते हैं ? क्या सभी दान की परिभाषा जानते हैं ? या सभी को धर्म से ज्यादा लगाव होता है ? नहीं। हां, कुछ लोग जानने वाले होते होंगे। अधिकांश में कोई देखा-देखी, कोई लिहाज या शर्मा-शर्मी ही देते होंगे। उनमें भी अधिकांश यश के लिए पैसा देते हों या कोई अकाम-निर्जरा जैसी करते हों तब भी आश्चर्य नहीं। ये सभी चिह्न परिग्रह के हैं और इनसे पर-वस्तु के प्रति अपनत्व ही पुष्ट होता है—छूटता कुछ नहीं। और जब तक पर से छुटकारा नहीं होता तब तक जिन या जैन नहीं बना जाता। फलतः जैन बनने के लिए हमें मन-वचन काया से सही मायनों में परिग्रह का त्याग करना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कोई भी व्रत नहीं पल सकता और ना ही जैन सुरक्षित रह सकता है—यह निश्चय समझिए।

३. कुन्दकुन्द भारती : एक अभ्युदय :

जैन मुनि और जैन श्रावकों में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम बड़ी आदर-भक्ति से लिया जाता है और शास्त्र प्रवचन से पूर्व सभी उन्हें मंगल रूप में स्मरण करते हैं। आज दिगम्बरों में धर्म-विषयक जो और जितना ज्ञान, आचार विचार है वह सब भी कुन्दकुन्द आम्नाय की देन कहा जाता है। शास्त्र पढ़ने से पूर्व सभी लोग 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यो' तथा 'कुन्दकुन्दाम्नायी विरचित' आदि बोलते हैं। आज भी कुन्दकुन्दाचार्यकृत शास्त्रों के अपूर्व भण्डार हैं केवल उन्हें पढ़ने और तदनुरूप आचरण करने की आवश्यकता है; बिना इनके लोग भटक रहे हैं। हम आशा करें कि कुन्दकुन्द-भारती इन प्रसंगों की भटकन को दूर करेगी।

स्मरण रहे कि कुछ वर्षों पूर्व मुनि श्री विद्यानन्द जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने 'कुन्दकुन्द-भारती नामक सस्था की योजना बनाई। उनकी भावना रूप आज दिल्ली मे विशाल-भवन तैयार है और भावी कार्यक्रम के लिए अर्थ-संग्रह भी मुनि श्री के लिए साधारण सी बात है। हम आश्वस्त हैं कि इस दिशा में मुनि श्री का लक्ष्य पूरा होगा।

रही बात कुन्दकुन्द कृत आगमों के शुद्ध रूप में विधिवत् सृजन, पठन-पाठन और तदनुरूप आचरण की। सो मुनि श्री की लगन से ये विधियां भी सहज संपन्न होंगी। ऐसा हमें विश्वास है। हाँ, हमें इतनी चिन्ता अवश्य है कि जैनियों मे विद्वान् कहाँ मिलेंगे? पर, हम आश्वस्त भी है कि जब महाबीर भगवान के समय में कोई जैन न मिला तो गौतम ब्राह्मण ने जैनी दीक्षा लेकर मार्ग प्रशस्त किया—शर्त जैन होने की जरूरी थी और वह इस लिए कि बिना तद्रूप श्रद्धान और आचरण के इस धर्म का प्रकाश करना सर्वथा असभव था और वह बधन अब भी यथावत् स्थित है। अस्तु, जब महाराज श्री की इतनी लगन है तब वे कुन्दकुन्द के अनुरूप जैनी-नीति, जैनाचार अनुसर्त्ता, जैनत्व में दृढ़ कोई पात्र खोज चुके होंगे या उनकी दृष्टि उधर जमी होगी ऐसा हमें विश्वास है। हम सस्था के अभ्युदय की कामना करते हैं। —सपादक

ज्ञान-स्तम्भ को नमन :

दुखद-समाचार मिला, एक स्तम्भ गिरने का—श्री पंडित मूलचन्द्र शास्त्री, श्री महावीर जी वाले नहीं रहे। वे विद्वत्ता के गौरव थे और सभी भाँति वृद्ध। हम उन्हें आयुवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और जीवनभर अभाव-वृद्ध मानते रहे है। आर्थिक दृष्टि से भी हमने उन्हें कभी सन्तोष की साँस लेते नहीं देखा —समाज से सर्वथा असन्तुष्ट। जब भी मिलते अपनी व्यथा सुनाते। कहते—"हमने दिगम्बरों में जन्म लिया, पढ़ा-लिखा और आजीविका के निमित्त श्वेताम्बरों में भी रहे। जब कहीं आत्म-सन्तोष न हुआ तो अब श्री महावीर की शरण में आ पड़े। अब हमें विश्वास हो गया कि हमने दिगम्बर रूप मे जन्म लिया और दिगम्बरत्व में ही कूच करेंगे।"

उपर्युक्त शब्द उनकी अन्तर्वेदना-सूचन में पर्याप्त हैं। अब समाज को सोचना है कि उसने पंडित जी की विद्वत्ता का क्या लाभ लिया और बदले में क्या दिया और ज्ञान लेने मे आगे कौनसा मार्ग अपनाएगा? जरा सोचिए!

अन्तिम बार वे जुलाई ८६ मे, दिल्ली चिकित्सार्थ आए और अहिंसा मन्दिर में श्री प्रेमचन्द जैन के पास ठहरे, तब मैने उन्हे **'मुक्ति में करुणा : एक विसंगति'** लेख सुनाया, तो बड़े सन्तुष्ट हुए। उन्होंने लेख को पुन: पुन: स्वयं पढा और बोले—'आप बड़ी निर्भीकता से लिखते रहते हैं; यह लेख भी सर्वथा युक्ति-संगत और अकाट्य है।' जब वे चले गये तो अगले दिन श्री प्रेमचन्द जैन ने मुझे एक श्लोक दिया और कहा पण्डित जी जाते जाते दे गए हैं और कह गए है कि इसे अपने लेख के अन्त में प्रार्थनारूप में जोड़ दें।' हमने उसे लेख में जोड़ दिया है। फिर भी पाठको के स्मरणार्थ पुनरावृत्ति कर रहे हैं। पण्डित जी द्वारा प्रदत्त यह अन्तिम और अपूर्व निधि है।

देव देवस्य यश्चक्रं तस्य चक्रस्य या प्रभा।
तयाच्छादित सर्वांगं, विद्वांसो घ्नन्तु मागमम्॥'

उक्त अमूल्य-तथ्य प्रदानता के लिए हम स्वर्गीय पंडितात्मा के प्रति नत-मस्तक हैं। — सपादक

(पृ० १६ का शेषांश)

करमि सुयण संभावउ. करवल सतावउ,
हुउ कव्वमउ सरीरुवि॥ (हरि० पु० १-२)

महाकवि ने अपने पुराण को नाना पुष्प-फलो से अलंकृत और बद्धमूल महातरु कहा है। इसी प्रसंग में कवि ने आत्मविनय प्रदर्शित किया है। सज्जन-दुर्जन स्मरण और आत्मविनय के पश्चात ही कथारम्भ होती है।

'हरिवशपुराण' की कथा का क्रम स्वयंभू आदि प्राचीन कवियों की परम्परा के अनुकूल है। ग्रंथ में स्थान-स्थान पर अलंकृत और सुन्दर भाषा में अनेक काव्यमय वर्णन उपलब्ध होते हैं। पज्झटिका, अलिल्लह, सोरठा, घत्ता, विलासिनी सीमराज प्रभृति छंदों का प्रयोग ग्रंथ में हुआ है। शृंगार, वीर, करुण और शांत रसों का परिपाक भी उल्लेखनीय है। महाकवि ने नगर, वन, पर्वत आदि का महत्त्वपूर्ण चित्रण किया है। इस काव्यकृति में प्रकृति के उद्दीपन रूप का सुन्दर वर्णन हुआ है। मधुमास के द्वारा मदन के उद्दीप्त होने का मोहक स्वरूप प्रभावकारी बन पड़ा है।

इस प्रकार महाकवि धवल विरचित 'हरिवंश पुराण' अपभ्रंश काव्य की निरुपमेय निधि है।

मंगलकलश
३९४, सर्वोदयनगर, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१ (उ० प्र०)

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९८६

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अनेकान्त पर लोकमत

श्री पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धांताचार्य :
हस्तिनापुर

'और पढ़ू या समय न मिले तो न पढ़ू, पर, आपके विचार अवश्य पढ़ता हू। आप हो कि किसी की चिन्ता न करके तथ्यपूर्ण लिखते हो। यह प्रवृत्ति सराहनीय है। २७-६-८६

श्री डा० जिनेन्द्र कुमार शास्त्री पी-एच. डी. :
सासनी

'आगम और सिद्धान्त की ऐसी ऐतिहासिक खोज, बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत करना, समाज की आंखें खोलना है। वीर सेवा मन्दिर अब सार्थक हो रहा है। समाज में अनेकान्त जैसी पत्रिका की आवश्यकता है—जिसकी पूर्ति वीर सेवा मन्दिर कर रहा है।' २६-६-८६

डा० कन्छेदीलाल शास्त्री :
सह-सम्पादक, 'जैन-सन्देश' (शहडोल)

अनेकान्त मिला : आपके 'मुक्ति मे करुणा एक विसगति, पतन का कारण परिग्रह, जरा सोचिए' तीनों शब्दश: पढ़ें ? आपके तर्क एव युक्तियां आगम के परिप्रेक्ष्य मे भी तथा लौकिक दृष्टि से भी उचित है। वीतराग के करुणा कहाँ ? राग-द्वेष की तरह करुणा व कठिनता परस्पर सबद्ध है। श्री प० मूलचन्द्र जी प्रतिभाशाली संस्कृत कवि थे। उनके अभाव की जानकारी मुझे नही थी। फिर भी वे 'विद्वांसो घ्नन्तु मागमम्' लिख कर दे गए। लक्ष्मी का सम्मान ही समाज करती है। सरस्वती भी लक्ष्मी का सम्मान करती है, यह आश्चर्य की बात है। आपने दो टूक बात लिखी है। ३-१०-८६

डा० ज्योति प्रसाद जैन : लखनऊ

'आपके लेख बडे ज्ञान-वर्द्धक, बोधक एव सामयिक भी हैं'-चाव से पढता हू, लिखे जाइए। ६-१०-८६

श्री पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ : सम्पादक-वीरवाणी, जयपुर-३

आप दिगम्बरत्व के लिए लिखते हैं—खूब लिखते है। वास्तविक धर्म जो जीवन मे अपनाया जाना चाहिये उस पर आपकी लेखनी कमाल रखती है। मै आपके लेखो को वीरवाणी मे स्थान देने मे अपना अहोभाग्य मानता हूं। आप लिखते रहिये, भेजते रहिए। ३-४-८६

डा० नन्दलाल जैन : (रीवां म० प्र०)

श्री पद्मचन्द्र शास्त्री के माध्यम मे अनेकान्त की दिशा व्यापक और विकसित हो रही है। इसके स्तर को बनाये रखने मे पण्डित जी महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे है—उनके स्पष्टवादी लेखो से जागरूकता आ रही हे। ७-४-८६

श्री पं० रतनलाल कटारिया : केकड़ी

"जानत: पश्यतश्चोर्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः। तस्य बन्ध प्रसंगो न, सर्वास्रव परिक्षयात्।।"

इसका अर्थ इस प्रकार है—

जानते देखते भी (मुक्त जीव) सासारिक करुणा से ऊपर हैं—ऊपर उठ गए है अत: उनके कर्म-बन्ध का पुन: प्रसंग नही होता क्योकि सब आस्रवो का पूर्ण क्षय हो गया है। यहाँ ऊर्ध्वं को 'जगत्कारुण्यत:' के साथ लगाना चाहिए। अर्थात् संसार के प्रति करुणा से ऊँचे हो गए है। ४-१०-८६
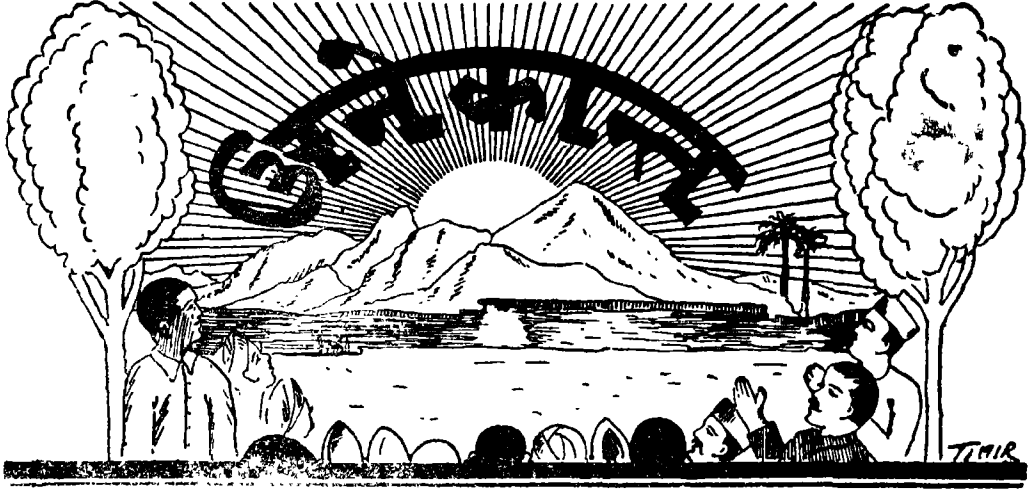
ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३९ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५१३, वि० स० २०४३ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८६

णमोकार-महिमा

घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तण्डा ।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ।।१।।
अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा ।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।२।।
पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ।।३।।
अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदिं देंतु ।।४।।
थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ।।५।।

भावार्थ—सघन-घाति कर्मों का आलोडन करने वाले, तीनों लोकों में विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य अनंतज्ञानी और अनुपम सुखमय अरहंतों की जगत् में जय हो।

अष्टकर्मों से रहित, कृत्यकृत्य, जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकलतत्त्वार्थ के दृष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें।

पंचमहाव्रतों से समुन्नत, तत्कालीन स्व-समय और पर-समयरूप श्रुत के ज्ञाता तथा नानागुण-समूह से परिपूर्ण आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों।

जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अंधकार में भटकने वाले भव्यजीवों के लिए ज्ञान का प्रकाश देने वाले उपाध्याय मुझे उत्तम मति प्रदान करें।

शीलरूपी माला को स्थिरतापूर्वक धारण करने वाले, संगरहित, यशःसमूह से परिपूर्ण तथा प्रवर विनय से अलंकृत शरीर वाले साधु मुझे सुख प्रदान करें। □□□

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि : अहिच्छत्रा

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

श्रमण-जैन परम्परा के तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ (ईसा पूर्व ८७७-७७७) की ऐतिहासिकता आधुनिक इतिहासज्ञों द्वारा भी प्रायः सर्वमान्य तथ्य के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। वह काशी-वाराणसी के काश्यपगोत्री उरगवंशी नरेश अश्वसेन और उनकी सद्धर्मिणी वामादेवी के सुपुत्र थे। बाल्यावस्था से ही वह अत्यन्त निर्भय, शूर-वीर, मेधावी एवं प्रतिभासम्पन्न, ससार-भोगो से प्रायः उदासीन, करुणामूर्ति एवं चिन्तनशील व्यक्तित्व के धनी थे। अपने मातुल, कुशस्थलपुर (कन्नौज) नरेश के आव्हान पर एक दुर्दान्त विदेशी आक्रान्ता से उनके राज्य की रक्षार्थ राजकुमार पार्श्व वहाँ पहुचे और उक्त आक्रमण-कारी को पूर्णतया पराजित करने मे सफल हुए। वही वन-विहार करते एकदा उन्होने कतिपय हठयोगि तपस्वियों से एक मरणासन्न नाग-नागि-युगल की रक्षा की। इस घटना के परिणामस्वरूप पार्श्वकुमार का चित्त संसार से विरक्त हो गया, और उन्होने समस्त सांसारिक बंधनों को तोड़कर, निःस्पृह, निष्परिग्रही एव अकिञ्चन हो वन की राह ली। साधिक चार मास की आत्मशोधनार्थ की गई तपः साधना के मध्य विचरते हुए कुरु जनपद की महानगरी हस्तिनापुर (गजपुर) पहुंचे। वहां पारणा करके, गंगा के किनारे-किनारे विहार करते हुए वह भीमाटवी नामक महावन में योग धारण कर कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानमग्न हो गए। इस अवस्था मे वहाँ उन पर शबर (अपर नाम मेघमाली एव कमठ) नामक दुष्ट असुर ने भीषण उपसर्ग किये। नागराज धरणेन्द्र और यक्षेश्वरी पद्मावती ने उक्त विविध भयकर उपसर्गों का निवारण करने का यथाशक्य प्रयास किया। नागराज (अहि) ने भगवान के सिर के ऊपर अपने सहस्र फणो का वितान या छत्र बना दिया। स्वयं योगिराज पार्श्व तो शुद्धात्मस्वरूप मे लवलीन थे; उक्त उपसर्गों का उन्हें कोई भान ही नही था, बल्कि उन्हें तभी केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, वह अर्हत् जिनेन्द्र बन गए। वन के बाहर आसपास के क्षेत्रों के निवासी लोगों की अपार भीड़ वहाँ एकत्र हो गई। भगवान की अर्चना-वन्दना-स्तुतिगान हुआ। उनकी समवसरण सभा जुड़ गई और लोग उनके सर्वकल्याण-कारी दिव्य उपदेश को सुनकर कृतार्थ हुए। इस पुनीत स्थल से नातिदूर भीमाटवी वन के बाहिर, उत्तर पांचाल जनपद की राजधानी पांचालपुरी, अपर नाम परिचक्रा एवं शंखावती, अवस्थित थी। इस अभूतपूर्व घटना के कारण वह स्थान ही नही, वह नगरी भी छत्रावती या अहिच्छत्रा नाम से लोकप्रसिद्ध हुई।

जैन पुराणों एवं पौराणिक काव्यों आदि में वर्णित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र के अन्तर्गत गहन वन मे ध्यानस्थ उन योगिराज पर असुर द्वारा किये गए भीषण-उपसर्ग का तथा उसके निवारणार्थ नागराज धरणेन्द्र एव पद्मावती देवी द्वारा किये गए फणच्छत्र लगाने आदि प्रयासो का और वही उसी समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्ति का सर्वत्र उल्लेख है। ११वी शती ई० मे अपभ्रंश भाषा में निबद्ध आचार्य पद्मकीर्ति के 'पासणाह-चरिउ' मे तो इस घटना का अति विस्तृत एव स्पष्ट वर्णन है। वहाँ उपसर्ग-स्थान का नाम भीमाटवी नामक महावन दिया है, जहा तपस्वी पार्श्व गजपुर (हस्तिनापुर) मे पारणा करने के पश्चात् विचरण करते हुए पहुंचे थे, किन्तु पांचाल, शंखावाती या अहिच्छत्रा नामो का कोई उल्लेख नही है। हां, ११वी शती ई० के हरिषेणीय 'बृहत्कथाकोष', प्रभाचन्द्रीय 'आराधना-सत्कथा-प्रबन्ध' तथा कई उत्तरवर्ती कथा कोषों—'पुण्यास्रव-कथाकोष', 'आराधना-कथाकोष', आदि मे भी अहिच्छत्रा के पार्श्व जिनालय में पद्मावती देवी के प्रभाव से ब्राह्मण विद्वान पात्रकेसरि स्वामी के मत परिवर्तन, अर्थात् जिनेन्द्र के स्याद्वाददर्शन की श्रद्धानी

बन जाने की कथा प्राप्त है। पात्र केसरी स्वामी का समय छठी शती० ई० के लगभग अनुमानित है। इसके अतिरिक्त, आचारांग-निर्युक्ति में भी पार्श्व-उपसर्ग की घटना का प्रायः उपरोक्त पुराणो जैसा ही वर्णन है, विशेष इतना है कि उस क्षेत्र का नाम कुरूजांगल देश किया है और नगरी का नाम शखावती, जिसके निकटवर्ती निर्जन वन मे यह घटना घटी थी। यह भी लिखा है कि कालान्तर मे उक्त स्थान मे भक्तजनो ने एक उत्तम जिनालय बनाकर उसमे भगवान पार्श्व की नागफणालकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी यह तीर्थ अहिच्छत्रा-पार्श्वनाथ नाम से लोक प्रसिद्ध हुआ और निकटवर्ती सखावती नगरी का नाम भी तभी से अहिच्छत्रा पड़ा। जिन प्रभसूरि ने अपने 'विविध-तीर्थ-कल्प' (ल० १३३० ई०) के अतर्गत 'अहिच्छत्रा नगरी कल्प' मे आचारागनिर्युक्ति के उपरोक्त कथन का प्रायः अक्षरशः समर्थन किया है, साथ ही उन्होंने अहिच्छत्रा के दुर्ग एव प्राचीर के भग्नावशेषों, कुण्डो, कूपो, वानस्पतिक महोषधियो; खनिजो, धरणेन्द्र पद्मावती समन्वित पार्श्व-जिनालय, स्तूपो, अन्य जैनाजैन देवालयो आदि का भी विस्तृत वर्णन किया है। १७वी शती ई० के पूर्वार्द्ध मे (ल० १६३० ई० में) पं० बनारसीदासजी ने अहिच्छत्रा की यात्रा की थी, और १७८४ ई० मे कवि आसाराम ने क्षेत्र पर ही 'अहिच्छत्रा पार्श्वनाथ स्तोत्र' (भाषा) की रचना की थी। प्राकृत निर्वाण काण्ड के अतिशय क्षेत्र काण्ड मे भी 'महुराए अहिछत्ते वीरं पास तहेव वदामि' पाठ द्वारा भगवान पार्श्वनाथ के साथ अहिच्छत्रा का सम्बन्ध सूचित किया है।

इस अहिच्छत्रा की पहचान, गत लगभग डेढ़ सौ वर्षों में विभिन्न देशी-विदेशी विद्वानों ने, ऐतिहासिक, साहित्यिक, पुरातात्विक, शिलालेखीय, मुद्गल शास्त्रीय आदि विविध पुष्ट साक्ष्यों के आधार पर वर्तमान उत्तर प्रदेश राज्य के बरेली जिले की आंवला तहसील में स्थित रामनगर (या राम नगर किला) नामक कस्बे के बाहर घने बन में फैले एक प्राचीन दुर्ग के अवशेषों एवं टीलों आदि से की है। कई पुरातात्विक सर्वेक्षणों एवं उत्खननों के फलस्वरूप यहां से विविध एवं विपुल सामग्री प्राप्त हुई है। लगभग दूसरी शती ई० की एक यक्ष मूर्ति पर, जो इन खडहरों मे मिली है, स्थान का अहिच्छत्रा नाम स्पष्ट लिखा मिला है। उससे भी लगभग ३०० वर्ष पूर्व के कौशाम्बी के निकट पभोसा की पहाड़ी पर के एक गुहा-लेख से प्रकट है कि उसका निर्माण कौशाम्बी-नरेश बहसतिमित्र के मातुल, अहिच्छत्रा-नरेश आषाढ़सेन ने वहां जाकर मुनियो के निवास के लिए कराया था—पभोसा कौशाम्बी मे जन्मे छठे तीर्थंकर पद्मप्रभु का तप एवं ज्ञान कल्याणक स्थल है। इससे अहिच्छत्रा एवं कौशाम्बी के तत्कालीन राजाओं का जैन धर्मानुयायी होना भी सूचित होता है। दूसरी शती ई० के अन्तिम पाद में इसी अहिच्छत्रा के राजा पद्मनाभ के ददिग एवं माधव नामक पुत्रद्वय ने दक्षिण देश में जाकर सिंहनन्दि के आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन में मैसूर के सुप्रसिद्ध गंगवाडी राज्य की स्थापना की थी, जो साधिक एक सहस्र वर्ष पर्यन्त स्थायी रहा जिसमे जैन धर्म की प्रवृत्ति प्रायः निरन्तर बनी रही। गुप्त सम्राट समुद्र गुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से प्रकट है कि चौथी शती ई० के पूर्वार्द्ध में अहिच्छत्रा का राजा अच्युत नाग था। तदनन्तर गुप्तों आदि के सामन्तों के रूप मे अहिच्चत्रा पर नागवशी राजे राज्य करते रहे। यवन भूगोलवेत्ता टालेमी (२री शती ई०) की 'आदिमुद्रा' तथा चीनी यात्री युवान च्वाग (७वी शती ई०) की 'ओहिचितालो' का समीकरण इसी अहिच्छत्रा से किया गया है और महाभारत मे उल्लिखित उत्तर पांचाल राज्य की राजधानी अहिच्छत्रा का अभिप्राय भी इसी स्थान से है। कुरु राज्य (हस्तिनापुर) के उत्तर में, गगा के पार फैला हुआ हिमालय की तराई का विस्तृत अरण्य कुरु-जांगल क्षेत्र कहलाया तथा उसके पूर्वी भाग मे उत्तर पांचाल राज्य था, जिसकी राजधानी यह पांचालपुरी या अहिच्छत्रा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवी शती ई० के आसपास अहिच्छत्रा की राज्यसत्ता समाप्त हो गई, परन्तु नगर व उसका महत्त्व हो गया, परन्तु नगर व उसका महत्त्व कम से कम ११वी शती पर्यन्त बना रहा। यहां से प्राप्त अन्तिम शिलालेख १००४ ई० का है; और प्रायः उसी काल में शायद इसी अहिच्छत्रा में महाकवि वाग्भट्ट ने अपने 'नेमि-निर्वाण' काव्य की रचना की थी। तदुपरान्त यह नगर विघटित होता तथा बन खण्ड में

परिणत होता चला गया। तथापि पूरे मध्यकाल में, विशेषकर आसपास के जिलों के निवासी जैन अपने पवित्र तीर्थ के रूप में इसकी यात्रा एव कथंचित् सरक्षण भी करते रहे। उन्होंने अहिच्छत्रा का नाम और स्मृति सुरक्षित बनाए रखी। अस्तु, इस विषय में कोई सन्देह नही है कि पार्श्वनाथीय जनश्रुति का पावन जैन तीर्थ अहिच्छत्रा यही उ० प्रदेश के बरेली जिले का राम नगर किला है।

इधर कुछ वर्षों से एक विवाद चल पड़ा है कि अहिच्छत्रा यह नहीं, वरन् राजस्थान में जोधपुर के निकट स्थित नागौर अथवा अजमेर के निकट बिजौलिया पार्श्वनाथीय प्राचीन अहिच्छत्रा है। इसका आधार यह बताया जाता है कि उक्त बिजौलिया के सन् ११६६-७० ई० के शिलालेख में शाकंभरी (सपादलक्ष) के चाहमान (चौहान) नरेशों का जो इतिहास दिया है, उसके अनुसार वश का प्रथम पुरुष वाडमान था, जिसका पुत्र वासुदेव और पौत्र सामन्त था, तथा वह सामन्त अहिच्छत्रपुर मे जन्मा वत्सगोत्री ब्राह्मण था। उसका पुत्र पूर्णतल्ल शाकम्भरी के चौहान राज्य का सस्थापक था। उसी की सन्तति मे आगे चलकर विग्रहराज पृथ्वीराज, अर्णोराव, सोमेश्वर, पृथ्वीराज तृतीय (दिल्लीपति) आदि राजा हुए। पण्डित गौरीशंकर हरीचन्द ओझा ने उक्त अहिच्छत्रा की पहचान जोधपुर के निकट स्थित नागौर (सस्कृतरूप नागपुर) से की, जिसे उन्होने किसी समय जांगल् या जांगलदेश की राजधानी रहा बताया। किन्तु पं० भगवानलाल इन्द्रजी तथा डा० डी० आर० भण्डारकर के मतानुसार शाकंभरी का अपर नाम सपादलक्ष (सवालाख) है और यह उत्तर प्रदेश के मेरठ कमिश्नरी के उत्तर में स्थित सिवालिक (सवालाख) पर्वत मालाओं का द्योतक है, अतएव वह अहिच्छत्रा, जहां से अजमेर के चौहान (चाहमान) वंश का पूर्वज सामन्त आया था, गंगा-यमुना के ऊपरी भाग में कही होना चाहिए। अर्थात् वह स्थान कुरुजांगल क्षेत्र में स्थित उत्तर पांचाल राज्य की प्राचीन राजधानी अहिच्छत्रा ही हो सकती है।

यों पुराण प्रसिद्ध प्राचीन नगरों के अनुकरण पर देश के अन्य भागों में कई तन्नाम नगर कालान्तर में प्रसिद्ध हो गए हैं। अयोध्या, मथुरा, काशी ही ऐसे अकेले उदाहरण नहीं है। हस्तिनापुर के अपरनाम गजपुर और नागपुर रहे हैं, और नागपुर नाम के जितने अन्य नगर बसे वे अनुकरण पर ही बसे। विजय नगर साम्राज्य की सुप्रसिद्ध राजधानी का नाम भी हिरेआवलां से प्राप्त १३६५ ई० के एक शि० ले० में 'श्रीमदराय-राजधानी हस्तिनापुर विजयानगर' लिखा है। (ए० क० १११, सौर ता०, न० १०३) और दसवी शती ई० के एक शिलालेख से दक्षिणापथ के कर्नाटक प्रदेश में भी एक अहिच्छत्रा रहे होने का पता चला है। बृहत्तर भारत के बर्मा, स्याम, कम्बुज आदि भारतीयकृत राज्यों में भी अयोध्या, मथुरा आदि नामों के नगर रहे पाए गये हैं। पुराणप्रसिद्ध मूल स्थानों के अनुकरण पर परवर्ती कालों में स्थापित उक्त तन्नाम नवीन नगरो आदि की विद्यमानता से मूल स्थानों की स्थिति मे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अस्तु, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि, उत्तरप्रदेश बरेली जिले की रामनगर वाली अहिच्छत्रा ही है; नागौर, बिजोलिया, अथवा अन्य कोई तथाकथित अहिच्छत्रा नही।

सन्दर्भों के लिए देखिए लेखक कृत—

१. रुहेल खण्ड-कुमायूं और जैन धर्म, लखनऊ, १६७०
२. रुहेल खण्ड-कुमायूं जैन डायरेक्टरी, काशीपुर १६७०, पृ० १२३
३. उत्तरप्रदेश और जैनधर्म, लखनऊ, १६७६, पृ. ४७-४८
४. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, द्वि० सं०, दिल्ली १६६६, पृ० ४५-४६, १३६
५. प्रमुख ऐतिहासिक जन पुरुष और महिलाएँ, २५७ दिल्ली १६७५-७६, पृ० ५६-६० ७१
६. बरेली जिले का नवीन गजेटियर, अध्याय २ (इतिहास) अ० १६ पृ० ३६३-३६६
७. जिन प्रभसूरिकृत 'विविध तीर्थ कल्प', अनु० अगरचंद भंवर लाल नाहटा, बालोतरा १६७८: पृ० ३०-३२
८. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयीकृत 'अहिच्छत्रा', लखनऊ १६५६
९. जैनाबिबलियोग्राफी (दिल्ली १६८२), न० २८, १७१, ४६१, ७००

समवशरण सभा के १२ कोठे

☐ रतनलाल कटारिया, केकड़ी (अजमेर)

निर्ग्रन्थ कल्पवनिता व्रतिकाभभौम,
नाग स्त्रियो भवन भौम भ कल्पदेवाः।
कोष्ठ स्थिता नृपशवोऽपि नमंति यस्य,
तस्मै नमस्त्रिभुवन प्रभवे जिनाय ॥४॥ (नदी०भक्ति)

पहले कोठे में—निर्ग्रन्थ मुनि। दूसरे कोठे में—कल्पवासी देवियाँ। तीसरे कोठे में—आर्यिकादि सब स्त्रियां। चौथे कोठे में—ज्योतिष्क देवियां। पांचवें कोठे में—व्यंतर देवियां। छठे में—नाग (भवनवासी) देवियां। सातवें में—भवनवासी देव। आठवें में—व्यंतर देव। नवमे मे—ज्योतिष देव। दशवें में—कल्पवासी देव। ग्यारहवें मे—सर्व मनुष्य (चक्रवर्ती, विद्याधर, क्षुल्लक-ऐलकादि)। बारहवें में—तिर्यंच (पशु-पक्षी)॥

ऐसा ही सब प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है, देखो—

१. महापुराण (जिनसेनाचार्य कृत) पर्व २३, श्लोक १९३–१९४।

२. हरिवंशपुराण (जिनसेन कृत) सर्ग २ श्लोक ७६ से ८८, सर्ग ५७ श्लोक १५७–१६१।

३. अतिशय भक्ति—निर्वाण भक्ति।

ऋषिकल्पज वनितार्या, ज्योतिर्वनभवन युवति भावनजाः।
ज्योतिवन कल्पदेवा, नरतिर्यंचो वसंति तेष्वनुपूर्वम् ॥

४. जयसेन प्रतिष्ठा पाठ—

बुद्धीशामर नायिकार्यमहती ज्योतिष्क सद् व्यंतर,
नागस्त्री भवनेश किं पुरुष सज्जयोतिष्के कल्पामराः।
मर्त्या वा पशवश्च यस्य हि सभा आदित्य संख्या वृष,
पीयूषं स्वमतानुरूप मखिलं स्वादंति तस्मै नमः ॥८८४॥

५. तिलोय पण्णत्ती (यतिवृषभाचार्य कृत) अधिकार ४ गाथा ८५६ से ८६३।

६. समवशरण स्तोत्र—संस्कृत (विष्णुसेन कृत)

७. धर्मसंग्रह श्रावकाचार (पं० मेधावी कृत) अधिकार २—

तेषु मुन्यप्सरः स्वार्या ज्योति भौमा सुरास्त्रियः।
नागव्यन्तर चन्द्राद्याः स्वर्भूनृपशवः क्रमात् ॥७६॥

सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवशरण की रचना करता है। इसमे ११ भूमियां होती है। आठवी सद्गण भूमि है इसी के मध्य मे तीन पीठ पर श्री मडप है। बीच में गधकुटी पर भगवान् विराजमान रहते है उनकी प्रदक्षिणा रूप से १२ सभा-कोठे होते है जो निर्मल स्फटिक मणि की १६ दीवालों से युक्त होते हैं।

देव मनुष्य तिर्यंच (पचेन्द्रिय) के इन कोठों की क्रमिक व्यवस्था बडी बुद्धिमानी शालीनता के साथ आदर्शरूप में की गई है।

सर्वप्रथम भगवान् के सामने निर्ग्रन्थ मुनियों का कोष्ठक रखा है जिसमे केवली गणधर मनःपर्यय ज्ञानी अवधि ज्ञानी ऋद्धिधारी ऋषि मुनि यति अनगार बैठते हैं जो सर्व प्राणियों मे श्रेष्ठ है। अतः इनका प्रथम कोष्ठक रखा है। "Ladies First" सभा मे महिलाएं आगे रहती है, इस भारतीय नियमानुसार दूसरे से छठे कोठे में देवियों और स्त्रियो को रखा है। इनमे भक्ति भी विशेष होती है इसलिए भी इन्हे आगे रखा है।

स्त्रियो को दूसरे कोठे मे न रखकर तीसरे में रखने का कारण उनसे मुनीश्वरों के सान्निध्य का अभाव करना है ताकि शालीनता बनी रहे और कोई लोकापवाद उत्पन्न न हो। देविया मनुष्यगति की न होने से उन्हें दूसरे कोठे में रख दिया है। शालीनतादि की दृष्टि से ही देव और देवियों तथा मनुष्य और स्त्रियों के कोठे पास-पास नही रखे हैं। छठा एवं सातवा कोठा एक ही जाति के देवी-देव का होने पर भी छठे कोठे के आगे डबल दीवाल होने से कोई दोष नहीं रहता।

प्रश्न—आर्यिका गृहत्यागी साध्वी हैं उसे मुनियों के साथ पहले कोठे में न रखकर सामान्य स्त्रियों के साथ

तीसरे कोठे में क्यों रखा ?

उत्तर—वह उपचार से साध्वी हैं, वस्तुतः नही। सवस्त्र होने से उसका गुणस्थान शास्त्रों में पांचवा ही बताया है वह संयत नही है इसी से उसे पंच परमेष्ठी मे स्थान नहीं है। जिस वेश से और पर्याय से मुक्ति हो सकती है उसे ही पूज्य होने योग्य माना है। आर्यिका इसमें नही हैं। अतः परमेष्ठियो के प्रथम कोष्ठ मे उसे नहीं रखा है। दूसरा कारण यह है कि उसका और मुनि-रत्नों का सानिध्य आचार शास्त्र से निषिद्ध है।

प्रश्न—ऐलक क्षुल्लक तो गृहत्यागी और कुमार श्रमण है आचार शास्त्र से भी मुनियों के साथ रहने मे कोई दोष नही है। फिर उन्हें प्रथम कोठे मे न रखकर सामान्य मनुष्यो के साथ ११वें कोठे मे क्यो रखा ?

उत्तर—ऐलक क्षुल्लक भी वस्त्रधारी होने से पचम-गुणस्थानी है। परमेष्ठी, पूज्य-देव नही है। अतः इन्हें प्रथम कोठे मे स्थान न देकर ११वें मे दिया है। प्रथम कोठे मे केवली-गणधर-उपाध्याय-साधु ये चार परमेष्ठी ही होते है।

प्रश्न—आर्यिका के कोठे मे सब स्त्रियो को रख दिया तो मुनियो के कोठे मे सब मनुष्यो को क्यों नही रखा ?

उत्तर—आर्यिका पचमगुणस्थान से ऊपर नही हो सकती जबकि मुनि षष्ठादि गुण स्थानी होते है। आर्यिका की तरह अन्य व्रती श्राविकाए भी पचमगुणस्थानी हो जाती हैं जबकि मुनियो की तरह ऐलक क्षुल्लकादि कभी षष्ठ गुणस्थानी नही हो सकते। अतः आर्यिका और मुनि के पद में महान् अन्तर होने से इनके कोठों की योग्यता-पात्रता मे भी महान् अन्तर है। इससे आर्यिका के कोठे मे तो पचमगुणस्थान की सम्भावना से सब स्त्रियां आ गई किन्तु मुनि के कोठे में सब मनुष्य नहीं आये क्योंकि उनके कुछ न कुछ वस्त्र-परिग्रह है।

प्रश्न—चार प्रकार के देवो के दो दो कोठे रखे तो मनुष्यों के दो कोठे न रखकर तीन कोठे क्यों रखे गये।

उत्तर—देवों में देव देवी के रूप में दो ही पद होते है संयत (पूज्य) पद नहीं होता जबकि मनुष्यों में नर-नारी के रूप मे दो पद के सिवा एक संयत (पूज्य-परमेष्ठी) पद और होता है अतः देवों में दो-दो कोठे ही रखे गये और मनुष्यों में तीन कोठे रखे गये।

इस तरह चतुर्णिकाय के देवों के दो-दो कोठे होने से कुल ८ कोठे देवगति के और ३ कोठे मनुष्यगति के तथा १ कोठा तिर्यंच गति का कुल १२ ही कोठे रखे हैं न कम और न ज्यादा। नरकगति के नारकी न अन्यत्र जा सकते हैं न कोई उन्हे ला सकता है अतः तीन गतियो के आधार पर ये १२ ही कोठे होते है।

ये कोठे भगवान् के चारों ओर गोलाकार होते हैं। अतिशय के कारण एक ही भगवान् चारो दिशाओं में चतुर्मुख दिखाई देते है। वे सिंहासन पर चार अगुल ऊँचे अधर पद्मासन से विराजमान होते है सब जीव उन्हें हाथ जोड़े अपने-अपने कोठो मे बैठे हुए दिव्य ध्वनि का अमृत-पान करते है।

प्रश्न—देवों को पुरुषो से पहिले क्यो रखा ?

उत्तर—(क) गोल वस्तु का कही से भी आदि और कही पर भी अत किया जा सकता है। समवशरण के कोठे भी गोलाकार होने से उनमे कोई भी पहिले पीछे कल्पित किये जा सकते है।

(ख) गुणस्थान की अपेक्षा भी आगे पीछे का क्रम नही है क्योंकि देवों में चार गुणस्थान तक ही सभव है जबकि तिर्यंचो तक मे भी पचम गुणस्थान सभव है। मनुष्यो मे तो सर्व ही गुणस्थान है।

(ग) देवो मे मनुष्यों की अपेक्षा विशेष भक्ति होती है नियोग ड्यूटी भी विशेष होती है। इसी से कल्याणकों मे स्वर्गो के समस्त देव और इन्द्र आते है जबकि सर्व मनुष्य नही आते। देव ही भगवान् के चमर ढोरते हैं—वृष्टि करते है, सिंहासन छत्र भामंडलादि अष्ट प्रातिहार्य करते हैं मनुष्य नही। मूर्ति में भी यक्ष गंधर्व किन्नरादि का यह सब करते हुए अंकन है, मनुष्य का नही।

(घ) कोई भी देवता भगवान् का कभी अवर्णवाद नही करता सब देवता जैन होते है। कोई अन्य धर्मी मनुष्य ही या मिथ्यात्वी जैनी मनुष्य ही कभी भगवान् का अवर्णवाद करते हैं जैसे पोते मरीचि ने भगवान् ऋषभ-नाथ का किया था।

(ङ) देवियों के बाद देवो की एक ही गति वाले होने की वजह से रखा गया बीच में मनुष्यो के आने पर

गतिभिन्नता हो जाती और स्त्री सानिध्य से शालीनता में भी दोष आता।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पं० सदासुखदास जी कृत हिन्दी वचनिका में १२ कोठों के क्रम में एक अन्तर इस प्रकार है। (देखो षष्टम अधिकार के उपान्त्य में)

"भगवान् गंध कुटी में पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा के संमुख तिष्ठे है उनकी प्रदक्षिणा रूप संमुख पहली सभा में गणधरादि मुनीश्वर तिष्ठे है, दूसरी सभा में कल्पवासी देवियां तीसरी मे आर्यिका अर मनुष्यणी चौथी में चक्रवर्त्यादि सहित मनुष्य पांचबी में ज्योतिष देवियां छठी मे व्यंतरिया सातवी मे भवनवासी देविया आठवी मे भवनवासी देव नवमी मे व्यंतरदेव दशवी मे ज्योतिष्क देव ग्यारहवी मे कल्पवासीदेव बारहवी में तिर्यंच हैं।"

सब शास्त्रों मे मनुष्यो का कोठा ११वां दिया है किन्तु यहां उसे चौथे स्थान पर रख दिया है। इससे यहीं से सब क्रम भंग हो गया है। पांचवें देवी और तीसरे मनुष्यणी के कोठे के बीच चौथा मनुष्य कोठा रखने से शालीनता मे भी दोष आया है। ऐसा क्यों किया गया? शायद पडित जी को मनुष्य जाति की उच्चता ने ऐसा करने को बाध्य किया हो। यह कथन सापेक्ष है। कोई सैद्धान्तिक भूल नही है फिर भी विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए। यहाँ पडित जी ने १२ कोठो को १२ सभा कहा है किमी ने १२ गण कहा है। यह सब शब्द भेद है अर्थ भेद नही। महापुराण मे १२ गण और १२ कोष्ठ कहा है एव जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे १२ सभा कहा है।

समवशरण पाठ (प० भगवानदासजी कृत) पृ० १८८ में—पहले मुनि कोष्ठक मे ही आर्यिकाओं को भी रख दिया है और तीसरे कोष्ठक मे सिर्फ सामान्य स्त्रियों को रहने दिया है। यह स्पष्टत: सैद्धातिक भूल है इससे संयत असयत एक होकर गुड़ गोबर हो गया है शालीनता और आचार शास्त्र का भी हनन हुआ है। मूल पद्य इस प्रकार है :—

शुभ दिशा आग्नेय विषे कही, लसत कोठा तीन भलें तहीं।
मुनि आर्या कल्पवासनी, तिया, मनुषणी तिसरे यह बैठिया॥

(चारों दिशाओं में तीन-तीन कोठे के हिसाब से १२ कोठे बताये हैं। प्रथम आग्नेय दिशा (पूर्व दक्षिण कोण) में तीन कोठे इस प्रकार हैं—१. मुनि और आर्यिका, २. कल्पवासी देवियां, ३. मनुष्यणी–सामान्य स्त्रियां।) शेष कथन प्राचीन शास्त्रानुसार ही है। सिर्फ स्त्रियो के तीसरे कोठे से आर्यिकाओं को निकालकर मुनियो के प्रथम कोठे में रख दिया है यह गलती है।

छद्मस्थतादि की वजह से, अपेक्षाभेद से, आचार्य आम्नाय की दृष्टि से, मुद्रण-लेखन प्रति लेखन की भूल से शास्त्रों मे विभिन्न कथन हो जाते है। जिस तरह हम अनाज के ककरादि को शोध बीन कर पानी को छान कर फिर काम में लेते है उसी तरह शास्त्रों को भी पूर्वापर मिलाकर युक्तिपूर्वक शोधकर सम्यक् अध्ययन करना चाहिए। धवल जयधवल मे भी अनेक जगह इन बातों का उल्लेख है। ये सब स्वाभाविक है संभाव्य है इन्ही के आधार पर किन्ही शास्त्रो को मंदिर बाहर करना जल प्रवाहित करना अग्नि समर्पण करना घोर मूढ़ता और अविवेक है। कषाय और अनुदारता से यह सब अपनी निधि का अपने ही हाथो बरबाद करना है। ऐसी प्रवृत्ति मे बचना चाहिए। कोई चीज अभी हमे समझ नही आई हो तो उसे आगे के लिए छोड देना चाहिए इस दूरदर्शिता को तो हमें कम से कम अंगीकार करना ही चाहिए।

जैनधर्म लह मद बढ़े, बैद न मिलि है कोई।
अमृत पान विष परिणवे, तांहि न औषधि होई।
जो चरचा चित मे नही चढ़ै, सो सब जैन सूत्र सो कढ़े।
अथवा जे श्रुत मरमी लोग, तिन्हें पूंछ लीजे यह जोग॥
इतने पर सशय रह जाय, सो सब केवल ज्ञान समाय।
यो नि.शल्य कीजे निजभाव, चरचा मे हठ को नही दाव॥

केकडी (अजमेर) ३०५४०४

नेमि शीर्षक हिन्दी साहित्य

☐ डा० कुमारी इन्दुराय जैन

जैन परम्परा के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिक प्रामाणिकता भले ही सिद्ध न हो सकी हो परन्तु यह निर्विवाद है कि उनका व्यक्तित्व जैन साहित्यकारों को अधिक प्रिय रहा है। वर-वेश में सुसज्जित नेमिकुमार का पशुओं का करुण क्रन्दन सुनने मात्र पर वाग्दत्ता राजुल (राजीमती) को विवाह मण्डप में विरह दग्ध छोड़कर अक्षय वैराग्य धारण कर लेना तथा रैवतक पर्वत पर दुर्धर तपश्चर्या द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करना, साथ ही राजुल के संयम, अनन्य निष्ठा एवं अन्त में वैराग्यपूर्वक मुक्तिलाभ की घटनाओं ने कवियों को कितना अधिक प्रभावित किया है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं उनके जीवन पर लिखी गयी विपुलात्मक कृतियां।

यूं तो आगम ग्रन्थों जैसे कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, अन्तकृद्दशा, ऋषिभाषित आदि, विभिन्न पुराणों में यथा हरिवंश पुराण, महापुराण, नेमिनाथ पुराण, पाण्डवपुराण, उत्तर पुराण आदि तथा अन्य काव्य ग्रन्थों यथा त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित, चउपन महापुरुष चरित्र, प्रद्युम्न-चरित्र, सौरिचरित्र, श्रीचिह्न काव्य, द्विसंधान काव्य, वसुदेव हिण्डी जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं में तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन वर्णित है परन्तु प्रस्तुत लेख में विस्तारभय से, केवल हिन्दी भाषा मे विरचित नेमि शीर्षक कृतियों का परिचय देना अभीष्ट है। १४वीं १५वी शताब्दी तक उत्तर भारत में अपभ्रंश भाषाओं का प्रसार और प्राचुर्य रहा तदपि खडी बोली हिन्दी तथा अन्य स्थानीय बोलियो का स्वरूप लिखना प्रारम्भ हो गया था अतः नेमि शीर्षक रचनाओं में जो हिन्दी भाषा की सर्व प्राचीन रचना मिली है वह 'नेमिनाथ फाग' है जिसके रचयिता राजशेखर सूरि हैं तथा कृति का रचनाकाल सवत् १४०७ लगभग है अतएव लेख में इस कृति से लेकर बीसवी शताब्दी तक की रचनाओं का कालक्रमानुसार संक्षिप्त उल्लेख प्रस्तुत है—

नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता राज शेखर सूरि हैं जो हर्षपुरीय गच्छ के कोटिक गण से सम्बन्धित मुनि तिलक सूरि के शिष्य थे।

२७ पद्यों वाले इस फागु की रचना कवि ने वि० सं० १४०५ के लगभग की थी। काव्य भक्ति प्रधान है तदपि राजुल के सौन्दर्य चित्रण सम्बन्धी पद दृष्टव्य हैं—

किम किय राजल देवि तणऊ सिणगारु भणेवऊ,
चपइ गोरी अइधोइ अगि चन्दन लेवउ।
खुंपु भरविड जाइ कुसुम कस्तूरी सारी,
सीमतइ सिंदूर रे मोति सरि सारी॥

नेमिनाथ नव रस फागु—इसके रचयिता सोम सुन्दर सूरि हैं तथा फागु की भाषा पर प्राकृत एवं गुजराती का पर्याप्त प्रभाव है कवि ने तीर्थंकर नेमिनाथ के प्रति अपनी अनन्य भक्ति को निवेदित किया है।

नेमिनाथ विवाहलो—उपाध्याय जयसागर रचित इस कृति का परिचय डा० प्रेम सागर जैन ने 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' पुस्तक में पृष्ठ ५२ पर दिया है। काव्य का रचना काल वि० सं० १४७८ लगभग है।

नेमीश्वर का बारह मासा—विवेच्य काव्य कृति के रचनाकार बूचराज विक्रम की १६वी शती के अन्तिम चरण के प्रमुख कवियो में से थे। इनके बूचा, वल्ह, वील्ह वल्हव नाम भी लोकप्रिय रहे तथा ये भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे। 'नेमीश्वर का बारहमासा' में राग बड़हंसु निवद्ध कुल १२ पद्य हैं तथा प्रारम्भ श्रावण मास से करके आषाढ पर समाप्त किया है। इसके अतिरिक्त बूचराज ने **'नेमिनाथ बसन्तु'** तथा 'वील्हव नाम से **'नेमीश्वर गीत'** गीत की रचना की थी। 'कवि बूचराज एवं उनके समकालीन कवि' नामक पुस्तक में लेखक, सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'नेमीश्वर का बारहमासा' तथा 'नेमिनाथ बसन्तु' का मूल पाठ प्रस्तुत किया है। 'नेमी-

श्वर गीत' में कुल १५ पद्य हैं तथा भाषा अपभ्रंश प्रधान है और इसकी हस्तलिखित प्रति बधीचन्द जी के मन्दिर के शास्त्र भण्डार गुटका नं० २५ में तथा एक प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

नेमिनाथ रास—इसके रचयिता आचार्य जिनसेन भट्टारक यशःकीर्ति के शिष्य थे। 'रास' की रचना इन्होंने संवत् १५५८ में जवाहर नगर में की थी। नेमिनाथ के जन्म, कुमार अवस्था, विवाह हेतु प्रयाण, तोरण द्वार से लौट आने, वैराग्य, कैवल्य प्राप्ति तक की घटनाओं को कवि ने ९३ छन्दों में वर्णित किया है। भाषा राजस्थानी-गुजराती मिश्रित है तथा विवेच्य रास की एक पूर्ण प्रति जिसका लिपिकाल सं० १६१३ है दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापंथियो का, जयपुर वेष्टन ९२४ में उपलब्ध है।

नेमीश्वर को उरगानो—श्रावक चतरुमल अथवा चवरुमल विरचित यह एक मात्र 'उरगानो संज्ञक रचना है। कवि ने स्पष्ट किया है कि गुणों को विस्तार से कहने वाले काव्य को उरगानो कहते हैं। कृति की रचना संवत् १५७१ मे की थी। कवि ने तीर्थ नेमि द्वारा विवाह मंडप से विरक्त हो लौट आने और वैराग्य धारण की मार्मिक कथा को ४५ पदो में प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया है। 'कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन' कवि शीर्षक पुस्तक में डा० कासलीवाल ने 'नेमीश्वर को उरगानो' का मूल पाठ प्रकाशित किया है साथ ही उन्होने चतरुमल कृत **'नेमचरित्र'** अथवा **'नेमि राजुल गीत'** का भी उल्लेख किया है।

नेमि राजमती बेलि—इसके रचयिता ठक्कुरसी हैं। ये राजस्थान के ढूंढाहड़ क्षेत्र के १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि थे। 'नेमि राजमती बेलि' को 'नेमीश्वर की बेली' भी कहा गया है। कृति की हस्तलिखित प्रतियां जयपुर के विभिन्न शास्त्र भण्डारों मे संग्रहीत है परन्तु २० छन्दों वाली इस बेलि को डा० कासलीवाल ने 'कविवर बूचराज एव उनके समकालीन कवि' पुस्तक में प्रकाशित करवा दिया है। अन्त निम्न प्रकार है—

जर जनमु मरणु करि दूरे. हुउ सिद्ध गुणहुं परि पूरे
करि घेल्ह सुतन ठाकुरसी किये नेमि राजमती सरसी
नर नारि जाको नित गावे जो चिंतै सो फलु पावै ॥२०॥

नेमि रंग रत्नाकर छन्द—प्रस्तुत कृति के रचयिता कवि लावण्य समय हैं इनके बचपन का नाम लघुराज था और ये १६वी शताब्दीं के प्रसिद्ध कवियों में से एक हैं। 'नेमिरंग रत्नाकर छन्द' जिसे 'नेमि जिन प्रबंध' भी कहा गया है, की रचना संवत् १५४६ में की थी। भाषा पर अपभ्रंश का काफी प्रभाव है। इसकी १७ पत्रों वाली प्रति आमेर शास्त्र भण्डार (जो अब श्री महावीर जी में स्थानान्तरित हो गया है) में संग्रहीत है। लावण्य समय कृत **'राजुल विरह गीत'** अथवा **'राजुल नेमि अबोला'** की प्रति भी उक्त शास्त्र भंडार में है।

नेमिनाथ स्तवन—इसके रचनाकार कवि धनपाल हैं। जो प्रसिद्ध कवि देल्ह के पुत्र तथा ठक्कुरसी के अनुज थे। इनका समय संवत् १५२५ से १५९० तक माना जाता है। नेमिनाथ स्तवन अथवा नेमि जिन वन्दना ५ छन्दों की लघु कृति है जिसमें नेमिनाथ के तोरणद्वार से लौटने, राजुल का त्याग, गिरनार पर्वत पर तप एवं नेमि निर्वाण का सुन्दर वर्णन हुआ है।

नेमीश्वर रास—इसके रचयिता ब्र० जिनदास हैं। जिनदास नाम के कई कवियों का उल्लेख मिलता है, परन्तु विवेच्य जिनदास भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य एवं अनुज थे। ये सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और पहले नेमिनाथ पुराण (या हरिवंश पुराण) की रचना संस्कृत भाषा में की थी परन्तु बाद मे बहु जन हिताय, सवत् १५२० में स्वय ही 'नेमिश्वर रास' की रचना हिन्दी में की। इस कृति को हरिवश रास भी कहते हैं। कवि ने नेमिनाथ के गर्भ च्यवन से लेकर निर्वाण तक की कथा कही है और प्रासगिक रूप में कृष्ण और पांडवों की कथा भी अनुस्यूत है। डा० प्रेमचन्द रावंका ने 'महाकवि ब्रह्म, जिनदास : व्यक्तित्व एव कृतित्व' नामक पुस्तक में 'नेमीश्वर रास' के कुछ अंश प्रस्तुत किये हैं।

नेमिनाथ रास—मुनि पुण्य रतन ने राजस्थानी मिश्रित हिन्दी भाषा में प्रस्तुत नेमिनाथ रास की रचना संवत् १५८६ में की थी। इस कृति की एक पूर्ण प्रति भट्टारकीय दिगम्बर जैन मन्दिर, अजमेर के शास्त्र भंडार वेष्ठन ७३९ में बद्ध है। कुल पद्य संख्या ६६ है तथा प्रारम्भ निम्न प्रकार से है—

सारदा पय प्रणमी करि नेमि तणा गुण हीय धरेवि ।
रास भणु रत्नीया गुण गरु वड गइ सु सुख संखेवि ।।

पुण्य रतन कवि विरचित 'नेमिनाथ फागु' का भी उल्लेख मिलता है जिसकी प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पांड्या, जयपुर के शास्त्र भण्डार में गुटका नं० १४ वेष्टन १०२ मे सकलित है ।

नेमिनाथ गीत—१६वी शताब्दी के प्रख्यात कवि ब्रह्म० यशोधर ने 'नेमिनाथ गीत' नाम से तीन सर्जनाएँ की थीं । प्रथम 'नेमिनाथ गीत' की सरचना संवत् १५८१ में बांसवाडा नगर में की थी । इस गीत मे २८ अन्तरे हैं पर इसकी कोई पूर्ण प्रति अभी उपलब्ध नही हो सकी है । दूसरा गीत राग सोरठा मे निबद्ध है तथा गीत में कुल पांच छन्द हैं । तीसरा नेमिनाथ गीत अपेक्षाकृत बड़ी रचना है । इसमे कुल ७१ छन्द है जो राग गौड़ी में बद्ध हैं । गीत की भाषा राजस्थानी है तथा इसका मूल पाठ 'आचार्य सोमकीर्ति एव ब्रह्म यशोधर' संस्थापक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल कृत मे प्रकाशित हो गया है । काव्य का टेक निम्न प्रकार है—

सामला ब्रण वीनवी राजिल नारि
पूरव भव नेह संभारि
दयाल राय वीनवी राजिल नारि ।।

नेमिनाथ स्तवन—भट्टारक शुभचन्द्र (प्रथम) जो १६वी शताब्दी के मूर्धन्य भट्टारक रहे तथा जिन्होंने 'पांडव पुराण जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखा उन्होने ही हिंदी भाषा में नेमिनाथ स्तवन की रचना की थी । स्तवन में कुल २५ छन्द हैं और इस कृति को 'नेमिनाथ छन्द भी कहते हैं । कृति का उल्लेख 'जिन रत्नकोश: मे हुआ है ।

वस्तुत. नेमिनाथ के जीवन पर सर्वाधिक रचनाएँ सत्रहवी शताब्दी में लिखी गयी जैसा कि आगामी पृष्ठों से स्वत: स्पष्ट हो जाएगा ।

नेमीश्वर गीत—प्रस्तुत गीत के रचयिता जयसागर भट्टारक रत्नकीर्ति के प्रमुख शिष्यो मे से थे परन्तु इनके जीवन के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी नही मिलती । 'नेमीश्वर गीत' की भी कोई प्रति उपलब्ध नहीं तदपि इनके द्वारा रचित 'चुनडी गीत' प्रकाशित हो गया है । जिसे 'चारित्र चुनड़ी' भी कहते हैं । इस रूपक गीत में नेमिनाथ के वैराग्य ले लेने पर राजुल ने चारित्र चुनरी को किस प्रकार धारण किया इसका १६ पद्यों में मार्मिक वर्णन हुआ है ।

नेमीश्वर चन्द्रायण—इसके कृतिकार भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति थे जो आमेर गादी के संस्थापक भट्टारक देवन्द्रकीर्ति के शिष्य थे । नेमीश्वर चन्द्रायण की रचना संवत् १६६० में की थी और इसकी प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है ।

नेमीश्वर रास—रासकार ब्रह्म रायमल्ल १७वीं शताब्दी के प्रतिनिधि कवियों मे हैं । नेमीश्वर रास की रचना इन्होंने सवत् १६१५ के लगभग की थी । कृति मे कुल १४५ कड़क छन्द हैं जिनमें नेमिनाथ के गर्भ से निर्वाण तक की घटनाएँ वर्णित हैं । बधीचन्द जी के मदिर, जयपुर से लेखिका को प्राप्त प्रति के अन्त मे लिखा है—

अहो सोलह सै पंद्रारह रच्यौ,
रास सांवलि तेरसि सावण मास ।
वार तौ बुधवार भलो अहो,
जैसी जी मति दीनै अवकास ।
पंडित कोई जी मति हसौ,
तैसी जी बुधि कीयो परगास ।।

नेमीश्वर रास के अतिरिक्त ब्रह्म, रायमल्ल 'नेमि निर्वाण काव्य भी लिखा था यह एक अत्यन्त लघु कृति है जिसमे तीर्थंकर नेमि की भक्ति पूर्वक वन्दना की है इसकी प्रति भट्टारक दिगम्बर जैन मन्दिर, अजमेर के भण्डार मे है ।

नेमि गोत—इस गीत की रचना बाई अजीतमती ने की थी । ये भट्टारक वादिचन्द्र की प्रमुख शिष्या थी । इन्होने कई स्फुट पदो और गीतो की रचना की 'नेमिगीत' राग वसन्त मे निबद्ध है और कुल छन्द सख्या छ: है । गीत का प्रथम छन्द प्रस्तुत है—

श्री सरस्वती देवी नमीय पाय,
गाए सुं गुण श्री नेमि जिन राय ।
जेह नामि सौस अनत थाय,
भूरि पातिग भर दुरे पलाय ।।१।।

नेमि जी को मंगल—इसके रचयिता श्री विश्व- बलात्कार गण की अटेर शाखा के ख्याति प्राप्त भट्टारक

थे। नेमि जी को मंगल रचना आपने संवत् १६६८ में की थी। कृति की एक पूर्ण प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी का, जयपुर, गु० न० १२ मे सकलित है। कवि विश्वभूषण कृत 'लक्षुरि नेमीश्वर की' की प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पाड्या, जयपुर के भडार मे गुटका नं० ४ मे सग्रहीत है।

नेमिनाथ रास—यूं तो रूपचन्द नाम के अनेक कवि हुए हैं परन्तु आलोच्य कृति के रचनाकार पाण्डे रूपचन्द भगवानदास के पुत्र थे। नेमिनाथ रास की रचना सवत् १६६० के लगभग की थी। रूपचन्द कवि विरचित 'राजुल विनती' (गुटका न० ८१ शास्त्र भण्डार, श्री महावीर जी) तथा 'नेमिनाथ स्तवन' (गुटका न० ७६ भट्टारकीय दि० जैन मन्दिर, अजमेर) का भी उल्लेख मिला है।

नेमि जिनंद ब्याहलो—इसके रचनाकार खेतसी अथा खेतसिह है। ये सादू शाखा के चारण कवि और जोधपुर नरेश के आश्रित थे। 'ब्याहलो' का सृजन इन्होने सवत् १६९१ मे किया था। कविता मे खेतसी अपना 'सहि' या 'साहि' नाम प्रयुक्त करते थे। नेमि जिनद व्याहलो की प्रतियु-(१)गुटका न० ६५ पाटोदी का मदिर जयपुर, (२) गुटका न० ६ दिगम्बर जैन मन्दिर पार्श्वनाथ, जयपुर (५) गुटका न० ४२ शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी मे उपलब्ध हैं।

नेमीश्वर के दश भवान्तर—रचयिता ब्रह्म० धर्मरुचि अभयचन्द प्रथम के शिष्य थे और इनका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा था। प्रस्तुत कृति मे तीर्थंकर नेमिनाथके पूर्व जन्मो का विस्तृत वर्णन है। काव्य की प्रतियां, गुटका न० १३६ बधीचन्द जी का मन्दिर, जयपुर तथा गुटका नं० ८टका नं० ८५ गोधों का मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत है।

नेमीश्वर को डोरडो—विवेच्य काव्य के कवि हर्षकीर्ति हैं। ये सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में राजस्थान के ख्यात सत रहे। नेमीश्वर को डोरडो में कुल २१ पद्य हैं और काव्य भाषा राजस्थानी प्रधान है। इसकी प्रति शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी मे है। हर्षकीर्ति ने ही 'नेमिनाथ का बारहमासा, (गुटका न० १६२ वधीचन्द्र जी का मन्दिर जयपुर) तथा नेमिराजुल की भक्ति विषयक ६६ स्फुट पदो की रचना की थी।

नेमीश्वर राजुल विवाह—इसके रचनाकार ब्रह्म० ज्ञान सागर के विषय मे अधिक जानकारी उपलब्ध नही हो सकी। कृति की एकमात्र प्रति गुटका नं० ५० (पत्र संख्या २६ से ३१ तक पाटोदी के मन्दिर जयपुर के शास्त्र भण्डार मे है अन्त इस प्रकार है—

राजमती प्रबोध के सुध भाव सयम लीयो।
ब्रह्म ज्ञान सागर कहे वाद नेमि राजुल कीयो॥

नेमिनाथ फाग—कृतिकार भट्टारक रत्नकीर्त्ति सत्रहवीं शताब्दी के मूर्धन्य सत एव साहित्यकार थे। भट्टारक अभयनन्दी ने सवत १६३० में भट्टारक पद पर इनका महाभिषेक किया था। नेमिनाथ भाग की रचना गुजरात के हासोट नगर म हुयी थी। इस कृति मे कुल ६६ पद्य है जो राग केदारमें निबद्ध है। भट्टा. रत्नकीर्ति ने गुजरात के ही घोघा नगर मे 'नेमिनाथ बारहमासा' लिखा था। यह २४ पद्यो की सुन्दर लघु कृति है जिसमे राजुल की व्यथा सशक्त रूप मे व्यंजित है। इनके अतिरिक्त सत कवि ने नेमिराजीमती से सम्बन्धित अनेक स्फुट गीतो की रचना की थी। ये गीत विभिन्न रागो मे यथा मल्हार. केदार मारुणी, सारग, आसावरी आदि मे निबद्ध है। फाग, बारहमासा तथा कुछ गति डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल लिखित पुस्तक 'भट्टारक रत्नकीर्त्ति एव कुमुदचन्द्र : व्यक्तित्व एवकृतित्व' मे प्रकाशित हुए हैं।

राजुल का बारहमासा—इसके रचयिता सत्रहवीं शताब्दी के ही कवि पद्मराज हैं। सभवतः ये ही पदमराज 'अभयकुमार प्रबध' के रचयिता हैं और ये खतरगच्छीय आचार्य जिनहस के प्रशिष्य और पुण्यसागर के शिष्य थे। विवेच्य रचना की एक प्रति बधीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर के शास्त्रभण्डार मे गुटका न० ९२ वेष्ठन १०६८ में है।

नेमिनाथ रास—रचनाकार मुनि अभयचन्द भट्टारक कुमुदचन्द्र के योग्य शिष्य थे और ये संवत् १६८५ मे गादी पर विराजमान हुए। नेमिनाथ रास का सृजन सत्रहवीं सती के उत्तरार्द्ध में किया था और इसकी प्रति गुटका न ५३ वेष्टन ५६२ में भट्टारकीय दिग० जैन मन्दिर अजमेर के शास्त्रभण्डार में है। कवि की एक अन्य प्रसिद्ध कृति 'चन्दागीत' है जिसमे कालिदास के मेघदूत की विरही यक्ष की भाँति राजुल भी अपना संदेश चन्द्रमा के माध्यम

से नेमिनाथ के पास भेजती है। यह गीत डा० कासलीवाल संपादित, अखित पुस्तक 'महा० रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में प्रकाशित किया गया है।

नेमीश्वर रास—भट्टारक वीरचन्द्र सत्रहवी शती के प्रतिभा सम्पन्न कवि और भट्टारक लक्ष्मीचन्द के शिष्य थे नेमीश्वर रास एक लघु कृति है जिसमे केवल नेमिनाथ के विवाह की घटना का वर्णन है तथा इसकी रचना संवत् १६३३ मे पूर्ण हुई थी। वीरचन्द्र ने ही नेमिराजुल के जीवन वृत पर १३३ पद्यों काएक खण्ड काव्य 'वीर विलास फाग नाम है लिखा था।

नेमिनाथ द्वादशमासा—इसके रचयिता सुमति सागर (सवत् १६००-१६६५) भट्टा० अभयनन्दी के शिष्य थे। प्रस्तुत बारहमासे मे १३ पद्य है प्रथम १२ पद्यों में विरहिणी राजुल की व्यथा व्यजित है और अन्तिम पद में कवि प्रशस्ति है। सुमति सागर ने ही एक सुन्दर **'नेमि गीत'** की रचना की थी जिसमे बड़े मार्मिक ढग से वर्णित है कि स्वामी के अभाव मे अबला नारि राजुल स्वयं को कैसा निरीह, अनाथ, परिमल विहीन पुष्प, कमल रहित सरोवर, प्रतिमा विहीन मन्दिर जैसा अनुभव करती है। गीत 'भट्टा० रत्नकीर्त्ति एव कुमुदचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' पुस्तक मे प्रकाशित हुआ है।

नेमिनाथ हमची—रचनाकार भट्टा० कुमुदचन्द्र (सवत् १६५६-१६८५) प्रसिद्ध भट्टा० रत्नकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे। नेमीश्वर हमची मे कुल ८७ छन्द हे और भाषा राजस्थानी-मराठी मिश्रित है। कुमुदचन्द्र कृत **'अण्यरति गीत'** एक विरहात्मक गीत है जिसमे तीन प्रमुख ऋतुओं मे प्रिय वियोग जनित, राजुल की मनोव्यथा का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण है। इसी प्रकार ३१ छन्दो वाले **'हिन्दोल गीत'** मे कवि ने विरह विदग्धा राजीमती के सन्देश विभिन्न वाहकों के माध्यम से नेमिनाथ तक पहुंवाए है। **'नेमिनाथ का द्वादशमाशा'** भी कुमुदचन्द्र रचित १४ छन्दों की लघु कृति है अषाढ़ से सावन मास तक प्रसारित इस गीत मे राजुल के उद्‌गारो की सुन्दर अभिव्यक्ति हुयी है। इनके अतिरिक्त कवि ने नेमिभक्ति विषयक विभिन्न रागो में बद्ध, स्फुट पदो की भी रचना की। उक्त सभी रचनाओं का मूल पाठ 'भट्टा० रत्नकीर्ति एवं कुमुदचन्द्र व्यक्तित्व' (लेखक डा० कासलीवाल) मे प्रकाशित हुआ है।

नेमिगीत—रचयिता ब्रह्म० सयम सागर भट्टा० कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। कवि की कोई बड़ी रचना प्राप्त नहीं हुयी है। नेमिगीत का सृजन सत्रहवी शताब्दी के दूसरे चरण में किया था इसके अतिरिक्त इन्होंने नेमि विषयक स्फुट पद रचे जो बिभिन्न गुटको मे संकलित है।

नेमिनाथ रास—खतरगच्छीय शाखा मे नयकमल के शिष्य और जयमन्दिर के शिष्य कनककीर्त्ति ने नेमिनाथ रास की रचना १६३५ ई० मे की थी रास की भाषा गुजराती प्रधान है और इसकी प्रति विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर मे उपलब्ध है।

सत्रहवी शताब्दी मे ही कवि सिहनन्दि विरचित **नेमीश्वर राजमती गीत** (गुटका न० २६२ भट्टारकीय दि० जैन मन्दिर, अजमेर) एव **'नेमीश्वर चौमासा'** तथा साधुकीर्ति रचित **'नेमिस्तवन'** एवं **नेमिगीत** का उल्लेख मिलता है। रचनाक्रम अविकल रूप से अठारहवी शती मे भी प्रवहमान रहा।

नेमीश्वर रास—इसके रचयिता मलूक पुत्र भाऊ है जो अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध के ख्यात कवि रहे। प्रस्तुत रास में कुल १५५ चौपाई छन्दो मे नेमि के वैराग्य, राजुल के संयम और नेमिनाथ के निर्वाण का मार्मिक निरूपण हुआ है। इसकी प्रतियां गुटका न० ६५ पाटोदी का मन्दिर जयपुर तथा गुटका न० २३२ भट्टारकीय दिगम्बर जैन मन्दिर अजमेर मे सग्रहीत है।

नेमिराजुल बारहमासा—रचनाकार जिनहर्ष 'जसराज' नाम से प्रख्यात थे और इसी नाम के आधार पर 'जसराज बावनी' भी लिखा था। नेमिराजुल बारहमासा जिसे नेमिराजीमती बारहमास सवैया भी कहा गया है की रचना सवत् १७१५ के लगभग की थी। काव्य मे कुल १२ सवैया छन्द है और इसकी प्रतियां अभय जैन ग्रथालय बीकानेर तथा शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी में उपलब्ध है। जिनहर्ष कवि ने ही **'नेमीश्वर गीत'** (वेष्टन १२४५, बधीचन्द जी का मन्दिर जयपुर) एवं **'नेमिराजुल-स्तवन'** गुटका नं० ६७ गेलियों का मन्दिर, जयपुर) की रचना की थी।

नेमीश्वर गीत—रचयिता ब्रह्म० धर्मसागर अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध के संत कवि और ये भट्टारक अभयचन्द द्वितीय के संघ में थे। नेमीश्वर गीत में कुल १२ छन्द है जिसमें राजुल के सौन्दर्य और विरह का सुन्दर निरूपण हुआ है। यह गीत डा० कासलीवाल सम्पादित पुस्तक 'भट्टा० रत्नकीर्ति एवं कुमुदचन्द्र व्यक्तित्व एव कृतित्व' में दिया गया है। कवि ने इसके अतिरिक्त भी स्फुट गीत लिख कर नेमि प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति का प्रदर्शन किया है।

नेमिनाथ का बारहमासा—इसके कृतिकार विनोदीलाल (वि० सं० १७५०) तीर्थंकर नेमि के एकनिष्ठ भक्त थे अतः इनकी अनेक रचनाएँ नेमि राजुल से सम्बन्धित है। इनकी कृतियां अत्यधिक लोकप्रिय हुयी कारण कई शास्त्र भण्डारों मे एकाधिक प्रतियां भी संग्रहीत है। यह बारहमासा 'जैन पुस्तक भवन कलकत्ता' से प्रकाशित हो चुका है। विनोदीलाल कृत **'नेमि व्याह'** सुन्दर खण्ड काव्य है, **'राजुल पच्चीसी'** २५ छन्दो की लघु कृति है **'नेमिनाथ के नव मगल'** मे ६ छन्दो मे नेमि कथा वर्णित है, **'नेमि राजुल रेखता'** उर्दू फारसी मिश्रित हिन्दी भाषा की रचना है तथा नेमिश्वर राजुल सवाद मे शीर्षक के अनुरूप सवाद शैली मे नेमि के वैराग्यपूर्ण उत्तर और विरहिणी राजुल के प्रश्न मार्मिक रूप से प्रस्तुत है।

नेमिनाथाष्टक—रचयिता भूधरदास अठारहवी शताब्दी मूर्धन्य साहित्यकारों मे से है। 'नेमिनाथाष्टक' आठ छन्दों की एक स्वतन्त्र लघु कृति है जिसकी प्रति, गुटका न० ३६५ शास्त्र भण्डार श्री महावीर जी मे है। कवि भूधरदास ने **'भूधर विलास'** नामक पद सग्रह मे नेमि राजुल पर अनेक पद लिखे है जिनका परिचय डा० प्रेमसागर जैन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' मे दिया है।

नेमिनाथ चरित्र—कवि अजयराज पाटणी ने सवत् १७९३ मे नेमिनाथ चरित्र की रचना की थी। काव्यसृजन की प्रेरणा इन्हे अम्बावती नगर के जिन मन्दिर मे स्थापित तीर्थंकर नेमिनाथनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा को देख कर मिली। प्रस्तुत काव्य में कुल २६४ पद्य हैं और इसकी संवत् १७९८ में लिपिबद्ध प्रति गुटका नं० १०८ ठोलियों का मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भण्डार में प्राप्य है।

नेमि राजुल बारहमासा—रचनाकार लक्ष्मी वल्लभ खतर गच्छीय शाखा के उपाध्यक्ष लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। प्रस्तुत बारहमासा इन्होने अठारहवी शताब्दी के दूसरे चरण में लिखा था। काव्य में कुल १४ पद्य है जो सभी सवैया छन्द मे निबद्ध हैं अतः गेयात्मकता सराहनीय बन पड़ी है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

> उमड़ी विकट घनघोर घटा चिहुं,—
> ओरनि मोरनि सोर मचायो।
> चमके दिवी दामिनी यामिनी कुपंथ,
> भामिनी कुं पिय संग भायरे।
> लिव चातक पीउ ही पीड़ लइ भई,
> राजमती मुइं देह छिपायों।
> पतिया वै न पाइ री प्रीतम की अलि,
> श्रावण आयो पै नेम न आयो।

नेमि राजमती जखड़ी—हेमराज नाम के चार कवि हो चुके हैं। विवेच्य कृति के रचनाकार पाण्डे हेमराज है। डा० कासलीवाल ने अपनी पुस्तक 'कविवर बुलाखीदास, बुलाकीदास एव हेमराज' मे पांडे हेमराज रचित जखडी की जिस प्रति का परिचय दिया है उसे तिलोकचन्द पटवारी चाकसू वाले ने सवत् १७८२ मे दिल्ली मे लिपिबद्ध किया था। इस लघु रचना की एक प्रति बधीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर गुटका न० १२४ मे भी है।

नेमिकुमार की चूंदड़ी—एक मुनि हेमचन्द्र रचित 'नेमि कुमार की चूदड़ी' देखने का लेखिका को अवसर मिला। यह कुल ६ पृष्ठो की लघु कृति है और इसकी पूर्ण प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापथियो के शास्त्रभण्डार के वेष्ठन ६१५ मे सकलित है। गीत की टेक है "मेरी सील सू रगी चूदड़ी"।

नेमीश्वर रास—कवि नेमिचन्द्र ने नेमीश्वर रास की रचना संवत् १७६९ मे की थी लेखिका को बधीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर (वेष्ठन १००८) से जो प्रति प्राप्त हुई उसका लेखन काल स० १७८२ है। वस्तुतः यह एक सुन्दर बारह मासा है और कुल १२ छन्दो में राजुल की

व्यथा का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। रास का प्रारम्भ मंगसिर मास सेकिया है तथा गीत की टेक पक्ति है—

'क्रू तो मोहि साहिब सांवला,
राणी राजल इमि पर वीन वै।'

नेमि राजुल गीत—१८वी शताब्दी के भट्टा० शुभचन्द्र (द्वितीय) जो कि अभयचन्द्र के शिष्य थे ने भी नेमि-राजुल के जीवन घटनाओं पर आधारित भक्तिपरक गीतो की सृष्टि की थी। एक गीत की दो पक्तियां प्रस्तुत है—

कौन सखि सुधि लावे श्याम की।
मधुरी धुनि मुखचन्द विराजति राजमती गुण गावे॥

नेमिनाथ रास—इसके रचयिता विजयदेव सूरि है। रास की एक पूर्ण प्रति जिसकी पत्र सख्या ४ तथा लिपिकाल सवत् १८२६ है। पाटोदी के मन्दिर, जयपुर (वेष्ठन न० १०२६) मे एव दो प्रतिया श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार (गुटका न० ३५ और २०६) मे सग्रहीत है।

नेमिनाथ का बारहमासा—रचनाकार श्यामदास गोधा है और काव्य-रचना सवत् १७८६ मे की थी। बारह मासे की पूर्ण प्रति बधीचन्द जी के मन्दिर जयपुर के शास्त्र भण्डार गुटका न १६१ मे है।

उपर्युक्त रचनाओ के अतिरिक्त अठारहवी शताब्दी मे कवि भवानीदास ने '**नेमिनाथ बारह मासा**', नेमि **हिण्डोलना; राजमती हिण्डोलना**, और **नेमिनाथ राजमती, गीत**' लिखे तथा कवि विनय विजय ने '**नेमिनाथ भ्रमर गीत स्तवन**' और '**नेमिनाथ बारह मासा**' की थी। इनका उल्लेख डा० प्रेमसागर जैन ने 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य कवि' शीर्षक पुस्तक मे किया है। नेमि विषयक साहित्य की रचना उन्नीसवी शताब्दी मे भी रुकी नही पर प्रमाण मे अवश्य कमी आ गई। इस शती की रचनाओ का परिचय निम्नलिखित है।

नेमि चन्द्रिका—१९वी शताब्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियो में मनरगलाल विरचित 'नेमि चन्द्रिका' है। इसकी रचना सवत् १८८० मे हुई थी। लेखिका को दिगम्बर जैन मदिर बड़ा तेरापथियो का जयपुर (वेष्ठन ६१६) से जो प्रति मिली उसका लिपिकाल सवत् १८८३ व लिपिकार खुशालचन्द पल्लीवाल है। पत्र सख्या १९ तथा कुल छन्द सख्या ८६ है। कन्नौजी भाषा प्रभावित इस खण्ड काव्य को कवि ने दोहा, चौपाई, सोरठा आदि छन्दों में निबद्ध किया है। इस कृति पर समीक्षात्मक लेख डाक्टर नेमिचन्द शास्त्री ने 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन' पुस्तक के भाग १ मे लिखा है।

नेमि-चरित्र—जयमल कवि विरचित इस कृति का रचनाकाल सवत् १८०४ है और इसकी प्रतियां श्री महावीर जी के शास्त्र भडार, जयपुर में सग्रहीत है।

नेमिनाथ के दश भव—इसकी रचना सेवण कवि ने की थी।। इस लघु कृति की संवत् १९१८ में लिपिबद्ध प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पांडया, जयपुर के शास्त्र भडार (वेष्ठन ३५४) तथा एक प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार के गुटका न० १९० में उपलब्ध है।

नेमि जी का चरित्र—आणंद कवि विरचित 'नेमि जी का चरित्र' का रचनाकाल सवत् १८०४ है। इसकी सवत् १८५१ मे लिखी गई प्रति पाटोदी के मन्दिर, जयपुर (वेष्ठन २२५७) तथा एक श्री महावीर जी के शास्त्र भण्डार (गुटका न० १४ मे है।)

नेमि जी राजुल ब्याहलो—कवि गोपीकृष्ण कृत सवत् १८९३ की रचना है। इसकी अपूर्ण प्रति पाटोदी के मदिर, जयपुर मे है जिसकी प्रारम्भिक पक्तियां है—

श्री जिन चरण कमल नमो नमो अणगार।
नेमिनाथ रठाल तणे ब्याहलो कहुं सुखदाय।

नेमि ब्याहलो—इसको सवत् १८४८ मे कवि हीरा ने लिखा था। काव्य की एक पूर्ण प्रति जिसकी कुल पृष्ठ सख्या ११ है बधीचन्द जी के मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भण्डार, वेष्ठन ११५० मे है।

नेमिनाथ पुराण—भागचन्द लिखित यह एक मात्र गद्य कृति है। इसकी पत्र सख्या १६६ तथा रचनाकाल सवत् १९०७ है। लेखिका ने जिस प्रति का अध्ययन किया वह गोधो के मन्दिर, जयपुर के भण्डार मे (वेष्ठन १५३) सग्रहीत है। कृति के प्रारम्भ मे ही लेखक ने स्पष्ट किया है "जो पुराण पूर्व गुण भद्रादि आचार्य निकरि कह्या ताही मैं अल्पज्ञानी कहूगा।" अत: कथ्य की दृष्टि से तो नही परन्तु खड़ी बोली हिन्दी की गद्य भाषा के

विकास क्रम को जानने की दृष्टि से यह पुराण महत्त्व-पूर्ण है।

बीसवीं शताब्दी के विवेच्य विषय से सम्बन्धित केवल एक कृति का परिचय मिला है वह है कवि बालचन्द्र जैन रचित **'राजुल'** खण्ड काव्य। यह काव्य साहित्य साधना समिति काशी से सन् १९४८ में प्रकाशित हुआ था। कथा में नवीनता यह है कि कवि ने विवाह सम्बन्ध निश्चित होने से पूर्व ही नेमि कुमार और राजुल का साक्षात्कार द्वारिका की वाटिका में कराया है। वहां नेमिनाथ एक मतवाले गज से उग्रसेन-कन्या राजीमती की रक्षा करते हैं। इस प्रकार पूर्व राग से राजुल की विरह-व्यथा की मर्मस्पर्शिता और भी बढ़ गई है। एक अंश प्रस्तुत है...

किया समर्पित हृदय आज तन भी मैं सौपू।
जीवन का सर्बस्व और धन उनको सौपू॥
रहें कही भी किन्तु सदा वे मेरे स्वामी।
मैं उनका अनुकरण करूँ बन पथ अनुगामी॥

अनेक ऐसी रचनाएँ भी है जिनके रचनाकाल के सम्बन्ध में अभी जानकारी नही प्राप्त हो सकी है उनका संक्षिप्त उल्लेख अभीष्ट है। [illegible] उन कृतियों का, जिनकी संख्या भी कुछ नही, उल्लेख नहीं किया जा रहा जिनके रचनाकार और रचनाकाल का भी पता नहीं।

नेमिनाथ रास—कवि ऋषि रामचन्द कृत पत्र-संख्या ३। पूर्ण प्रति, पाटोदी का मन्दिर जयपुर, वेष्ठन २१४०।

नेमि स्तवन—ऋषि शिव, पत्र संख्या २। पूर्ण प्रति पाटोदी का मन्दिर, जयपुर वेष्ठन १[illegible]८।

नेमि स्तवन—जित सागर गणि। कुल पृष्ठ संख्या १। पूर्ण प्रति उक्त भण्डार वेष्ठन १२१५।

नेमि गीत—कवि पासचन्द। उक्त भण्डार, वेष्टन १८४७।

नेमि राजमती गीत—कवि हीरानन्द। उक्त भंडार, वेष्टन २१७४।

नमि राजमती गीत—छीतरमल। पत्र सख्या १। उक्त शास्त्र भंडार वेष्ठन २१३५।

राजुल सज्झाय—पं० जिनदास कृत ३७ पदों की रचना। दिगम्बर जैन मन्दिर विजयराम पाड्या, जयपुर का शास्त्र भंडार गुटका ५५ वेष्ठन २७२।

नेम ब्याह पच्चीसी—कवि वेगराज। पूर्ण प्रति, दिगम्बर जैन मन्दिर बोरमली, कोटा का शास्त्र भंडार गुटका नं० ३ वेष्ठन ३५२।

नेमिनाथ स्तवन—पं० कुशलचन्द। इसकी प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भंडार मे गुटका नं० ५६ में है।

नेमिनाथ का ब्याहला—नाथ कवि। एक प्रति बधीचन्द जी का मन्दिर जयपुर वेष्ठन ९७४ तथा एक प्रति दिगम्बर जैन दीवान जी का मन्दिर, गुटका नं० ११ वेष्ठन ३९।

राजुल नेम का बारह मासा—कांतिविजय रचित इस कृति की प्रति श्री महावीर जी के शास्त्र भंडार मे संग्रहीत है।

नेमि जी की लहर—पं० डूंगो। इसकी प्रति श्री महावीर जी के भंडार मे 'नेमिनाथ फागु' नाम से है तथा बधीचन्द जी के मन्दिर जयपुर मे 'नेमि जी की लहर' शीर्षक से (वेष्ठन १२७८)।

नेम राजुल गीत—बुगरसी बैनाडा। प्रति बधीचन्द जी का मदिर, जयपुर वेष्ठन १२७९।

नेमि राजुल की विनती—चंद कवि आमेर शास्त्र-भंडार, श्री महावीर जी, गुटका २५।

नेमि गीत—लब्धि विजय कृत। ढोलियो का मदिर जयपुर, गुटका नं० ९७।

नेमिनाथ मंगल—लालचद कवि। एक प्रति ढोलियो का मदिर, जयपुर गुटका १२४ एक प्रति पाटोदी का मदिर, जयपुर गुटका नं० ४१ तथा एक प्रति दिगम्बर जैन अग्रवाल पचायती मदिर, अलवर, गुटका नं० ९ मे संग्रहीत।

बारहमासा राजुल—कवि हरदेदास। शास्त्र-भण्डार श्री महावीर जी गुटका नं० ४९१।

नेमि जी की डोरी—ब्रह्म नाथु। पूर्ण प्रति, दि० जैन पचायती मदिर, बयाना के शास्त्र भंडार गुटका नं० १, वेष्ठन १५० मे संकलित है।

नोट—विद्वानो की आलोचनात्मक सम्मतियां आमन्त्रित है।

३, सदर बाजार
लखनऊ-२२६००२।

गतांक से आगे :

महाकवि अर्हद्दास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

□ डा० कपूर चन्द जैन, खतौली

पुरूदेव चम्पू

महाकवि अर्हद्दास की प्रतिभा का चरम निदर्शन 'पुरूदेव चम्पू' है। इसमें आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की कथा वर्णित है। आरम्भ के तीन स्तवकों में ऋषभदेव के पूर्व भवों का सातिशय वर्णन है। बाद के ७ स्तवकों में ऋषभ देव, भरत एवं बाहुबली का चरित्र चित्रित है।

इसका कथा भाग अत्यन्त रोचक है, जिस पर अर्हद्दास की नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा से सम्पृक्त नई-नई कल्पनाओं तथा श्लेष, विरोधाभास, परिसख्या आदि अलंकारों के पुट ने इसके सौन्दर्य को और अधिक वृद्धिगत कर दिया है। यही कारण है कि अजितसेन जैसे काव्य-शास्त्रियों ने पुरूदेव चम्पू के पद्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

इसकी कथावस्तु महापुराण से ली गई है जिसमें अनेक परिवर्तन किये गए हैं। इसका अंगीरस शान्त है। रसानुकूल माधुर्य गुण की मधुरता यत्र तत्र विद्यमान है। अनेक गद्य वाणभट्ट की टक्कर लेते है। कुल २३ छन्दों का प्रयोग पुरूदेव चम्पू में हुआ है। अर्हद्दास का प्रिय अलंकार श्लेष है इसमें भरत बाहुवलि के युद्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है। संक्षिप्त कथा वस्तु निम्न है—

प्रथम स्तवक में मंगलाचरण के उपरान्त कहा गया है कि राजा अतिबल के पुत्र महाबल के मन्त्री का नाम स्वयंबुद्ध था। महाबल २२ दिन की सल्लेखना के साथ मरकर ललितांग देव हुआ। वही स्वयं प्रभा नाम की देवी उत्पन्न हुई। (द्वितीय स्तवक) ललितांग का जीव वज्रजंघ और स्वय प्रभा का जीव श्रीमती राजपुत्री हुआ। पण्डिता धाय के माध्यम से दोनों का मिलन हुआ। (तृतीय स्तवक) वज्रजंघ और श्रीमती ने पचास युगल पुत्रों को उत्पन्न किया और आर्य दम्पती हुए, इसके बाद श्रीधर तथा स्वयप्रभदेव हुए। श्रीधर का जीव सुविध राजा बाद में अच्युतेन्द्र तदनन्तर वज्रनाभि राज-पुत्र और अन्त में अहमिन्द्र हुआ। (चतुर्थ स्तबक) महाराज नाभिराज और रानी मरुदेवी से उक्त अहमिन्द्र वृषभ नामक राजपुत्र हुआ। तीर्थंकरोचित गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक मनाये गए। (पंचम स्तबक) इसमे भगवान के अभिषेक और बाल-क्रीड़ाओं का सुन्दर वर्णन हुआ है।

(षष्ठ स्तवक) इसमें ऋषभदेव की विवाह और उनके १०१ पुत्र तथा ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो कन्याओं के जन्म का वर्णन है भरत की वाल्यावस्था का सुन्दर चित्रण यहां हुआ है। (सप्तम स्तबक) ऋषभदेव ने पुत्र पुत्रियों को विभिन्न शास्त्रों और कलाओं का उपदेश दिया। ऋषभदेव के राज्याभिषेक के वाद नीलांजना का नृत्य और भगवान के वैराग्य तथा दीक्षा कल्याणक का सुन्दर वर्णन हुआ है। (अष्टम स्तबक) इसमें ऋषभदेव की तपस्या और राजा श्रेयांस द्वारा इक्षुरस के आहार का वर्णन है। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को भगवान को केवल-ज्ञान हुआ। देवताओं ने दीक्षा कल्याणक मनाया। (नवम स्तबक) इसमें भरत की दिग्विजय और अयोध्या लौटने का वर्णन है। (दशम स्तबक) में भरत और बाहुबलि के तीन युद्धों, बाहुबलि की दीक्षा, केवल ज्ञान, मुक्ति तथा भरत की दीक्षा और मुक्ति का वर्णन है। माघ कृष्ण चतुर्दशी को भगवान ऋषभदेव निर्वाण को प्राप्त हुए। अन्तिम मंगलाचरण के साथ काव्य समाप्त हो जाता है—

जयतां मृदुगम्भीरैर्वचनैः परिनिवृत्तेर्हेतुः।
सुरसार्थ सेवितपदः पुरूदेवस्तत्प्रबन्धश्च ॥

मुनि सुव्रत काव्य :

अर्हद्दास की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति मुनिसुव्रतकाव्य है। स्वय कवि ने इसे 'काव्य रत्न' कहा है। यह दस सर्गों का महा काव्य है जिसमें बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी

का जीवन चरित्र अंकित है। कथा मूलतः महापुराण से ली गई है। कवि ने कथानक को मूलरूप में ग्रहण कर प्रांसगिक और अवान्तर कथाओं की योजना नहीं की है। इस पर एक प्राचीन सस्कृत टीका प्राप्त है जिसे ग्रंथ के सम्पादक पं० हरनाथ द्विवेदी ने अर्हद्दास कृत होने की सम्भावना प्रकट की है। टीका में वर्णनानुसार सर्गों के नाम दिये गए हैं। काव्य में कुल ४०८ श्लोक हैं। डा० श्यामशरण दीक्षित इसे पौराणिक महाकाव्य मानते हैं। इसमें धार्मिक भावनाओं का प्राधान्य है। स्वयं अर्हद्दास ने इसे जिन स्तुति कहा है। इसके नायक तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ धीर प्रशान्त है। महाकाव्य के लक्षणानुसार इसमें मंगलाचरण, सज्जन प्रशंसा तथा दुर्जन निन्दा है। अंगीरस शान्त है। अंग रसों मे शृंगारादि पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुए हैं।

इसका कथानक ऐतिहासिक है तथा चार पुरुषार्थों में से धर्म और मोक्ष-प्राप्ति इसके फल हैं। संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय ऋतु आदि का विस्तृत वर्णन यहां हुआ है। सभी काव्यात्मक गुणो से विभूषित इस काव्य की सर्गानुसार कथा वस्तु निम्न है—

'भगवदभिजन वर्णन' नामक प्रथम सर्ग में मगलाचरणोपरान्त कहा गया गया है कि जम्बूद्वीपस्थ आर्यखंड में मगध नाम का एक देश है। 'भगवज्जननी जनक वर्णन' दूसरे सर्ग में राजगृह के शासक सुमित्र और उसकी रानी पद्मावती का सौन्दर्य चित्रण है। 'भगवत् गर्भावतार वर्णन' नामक तीसरे सर्ग में कहा गया है कि रानी पद्मावती ने सोलह स्वप्न देखे अनन्तर श्रावण कृष्ण द्वितीया को श्रवण नक्षत्र तथा शिव योग में गजाकरा से मुनि सुव्रतनाम तीर्थंकर ने पद्मावती के शरीर मे प्रवेश किया देवताओं ने गर्भ कल्याणक मनाया।

. 'भगवज्जननोत्सव वर्णन' मे देवताओ द्वारा पौराणिक और जैन परम्परा प्राप्त जन्म कल्याणक में इन्द्राणी द्वारा जिनेन्द्र को लेने के लिये अन्तःपुर मे जाने का वर्णन है। 'भगवन्मन्दरानयन वर्णन' नामक पाचवें सर्ग तथा 'भगवज्जन्माभिषेक वर्णन' में सुमेर पर्वत की पाण्डुक शिला पर अभिषेक का तथा 'भगवत्कौमारयौवनदारकर्म साम्राज्य वर्णन' सर्ग मे नामानुरूप कुमारावस्था और साम्राज्य का वर्णन है।

'भगवत्परिनिष्क्रमण वर्णन सर्ग में भगवान के केशलोंच पञ्चाश्चर्य, आहारदान आदि का वर्णन है यहीं दीक्षा कल्याणक का भी वर्णन है। नवम सर्ग का नाम भगवत्तपो वर्णन है जिसमें मुनिसुव्रत नाथ की तपस्या का वर्णन है अन्तिम दशम सर्ग से भगवान की जीवन और विदेह मुक्ति का वर्णन में इसी कारण इसका नाम 'भगवदुभय-मुक्ति वर्णन है। इस प्रकार तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ का समग्र चरित्र अत्यन्त मनोरम शैली में उक्त महाकाव्य में चित्रित है।

तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से २०वें तीर्थंकर हैं। 'मुनि सुव्रत काव्य' के अतिरिक्त अन्य कोई महाकाव्य उनके चरित्र पर लिखा सम्भवतः उपलब्ध नही है।

भव्यजनकण्ठाभरण :

महाकवि अर्हद्दास की प्रतिभा का तीसरा निदर्शन 'भव्यजनकण्ठाभरण' है जो सचमुच मे भव्यजीवों के द्वारा कण्ठ में आभरण रूप से ही धारण करने योग्य है। महाकवि ने २४२ पद्यों में देव, शास्त्र, गुरू, सम्यग्दर्शन, सम्यग्यान, सम्यक्चारित्र का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है। भव्यजनकण्ठाभरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कहीं भी व्यर्थ विस्तार नही हैं, हां जितना आवश्यक है, उतना छोड़ा भी नही गया है। संक्षेप में आवश्यक बात को निबद्ध करना अर्हद्दास की अपनी विशेषता है। अन्तिम पद्य में 'अर्हद्दास' नाम आने से इसमें कोई संशय नही कि यह कृति अर्हद्दास को ही है। इसके साथ ही, जैसा कि हम पीछे बता चुके हैं, पुरूदेव चम्पू तथा मुनि सुव्रत काव्य की तरह भव्यजनकण्ठाभरण के पद्य २३६ में भी आशाधर का नाम बड़े सम्मान के साथ अर्हद्दास ने लिया है। भव्यजनकण्ठाभरण पर समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

काव्य के प्रथम पाँच पद्यों में कवि ने पंच परमेष्ठी को नमस्कार करने के बाद भव्यजनकण्ठाभरण के निर्माण की प्रतिज्ञा की है। आगे काव्य का प्रारम्भ करते हुए एक ही पद्य के द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से ग्रन्थ मे वर्ण्य विषय का निर्देश कर दिया है। तदनन्तर तर्कपूर्ण शैली में आप्त की परिभाषा दी गई है। १२वें पद्य में कहा है कि यदि सब देशों और कालों को जानकर आप कहते हैं कि आप्त नही

(शेष पृ० २६ पर)

गतांक से आगे :

भगवती आराधना में तप का स्वरूप

□ कु० निशा, बिजनौर

परिहार—आगम मे कथित विधान के अनुसार दिवस आदि के विभाग से अपराधी मुनि को संघ से दूर कर देना परिहार प्रायश्चित है। यह निजगुणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारंचिक के भेद से तीन प्रकारका है।

व्युत्सर्ग—मलोत्सर्ग आदि में अतीचार लगने पर प्रशस्त ध्यान का अवलम्बन लेकर अन्तर्मुहूर्त आदिकाल-पर्यन्त कायोत्सर्ग पूर्वक अर्थात् शरीर से ममत्व त्यागकर खड़े रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित है।

श्रद्धान—जिसने अपना धर्म त्यागकर मिथ्यात्व को स्वीकार कर लिया है, उसे पुन: दीक्षा देने को श्रद्धान प्रायश्चित कहते हैं। उसको उपस्थान प्रायश्चित भी कहा जाता है।

विनय—विनयतीति विनय: 'विनय' वि उपसर्गपूर्वक 'नी नयने' धातु से बना है। यह विनय का निरुक्त्यर्थ है। विनयति के दो अर्थ हैं—दूर करना और विशेष रूप से प्राप्त करना। अर्थात् जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है और विशेष रूप से स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराती है वह विनय है। इसी प्रकार क्रोधादि कषायो और स्पर्शन आदि इन्द्रियों का सर्वथा निरोध करने को या शास्त्र-विहित कर्म में प्रवृत्ति करने को या सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न साधकों पर अनुग्रह करने वाले राजाओ का यथायोग्य उपकार करने को विनय कहते है। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और तप विनय और उपचार विनय के भेद से विनय पांच प्रकार की होती है। तत्त्वार्थ शास्त्र के विचारकों ने दर्शन ज्ञान, चारित्र और उपचार ये चार भेद विनय के कहे है।

ज्ञान विनय—काल, विनय, उपधान, बहुमान, निह्नव, व्यञ्जन शुद्धि; अर्थशुद्धि उभय शुद्धि ये ज्ञान सम्बन्धित विनय आठ प्रकार की हैं। सागार धर्मामृत में लिखा है—शब्द, अर्थ और दोनो की शुद्धतापूर्वक गुरु आदि का नाम न छिपाकर तथा जिस आगम का अध्ययन करना है उसके लिए विशेष तप अपनाते हुए, आगम में तथा उसके ज्ञाताओं में भक्ति रखते हुए, स्वाध्याय के लिए शास्त्रविहित काल में, पीछी सहित हाथ जोड़कर, एकाग्रचित्त से मन; वचन, काय की शुद्धिपूर्वक जो युक्ति-पूर्वक आगम का अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह ज्ञानविनय है, वह आठ प्रकार का है।

दर्शन विनय—उपगूहन आदि तथा भक्ति आदि गुणों को धारण करना और शका आदि का त्याग करना ही दर्शन विनय है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवाद का नाश करना आसादना को दूर करना दर्शन विनय है। अनगार धर्मामृत में दर्शन विनय को इस प्रकार कहा है—शका, कांक्षा आदि अविचारों को दूर करना दर्शन विनय है। इसी प्रकार उप-गूहन, स्थितिकरण आदि गुणों से युक्त करना भी दर्शन विनय है। तथा अर्हन्त आदि के गुणों मे अनुरागरूप भक्तिपूजा, विद्वानों की सभा मे युक्ति बल से जिन शासन को यशस्वी बनाना और उस पर लगे मिथ्या दोषों को दूर करना, अवज्ञा भाव दूर करके आदर उत्पन्न करना ये सभी दर्शन विनय हैं।

चारित्र विनय—इन्द्रिय और कषाय रूप से आत्मा की परिणति न होना गुप्तियां और समितियाँ संक्षेप रूप से पालना चारित्र विनय है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है—कर्मो के ग्रहण मे निमित्त क्रियाओं को त्यागना ही चारित्र विनय है। इन्द्रियों के रुचिकर और अरुचिकर विषयों मे राग-द्वेष को त्यागकर, उत्पन्न हुए क्रोध, मान, माया और लोभ का छेदन करके, समितियो मे उत्साह करके, शुभ मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों में आदर रखते हुए तथा व्रतों की सामान्य और विशेष भावनाओ के द्वारा अहिंसा आदि व्रतों को निर्मल करता हुआ पुण्यात्मा साधु

स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी के पोषक चारित्र विनय को करता है।

तप विनय—उत्तर गुण अर्थात् सयम मे उद्यम, सम्यक् रीति से भूख-प्यास आदि को सहन करना, तप मे श्रद्धा, उचित छह आवश्यको मे न्यूनता या आधिक्य न होना, तपोधिक साधु मे और तप मे भक्ति तथा अपने से तप में हीन मुनियो का तिरस्कार न करना यह आगमानुसार आचरण करने वाले मुनि की तप विनय है। रोग आदि होने पर अथवा रागादि को दूर करने के लिए जो पूर्वोक्त आवश्यकों को पालता है, परिग्रहो को सहता है, उत्तर गुणों मे अथवा ऊपर के गुण स्थानो मे जाने का इच्छुक है, जो तपोवृद्धो और अनशन आदि त ो का सेवन करता है तथा जो तपोहीन की अवहेलना न करके यथायोग्य आदर करता है, वह साधु तप विनय का पालक होता है।

उपचार विनय—पाँचवी औपचारिक विनय कायिक, वाचनिक और मानसिक के भेद से तीन प्रकार की है और वह तीनो विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार की है।

कायिक विनय—खड़े होना, वन्दना करना, शरीर को नम्र करना, दोनो को जोड़ना, सिर को नवाना, गुरु के बैठने अथवा खड़े होने पर उनके सामने जाना, जाते हुए के पीछे-पीछे गमन करना, नीचा स्थान, नीचा गमन, नीचा आसन, नीचे सोना, आसन देना, उपकरण देना और अवकाश दान ये उपचार विनय के प्रकार हैं। इसी प्रकार गुरू आदि के अनुकूल स्पर्शन, अवस्था के अनुरूप वैयावृत्य करना, आज्ञा का पालन करना, तृण आदि का संथारा करना, उपकरणों की प्रति लेखना करना इसी प्रकार और भी जो उपकार यथायोग्य अपने शरीर द्वारा किया जाता है वह कायिक विनय है। कायिक विनय के सात भेद है। ७ भेद इस प्रकार हैं—अभ्युत्थान, सन्नति, आसनदान, अनुप्रवान, प्रतिरूप क्रियाकर्म, आसन, त्याग और अनुव्रजन। अनगार धर्मामृत में कहा है—सिद्धि के इच्छुक साधुओं को गुरुजनों के उपस्थित होने पर सात प्रकार की काय सम्बन्धी औपचारिक विनय करनी चाहिए। उनका विवरण इस प्रकार है—उनके आने पर आदर पूर्वक खड़े होना, उनके योग्य पुस्तक आदि देना, ऊँचे आसन पर नहीं बैठना, जाते हुए के साथ कुछ दूर तक जाना, उनके लिए आसनादि लाना, काल भाव और शरीर के योग्य कार्य करना और प्रणाम करना है।

वाचिक विनय—पूजापूर्वक वचन, हितकारी, मित भाषण, मधुर भाषण, गृहस्थों के सम्बन्ध से रहित वचन, सूत्रानुसार वचन, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन, उपशान्त वचन, क्रिया से रहित वचन, अवज्ञा से रहितवचन बोलना वाचिक विनय है। यह वाचिक विनय यथायोग्य करने योग्य होती है। वाचिक विनय चार प्रकार की है—हित वचन, मित वचन, परिमित वचन और सूत्रानुसार वचन। अनगार धर्मामृत में भी विनय के इन्हीं चार भेदों का उल्लेख किया गया है।

मानसिक विनय—पाप को लाने वाले परिणामों को न करना, प्रिय और हित में ही परिणाम लगाना सक्षेप मे यही मानसिक विनय है। मानसिक विनय के दो भेद है—अशुभ मन की निवृत्ति तथा शुभ मन की प्रवृत्ति, अनगार धर्मामृत में कहा है कि अशुभ भावों को रोकता हुआ और धर्मोपार के कार्यों मे तथा सम्यग्ज्ञानादि विषय मे मन को लगाता हुआ मुमुक्षु दो प्रकार की विजय को प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, तथा गुरु के अभाव मे भी आज्ञा निर्देश का आचरण करने पर परोक्ष विनय होती है। अतः मुनि को प्रमाद रहित होकर यह विनय गुरु के अतिरिक्त अपने से उत्कृष्ट तथा अपने से हीन मुनि में आर्यिकाओ मे, गृहस्थो मे भी करनी चाहिए।

विनय का महत्त्व—विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से सयम और ज्ञान की प्राप्ति होती है! उसके द्वारा आचार्य और सर्वसघ आराधित होता है। विनय से ही मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा सफल है। विनय शिक्षा का फल है। और विनय का फल सर्वकल्याण है। आचार, जीवो गुणों का प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्य का अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुत्व, भक्ति, अपने और दूसरों को प्रसन्न करना, कीर्ति. मित्रता, मान का नाश, गुरुओं

का बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों की अनुमोदना ये सब विनय के गुण हैं।

वैयावृत्य—सोने बैठने के स्थान और उपकरणों की प्रति लेखना करना, योग्य आहार, योग्य औषध का देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनि के शरीर का शोधन करना तथा एक करवट से दूसरी करवट लिटाना आदि उपकार वैयावृत्य है। मार्ग के श्रम से थकित, चोरों हिंस्र-जन्तुओं, नदी रोधकों और भारी रोग से जो मुनि पीड़ित है तथा दुर्भिक्ष में फसे है, ऐसे मुनियों को धैर्य आदि देना तथा उनका संरक्षण करना वैयावृत्य कहा जाता है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गुण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ के भेद से वैयावृत्य दस प्रकार का है। आचार्य आदि इन दस प्रकार के मुनियों के क्लेश और संक्लेश को दूर करने मे जो साधु मन, वचन और काय का व्यापार करता है, वह वैयावृत्य है और उसे करना चाहिए। वैयावृत्य के गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि आदि अनेक गुण है। वैयावृत्य से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन, आज्ञा का सयम, वैयावृत्य करने वाले का उपकार, निर्दोष रत्नत्रय का दान, संयम में सहायता, ग्लानि का विनाश, धर्म की प्रभावना तथा कार्य का निर्वाह होता है।

निन्दनीय वैयावृत्य—अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा कथित क्रमानुसार यदि वैयावृत्य को नही करता तब वह मुनि धर्म से बहिष्कृत होता है। वैयावृत्य न करने से तीर्थंकरों की आज्ञा का भंग, श्रुत में कथित धर्म का नाश, आचार का लोप तथा आत्मा, साधु वर्ग और प्रवचन का त्याग होता है।

वैयावृत्य का फल—वैयावृत्य से साधु गुणपरिणामादि कारणों के द्वारा तीनों लोकों को कम्पित करने वाले तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म का बन्ध करता है। वैयावृत्य से अपना और दूसरों दोनों का ही उपकार होता है। अन्यत्र कहा है कि जिस साधु या श्रावक का हृदय मुक्ति में तत्पर साधुओं के गुणो मे आसक्त होने के कारण उन साधुओं पर मुक्ति मार्ग का घात करने वाली कोई भी विपत्ति आने पर, उसे अपने ही ऊपर आई हुई जानकर शारीरिक चेष्टा से अथवा सयम के अविरुद्ध औषधि, आहारादि द्वारा शान्त करता है अथवा मिथ्यात्वादि—विष को प्रभावशाली शिक्षा के द्वारा दूर करता है वह महात्मा इन्द्र, अहमिन्द्र तो क्या तीर्थंकर पद के योग्य होता है। इससे एकाग्रचिन्ता, ध्यान, सनाथता, ग्लानि का अभाव, साधर्मीवात्सल्य आदि साधे जाते हैं।

स्वाध्याय—ज्ञानावरणादि कर्मों के विनाश के लिए तत्पर मुमुक्षु को नित्य स्वाध्याय करना चाहिए। क्योकि 'स्व' अर्थात् आत्मा के लिए हितकारक परमागम के 'अध्याय' अर्थात् अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं अथवा 'सु' अर्थात् सम्यक् श्रुत के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं। इस प्रकार स्वाध्याय की दो निरुक्तियां है। वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से स्वाध्याय के पांच भेद है। निर्दोष ग्रन्थ के पढ़ने को वाचना कहते हैं। सन्देह निवारण के लिए अथवा निश्चित को दृढ़ करने के लिए सूत्र और अर्थ के विषय में पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। कण्ठस्थ करना आम्नाय है। आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी इन चार कथाओ के करने को धर्मोपदेश कहते है। मूलाचार मे स्वाध्याय के परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, और धर्मकथा भेद कहे हैं। अन्यत्र वाचना आदि स्वाध्याय के सम्बन्ध मे कहा है—विनय आदि गुणों से युक्त पात्र को शुद्ध ग्रन्थ और अर्थ प्रदान करना वाचना स्वाध्याय है। ग्रंथ और अर्थ के विषय मे 'क्या ऐसा है या नहीं' इस सन्देह के निवारण के लिए अथवा 'ऐसा ही है' इस प्रकार के निश्चित को दृढ़ करने के लिए प्रश्न करना पृच्छना है। अध्ययन की प्रवृत्ति मे होने के कारण प्रश्न को भी अध्ययन कहा जाता है अतः वह भी स्वाध्याय है। जाने हुए या निश्चित हुए अर्थ का मन से बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है इसमें भी स्वाध्याय का लक्षण पाया जाता है' ग्रन्थ के शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारण को आम्नाय कहते हैं। देव वन्दना के साथ मंगल पाठपूर्वक धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश है।

स्वाध्याय का माहात्म्य—स्वाध्याय तप को सभी तपों से विशेष बताते हुए कहा गया है कि सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट बाह्य और आभ्यन्तर रूप बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान कोई तप नही है और न होगा। जो मुनि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करते है वे उस समय पचेन्द्रियो के विषय व्यापार से रहित हो जाते हैं और शास्त्र का अध्ययन करने, चिन्तन करने में एकाग्रचित्त वाले हो जाते है। स्वाध्याय भावना से मुनि की सभी गुप्तिया भावित होती हैं और गुप्तियो की भावना से मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामों की आराधना मे तत्पर होती है। सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाखों, करोड़ो भवो मे नष्ट करता है उसी कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियो मे युक्त होकर क्षण भर मे नष्ट कर देता है। स्वाध्याय से मुमुक्षु की तर्कशील बुद्धि का उत्कर्ष होता है। परमागम की बुद्धि का पोषण होता है। मन, इन्द्रिया और सज्ञा अर्थात् भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा का निरोध होता है। सन्देह का छेदन होता है, क्रोधादि कषायो का भेदन होता है, प्रतिदिन तप मे वृद्धि होती है, संवेग भाव बढ़ता है। परिणाम प्रशस्त होते है समस्त अतीचार दूर होते है। अन्यवादियो का भय नष्ट होता है तथा मुमुक्षु जिनागम की भावना करने मे समर्थ होता है।

ध्यान—राग-द्वेष और मिथ्यात्व से अछूते, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले और अन्य विषयो मे संचार न करने वाले ज्ञान को ध्यान कहते है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का जो ज्ञान निश्चल होता है वही ध्यान तत्त्वार्थ सूत्र में उत्तम सहनन वाले के एकाग्रचिन्तानिरोध को ध्यान कहा है। यह आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान के भेद से चार प्रकार का है। इनमे प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त और शेष दो ध्यान प्रशस्त हैं।

आर्त ध्यान—कषाययुक्त आर्तध्यान के चार भेद हैं—अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, परीषह और निदान। ज्वर, शूल, शत्रु आदि अनिष्ट से मेरा वियोग कब होगा इस प्रकार से चिन्तन करना अनिष्ट सयोग नामक आर्त ध्यान है। पुत्र-पुत्री आदि इष्टजनों के साथ सयोग होने पर कदाचित् भी वियोग न हो, इस प्रकार चिन्तन करना इष्टवियोग आर्त ध्यान है। क्षुधा, तृषा आदि परिषह के आने पर उनको दूर करने के लिए चिन्तन करना तीसरा आर्त ध्यान है। इस लोक मे पुत्रादि की प्राप्ति और परलोक में देवादि होकर मुझे स्त्री, वस्त्रादि सभी प्राप्त हो जाएंगे। इस प्रकार का चिन्तन करना चौथा निदान नामक आर्त ध्यान है।

रौद्र ध्यान—कषाययुक्त रौद्र ध्यान भी चोरी, झूठ, हिंसा का रक्षण तथा छह आवश्यको के भेद से चार प्रकार का होता है। परद्रव्य के हरण करने मे तत्पर होना चोरी नामक प्रथम रौद्र ध्यान है। दूसरो को पीड़ा देने वाले असत्य वचन बोलने मे यत्न करना झूठ नामक रौद्र ध्यान है। पशु, पुत्रादि के रक्षण के विषय मे चोर, दायाद अर्थात् भागीदार आदि के मारने मे प्रयत्न करना तीसरा रौद्र ध्यान है। छह प्रकार के जीवो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस) के मारने के आरम्भ मे अभिप्राय रखना चौथा रौद्र ध्यान है।

धर्म ध्यान—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागम में स्वाभाविक रुचि ये धर्म ध्यान के लक्षण है। एकाग्रतापूर्वक मन को रोक कर धर्म मे लीन होना ही धर्मध्यान है। यह अज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय के भेद से चार प्रकार का होता है।

आज्ञाविचय—पाँच आस्तिकाय, छह जीवनिकाय और कालद्रव्य तथा अन्य कर्म बन्ध मोक्ष आदि को जो सर्वज्ञ की आज्ञा से गम्य है। आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान के द्वारा विचारा जाता है। अच्छे उपदेष्टा के न होने से, अपनी बुद्धि मन्द होने से और पदार्थ के सूक्ष्म होने से जब युक्ति और उदाहरण की गति न हो तब ऐसी अवस्था में सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए आगम को प्रमाण मानकर गहन पदार्थ का श्रद्धान करना कि 'यह ऐसा ही है' आज्ञाविचय है।

अपाय विचय—जिन भगवान के द्वारा कथित उपदेश के अनुसार कल्याण को प्राप्त कराने वाले उपाय का विचार अथवा जीवों के शुभ और अशुभ कर्म विषयक

अणपों का विचार करना अपायविचयक है। मोक्ष के अभिलाषी होते हुए भी जो कुमार्गगामी है उनका विचार करते रहना कि वे मिथ्यात्व से किस तरह छूटे—यही विचय है।

विपाक विचय—जीवों के एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्य कार्य और पाप कर्म के फल का तथा उदय, उदीरण, संक्रमण, बन्ध और मोक्ष का चिन्तन करना ही विपाक विचय नामक धर्म है।

संस्थान विचय—पर्याप्त अर्थात् भेद रहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदग के समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का चिन्तन करना सस्थान विचय नामक धर्म ध्यान है और इसी से संबधित अनुप्रेक्षाओं का भी विचार किया है। लोक के आकार तथा उसकी दशा का विचार करना ही सस्थानविचय है।

शुक्ल ध्यान—धर्म ध्यान पूर्ण कर लेने के पश्चात् क्षपक अति विशुद्ध लेश्या के साथ शुक्ल ध्यान को ध्याता है। शुक्ल ध्यान भी चार प्रकार का होता है—पृथक्त्व सवितर्क, सवितर्क एकत्व, सूक्ष्मक्रिया और समुच्छिन्नक्रिया।

पृथक्त्व सवितर्क—क्योंकि अनेक द्रव्यो को, तीन योगो के द्वारा उपशान्त मोहनीय गुणस्थान वाले मुनि ध्याते हैं, इसी कारण इसे पृथक्त्व कहते है। श्रुत को वितर्क कहा जाता है और पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु ही ध्याता है। इसी कारण इस ध्यान को सवितर्क कहा जाता है। तथा अर्थ व्यञ्जन और योगो के परिवर्तन रूप वीचार के होने के कारण इस शुक्ल ध्यान को सवीचार भी कहा गया है।

एकत्व वितर्क—क्योंकि क्षीण कषाय गुण स्थानवर्ती मुनि के द्वारा एक ही योग का अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्य का ध्यान किया जाता है अतः एक ही द्रव्य का अवलम्बन लेने के कारण इसे एकत्व कहते है।

सूक्ष्म क्रिया—यह शुक्ल ध्यान श्रुत के अवलम्बन से रहित होने के कारण सवितर्क है और अर्थ व्यञ्जन और योगों का परिवर्तन रूप होने के कारण अवीचार। इसमें सोच्छ्वासादि क्रिया सूक्ष्म हो जाती है और सूक्ष्म काययोग के होने पर ही होता है, इसी कारण इसे सूक्ष्म क्रिया कहा जाता है। सूक्ष्म काययोग मे स्थित केवली उस सूक्ष्म काययोग को भी रोकने के लिए इस शुक्ल ध्यान को ध्याता है।

व्युत्सर्ग—परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग तप ही वि+उत+सर्ग के मेल से बना है। 'वि' अर्थात् विविध, उत् अर्थात् उत्कृष्ट और सर्ग का अर्थ त्याग है। कर्मबन्ध के कारण विविध बाह्य और आभ्यन्तर दोषो का उत्तम त्याग अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिस्लाभादि की अपेक्षा से रहित त्याग व्युत्सर्ग है। यह व्युत्सर्ग का निरूक्त्थे है। यह आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार का है। क्रोधादि आभ्यन्तर तथा क्षेत्रादि द्रव्य बाह्य व्युत्सर्ग है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग—मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, चार कषायें इन चौदह अन्तरग परिग्रहों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। अनगार धर्मामृत मे व्युत्सर्ग का स्वरूप इस प्रकार किया है—पूर्वाचार्य कायत्याग को भी अन्तरंग परिग्रह का त्याग मानते हैं। यह कायत्याग नियतकाल और सार्वकालिक भेद से दो प्रकार का है। उनमे नियतकाल के भी नित्य और नैमित्तिक दो भेद है तथा सार्वकालिक त्याग के भक्त प्रत्याख्यान मरण, इगिनी मरण और प्रायोपगमन मरण ये तीन भेद कहे हैं।

बाह्य व्युत्सर्ग—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पाद, यान, शयन, आसन, कुप्य और भाण्ड इन दस परिग्रहों का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है। जिस प्रकार तुष सहित चावल का तुष दूर किए बिना उयका अन्तर्मल का शोधन करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार बाह्य परिग्रह रूपी मल के त्याग के बिना उससे सम्बद्ध आभ्यन्तर कर्ममल का शोधन करना शक्य नहीं है

व्युत्सर्ग तप से परिग्रहों का त्याग हो जाने से निर्ग्रन्थता की सिद्धि होती है। जीवन की आशा का अन्त, निर्भयता तथा रागादि दोषों की समाप्ति हो जाती है और रत्नत्रय के अभ्यास में तत्परता आती है। □□

'नीतिवाक्यामृत' में राजकोष की विवेचना

□ चन्द्रशेखर एम० ए० (अर्थशास्त्र)

'नीतिवाक्यामृत' आचार्य सोमदेव सूरि की प्रसिद्ध रचना है। इस ग्रन्थ का प्रणयन विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी में किया गया और इसकी रचना चालुक्यों के राज्याश्रम में हुई। यह ग्रन्थ आचार्य सोमदेव के विख्यात चम्पू महाकाव्य के उपरान्त लिखा गया था। नीतिवाक्यामृत का प्रधान विषय है राजनीति। राज्य एव शासन-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली प्राय: सभी आवश्यक बातों का विवेचन किया गया है। राज्य के सप्तांग—अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, बल एवं मित्र के लक्षणो पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। साथ ही राजधर्म की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या की गई है। इस राजनीति प्रधान ग्रन्थ में मानव के जीवन-स्तर को समुन्नत करने वाली धर्मनीति, अर्थनीति एवं समाजनीति का विशद विवेचन मिलता है। यह ग्रंथ मानव-जीवन का विज्ञान और दर्शन है। यह वास्तव में प्राचीन नीति साहित्य का सारभूत अमृत है। मनुष्यमात्र को अपनी-अपनी मर्यादा मे स्थिर रखने वाले राज्यप्रशासन एव उसे पल्लवित-सर्वाधित एवं सुरक्षित रखने वाले राजनीतिक तत्वो का इसमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है।

जैन सन्यासी होते हुए भी उन्होने अर्थ के महत्व का भली-भांति अनुभव किया है। यह बात उनकी दूरदर्शिता की परिचायक है। नीतिवाक्यामृत मे धर्म, अर्थ और काम की विशद व्याख्या की गई है। अर्थ पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं—जिससे प्रयोजनों की सिद्धि हो वह अर्थ है।

राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्यांगो मे कोष को बहुत महत्व दिया है। आचार्य सोमदेव लिखते है कि कोष ही राजाओं का प्राण है। संचित कोष सकट काल मे राज्य रक्षा करता है। वही राज्य राष्ट्र को सुरक्षित रख सकता है जिनके पास विशाल कोष है। सचित कोष वाला राजा ही युद्ध को दीर्घकाल तक चलाने मे समर्थ होता है। दुर्ग में स्थित होकर प्रतिरोधात्मक युद्ध को चलाने के लिए भी सुदृढ़ कोष की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसलिए कोष को क्षीण होने से बचाने तथा संचित कोष की वृद्धि करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक उपाय बतलाये हैं। राजनीति के ग्रन्थों मे अपने महत्व के कारण ही कोष एक स्वतन्त्र विषय रहा है। आचार्य सोमदेव ने भी अन्य राजशास्त्र-प्रणेताओ की भांति इस विषय का भी विशद विवेचन किया है। नीतिवाक्यामृत मे कोष समुद्देश्य कोष सम्बन्धी बातों का दिग्दर्शन करता है।

कोष की परिभाषा—आचार्य सोमदेव ने कोष समुद्देश्य के प्रारम्भ मे ही कोष की परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार जो विपत्ति और सम्पत्ति के समय राजा के तन्त्र की वृद्धि करता है और उसको सुसंगठित करने के लिए धन की वृद्धि करता है वह कोष है। धनाढ्य पुरुष तथा राजा को धर्म और धन की रक्षा के लिये तथा सेवको के पालन पोषण के लिए कोष की रक्षा करनी चाहिए। कोष की उत्पत्ति राजा के साथ ही हुई जैसाकि महाभारत के वर्णन से स्पष्ट होता है। उसमें लिखा है कि प्रजा ने मनु के कोष के लिए पशु और हिरण्य का पचीसवां भाग तथा धान्य का दसवां भाग देना स्वीकार किया।

कोष का महत्व—सम्पूर्ण आचार्यों ने कोष का महत्व स्वीकार किया है। आचार्य सोमदेव का पूर्वोक्त कथन—कोष ही राजाओ प्राण है—इसके महान महत्व का द्योतक है। आचार्य सोमदेव आगे लिखते हैं कि जो राजा कौड़ी-कौड़ी करके अपने कोष की वृद्धि नही करता उसका भविष्य मे कल्याण नही होता। आचार्य कौटिल्य कोष का महत्व बतलाते हुए लिखते है कि सबका मूल कोष ही है। अत: राजा को सर्वप्रथम कोष की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। महाभारत में भी ऐसा वर्णन आता है कि राजा को कोष की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। क्योकि राजा लोग कोष के ही अधीन है तथा राज्य की उन्नति भी कोष पर आधारित है। कामन्द ने कहा है कि प्रत्येक से यही सुना जाता है कि राजा कोष के आश्रित है। कोष के इस महत्व के

कारण ही मनु ने लिखा है कि सरकार तथा कोष का निरीक्षण राजा स्वयं ही करे क्योंकि इनका सम्बन्ध राजा से ही है। याज्ञवल्क्य राजा को यह आदेश देते है कि उसे प्रति दिन राज्य की आय-व्यय का स्वयं निरीक्षण करना चाहिए तथा इस विभाग के कर्मचारियों द्वारा संग्रहीत स्वर्ण एवं धनराशि को कोष में जमा करना चाहिए। आचार्य सोमदेव का कथन हे कि राज्य की उन्नति कोष से होती है, न कि राजों के शरीर से। आगे वे लिखते हैं कि जिसके पास कोष है, वही युद्ध मे विजयी होता है।

इस प्रकार आचार्य कोष को राज्य की सर्वाङ्गीण उन्नति एवं उसकी सुरक्षा का अमोघ साधन मानते हैं। कोष वाले राजा को सेवक और सैन्य सब कुछ सुलभ हो सकते हैं परन्तु कोषहीन राजा को कोई भी वस्तु सुलभ नहीं होती। कोषविहीन राजा नाम मात्र का ही राजा है। क्षीण कोष वाला राजा अपनी प्रजा पर धन-संग्रह के लिए अनेक प्रकार के अत्याचार करता है। जिसके परिणामस्वरूप प्रजा दुखी होती है और वह उसके अत्याचार से तंग आकर उस देश को छोडकर अन्यत्र चली जाती है। इससे राजा जन-शक्ति-विहीन हो जाता है।

उत्तम कोष—इस बात का समर्थन सभी विद्वान् करते हैं कि राज्य की प्रतिष्ठा, रक्षा एवं विकास के लिए कोष की परम आवश्यकता है। इसके साथ ही आचार्यों ने इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि कौन-सा कोष उत्तम है। आचार्य सोमदेव उत्तम कोष का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जिसमें स्वर्ण, रजत का प्राबल्य हो और व्यावहारिक नाणकों (प्रचलित मुद्राओ) की अधिकता हो तथा जो आपात्काल मे बहुत व्यय करने मे समर्थ हो वह उत्तम कोष है।

कोष के गुण—आचार्य सोमदेव ने कोष के गुणों की जो व्याख्या की है वह आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपत्तिकाल में धान्य और पशुओ के विक्रय से पर्याप्त धन प्राप्त नहीं हो सकता। अत: जिन वस्तुओं का विक्रय तुरन्त हो सके, ऐसी ही वस्तुओ का अधिक मात्रा में संग्रह राजकोष में होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से सोमदेव ऐसी वस्तुओ का सग्रह करने के लिए राजा को परामर्श देते है। नाणक की भी कोष मे बड़ी आवश्यकता रहती है, क्योंकि सेना और अन्य राजकर्मचारियों को वेतन में नाणक (प्रचलित मुद्रा) ही देना पड़ता है। इस मुद्रा से व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का सरलतापूर्वक क्रय कर सकता है। स्वर्ण और रजत की अधिक मात्रा होने से नाणक तैयार किए जा सकते हैं। इसीलिए उत्तम कोष वही है जिसमें सोना और रजत अधिक मात्रा में हो। इसके अतिरिक्त यदि कोई शत्रु राजा के देश पर आक्रमण कर दे और उसके पास युद्ध करने के लिए पर्याप्त सेना न हो तो राजा साम-दामादि से शत्रु को लौटा सकता है। शत्रु को तभी धन से सतुष्ट किया जा सकता है जबकि राजा का कोष स्वर्ण एवं रजत से परिपूर्ण हो।

कोष-विहीन राजा की स्थिति

आचार्य सोमदेव सूरि ने धनहीन राजा की निन्दा की हैं, क्योकि उनकी दृष्टि मे राज्य की प्रतिष्ठा एव सुरक्षा की आधारशिला कोष ही है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि धनहीन व्यक्ति को तो उसकी स्त्री भी त्याग देती है, फिर अन्य पुरुषों का तो कहना ही क्या? इसका अभिप्राय यही है कि धनहीन राजा को उसके सेवक तथा पदाधिकारी त्यागकर अन्य राजा की सेवा मे चले जाते है। जिससे वह असहाय अवस्था को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। आचार्य का यह भी कहना है कि धनहीन व्यक्ति (राजा) चाहे कितना ही कुलीन एव सदाचारी क्यो न हो, सेवकगण उसकी सेवा करने को प्रस्तुत नही होते क्योकि वहां से उन्हे धन प्राप्ति की कोई आशा नही होती। इसके विपरीत नीच कुल मे उत्पन्न हुए एव चरित्र भ्रष्ट व्यक्ति से धनाढ्य होने के कारण उसे धन का स्रोत समझ कर सभी लोग उसकी सेवा को प्रस्तुत रहते हैं।

उक्त विवेचन का अभिप्राय है कि कुलीन और सदाचारी होने पर राजा को राजतन्त्र के नियमित तथा व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए न्यायोचित उपायो द्वारा कोष की वृद्धि करनी चाहिए।

आचार्य सोमदेव ने आगे लिखा है कि उस तालाब के विस्तीर्ण होने से क्या लाभ है जिसमे पर्याप्त जल नही है। परन्तु जल से परिपूर्ण छोटा तालाब भी इससे कही अधिक प्रशंसनीय है। सारांश यह है कि मनुष्य कुलीनता

आदि से बड़ा होने पर भी यदि दरिद्र है तो उसका बड़प्पन व्यर्थ है क्योंकि उससे कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः नैतिक उपायों द्वारा धन का संग्रह करना महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है।

रिक्त राजकोष की पूर्ति के उपाय—

आचार्य सोमदेव ने रिक्तराजकोष की पूर्ति के उपायों पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार राजकोष की पूर्ति के निम्नलिखित उपाय हैं :—

(१) ब्राह्मण और व्यापारियों से उनके द्वारा संचित किए गए धन मे से क्रमशः धर्मानुष्ठान, यज्ञानुष्ठान और कौटुम्बिक पालन के अतिरिक्त जो धनराशि शेष बचे उसे लेकर राजा को अपनी कोष-वृद्धि करनी चाहिए।

(२) धनाढ्य पुरुष, सन्तान-विहीन धनी व्यक्ति विधवाओं का समूह और कापालिक-पाखण्डी लोगों के धन पर कर लगाकर उनकी सम्पत्ति का कुछ अंश लेकर अपने कोष की वृद्धि करे।

(३) सम्पत्तिशाली देशवासियों की प्रचुर धन राशि का विभाजन करके उनके भली-भांति निर्वाह योग्य धन छोड़कर उनसे प्रार्थना पूर्वक धन ग्रहण करके राजा को अपने कोष की वृद्धि करनी चाहिए।

(४) अचल सम्पत्तिशाली, मन्त्री, पुरोहित और अधीनस्थ सामन्तो से अनुनय विनय करके घर जाकर उनसे धन याचना करनी चाहिए।

इस प्रकार उक्त साधनों से राजा को अपने रिक्त राज कोष की वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। राजा को सदैव इस कार्य में प्रयत्नशील रहना चाहिए। कोष ही राज्य की प्राणशक्ति है और उसके अभाव में वह नष्ट हो जाता है।

उत्कोच लेने वाले राज्याधिकारियों से धन प्राप्त करना—

आचार्य सोमदेव ने उत्कोच लेने वाले राज्याधिकारियो की घोर निन्दा की है और उनसे राजा को सावधान रहने का परामर्श दिया है। आचार्य का मत है कि राजा को उन लोगों पर कठोर नियत्रण रखना चाहिए और उनके साथ कभी नही मिलना चाहिए। यदि राजा भी उनमें धन के लोभ से साझीदार हो जाएगा तो इससे महान् अनर्थ होगा। उसका राष्ट्र और कोष सभी कुछ नष्ट हो जाएगा। इसके साथ ही सोमदेव ने उन उपायों का भी उल्लेख किया है, जिनके द्वारा उन राज्याधिकारियों से उत्कोच की धन राशि पुनः प्राप्त हो सकती है। इसका सर्व प्रमुख उपाय यही है कि राज्याधिकारियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाए, जिससे कि वे प्रजा से उत्कोच लेने का साहस ही न कर सकें। यदि नियंत्रण रखने पर भी उन्होंने इस अनुचित रीति से धन संग्रह कर लिया है तो उस धन को राजा विभिन्न उपायों से ग्रहण कर ले।

अधिकारी लोग दुष्टव्रण के समान बिना कठोर दण्ड दिए घर में उत्कोच द्वारा संचित किया हुआ धन आसानी से देने को प्रस्तुत नही होते। उन्हें बार-बार उच्च पदों से साधारण पदों पर नियुक्त करके भयभीत करना चाहिए। अपनी अवनति से घबराकर वे उत्कोच का धन स्वामी को देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। जिस प्रकार वस्तु को बार-बार प्रस्तर पर पटकने से साफ किया जाता है उसी प्रकार अधिकारियों को उनके अपराध सिद्ध होने पर बारम्बार दण्डित करने से वे उत्कोच का धन राजा को सौप देते हैं। अधिकारियों में आपसी फूट होने से भी राजा के कोष की वृद्धि होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अधिकारी वर्ग आपस में फूट के कारण एक दूसरे का अपराध राजा के सम्मुख प्रकट कर देते हैं, जिसके कारण उत्कोच आदि से संचित किया हुआ धन अधिकारी वर्ग से राजा को सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार इन समस्त साधनो से राजकोष की वृद्धि की जाती थी। आचार्य सोमदेव ने अधिकारियों की सम्पत्ति को राजाओं का द्वितीय कोष बतलाया है जो कि यथार्थ ही है। आपत्तिकाल में राजा अधिकारियों से प्रार्थनापूर्वक धन प्राप्त कर सकता है ऐसा आचार्य का मत है। इसी कारण अधिकारियो की सम्पत्ति को राजाओं का द्वितीय कोष बतलाया गया है।

उपरोक्त विवरण में यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य सोमदेव सूरि केवल एक धर्माचार्य' उच्च-कोटि के दार्शनिक, अलौकिक तार्किक, विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता एवं उद्भट विद्वान् ही नहीं थे, अपितु वे उच्च-

कोटि के अर्थशास्त्री भी थे। अर्थशास्त्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म सिद्धांतों का आचार्य को पूर्ण ज्ञान था। वे एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे और इस बात को भली-भांति जानते थे कि धन के बिना राज्य का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रंथ नीतिवाक्यामृत में कोष समुद्देश्य का समावेश किया तथा अन्य समुद्देश्यो में भी यत्र-तत्र अर्थशास्त्रों के गूढ़ सिद्धान्तों की विवेचना की है। धर्माचार्य होते हुए भी उन्होंने अर्थ के महत्त्व को है तथा कोष को राजाओ का प्राण बतलाया है। उन्होंने धर्म, अर्थ, और काम तीनो पुरुषार्थों का ही समरूप से सेवन का आदेश दिया है। आचार्य तीनों पुरुषार्थों में अर्थ को सबसे अधिक महत्व देते है, क्योंकि यही अन्य पुरुषार्थों का आधार है। इनके द्वारा वर्णित अर्थ की परिभाषा बड़ी महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित है। जिससे सब प्रयोजनों सिद्धि हो उसे वह अर्थ कहते है। वास्तव में उनका कथन यथार्थ ही है। क्योंकि विश्व मे ऐसा कोई भी कार्य नही जो धन से पूर्ण न हो सके। अर्थ व्यक्ति की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने मे समर्थ है। इसी कारण आचार्य ने अर्थ को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है।

दिगम्बर जैन कालिज, बडौत (मेरठ)

(पृ० १७ का शेषांश)

है तो आप स्वय ही सर्वज्ञ आप्त ठहरते है और यदि सब देशों और कालों को जानकर नही कहते तो आपका कथन प्रमाणित नही माना जा सकता। आप्त के नाम पर आप्ताभासों का बाहुल्य है। अतः आप्ताभासो (बनावटी आप्त) को जान लेना अत्यावश्यक है। इसी कारण ग्रन्थकार ने आप्ताभासों का विस्तार से वर्णन किया है। शिव, शिवगण, गंगा, पार्वती, गणेश, वीरभद्र, ब्रह्मा, सरस्वती, नारद, विष्णु, राम, परशुराम, बुद्ध, इद्र, आठों दिक्पाल, सूर्य, चन्द्रमा, बुद्ध, मगल, भैरव, सर्प, भैरवियाँ, गोमाता, पृथ्वी, नदी, समुद्र आदि जो भी देवी-देवता के रूप मे पूजे जाते हैं, एक-एक को लेकर उनकी समीक्षा की है। इतना ही नही जैनो के भी श्वेताम्बर, यापनीय काष्ठ संघी, द्रविड़ सघी, निष्कुण्डिका आदि भी उनकी आलोचना परिधि से बाहर नही हो पाए है। इस सन्दर्भ मे उन्होने जो भी प्रमाण दिये हैं वे पुराण प्रसिद्ध हैं, जिससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अर्हद्दास जैन पुराणों के साथ ही हिन्दू पुराणों के भी अशेष पण्डित थे। बुद्ध की की गई आलोचना से उनका बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अगाध पाण्डित्य प्रकट होता है।

मांस भक्षण के प्रसगो को भी ग्रन्थकार ने उठाया है और बड़े वैदुष्यपूर्ण शब्दो मे मास भक्षण का निषेध किया है। यहां भी कवि की तार्किक शैली ने विराम नही लिया है। ६२वें श्लोक में कहा गया है कि—'यदि कोई कहे कि अन्न जीव का शरीर है अतः अन्न की तरह मास भक्षण करना कोई बुरा नही है, तो उसका ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि यद्यपि अन्न भी जीव का शरीर है और मांस भी जीव का शरीर है, फिर भी आर्य पुरुषों को अन्न ही खाना चाहिए, मास नही। जैसे माता भी स्त्री है और पत्नी भी स्त्री है किन्तु लोग पत्नी को ही भोगते है, माता को नही। इस प्रकार आप्त की परीक्षा कर ११७वें श्लोक मे आप्त का स्वरूप बताते हुए कहा है—

आप्तोर्थतः स्याद्मरागमाद्यैरच्छांगताद्यैरपि भूष्यमाणः।
तीर्थकरश्छिन्नसमस्त दोषावृत्तिश्चसूक्ष्मादि पदार्थदर्शी ॥

तदनन्तर तीर्थकर का अर्थ बताते हुए जिनेन्द्र देव का स्वरूप बताया है और कहा है कि उनके ही श्रीमान् स्वम्भू, वृषभ, शिव, विष्णु, आदि अनेक नाम है। इसके बाद जीवाजीवादि सात तत्वो का स्वरूप और उसके बाद सम्यग्दर्शन का वर्णन है इसी सन्दर्भ मे लोक मूढ़ता का स्वरूप बताया है। आठ मद और छ: अनायतनों को बता कर सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ अंगों का वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन के आठ दोषों का भी विवेचन यही किया है। इसके बाद आठ अगों में प्रसिद्ध हुए व्यक्तियो के नाम और सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बताया है। सात परम स्थानो का कथन कर दो पद्यों में सम्यक्ज्ञान का स्वरूप बताया है। आगे सम्यक् चरित्र का स्वरूप बताकर कहा गया है कि इन तीनों की पूर्णता से ही मोक्ष होता है। तदनन्तर आचार्य, उपाध्याय और साधू का स्वरूप बताकर उनकी स्तुति की गई है। अन्त में उपसंहार करते हुए कहा है—

इत्युक्तमाप्तादिवषट्स्वरूप सश्रृण्वतोस्त्रैव दृढा रुचिःस्यात्।
सज्ज्ञानमस्याश्चरिततत्तोस्मात्कर्मक्षमोस्मात्सुखमप्यदुःखम्।

जैन कालेज, खातोली।

गतांक से आगे :

पं० शिरोमणि दास कृत धर्मसार सतसई

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल, दिल्ली

अथ पंचम संधि प्रारभ्यते :

चौपाई—कर जोड़े नृप पूछै बात,
गणधर देव कहो तुम बात।
तीर्थंकर पद कैसे होय,
मुनिवर धर्म कहो पुनि सोय ॥१॥
षोडश कारण व्रत को करें,
केवली संगति क्षायक धरें।
छटै सातै गुणथान विराजैं,
होय दिगम्बर मुनिवर राजैं ॥२॥
गणधर कहै सुनो हो राय,
यतिवर धर्म महा सुखदाय।
महा कठिन कहिये संसार,
जातै भवदधि पावै पार ॥३॥
क्रोध लोभ माया मद त्यागी,
देह भोग संसार विरागी।
आशा विषय तजै जब व्रती,
सो जग मे यह कहियें जती ॥४॥
त्रस थावर की जो करहिं सुरक्षा,
दया महाव्रत यह जिन शिक्षा।
निज पर हेतु मृषा जब तजैं,
अनन्त महा व्रत सो मुनि भजैं ॥५॥
पर धन इच्छा करें न बाधु,
निज दोषन नही गोपैं साधु।
मन-वच-काय तजै जब दोष,
स्तेय महा व्रत यह सुख पोष ॥६॥

दोहा—चउ विधि नारी जानिए, जे त्यागे मन वच काय।
व्रत कीरति अनुमोद है, इह विधि गुनि जै राय ॥७॥
पांचऊ इन्द्रिय लिंग दस, काम विकिन दस जानि।
शील भेद इह विधि गुनें, अठारह सहस बखानि ॥८॥

चौपाई—इह विधि शील धरैं मुनि कोई,
महाव्रत ब्रह्मचर्य है सोई।
दश विधि उपधी वाहिज कहै,
चौदह पुनि अभ्यन्तर रहै ॥९॥
ए चौबीस उत्पागै शुद्ध,
महाव्रत यह आकिंचन बुद्ध।
अब सुनु पाचों समिति भेद,
जातै होय पाप बहु छेद ॥१०॥
भूमि शोध पग धरैं जु साधु,
जातै जीव लहै नही बाधु।
नीची दृष्टि मद अति चलै,
ईर्या समिति यह तासौ पलै ॥११॥
धर्म वचन बोलें शुभ बैन,
कै धरि मौन रहै दृढ़ जैन।
विकथा वचन तजै जब मुनी,
भाषा समिति जान यह गुनी ॥१२॥
पहर उठे दिन चढइ जु जो लौ,
रहइ पहर उठे पुनि तो लौ।
आहार शुद्धि नव कोटि बखानि,
एषणा समिति कही जिन वानि ॥१३॥
धरहिं कमडलु धरनी देख,
अरु पुनि ताहि लेहि पत रेख।
आदान निक्षेपण समिति बनाई,
धरैं मुनीन्द्र सकल सुखदाई ॥१४॥
भूमि देख मल मूत्रहिं क्षिपैं
फिर पुनि आनि जाप नित जपैं।
धरहिं जो गुनिय भासौ नित्त,
प्रतिष्ठापन यह समिति जु मित्त ॥१५॥
पाचो इन्द्रिय विषय विरोधैं,
तप सों अग्नि महा तनु सोधैं।
षट् आवश्यक साधैं जती,
भूमि शयन पुनि राचै व्रती ॥१६॥
स्नान रहित सोहै मुनिराज,
वसन विवर्जित पुनि दिगंबर बास।

निज शिर केश लुंच विधि करै,
पंच घरा फिर भिक्षा धरै ॥१७॥
ठाढ़े भोजन लेइ प्रवीन,
पाणि पात्र अति पर घर लीन।
दातून रहित सोहै मुनिराइ,
एक बार भोजन तनु आइ ॥१८॥
दोहा—ऐ अट्ठाईस मूल गुण, जो पालै मुनि राय।
सो मुनिवर गणधर कहै, तारन तरन सहाय ॥१९॥
उत्तर गुण जो पालहिं, लक्ष चौरासी धीर।
ते जिन शासन में कहे, यतिवर गुणनि गंभीर ॥२०॥
चौपाई—जो मुनि देह भोग सुख आशा,
धन इक कौड़ि न राखै पासा।
धरि यति भेष करै व्रत भंगु,
बहुत मोह कर बांधै संगु ॥२१॥
सुख यश हेतु महा व्रत धरै,
हिंसा करि माया कौ परै।
ते मुनि दुर्गति जैहैं सही,
यहै गाथ (ह) श्री गणधर कही ॥२२॥
दोहा—तप जप संयम शील शुभ, दयाक्षमा परमार्थ।
ते गुरु निश्चय जानिजै, तारण तरण समर्थ ॥२३॥
चौपाई—जो पर्वत पर मंडहि जोग,
नियमा पर छांडै सब भोग।
ग्रीषम मघा मौ पर परै,
अरुदमारि (दावाग्नि) पुनि वन में जरै ॥२४॥
दोहा—सु:ख दु:ख सम जानि कै, शत्रु मित्र सम रूप।
धरि सन्तोष निराश मति, सहइं परीषह भूप ॥२५॥
चौपाई—वर्षा काल वृक्ष तल जाय,
धरै जोग तहं मन वच काय।
वरसै मेह महा प्रति घोर,
चहुंधा वायु झकोरइ जोर ॥२६॥
दोहा—करकैंटा अरु विषहनरा, वृश्चिक सर्प जु क्रूर।
ऊपर चढ़ै जु आइकैं, सहइ परी वह शूर ॥२७॥
शीतल बूंद जो टपकही, बेलैं लपटैं अंग।
आशा देह जु त्यागिकै, धरै ध्यान नि:संग ॥२८॥
चौपाई—शीतकाल पुनि जानहु धीर,
धरै जोग सरवर के तीर।
पर हित सार जरै तरु जाति,
सहइ जीव दुख नाना भांति ॥२९॥
दोहा—तहां ध्यान दृढ मुनि धरै, कर्म क्षय निज हेत।
द्वादशानुप्रेक्षा चितवै, सु वर्णनि करौं सुचेत ॥३०॥
चौपाई—धन यौवन नारी सुख नेह,
पुत्र कलत्र मित्र तनु एह।
रथ गज घोड़े देश भंडार,
इन्ही जात नही लागै वार ॥३१॥
जैसे मेघ पटल क्षण क्षीण;
तैसो जानो कुटुम्ब सगु दीन।
जल संयोग आम घट जैसो,
सकल भोग बिधि जानहुं तैसो ॥३२॥
दोहा—जो उपजो सो विनशई, यह देखो जग रीति।
अध्रुव सकल विचारि कै, करहु धर्म सो प्रीति ॥३३॥
—इति अध्रुवोनुप्रेक्षा
चौपाई—जैसे हिरण सिंह बस परयो,
तैसे जीव काल ने धरयो।
कोऊ समर्थ नही ताहि बचावै,
कोटि यत्न करि जो दिखरावै ॥३४॥
मन्त्र तन्त्र जे औषधादि धनी,
बल विद्या ज्योतिष अति गुनी।
ए सब निष्फल होहिं विशाल,
जब जीव आनि परै वश काल ॥३५॥
दोहा—इन्द्र चक्री हरि हर सबै, विद्याधर बलवत।
काल पाश तें उपरे सुको किह रक्षहि अन्त ॥३६॥
—इति अशरणानुप्रेक्षा
चौपाई—द्रव्य क्षेत्र पुनि काल जु आनि,
भव अरु भाव तही जुव खानि।
यह संसार पंच विधि कही जै,
जीवन मरण जीव दुख लहीजै ॥३७॥
समय अनता नत जु लए,
अनतकाल तह पूरण भए।
समय एक कहुं बचिऊ न तीव,
जामन मरण लहौं नही जीव ॥३८॥
दोहा—जिनतें बहु सुख पाइए ते भए दुख को रूप।
परावर्तन बहु पूरियो, यह संसार स्वरूप ॥३९
(शेष अगले अक में)

जरा सोचिए !

१. अपरिग्रह धर्म को कैसे बचायें

जैन धर्म का मूल अपरिग्रह है और इस धर्म मे वर्णित देव और गुरू दोनों ही अपरिग्रही शौच-पूर्ण हैं। हमारे देव—'जिन' पूर्ण अपरिग्रही है, उनका धर्म जैन भी अपरिग्रहत्वपूर्ण है और गुरु—मुनि गण भी अपरिग्रही है। इसी बात को यदि हम अभेद रूप से कहें तो **अपरिग्रह ही देवत्व है** और अपरिग्रहत्व मे ही गुरुत्व या दिगम्बरत्व है; ऐसा कह सकते है। अर्थात् अपरिग्रहत्व की **पराकाष्ठा** होने पर वीतरागी-जिन 'देव' है; उनका धर्म 'जैन' भी अपरिग्रह की पराकाष्ठा है और दिगम्बर मुनि भी अपरिग्रह की ही जीती-जागती मूर्ति है।

ऊपर की कथनी से हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि—जैनत्व एकाकी शुद्ध-रूप मे, पर से नाता तोडने मे फलित होता है। हमारे यहां दो शब्द आते है—संयोग और वियोग। सयोग अशुद्धि का द्योतक है और वियोग शुद्धि का द्योतक है। सयोगी अवस्था संसारी है और वियोगी अवस्था शुद्धि की परिचायिका है। आश्चर्य है कि वस्तु की ऐसी मर्यादा होने पर भी अज्ञानीजीव परिग्रह-संयोग (अशुद्धि) मे खुश और परिग्रह-वियोग (शुद्धि) में नाखुश देखे जाते है।

इसी प्रकार संगठन और विघटन जैसे दोनो शब्दो पर विचार करें तो धर्म—वस्तु का स्वभाव, पर से विघटन में होता है और वस्तु की विकृति पर-संगठन से होती है; जबकि आज के लोग विघटन को तिरस्कृत कर संगठन पर जोर देते देखे जाते हैं। स्पष्ट है कि—भिन्न व्यक्तित्वों का एक समुदाय में होना सगठन है और हर व्यक्ति का स्वतन्त्र—स्व-रूप मे रहना विघटन है। कृपया सोचिए जैनत्व में आने के लिए आप विघटन को चुनेंगे या विकारी भाव संगठन को ? हमारी राय में आप एक बार विघटन करके तो देखिए, पर से अलग अपने को देखिए : आप स्वयं ही बोल उठेंगे—जैन धर्म की जय ! आचार्य कहते हैं—

'विरम किमपरेण कार्य कोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।' समयसार कलश;

—हे भव्य, अन्य कार्य-कोलाहलों से (तेरा लाभ) क्या ? तू विराम लें—उनसे अपना विघटन कर और छह मास अपने मे रहकर देख। तुझे परमानन्द प्राप्त होगा।

स्मरण रहे—विघटन जिन, जैन, दिगम्बर और मुनि के शुद्ध-रूप में आने का उपाय है। जब तक हमारा पर—परिग्रह से विघटन न होगा तब तक हमारे द्वारा जिन, जैन, दिगम्बर और मुनि जैसे रूपों में एक भी रूप ग्रहण नही किया जा सकेगा; क्योंकि—पर-परिग्रह से तो हम सदा से ही संगठित होते रहे है, हमें उक्त चारों रूपों में से एक भी रूप नही मिल सका है।

मगलोत्तम-शरण पाठ यानी चत्तारि मंगलम् आदि पाठ तो आप नित्य पढ़ते है। यह पाठ अनादि है। आप देखे कि इसमे अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म इन चार को मंगल रूप और शरणभूत कहा गया है। दूसरी ओर विनय-रूप णमोकार-मन्त्र पर भी दृष्टिपात करें, वहां आचार्य उपाध्याय का नाम जुड़ा हुआ है; जबकि चत्तारि मंगल पाठ में उन्हें छोड़ दिया गया है। ऐसा क्यों ? व्यवहार में हम समाधान कर लेते हैं कि आचार्य-उपाध्याय दोनों पद साधु पद मे गर्भित हैं। पर, यदि ऐसा ही है तो णमोकार मन्त्र मे भी उक्त दोनों पद न देकर इन्हें साधु-पद मे क्यों नही गर्भित कर लिया गया ? सूत्र भी लघु हो जाता और भाव भी फलित हो जाता। पर ऐसा नहीं किया गया; क्योंकि णमोकार मन्त्र मात्र विनय-मन्त्र है, नमस्कार मन्त्र है, और मंगलोत्तम शरण-मन्त्र वस्तु-स्वरूप परिचायक है। यत:—जैसे, सिद्ध और साधु पूर्ण अपरिग्रहत्व रूप है वैसे आचार्य और उपाध्यायों के साथ पूर्ण अपरिग्रहत्व नही। उनके शिष्य परिवार है, उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि विकल्प रूप शुभ,परिग्रह है। भले ही वे व्यवहार दृष्टि से हमारा मंगल करते हों, लोक दृष्टि में उत्तम

और शरणभूत हों फिर भी शुद्ध-वस्तु रूप मे स्वयं मे (जिम्मेदारी समझने—शिष्यगण को अनुशासन में रखने रूप विकल्प के कारण स्व-मंगलरूप और उत्तम नहीं, क्योंकि उनमें उक्त परिग्रह का अंश है। इसीलिए जो आचार्य उग्र-तप के इच्छुक हों, समाधि मे जाना चाहें उन्हें आदेश है कि आचार्य पद का भार (परिग्रह) किसी योग्य शिष्य को सौप दें और साधु रूप मे विचरण करें तथाहि—

'गच्छाणु पालणत्थं आहोइय अत्तगुणसम भिक्खू।
तो तम्मिगणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ।।'
—मूलाराधना—२७४,

—अपने गुण के समान जिसके गुण है ऐसा वह बालाचार्य गच्छ का पालन करने योग्य है ऐसा विचार कर उस पर अपने गण को विसर्जित करते है, अर्थात् अपना पद छोडकर सम्पूर्ण गण को बालाचार्य को छोड़ देते हैं।

यहां अपरिग्रही होने—एकाकी होने की बात है और इसी को ध्यान मे रखकर आचार्य कुन्द कुन्द ने मुनियो के रहने योग्य स्थानो को चुना है। वे कहते हैं—

"सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा,
गिरि-गुह गिरि-सिहरे वा भीमवणे अहव वसिमे वा।
सवसासत्त तित्थ व च चइदालत्तयं वुत्तेहिं,
जिणभवण अह वेज्झ, जिणमग्गे जिणवरा विंति ।।
—कुन्दकुन्द, बोधपाहुड, ४२-४३

—मुनियो को शून्य घर मे अथवा वृक्ष के नीचे उद्यान मे अथवा श्मशान भूमि मे अथवा पर्वतो की गुफा मे अथवा पर्वत के शिखर पर अथवा भयकर वन मे अथवा वसतिका मे रहना चाहिए। ये सभी स्थान स्वाधीन है। जो अपने आधीन हो ऐसे तीर्थ, व चैत्यालय और उक्त स्थानो के साथ-साथ जिन-भवन को जिनेन्द्रदेव उत्तम मानते हैं।

उक्त विधान अपरिग्रहपोषक, एकान्त और स्वाधीनता संरक्षण की दृष्टि से है क्योकि जन-सकुल स्थान मे आत्मध्यान भी नही हो पाता। किसी ने कहा भी है—

वासे वहूना कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव ककणम् ।।

—सुहागिन के हाथों मे अनेक चूड़ियां होती है जिससे शब्द होता है ऐसे ही दो आदमी होने पर बातें भी हो सकती है। पर कुमारी कन्या के हाथ मे पड़ा कड़ा अकेला होने से शब्द नही करता—शान्त रहता है। इसी प्रकार प्रकार यदि मुनि एकाकी, निर्जन स्थान में रहेगा वह शांत रहने में सरलता से समर्थ होगा।

प्रसग है, अपने गुरु मुनि श्री विद्यानन्द जी के साथ हमारे हरिद्वार भ्रमण का। जब हम हरिद्वार मे थे, हमने देखा—श्री गंगा जी का मुनि-मन सम निर्मल जल, पर्वत से नीचे उतरता, कल-कल करता, नगर में प्रवेश के बाद दूषित-मलिन होकर सड़को के नीचे बने गटरो (नाले-नालियों) में बह रहा है। मानों वह नगर-प्रवेश को अपनी भूल मानकर शर्मिन्दा हो, अपना मुंह सड़क के नीचे बने गटरो में छिपा रहा हो। वायु की भी यही स्थिति थी। जो वायु पर्वतो पर पहले कुछ समय पूर्व शीतल, सुगन्धित और मन-भावन थी; वह नगर प्रवेश के बाद दूषित हो गई थी। हम सोचते रहे जब उन्मुक्त बहने वाले स्वच्छ जल और चलती शुद्ध वायु की नगर प्रवेश में ऐसी दशा है तब वे साधु धन्य है जो यहाँ निवास कर अपने भावो को अपने मे थामे हुए हो। फिर दिगम्बर सत तो धन्य है, त्याग-तप की पराकाष्ठा है, उन्हें अपने मे स्थिरता के लिए सर्वाधिक प्रयास करना पड़ता होगा। धन्य है वे! अन्यथा कहावत तो यह है कि—

"काजल की कोठरी मे कैसो ही सयानों जाय।
काजल की एक रेख लागै पै लागै है।।"

अभी कुछ दिन पूर्व हमने धर्म-संरक्षणी भा० दि० जैन महासभा के मुख-पत्र जैन गजट मे सम्पादक का लेख **'शत-शत बार नमन'** पढा। हम चौक पडे। सभी जानते है कि महासभा धर्म की यथास्थिति रखने मे सदा कट्टर और मुनि-भक्त रही है: वह मुनियो मे कमजोरी बताने मे सदा उपगूहन अंग का पालन करती रही है। पर लेख से ऐसा लगा कि इस परिग्रह को लेकर आज वह भी चिन्तित दिखती है।

तथाहि—

"आज साधुओं मे मठ-मन्दिर-आश्रम बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। उनका ममत्व भाव इन संस्थाओं के प्रति इतना गहरा है कि वर्ष का अधिकांश समय उनका

एक ही स्थान पर बीतने लगा है। यदि इसे रोका न गया तो भ्रम है कि निकट भविष्य मे जैन-साधु अन्य धर्मावलम्बी साधुओ की तरह कही उपाश्रयवासी बनकर न रह जाएं।

* साधु या त्यागी भले ही पैसा हाथ से छूते न हों किन्तु उसका हिसाब-किताब रखते देखे जाते है।

* आज कुछ साधु अपने साथ पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र के अतिरिक्त टेपरिकार्डर, ट्रांजिस्टर आदि भी रखते हैं। लोगों से कहकर कैसिट आदि मगाते है।

* आचार्य शान्ति सागर जी कहा करते थे कि नकद पैसा लेने वाला साधु तो नरक जायेगा ही, देने वाला उनमे पहिले जाता है। चन्दा-चोकडा करना यह साधु का काम नहीं है। वैराग्य का व्यापार नहीं हो सकता।"

(जैन गजट २१ अक्तूबर १९८६ से)

उक्त बाते कहां तक, कितनी ठीक है, हम नही जानते। हा, यह अवश्य कहते है कि ये सब बाते परिग्रह रूप होने से विकारी—धर्मभ्रष्ट करने वाली है। इनसे बचकर ही जिन-शासन को सुरक्षित रखा जा सकता है। हम तो यह भी कहेगे कि आज मानव-स्वभाव इतना दूषित बन गया है कि जब हम छोडने की, अपरिग्रही और जैन बनने की बात करते है तब यह जोड़ने की बात करता है और जोड़ने की इस धुन मे वह अपरिग्रही को भी नही बख्शता। उसे भी घेरे रहकर उसके धार्मिक क्रिया-काण्डो के समय तक को अपने उपकार में ही लगवाना चाहता है। कई लोग तो अपरिग्रहियो के बहाने धन्धे चलाने की धुन में भी देखे जाते है। कोई उनके प्रवचन छपाकर बेचते हैं तो कोई अन्य बहानो से पैसा इकट्ठा करते है। भले ही जबकि साधु को उनसे प्रयोजन भी न हो, आदि।

प्रसंग में हम इतना ही कहना चाहेगे कि लोग अपरिग्रह की मूर्ति दिगम्बर गुरुओ का घेराव न करे केवल उनके धर्म-उपकरणों को ही जुटाए। यदि हमारी स्वार्थरूपी करनी से साधु का साधुत्व और अपरिग्रहत्व जाता है तो सच समझिये कि जो धर्म अवशेष है, वह भी चला जायगा। यत: केवल जैन ही ऐसा है, जिसमे वीतरागता और अपरिग्रह की प्रमुखता और पराकाष्ठा है और इसीलिये सर्वज्ञता है, और इसी की पूजा है, यही धर्म है। अन्यथा—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य पर तो सभी धर्म वाले और राजनीति चलानेवाले, सभी जन-साधारण जोर देते देखे जाते हैं।

२. एक पत्र के अंश (जो हमने लिखा)

धर्म स्नेही, जय जिनेन्द्र !

आपके कई प्रकाशन मिलते रहे। विचार कर निवेदन कर रहा हूं।······मुनि श्री के बहाने हम ऐसी किसी भी सस्था के खडे करने के पक्ष मे नही, जिसमें अर्थ संग्रह करने या उसके हिसाब के रख-रखाव का प्रसंग हो। हम तो मुनि श्री को प्रचार के साधनो—टेप-रिकार्डर, माइक, वीडियो और मच आदि से भी दूर देखना चाहते है। हम चाहते है कि—मुनि श्री का घेराव न किया जाए। यदि उनसे कुछ धर्मोपदेश सुनना हो तो उनके ठहरने के स्थान पर जाकर ही सुना जाय। मुनि श्री का जयकारा करना-कराना, उन्हे समूह की ओर खीचना, उन्हे मार्ग से च्युत करने जैसे मार्ग है। इनसे साधु का अह बढ़ता है, यश-लिप्सा होती है, राग-रंजना होती है, और वह जिसके लिए दीक्षित हुआ है उस स्व-साधना से वचित रह जाता है, पर-सुधार के चक्कर मे पड जाता है : आदि।

ये हम इसलिये भी लिख रहे है कि आज मुनि-मार्ग विकृत रूप ले रहा है : सस्थाओ से बधे त्यागी अर्थ संग्रह मे लगे देखे जाते है, उनके प्रति लोगों की श्रद्धा भी घट रही होती है। ऐसे मे जब इस काल मे कोई सच्चा हीरा हमारे सामने आया है तो हम आदर्श रूप मे उसका सदुपयोग अपने आत्मोद्धार-मार्ग मे करे—उसे घेरकर उसकी ज्योति के अवरोधक न हो।

३. "सिद्धा ण जीवा" (धवला)

जीवन-मरण आवागमन का नाम है। और आवागमन को शास्त्रों मे ससार कहा है—'ससरणं संसार:।'

जब कोई व्यक्ति शुद्ध-आत्म-स्वरूप के विवेचन में 'आत्मा जीता है', आदि जैसे शब्दो का व्यवहार करता है तो बडा अटपटा लगता है, फिर चाहे वह 'चेतन गुण से जीता है' ऐसा ही क्यों न कहे? सोचने की बात है कि जब चेतना—ज्ञान-दर्शन को स्वभाव मान लिया तो उसमें

आवागमन कैसा, जीना-मरना कैसा ? स्वभाव तो न कभी जीता है और न कभी मरता है—सदा एक रूप ही रहता है। स्वभाव में अन्य पर्याय का विकल्प ही नहीं होता। व्यवहार में जिसे हम जीना-मरना कहते हैं वह सर्वथा पर-आश्रित है, अशुद्ध अवस्था का द्योतक है और वह अन्य ही किन्हीं कारणों से होता है। और इसीलिए आचार्यों ने भी जीवन-मरण का आधार कर्मोदयादि को बतलाया है। संसारी जीवो में कर्मोदय से प्राण होते हैं और प्राणों के धारण-विसर्जन को जीवन-मरण की संज्ञा दी गई है। 'जीव' शब्द भी इसी प्रक्रिया में फलित हुआ है और आचार्यों ने भी 'प्राउपमाणं जीविदं णाम' ऐसा—कहा है।

पिछले दिनों हमने मान्य-आगम धवला का उद्धरण देते हुए लिखा था कि 'सिद्ध' जीव नही हैं, जीवित पूर्व हैं। वह कथन प्राणों की औदयिक भावो की दृष्टि से था और युक्त-युक्त तथा पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्द समत था। हम कुन्दकुन्दाम्नायी हैं और तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता श्री उमास्वामी महाराज, उसी परम्परा के उत्तरवर्ती आचार्य हैं और धवलाकार आचार्य भी इसी परम्परा के हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो सभी का मन्तव्य एक है और सभी ने मुक्त आत्माओं को जीव सज्ञा से बाहर रखा है। 'जीव' संज्ञा केवल जीवन-मरण—ससार अवस्था तक ही सीमित रखी है। सभी ने आत्मा के चेतन गुण को स्वीकार किया है। उन्होंने आत्मा अथवा चेतन को ससारी और मुक्त या जीव और सिद्ध इन दो रूपो मे स्वीकार किया है। संसारी को जीव और मुक्त को सिद्ध (सज्ञक) बतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो जीवादि—तत्त्वमात्र को भी हेय बतला, शुद्ध-आत्मा मात्र को उपादेय स्वीकार किया है। यदि उन्हें सिद्धो में जीव-संज्ञा कथंचित् भी इष्ट होती तो वे उसे कभी भी हेय न बतलाते। वे कहते हैं—

'जीवादि वहितच्चं हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधि समुब्भव गुणपज्जाएहि वदिरित्तो।'
—नियमसार ३८

टीका—जीवादि सप्त तत्त्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्यु पादेयम्। आत्मनः सहज—वैराग्यप्रसादशिखरशिखामणे परं द्रव्य पराङ्मुखस्य पंचेन्द्रिय—प्रसरवर्जितगात्र मात्र परिग्रहस्य, परमजिन योगीश्वरस्य, स्व-द्रव्य-निशितमते-रुपादेयो ह्यात्मा।' (अमृतचन्द्र)

—जीवादि वाह्य तत्त्व हेय हैं, इस आत्मा को आत्मा ही उपादेय है। यह आत्मा कर्म की उपाधि से पैदा होने वाले गुण पर्यायों से भिन्न है। पर-द्रव्य होने से जीव आदि सप्त तत्त्व मात्र उपादेय नहीं हैं।'……प्रखर ज्ञानी परम जिन-योगीश्वरो के द्वारा आत्मा ही ग्राह्य है।

स्वामी अकलंकदेव जीव के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—'औपशमिकादि भाव पर्यायो जीवः पर्यायादेशात्।' राजवा० १।७।३ तथा 'औपशमिकादि भाव साधनश्च व्यवहारतः।'—१।७।६ अर्थात्—पर्यायार्थिक नय से औपशमिकादि भाव रूप जीव है। व्यवहार नय से औपशमिकादि भावों से जीव (स्वरूप लाभ करता) है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य विरचित गो० जी० कां० की जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका में कहा है—'कर्मोपाधि सापेक्षज्ञानदर्शनोपयोग चैतन्य प्राणेन जीवतीति जीवः।'—२।२१।८

कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित ज्ञानदर्शन उपयोग रूप चैतन्य प्राणों द्वारा जीने वाला जीव है।

स्मरण रखना चाहिए कि जीवन कर्मोपाधि सहित चेतन का व्यापार है और वह प्राणों पर आधारित है तथा प्राण आयुकाल-पर्यंन्त विभिन्न कर्माश्रित है। प्राणों के सम्बन्ध मे जीवकाण्ड मे बड़े खुलासा रूप मे लिखा है—

'पचवि इन्दिय पाणा मण वच काएसु तिण्णि बलपाणा।
आणा पाणप्पाणा आउग पाणेण होंति दस पाणा॥१२६॥
वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेसु बला।
देहुदये कायाणा बचीवला आउ आउदये॥१३०॥

पांच इन्द्रिय प्राण है, मन वचन काय तीन बल प्राण हैं, श्वासोच्छ्वास प्राण हैं और एक आयु प्राण है। मनोबलप्राण और इन्द्रियप्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप अन्तरग कारण से उत्पन्न होते हैं। शरीरनाम कर्म के उदय से कायबल प्राण होता है। श्वासोच्छ्वास और शरीर नाम कर्म का उदय होने पर वचन बल प्राण होता है, आयु कर्म के उदय से आयु प्राण होता है। इसी गोम्मटसार जीव काण्ड मे यह भी लिखा है कि सिद्धों में सभी ससारी उपाधियों व प्राणों का सर्वथा अभाव है—

'गुण जीव ठाण रहिया सण्णा पजजत्ति पाण परिहीणा ।
सेसणवयगणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥'–७३१

सिद्ध परमेष्ठी सर्वथा शुद्ध होते हैं; वे गुणस्थान, जीव-स्थान, संज्ञा पर्याप्ति प्राण रहित होते हैं। उनमे ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और अनाहार को छोड़ कर शेष मार्गणाएं नहीं पाई जाती।

पंचास्तिकाय मे तो सिद्धों को जीव के स्वभाव से सर्वथा भिन्न तक कह दिया है—

'जेसिं जीव सहावो णत्थि, अभावोय सव्वहा तस्स* ।
ते होंति भिण्ण देहा, सिद्धा वचि गोयरमदीदा ॥'—३५

जिनमे । का स्वभाव नही है और उसका सर्वथा अभाव है, वे सिद्ध, शरीर-रहित हैं और वचन अगोचर हैं। स्मरण रखना चाहिए कि यदि जीव की परिभाषा शुद्ध रूप में चेतना या उपयोग रूप होती—कर्म प्रभावित न होती, तो आचार्य उमा स्वामी—जो संसारावस्था मे इसे जीव नाम का सम्बोधन देते रहे, इसका नाम बदलकर मुक्त में इसे सिद्ध नाम न देते—'अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन **सिद्धत्वेभ्यः** ।' णमोकार मत्र मे णमो **सिद्धाणं** और 'मंगलोत्तमसरण' पाठ में **सिद्धामंगलम्** आदि का समावेश भी जीव संज्ञा के अभाव की पुष्टि करते है कि कर्मवश होने वाली जीव पर्याय संसारी तक सीमित है—मुक्त में नहीं।

आखिर, अनादि-मन्त्र मे जीव जैसे प्रसिद्ध तत्त्व का नाम न लेकर उसे 'सिद्ध' रूप मे कहने का कोई तो मूल कारण होना ही चाहिए। हमारी दृष्टि मे तो कारण यही है कि जीव अवस्था कर्मबद्ध है और सिद्ध अवस्था कर्म-रहित परम-आत्मा है।

तत्त्वार्थ सूत्र ऐसे शास्त्र है जो संसारी—जीवो को मोक्ष-मार्ग बतलाने की दृष्टि से लिखे गए है। फलतः इस शास्त्र में मुक्ति-मार्ग में सात तत्त्वों का वर्णन करते समय संसारियों को लक्ष्य में रखकर उनके बद्ध होने के कारण, उन्हें जीव नाम से समझाया गया है ताकि वे प्रसगगत तत्त्वों से परिचित हों—अपने को बद्ध समझ मुक्ति—शुद्ध अवस्था की प्राप्ति को उत्सुक हो सकें। जो उनकी वास्तविक होनी चाहिए और जिसे आचार्य उमा स्वामी ने भी दशम अध्याय मे (जीवत्व संज्ञा से बदलकर) सिद्धत्व-संज्ञा रूप में स्वीकृत किया है।

स्मरण रहे कि पारिणामिक-भाव का अर्थ स्व-स्वभाव नही है, अपितु पारिणामिक भाव ससारी अवस्था के कर्मो-दयादि की अपेक्षा-रहित वे भाव है जो आत्मा की स्वाभा-विक विकास-शक्ति को इंगित करने के भाव मे व्यवहृत होते हैं और संसारावस्था के बाद व्यवहार मे नही आते—छूट जाते है। जीवत्व भी छूट जाता है, उसका स्थान 'सिद्धत्व' ले लेता है। यदि पारिणामिक भाव, स्वभाव (निर्मल दशा रूप) होते तो क्षायिक (मुक्ति मे वर्णित-सम्यक्त्वादि) भावों को भी पारिणामिक भावो में ही गर्भित कर लिया गया होता—आचार्यों ने उसके लिए पृथक् सूत्र न रचा होता। इसी तरह तत्त्वार्थसूत्रादि मे वर्णित 'ससारिणो मुक्ताश्च' जैसे भेद आत्मा की अशुद्ध और शुद्ध-पर्याय के दिग्दर्शन मात्र मे है और इन्हें संसारी-आत्मा अर्थात् जीव (अशुद्ध आत्मा) को समझाने की दृष्टि से कहा गया है। अत.—हे जीव (अशुद्ध आत्मा-संसारी) तेरा स्वरूप तो सिद्धत्व है, तू जीवत्व पे न रह सिद्धत्व मे आ। यही जिन वाणी का सार है और यही मुक्तात्मा का स्वरूप है। 'नमः सिद्धेभ्यः' !

अन्त मे हम लिख दे और लिखते भी रहे हैं कि जो विचार हम देते है वे विचार के लिए होते हैं—किसी आग्रह के बिना। विचारिए और सोचिए।

—*—

—सम्पादक

---

* ग्रन्थो में गाथा के दूसरे पद का अर्थ—'सर्वथा उसका अभाव भी नही है' ऐसा किया गया है। हमारी दृष्टि मे यह न्याय्य नही ठहरता। हां, यदि 'य' शब्द के स्थान पर 'वि' शब्द होता तो उक्त अर्थ 'वि' (अपि) के कारण ठीक बैठ जाता—यह विचारणीय है। फिर यदि चेतना के कारण कदाचित् जीव की कथंचित् (प्रसग मे) सत्ता भी स्वीकार कर ली जाय तो उसे भी 'कर्मोपाधि—सापेक्षज्ञानदर्शनोपयोग चैतन्य प्राणेन जीवति इति जीवः' के प्रकाश मे बाधित ही माना जायगा। 'अशुद्ध चेतना लक्षणो जीवः, शुद्धचेतना लक्षणः सिद्धः ।'

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० १ जनवरी-मार्च १९८७

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विनयावनत-विनय

इस अंक में धवला के **'सिद्धा ण जीवा'** के पोषण में हमारा लेख है। प्रस्तुत विषय में अब हम और क्या लिखें ? फिलहाल जितना आवश्यक समझा लिख दिया। अब तो धवलानुकूल किसी निष्कर्ष पर पहुंचने-पहुंचाने के लिए इसे विद्वानों को स्वयं ही आगे बढ़ाना-बढ़वाना है। विषय पेचीदा तो है ही—इसमें दो रायें नहीं। हाँ, हम यह संकेत और दे दें कि हम कई मनीषियों की इस बात से भी सहमत नही कि—'सिद्धों में जीवत्व उपचार से है।' क्योंकि आचार्य को उपचार में सत्यपने का अभाव इष्ट है और हम सिद्धों में असत्यपने का आरोप करना इष्ट नही समझते। आचार्य ने स्पष्ट ही कह दिया है—'उवयारस्स सच्चत्ताभावादो।'—

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि लोग संस्कार-वश आगम के बहुत से कथनों को अपनी सही या गलत धारणाओं की ओर मोड़ते रहे हैं। सिद्धों के स्वाभाविक शुद्ध चेतनत्व जैसे भाव की उपेक्षा कर, उसे जीवत्व जैसे औदयिक भाव की मान्यता में बदल लेना और जीव के पारिणामिक भाव का अर्थ न समझना, या उसे चेतन का भाव मान लेना गलत धारणाओं का ही परिणाम है। वास्तव में तो धवला की मान्यता में चेतनत्व और जीवत्व दोनों में संज्ञा और गुणों की अपेक्षा से भेद है—चेतनसंज्ञा और गुण दोनों व्यापक हैं जो संसारी और सिद्ध सभी आत्माओं में हैं और जीवत्व संज्ञा और गुण दोनों व्याप्य हैं जो मात्र संसारियों में हैं। कृपया विचारिए और पत्राचार द्वारा संशोधन के लिए निर्देश दीजिए कि क्या, जीवत्व और सिद्धत्व ये दोनो चेतन की पृथक्-पृथक् अशुद्ध और शुद्ध दो स्वतन्त्र पर्याएं नहीं ?

हमारे उक्त लेख के बाद भी जिन्हें धवला के 'सिद्धा ण जीवा' और 'जीवभावो औदइओ' जैसे कथनों मे विरोध दिखे या शंकाएँ हों वे उनके समाधान का बोझा हम पर न डाल, जैन-आगमो में गोता लगाएँ, बुद्धि का व्यायाम करें, उन्हें स्वयं ही समाधान मिलेगा—उनकी विरोध-भावना विलय होगी--हम उन्हें तुष्ट करने या किन्ही प्रश्नों के उत्तर देने का भार लेने को तैयार नही। यतः—कथन आचार्यों के है। हमें तो ग्रन्थराज और आचार्यों के वाक्य प्रमाण है और इसीलिए उनको समन्वयपूर्वक समझने की कोशिश कर रहे है। यदि किन्ही को आगम के उक्त कथन पर श्रद्धा न हो और वे सिद्ध को जीव-सज्ञक सिद्ध करने के भाव बनाएँ तो हम क्या करें ? हम तो आचार्य मन्तव्य के पोषण में श्रद्धापूर्वक जैसा लिख सके लिख दिया। जँचे तो मानें, हमारा आग्रह नही।

वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज
नई दिल्ली—२

विनीत :
पद्मचन्द्र शास्त्री
संपादक—अनेकान्त

ओम् अर्हम्
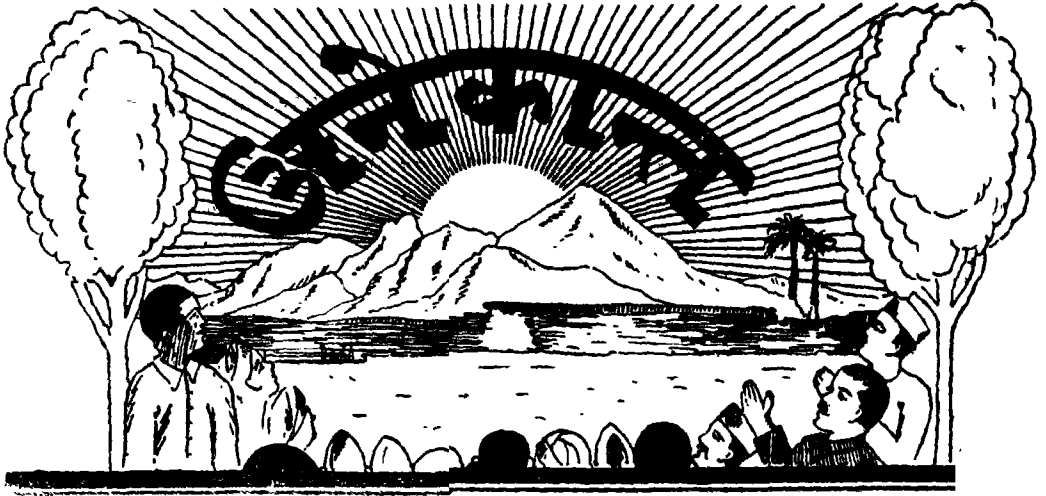
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४० किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१३, वि० सं० २०४३ | जनवरी-मार्च १९८७

अनेकान्त-महिमा

अनन्त धर्मणस्तत्त्वंपश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।
जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ।।'
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।'
भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ।।'
परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण ।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत् कल्याण ।।
'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ।।

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति – जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे— हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे ।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु— असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो ।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धांत के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूँ ।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप, सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिन के (अनेकान्त गर्भित बचन के भद्र (कल्याण) हों । □□

जैन परम्परा में भगवान राम एवं राम-कथा का महत्व

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

इक्ष्वाकु की सन्तति में उत्पन्न सूर्यवंशी रघुकुल-तिलक दाशरथी अयोध्यापति मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचद्र का पुण्य चरित्र अखिल भारतीय जनता में चिरकाल से अत्यन्त लोकप्रिय एवं व्यापक प्रभाव वाला रहता आया है। ब्राह्मणीय पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार उनका जन्म त्रेता-युग में हुआ था, और दशावतारी परिकल्पना मे उन्हें भगवान विष्णु का सातवां अवतार मान्य किया गया है। अनुमानतः ईसा पूर्व द्वितीय शती के लगभग रचित संस्कृत भाषा के आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण मे रामकथा सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में प्रकाश में आई तदनन्तर अन्य अनेक छोटी-बड़ी तद्विषयक रचनाएँ उदय मे आती गयीं। किन्तु ईश्वरावतार के रूप मे भगवान राम की भक्ति-पूजा-उपासना का प्रचार मध्यकाल मे ही हुआ। ब्राह्मण परम्परा में शिवोपासना तो ईसा पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी, विष्णु की उपासना गुप्तकाल मे भागवत धर्म के उदय के साथ प्रारम्भ हुई। वैसे १२वीं ई० के प्रारम्भ में वैष्णव सम्प्रदाय के सर्वोपरि पुरस्कर्ता रामानुजाचार्य द्वारा ही वैष्णव धर्म का सुव्यवस्थित प्रचार प्रसार प्रारम्भ हुआ। उन्ही की शिष्य परम्परा मे उत्पन्न रामानन्द स्वामी ने वैष्णव सम्प्रदाय की राम-भक्ति शाखा का प्रचार-प्रसार किया, जिससे भगवान राम की सगुण भक्ति को प्रभूत उत्कर्ष प्राप्त हुआ और १६वीं शती ई० के अन्त के लगभग इसी रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी तुलसीदास द्वारा हिन्दी की अवधी बोली मे रचित रामचरित मानस ने तो भगवान राम की सगुण पूजा-उपासना की सुदृढ़ एवं व्यापक नींव जमा दी। प्रायः उसी युग मे हिन्दी तथा बंगला, गुजराती मराठी आदि अन्य जन जन भाषाओं मे भी अनेक रामकथायें लिखी गयी। राम-साहित्य का वैपुल्य एव वैविध्य उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता गया। रामकथा की लोकप्रियता इसी तथ्य से प्रकट है कि भारतीय संस्कृति से प्रभावित बृहत्तर भारत के अग लंका, जावा, सुमात्रा, स्याम, बर्मा, चम्पा काम्बुल आदि पूर्वीय देशों एवं द्वीपों में भी रामकथा के अपने-अपने संस्करण प्रचलित हो गए, और फारसी, तुर्की आदि मध्य एशियाई भाषाओं मे भी रामकथा के अनुवाद आदि हो गए। आधुनिक युग मे तो कामिल बुल्के प्रभृति कई पाश्चात्य विद्वानो ने भारतवर्ष मे रह कर तथा कई अन्यो ने विभिन्न यूरोपीय देशों मे रामकथा या राम-साहित्य की प्रभूत गवेषणा की है।

अवश्य ही रामभक्ति और रामकथा का व्यापक प्रचार-प्रसार ब्राह्मणीय परम्परा के वैष्णव हिन्दुओ मे, और सो भी मध्यकाल मे ही, विशेष हुआ। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि राम कथा का पुण्य चरित्र उन्ही की बपौती रहा या उन्ही तक सीमित रहा। भारतीय सस्कृति सुदूर इतिहासातीत काल से द्विविध सहोदरा धाराओ में प्रवाहित होती आई है, जिनमे से एक तो आर्हत, व्रात्य श्रमण या निर्ग्रन्थ कहलायी और जिनका प्रतिनिधित्व जैन परम्परा करती है। ईसा पूर्व छठी शती मे उक्त श्रमण धारा में से कई अन्य शाखायें भी फूट निकली थीं, यथा बौद्ध, आजीविक आदि। अन्य शाखाएँ तो कालांतर मे समाप्त हो गयी। किन्तु तीर्थंकर वर्धमान महावीर (ई० पू० ५९९-५२७) के कनिष्ठ समकालीन तथागत गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण रहा, उसका व्यापक प्रचार भी हुआ, और लंका, बर्मा, इंडोनेशिया, स्याम, तिब्बत, चीन, जापान आदि विदेशो मे अभी तक भी है। यद्यपि स्वय महादेश भारतवर्ष से वह मध्यकाल के प्रारम्भ के लगभग प्रायः तिरोहित हो गया था, तथापि उसके प्राचीन धार्मिक साहित्यक की जातक-कथामाला मे दशरथ जातक नामक रामकथा का बौद्ध रूप उपलब्ध है। वह अति सक्षिप्त भी है, और ब्राह्मण तथा जैन रामकथाओ से अनेक अशो मे भिन्न भी हैं। उसके अतिरिक्त समग्र बौद्ध साहित्य मे शायद ही कोई अन्य रचना रामकथा विषयक है।

जैन परम्परा की बात इससे सर्वथा भिन्न है। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार भारत-क्षेत्र के आर्य खण्ड के मध्य-देश में मानवी सभ्यता एवं कर्म युग के आद्य पुरस्कर्ता प्रथम तीर्थंकर आदिपुरुष ऋषभदेव थे। ब्राह्मणीय परम्परा की २४ अवतारों की परिकल्पना में भी इन नाभेय ऋषभ-

देव को भगवान विष्णु का सातवां अवतार मान्य किया गया है। ऋषभदेव का एक नाम इक्ष्वाकु भी था, जिसके कारण उनकी सन्तति इक्ष्वाकु वंशी कहलाई। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती सर्वप्रथम सार्वभौम सम्राट हुए। और उन्हीं के नाम से यह महादेश भारतवर्ष कहलाया। भरत के ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी अर्ककीर्ति थे जिनसे यह कुल-परम्परा आगे सूर्यवंशी भी कहलाने लगी। इसी वंश परम्परा में सगर, भगीरथ, रघु, दशरथ आदि अनेक प्रतापी नरेश हुए, जिन सबकी राजधानी भगवान ऋषभ एवं भरत-चक्री की जन्म एवं लीला भूमि महानगरी अयोध्या (अपर नाम साकेत, विनीता, कोसलपुरी आदि) रहती रही। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में उत्पन्न अयोध्यापति महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र महाराज रामचन्द्र हुए। समस्त रामायणों या रामकथाओं के प्रधान नायक यह श्री रामचन्द्र ही हैं। जैन परम्परा में उनका अपरनाम 'पद्म' विशेषकर उनके मुनिजीवन एवं तपश्चरण काल में विशेष प्रसिद्ध रहा, अतएव जैन रामकथायें बहुधा पद्मचरित या पद्मपुराण नाम से प्रसिद्ध हुई। राम की गणना जैन परम्परा में सर्वोपरि महत्व के त्रेसठ-शलाकापुरुषों में की गई है। वह 'बलभद्र' पदधारी चरम-शरीरी-तद्भव मोक्षगामी महापुरुष थे। जीवन की संध्या में उन्होंने संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर, राज्य पाट पुत्रों को सौंपकर, सर्वथा निस्संग होकर, वन की राह ली और निर्ग्रन्थ मुनि के रूप में तपस्या की। फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त करके वह अर्हन्त परमात्मा हो गए, और अन्त में मोक्ष या निर्वाण लाभ करके सिद्ध परमात्मा बन गए। उनकी धर्मपत्नी जनक सुता वैदेही सीता की गणना जैन परम्परा की सर्वोपरि सोलह महासतियों में की जाती है। भगवान राम से सम्बद्ध भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, लव, कुश, हनुमान, सुग्रीव, बालि, रावण आदि अन्य अनेक व्यक्ति भी जैनों के पुराण प्रसिद्ध महत्त्व के रहे हैं। अतः जैन परम्परा में रामकथा की अपनी एक स्वतन्त्र धारा स्वयं राम के युग से प्रवाहित रहती आयी।

जिस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में रामकथा का मूलाधार मुख्यतया बाल्मीकीय रामायण है और बौद्ध परम्परा में दशरथ-जातक, जैन परम्परा में उसका मूल-स्रोत ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों की वाणी पर आधारित तथा परम्परया प्रवाहित श्रुतागम था। अन्ततः अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति ने, ई० पू० छठी शती के मध्य के लगभग, उक्त श्रुतागम को अन्तिम रूप से ग्रंथित एवं वर्गीकृत किया और उसे द्वादशांग-श्रुत का रूप दिया। इन अंगों में से बारहवें— दृष्टि प्रवादांग का तृतीय विभाग प्रथमानुयोग अपरनाम धर्म कथानुयोग था, जिसमें त्रेसठ-शलाकापुरुषों तथा अन्य अनेक पुराणप्रसिद्ध पुरुषों एवं महिलाओं के चरित्र वर्णित थे, और अन्य अनेक पुराणैतिहासिक अनुश्रुतियां निबद्ध थीं। ये वर्णन अपेक्षाकृत संक्षिप्त एवं अल्पकाय थे। अंतिम श्रुत केवलि आचार्य भद्रबाहु प्रथम (ई० पू० ३६४-३६५) पर्यन्त प्रथमानुयोग का यह ज्ञान अक्षुण्ण रहा, किन्तु तदनन्तर उसमें शनैः शनैः ह्रास होने लगा, और उसका सारभाग 'गाथानिबद्ध नामावलियों' एवं 'कथासूत्रों' के रूप में ही प्रवाहित होता रहा। इन्हीं दोनों स्रोतों के तथा परम्परा में प्राप्त तत्सम्बन्धी अन्य मौखिक अनुश्रुतियों के आधार पर कालान्तर में जैन पुराणों, चरित्र-ग्रन्थों एवं तदाधारित अन्य कृतियों की प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, हिन्दी, गुजराती मराठी आदि विभिन्न भाषाओं तथा विभिन्न शैलियों में सुविज्ञ आचार्यों, कुशल कवियों एवं साहित्यकारों द्वारा रचना हुई। परिणामस्वरूप अपने वैपुल्य एवं वैविध्य की दृष्टि से जैन रामकथा साहित्य को भारतीय रामकथा राम-कथा साहित्य में स्पृहणीय स्थान प्राप्त हुआ।

यह ध्यातव्य है कि जैन परम्परा में रामकथा की दो स्पष्ट धारायें प्राप्त होती हैं। प्रधान पात्रों के नामादि, प्रमुख घटनाओं, स्थूल क्रमादि के विषय में विशेष अन्तर न होते हुये भी दोनों में परस्पर अनेक अन्तर भी है, जो उक्त धाराओं के प्रतिनिधि ग्रंथों के अवलोकन तथा तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हैं। प्रकाशित ग्रंथों के सम्पादकों तथा कई आधुनिक शोधार्थियों ने अपने शोध प्रबंधों में उन पर उचित प्रकाश भी डाला है। प्रथम धारा का प्रतिनिधित्व विमलार्य का प्राकृत पउम चरिय (महावीर निर्वाण सं० ५३०=सन् ३ ई०) करता है, जो बाल्मीकीय रामायण के प्रकाशन-प्रचार के संभवतया एक-

(शेष पृ० ४ पर)

हिन्दी जैन महाकाव्यों में श्रृंगार रस

□ डा० इन्दुराय

काव्य का प्रयोजन उपदेश आदि कुछ भी हो उसका असाधारण तत्व 'रस' ही है। रसोत्पत्ति का स्थान मानव हृदय है और रसावस्था का सम्बन्ध अतीन्द्रिय जगत से है। काव्य से निरतिशय सुखास्वादरूप आनन्द की उपलब्धि का साधक तत्व 'रस' ही माना जाता है। जैन साहित्य में अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो को अथवा आत्मन्मुख पुरुषार्थ को 'रस' कहा गया है। डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री के शब्दों में "जब तक आत्मानुभूति का रस नहीं छलकता रसमयता नही आती। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव जीव के मानसिक, कायिक एवं वाचिक विकार हैं स्वभाव नहीं अतः रसों का वास्तविक उद्भव इन विकारों के दूर होने पर ही हो सकता है।"[1] इस भांति तो लौकिक रूप में रस 'विरस' है परन्तु सामान्य अर्थों में, साहित्य में 'रस' की प्रतिष्ठा भिन्न रूप में हुयी। यहाँ यह एक विशिष्ट एवं पारिभाषिक अर्थ का बोधक शब्द है। काव्य शास्त्र में काव्य के अध्ययन, श्रवण एवं रूपक दर्शन से उद्भूत आनन्द को रस कहा गया है। 'रस्यते इति रसः' के अनुरूप रस मे आस्वाद-नीयता का गुण प्रमुख है और इस आस्वाद का सम्बन्ध आत्मा तथा उसकी अनुभूति से है जिह्वा से नहीं।

वस्तुतः भावाभिव्यक्ति ही 'रस' है। काव्य का पाठक भावो की विस्तार दशा मे ही रस का आस्वादन करता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था को रसदशा कहते हैं उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा कहा जा सकता है। ऐसी मान्यता है कि 'रस' का साहित्य के सन्दर्भ मे सर्वप्रथम प्रयोग भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में हुआ। उनके अनुसार "विभानुभाव व्यभिचारी-संयोगाद्रसनिष्पत्ति." (यह सूत्र भी लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित है)। इसी सूत्र के आधार पर 'साहित्य दर्पण-कार', विश्वनाथ ने व्याख्या की कि सहृदय हृदय में (वासना रूप में विराजमान) इत्यादि स्थायी भाव जब (कवि वर्णित) विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा व्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद या आनन्द रूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जाया करते हैं। परन्तु अनुभाव विभाव आदि के सम्मिलन से किस प्रकार रस की निष्पत्ति है इस विषय पर शंकुक, भटलोल्लट, अभिनव गुप्त, कुन्तक विश्वनाथ एवं चिन्तामणि आदि आचार्यों ने अपने-अपने पृथक सिद्धान्त प्रतिपादित किए है। उनका वर्णन यहाँ प्रासगिक नहीं है।

काव्य मे रसो की संख्या का प्रश्न भी अब विवादास्पद हो गया है। भरत मुनि ने इस प्रकरण में आठ स्थायी भावों के अनुकूल आठ रसो (शृंगार, हास्य, वीर करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स एव अद्भुत) का उल्लेख किया है परन्तु काव्यशास्त्रियों ने विचार किया कि आलम्बन भेद से एक ही स्थायी भाव एकाधिक रसो की निष्पति में समर्थ हो सकता है अतएव कालांतर में 'रति' स्थायी भाव से उत्पन्न वात्सल्य एवं भक्ति रस को प्रतिष्ठा मिली। शान्त को भी स्वतंत्र रस माना गया। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय शान्तरस की भित्ती पर ही प्रतिष्ठित है। वस्तुतः वर्तमान मनीषा रसों को संख्याबद्ध करने के ही पक्ष मे नहीं है।[2]

सारतः रसभावना ही काव्य का साध्य है और अभिव्यंजना उसका साधना जिसमे समुचित शब्दार्थ योजना का औचित्य या इतिकर्त्तव्यता स्वभावतः सिद्ध है। इस साध्य (रस निष्पत्ति) का महत्व महाकाव्यों में और भी व्यापक, वस्तुतः अनिवार्य-सा हो जाता है। महाकाव्यों में उत्पाद्य, अधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं तथा विभिन्न

(पृ० ३ का शेषांश)

डेढ़ शती भीतर ही रचा गया और कथ्य मे उसके बहुत कुछ निकट है। इसी धारा के दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ रविषेण का संस्कृत पद्मचरित या पद्मपुराण (६७६ ई०), जो किन्हीं अनुत्तरवाग्मी कीतिधर की अद्यावधि अनुपलब्ध कृति के आधार पर रचा गया था, तथा महाकवि स्वयंभू की अप-भ्रंश रामायण (लगभग ८०० ई०) है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्ठ-शलाका-पुरुषचरित (ल० ११५० ई०) में भी प्रायः इसी धारा को अपनाया। उत्तरवर्ती जैन रामकथाकारों में भी यही धारा अधिक लोकप्रिय रही। दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व आचार्य गुणभद्र की उत्तरपुराण (ल० ८५० ई०) करती है। दसवीं शती ई० पुष्पदन्त की अप० महापुराण एवं चामुण्डराय की कन्नड़ महापुराण में और मल्लिषेण आदि की परवर्ती महापुराणों में प्रायः इसी धारा की कथा का अनुसरण किया गया है। □□

रुचि एवं स्वभाव वाले पात्रों की अवस्थिति के कारण रसों के समावेश की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। तदपि रस का सफल निर्वहण अत्यंत कठिन कार्य है क्योंकि प्रबन्धकार को सम्बन्ध निर्वाह, वस्तुगति, घटनाक्रम, चरित्र योजना, औचित्य, उद्देश्य आदि कितने ही बिन्दुओं पर दृष्टि रखनी पड़ती है।

समीक्ष्य हिन्दी जैन महाकाव्यों=(पं० अनूप शर्मा कृत 'वर्द्धमान'; धीरेन्द्रप्रसाद जैन रचित 'तीर्थंकर भगवान महावीर' एवं 'पार्श्व प्रभाकर'; धन्यकुमार जैन 'सुधेश रचित' 'परम ज्योति महावीर'; डा० छैलबिहारी गुप्त रचित 'तीर्थंकर महावीर', रघुवीर शरण 'मित्र' रचित' 'वीरायन' तथा अभयकुमार यौधेय रचित 'श्रमण भगवान महावीर चरित्र') में रस आयोजन का कार्य अत्यंत कठिन हो गया है क्योंकि सभी काव्यो के नायक तीर्थंकर हैं जो स्वभाव से अरागी होते हैं तथा उनके समग्र जीवन में भी रागात्मक घटनाओं का घात-प्रतिघात नगण्य होता है। अतएव तीर्थंकर के जीवन वृत्त पर आधारित प्रबन्ध मे शान्त, भक्ति करुण तथा वीर रसों का समायोजन तो सम्भावित है किन्तु सर्वाधिक दुरूह है, दुर्वह है श्रृंगार रस की निष्पत्ति। तदपि आलोच्य कृतियों मे श्रृंगार रस के परिपाक का प्रयास कवियों ने अपनी-अपनी दृष्टि-भावना अनुरूप किया है।

मानव जीवन में सबसे अधिक व्यापक, उत्तेजक, प्रभाव एवं सक्रिय वृत्ति 'रति' है। रति श्रृंगार रस का स्थायी भाव है। महाकवि बनारसी दास ने श्रृंगार रस का स्थायी भाव 'शोभा' माना है जो बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि शोभा गुण या विशेषण है स्थायी भाव नहीं। श्रृंगार रस के दो भेद माने गए हैं—संयोग तथा वियोग (या विप्रलम्भ)। नायक नायिका के परस्पर अनुकूल दर्शन, स्पर्श, आलिंगन चुम्बन, समागम आदि व्यवहार को संयोग कहते हैं इसके विपरीत पंचेन्द्रियो के सम्बन्धभाव को वियोग श्रृंगार कहते हैं। वियोग केवल समागम अभाव की दशा नहीं मिलन के अभाव की भी दशा है। विप्रलम्भ श्रृंगार के पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण चार भेद तथा प्रत्येक के उपप्रभेद भी हैं। श्रृंगार रस का महत्व इस दृष्टि या तथ्य से स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत प्रायः सभी संचारी, भाव स्थायी भाव अनेकों अनुभाव, सात्विक भाव, काम की विभिन्न अवस्थाएं, नायक नायिका भेद, दूती या सखी भेद आदि समाविष्ट हो जाते हैं। श्रृंगार ही एकमात्र ऐसा रस है जो उभयनिष्ठ है अर्थात् जिसमें आश्रय और आलम्बन एक दूसरे को उद्दीप्त करते है तथा मिश्र भाव से घनिष्ठ भी हैं।

समीक्ष्य महाकाव्यों में संयोग श्रृंगार रस की व्यंजना मुख्यतः तीन (आश्रय) माध्यमो से हुयी है। प्रथम तीर्थंकर के माता-पिता के अनुराग या पारस्परिक प्रणय व्यापार वर्णन में दूसरी, वर्धमान एव यशोदा के सम्मिलन वर्णन में तथा तीसरी अप्सराओं द्वारा नायक की साधना में उपसर्ग उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रदर्शित काम चेष्टाओं के चित्रण मे। वियोग श्रृंगार रस के स्थल आलोच्य महाकाव्यों में अत्यल्प है। विभिन्न प्रबन्धो मे श्रृंगार रस—आयोजन का स्वरूप निम्नलिखित है।

'वर्द्धमान'—'पं० अनूप शर्मा रचित इस महाकाव्य के नायक वर्द्धमान महावीर हैं। वीतरागी तीर्थंकर के जीवन में अनुराग का स्थान कहाँ? वर्द्धमान के हृदय का समस्त राग (रति) मुक्ति वधू के वरण को व्यग्र है किसी लौकिक रमणी की प्राप्ति को उद्विग्न नही अतः जहाँ तक नायक के माध्यम से श्रृंगार रस व्यजना का प्रश्न है कवि ने, वर्द्धमान के स्वप्न मे 'दिव्य विवाह' की अवतारणा कर दी है।' इस सन्दर्भ मे डा० प्रेमनारायण टण्डन का मत है "गेह त्याग के बाद वर्द्धमान का जीवन इतना नीरस है कि वह काव्यका अंग नहीं बन पाता, महाकवि ने विस्तृत दर्शन-मरुस्थल में मुक्ति विवाह के रूप में एक रम्य निकुंज की रचना कर दी है।'[४] तदपि यह प्रसग रसोद्रेक मे सक्षम है।

महाकाव्यकार ने नायक के जीवन मे रागात्मक न्यूनता को राजदम्पति (वर्द्धमान के माता-पिता) के प्रेमालाप तथा प्रणयकेलि चित्रण द्वारा दूर किया है। कुल ५ सर्गों वाले इस महाकाव्य के प्रारम्भिक सात सर्गों में कवि ने केवल सिद्धार्थ त्रिशला के पारस्परिक अनुराग, स्नेहाकर्षण व प्रेम भाव का विशद-व्यापक वर्णन किया है। नवयौवना पत्नी (त्रिशला) की वल्लरी के समान कोमल देहयष्टि मृणाल जैसे सुडौल हस्त, श्रीफल जैसे पुष्ट उरोज, पिक कूजन सम मधुर वाणी मराली जैसी चाल, मृगी समान सुन्दर नेत्र, बंकिम चितवन आदि सिद्धार्थ के चित्त को चचलोद्दीप्त करते रहते हैं तथा उस अनिंद्य रूप माधुरी

का आकण्ठ पान करने की इच्छा से ही वे सहस्रचक्षु एवं सहस्रबाहु होने की कामना करते है।[५] इन रसमय चित्रणो से आगे बढ़कर कवि राजदम्पति के समागम वर्णन में तन्मय हो गया है, जिसमे 'रस' परिपोष अवस्था तक पहुंच गया है अर्थात् 'रति भाव अपने अनुभावो सचारो भावों, विभावों आदि सभी अवयवो से सम्पुष्ट होकर रस निष्पत्ति मे पूर्णतः सफल है। आश्रय व आलम्बन ने एक दूसरे को समान रूप से उद्दीप्त करके रस सचार को और भी प्रभावी बना दिया है --

महीप के काम प्रसक्त व वय से
स-वेग तारल्य-युता हुयी प्रिया
वसत का स्पर्शहुआ कि आम्र का
शरीर सर्वांग प्रफुल्ल हो गया।

हुयी तभी सो भुज पजर-स्थिता
समाकुला वाल - कुरग - शावकी,
नितात शुक्लाम्बरा थी अभी अभी
निरवरा भूपति-भामिनी हुयी।[६]

प्रणय प्रसग मे ही अनूप जी ने आगे त्रिशला को 'नवार्जिका' व 'प्रशान्त साध्वी' समान चित्रित करके भाव के उदात्तीकरण का प्रयास किया है। कवि के शब्दों में—

उरोज निर्लेप बने मृगाक्षी के
सु-केश भी बन्धन हीन हो गए
मनोज्ञ कांची अति निर्गुणा हुई
'नवार्जिका' सी त्रिशला प्रतीत थी।

नितात नीरजन नेत्र थे तथा
विराग से ओष्ठ हुए पवित्र थे
महान निर्वेद हुआ रतान्त मे
प्रशान्त साध्वी सम थी नृपागना।[७]

उपर्युक्त वर्णनो के औचित्य (आश्रयगत) पर आक्षेप किए गए है।[८] वैसे भी विद्वानो ने शृंगार रस की उच्चता स्वीकार करते हुए उसे शारीरिक वासना से पृथक रखने का उपदेश किया है। वियोग शृंगार के उदाहरण प्रस्तुत महाकाव्य मे दुर्लभ हैं।

परम ज्योति महावीर'—महाकाव्य में भी वियोग शृंगार नगण्य है। सयोग-शृंगार रस की व्यंजना 'सुधेश' जी ने नायक (महावीर) के माता-पिता के सम्मिलन वर्णन द्वारा की है। रसमय पावस ऋतु मे प्रकृति मे सर्वत्र व्याप्त प्रेम व्यापार सिद्धार्थ त्रिशला को भी कामोद्दीप्त करता है परन्तु कवि ने शील का निर्वाह करते हुए सम्भोग का चित्रण नही किया है केवल इतना "इसके आगे की केलि-कथा का वर्णन कवि को इष्ट नही।"[८] लिखकर संतुष्ट हो गए हैं। तदपि सुरति के अन्त मे त्रिशला के आह्लादित अगो का चित्रण करके अभीष्ट व्यजित कर दिया है—

क्रम से अवयव निश्चेष्ट हुए
तन्द्रा में मग्न हुयी रानी
पर नृप के लोचन सजग रहे
बन उस मोहक छवि के ध्यानी।[९]

इस भाति मर्यादित वर्णन द्वारा कवि ने रसमयता का सचार कर दिया है। महाकाव्यकार ने त्रिशला के 'व्रीडा' एवं 'लज्जा' भाव की भी सुन्दर अभिव्यक्ति की है।[१०] यद्यपि ये प्रसग रस निष्पत्ति मे सफल नही है परन्तु भाव व्यजना प्रभावकारी ..। इसी प्रकार लोकोत्तर सौन्दर्य के स्वामी राजकुमार महावीर से विवाह करने को समुत्सुक राज कन्याओ की, अभिलाषा' और 'पूर्वराग' व्यंजना[११] मे रस का सुमधुर आभास मिलता है।

'पार्श्व प्रभाकर'—कवि वीरेन्द्रप्रसाद जैन के इस प्रबन्ध काव्य मे शृगार रस का कही भी परिपाक नही हो सका है। आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत के पालक पार्श्वनाथ के जीवन में स्नेहरागात्मक सम्बन्धो का निदर्शन सम्भव न था अतः कवि ने कुमार पार्श्व के हृदय मे क्षणमात्र को उद्भूत होने वाली काम भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति कर दी है[१२] जिनमे शृगार का रसाभास अवश्य होता है। वस्तुत ये भाव शान्तरसावसित है। पार्श्वनाथ के जनक जननी के सयोगवर्णन मे रस निष्पत्ति की सम्भावना थी किन्तु कवि ने उस प्रेमानुराग को केवल दो पदो मे इस प्रकार वर्णित किया है जिसमे न भावोत्कर्ष हो सका है और न कलात्मक सौन्दर्य का समावेश।

'तीर्थंकर भगवान महावीर'—वीरेन्द्रप्रसाद जैन इस महाकाव्य मे भी शृगार रस के सफल आयोजन मे अक्षम रहे है। वस्तुत उनका अभीष्ट ही शान्त, करुण एवं वीर रस की निष्पत्ति रहा है।[१३] शृगार रसाभासी स्थल काव्य नायक (कुमार महावीर) की युवावस्था में पनपी काम भावनाओ तक सीमित हैं। यौवन के आगमन पर हृदय मे वासना भाव की जागृति सहज स्वाभाविक है। कुमार वर्द्धमान का मन-खग भी कल्पना के नभ मे मधुर-मदिर स्वप्न रु.जाता है, हृदय सुरीले राग सुनने की इच्छा

करता है" परन्तु ये भाव क्षणस्थायी है क्योंकि नायक ज्ञानी है, विवेकी है अत: रति भाव के प्रसरण से पूर्व ही उसे दमित-विजित कर लेता है। अतएव यहाँ शृगार रस का परिपोष नही हो पाया है। कवि ने राजकुमार महावीर के सौन्दर्य पर विमुग्ध तरुणियो के 'पूर्वराग' एव 'दिवा-स्वप्न' देखने की सहज प्रवृत्ति की मार्मिक भाव-यजना की है।[१५] नवयौवना राजकुमारी यशोदा के मनोभाव चित्रण मे ही 'शृंगार' की अभिव्यक्ति मार्मिक एव प्रभावकारी बन पड़ी है। रूप गर्विता यशोदा, महावीर की पति रूप मे कामना करती है, मिलन से पूर्व हृदय पट पर प्रिय के विविध चित्र सवारती है और प्रिय के सौन्दर्य के दर्शनार्थ द्वार पर आ खड़ी होती है परन्तु वीतरागी वर्द्धमान नतदृग आगे बढ जाते हैं। अत: प्रिय की (आलम्बन) उदासीनता से रस की सपूर्ण निष्पत्ति नही हो पायी है। तदपि यह शृगार रसभासी मधुर प्रसग है।

तीर्थंकर महावीर—महाकाव्यकार डा० छैलबिहारी गुप्त ने प्रस्तुत कृति मे शृगार रस की नितात उपेक्षा की है। सिद्धार्थ त्रिसला की परस्पर प्रेम व्यजक पक्तियो मे इसका आभास तक नही होता। कवि ने नायक (वर्द्धमान महावीर) के यौवन काल का उल्लेख तक आवश्यक नही समझा है। बाल-काल क्रीडा वर्णन के तुरत पश्चात् वर्द्धमान को तीस वर्षीय तपस्वी रूप मे प्रस्तुत कर दिया है अत. शृगार रस निष्पत्ति का कही अवकाश ही नही है।

वीरायन—महाकवि रघुवीर शरण 'मित्र' ने शृगार रस आयोजन के अवसर सिद्धार्थ-त्रिशला के प्रणय विलास मे ढूढ़ लिए है। कवि ने त्रिशला के पूर्वराग की बड़ी मधुर व्यजना की है। राजा सिद्धार्थ से विवाह निश्चित होने का समाचार त्रिशला मे स्त्री सुलभ 'लज्जा' का सचार करता है तथा वे भविष्य के मीठे सपने सजोने लगती है। इन पूर्वानुभूतियों की शृगारिक अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है—

आग उठने लगी जो सुहाने लगी,
एक लज्जा हृदय को लुभाने लगी।
चाँदनी रात के सपने आने लगे,
आयु फल बात रस की बताने लगे॥[१६]

जब आशाओं उमगो से भरपूर, नवयौवना त्रिशला का सिद्धार्थ से सयोग होता है तो प्रेमाधिक्य में दोनो सुध-बुध बिसरा देते है। आश्रय-आलम्बन का भेद मिट जाता है। मित्र जी ने पति-पत्नी समागम के व्यापक वर्णन का साहस किया है जिसमे विभाव-अनुभावादि के सपोषण से शृगार रस की सफल निष्पत्ति हुयी है—

राजा पीते थे रूपसोम, मद मे कम्पित था रोम रोम
उपवन के पत्ते हिलते थे, कलियों से भौरे मिलते थे
बुझ बुझ कर आग सुलगती थी, उलझन मे प्रिया उलझती थी
नारी ने सीखी नयी कला, मन उमड़ा तन उमड़ा मचला।[१७]

उपर्युक्त के अतिरिक्त कामदेव दारा प्रेरित अपसराओं द्वारा साधरारत महावीर को तपस्याच्युत करने के प्रसग मे भी शृगार रस व्यजना प्रभावशाली है। साधक महावीर का सुदर्शन व्यक्तित्व अप्सराओ को अत्यधिक प्रेमोद्दीप्त करता है और वे काम चेष्टाए प्रदर्शित करती हुयी सयोग को व्याकुल हो उठती है[3]—परन्तु यहाँ भी आलम्बन (महावीर) की तटस्थता एवं आश्रय की पराजय से रस की सम्पूर्ण निष्पत्ति नही हुयी है।

'वीरायन' मे वियोग शृगार सम्बन्धी एक मार्मिक स्थल है। कलिंग नरेश जितशत्रु की अतीव सुन्दरी षोडशी कन्या यशोदा के हृदय मे कुमार महावीर से विवाह की उमग जागृत हो चुकी है। उसे मीठे मधुर स्वप्न देखने, अपनी कोमल कल्पना का ताना बाना बुनने और अभि-लाषाओं को साकार होते देखने का अवसर मिल पाता कि उससे पूर्व ही महावीर (प्रिय) के विरागी होकर साधना हेतु निष्क्रमण की सूचना मिल जाती है। कोमल हृदया यशोदा विरह व्यथा मे डूब जाती है। वह साधारण नारी की भाति मूर्छित नही होती पर प्रिय को उपालम्भ अवश्य देती है—

पहले चाह व्याह की भर दी,
अब विरक्ति के गीत गा रहे।
तन मे मन मे आग लगाकर,
स्वामी! तुमको योग भा रहे॥[१८]

लेकिन किंचित् विचार मथन के बाद प्रिय के महत्कार्य का ज्ञान हो जाने पर यशोदा 'जिस रूप मे भी सम्भव हो प्रिय की अनुगामिनी-सहयोगिनी बनना चाहती है। कवि ने विरहिणी यशोदा के भावोत्कर्ष की हृदयस्पर्शी अभि-व्यजना की है—

तुम तप करने को जाते हो, मैं बदली बनकर साथ चली।
तुमको न धूप लगने पाये, इसलिए धूप मैं स्वय जली॥

प्रभु तुम जिस पथ से जाओगे, मेरी काया छाया होगी।
मेरे प्रभु बाल ब्रह्मचारी, पूजा तेरी माया होगी ॥[९]

श्रमण भगवान महावीर चरित्र—महाकाव्यकार अरुणकुमार यौधेय ने कथ्य वर्णन में श्वेताम्बर परम्परा का अनुसरण किया है जो वर्द्धमान महावीर एवं यशोदा के विवाह का अनुमोदन करती है अतः प्रस्तुत प्रबन्ध मे श्रृंगार रस निष्पत्ति सम्बन्धी विशिष्टता यह है कि कवि ने महावीर को काम क्रीडा मे मग्न व्यंजित करने का साहस किया है। कुमार महावीर का यशोदा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वासना प्रेरित हो जाना पात्रगत औचित्य की दृष्टि से विवाद का विषय हो सकता है परन्तु यह मानवीय प्रवृत्ति के सहज अनूकूल है। प्रतिक्रियात्मक शैली में चित्रित महावीर-यशोदा सभागम की व्यजना रसोद्रेक में सक्षम है—

एक घड़ी ऐसी आयी थी जीवन मे,
सागर, नदिया से मिलने को था भागा ॥
टूट गयी डोर वासना जीत गयी,
मधुर मिलन मे घडिया कितनी बीत गयी।
पंख लगाकर प्यार गगन मे विचर गया,
थी अनग की सत्ता जैसे जीत गयी।
काया मे काया के घुलने की बेला,
आलिंगित हो जैसे धरती और गगन।[१०]

बाद मे यौधेय जी ने महावीर के अन्तर्मन मे वासना और विवेक का सघर्ष तथा विवेक की विजय प्रदर्शित करके 'काम' को निर्वेदोन्मुख कर दिया है। साधक महावीर को तपस्या से डिगाने हेतु अप्सराओं द्वारा प्रदर्शित कामुक चेष्टाओं के चित्रण भी श्रृंगार रसाभासी स्थल हैं।[११] कवि ने राजा सिद्धार्थ एव रानी त्रिशला के प्रेमपूर्ण मिलन का जो वर्णन किया है वह अत्यंत मर्यादित है और वहाँ श्रृंगार रस की निष्पत्ति भी नही हो सकी है।[१]

रघुवीरशरण मित्र की भाँति यौधेय जी ने यशोदा की विरह अभिव्यक्ति माध्यम से वियोग श्रृगार का समायोजन किया है। यशोदा का वियोग करुण मिश्रित प्रवास जन्य विरह है जिसमे प्रिय से पुनर्मिलन की क्षीण-सी आशा भी नही। कवि ने विरह व्यथिता यशोदा की 'स्मृति' 'व्यथा' एव 'चिता' आदि की हृदयहारी अभिव्यजना की है।[२२] तदुपरात इस विकल वेदना को प्रिय (महावीर) के प्रति अनन्य भक्ति भाव मे परिणत कर भावोत्कर्ष का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकांश महाकाव्यकारो ने पात्रो की चारित्रिक गरिमा से अभिभूत होते हुए तथा धार्मिक विश्वासो की सीमाओ को स्वीकारते हुए श्रृंगार चित्रण के अल्प प्रयत्न किए हैं। पं० अनूप शर्मा 'मित्र' जी एव 'यौधेय' जी ने कल्पना का सहारा लेते हुए साहसिक प्रयास किए है और श्रृगारिक स्थलो की उद्भावना की है। देखना यह है कि भविष्य के साहित्य निर्माता सीमाओ के बन्धन में ही रहते है या कुछ नवीन सम्भावनाए, इस दिशा में, सम्मुख लाते है।

लखनऊ

सन्दर्भ-सूची

१. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन—पृष्ठ २२४-२२५
२. विस्तृत विवेचन हेतु देखें पुस्तक—'आधुनिक युग मे नवीन रसों की परिकल्पना।' लेखक—डा० सुन्दरलाल कथूरिया।
३. वर्द्धमान—प० अनूप शर्मा, पृष्ठ ३५६
४. अनूप शर्मा : कृतिया और कला—सम्पादक डा० प्रेमनारायण टण्डन, पृ० ५०
५. वर्द्धमान—प० अनूप शर्मा पृ० ८५-८६
६. वही, पृ० ८६ ७. वही, पृ० ६१
८. अनूप शर्मा : कृतियां और कला—सम्पा० डा० प्रेमनारायण टण्डन
९. परम ज्योति महावीर—धन्यकुमार जैन 'सुधेश', पृ० ६३
१०. वही पृ० ६५
११. परम ज्योति महावीर—धन्यकुमार जैन 'सुधेश', पृ० १५१
१२. वही, पृ० २७०-२७१
१३. पार्श्व प्रभाकर—वीरेन्द्र प्रसाद जैन, पृ० १२५-१२६
१४. तीर्थंकर भगवान महावीर — वीरेन्द्रप्रसाद जैन, पृ० 'दो शब्द' के अन्तर्गत
१५. वही, पृ० ६५ १६. वही, पृ० १०७
१७. वही, पृ० ११०-१११
१८. वीरायन—रघुवीरशरण मित्र पृ० ८३
१९. वही, पृ० ८४ २०. वही, पृ० २८३-२८५
२१. वही, पृ० २४८ २२. वही, पृ० २५५

मूलाचार व उसकी आचार वृत्ति

❑ श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

वट्टकेराचार्य विरचित 'मूलाचार' यह एक श्रमणाचार का प्ररूपक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है जो बारह अधिकारो में विभक्त है। चारित्रसार, आचारसार और अनगार-धर्मामृत आदि उसके पीछे इसी के आधार पर रचे गए हैं। प्रस्तुत ग्रंथ पर आचार्य वसुनन्दी द्वारा 'आचारवृत्ति' नामकी एक उपयोगी विस्तृत टीका लिखी गई है जैसा कि 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित इस मूलाचार के संस्करण सम्बन्धित 'प्राद्य उपोद्घात' से स्पष्ट है, उस पर एक 'मुनिजन चिन्तामणि' नाम की टीका मेघचन्द्राचार्य द्वारा कानड़ी भाषा में भी लिखी गई है[1] (पृ० १८)। आ० वसुनन्दी सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् रहे है। वे सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के अधिकारी उल्लेखनीय ज्ञाता रहे हैं उन्होंने अपनी इस वृत्ति में प्रसगानुसार आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) के 'जैनेन्द्र व्याकरण' का आश्रय लिया है। इस वृत्ति की रचना मे उन्होने अपने से पूर्वकालीन अनेक आगम ग्रथो का आश्रय ही नहीं लिया, बल्कि उन ग्रन्थो के प्रसंगानुरूप अनेक सन्दर्भों को भी इसमे आत्मसात् कर उसे पुष्ट व विस्तृत किया है जिनमें षट्खण्डागम, चारित्रप्राभृत, सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्रव्याकरण, तत्त्वार्थवार्तिक, ष० खं० की टीका धवल., पचसग्रह[2] और गोम्मटसार प्रमुख है। इस सबका स्पष्टीकरण आगे उदाहरणपूर्वक किया जायगा। विशेषता एक आ० वसुनन्दी की यह रही है कि उपर्युक्त ग्रथो से प्रसगानुरूप सन्दर्भों को इस टीका मे गर्भित करते हुए भी उन्होने कही किसी ग्रन्थ विशेष का या ग्रथकार का उल्लेख नही किया है। यही नही, कही 'उक्त च' आदि जैसा सामान्य निर्देश करके भी उन्होने उसकी सूचना नहीं की। अपवाद के रूप में एक आध बार उन्होंने 'तथा चोक्तं प्रायश्चित्तग्रंथेन एकस्थानमुत्तरगुणः, एकभक्तं तु मूलगुणः इति'। इस प्रकार का सामान्य निर्देश करके भी वह प्रायश्चित्तग्रंथ कौनसा व किसके द्वारा रचा गया है, इसका भी कुछ स्पष्टीकरण नही किया। यही कारण है जो उन्हें इस वृत्ति मे अपने विवक्षित अभिप्राय को प्रायः कहीं भी प्राचीन आगम वाक्यों को उद्धृत कर उनके द्वारा पुष्ट नही करना पड़ा—जैसा कि बहुधा पूज्यपाद, भट्टाकलंकदेव वीरसेन आदि अन्य कितने ही आचार्यों ने किया है।

प्रस्तुत ग्रथ का एक संस्करण उक्त 'आचारवृति' के साथ विक्रम संवत् १६७७ और १६८० में मा० दि० जैन ग्रंथमाला बम्बई से दो भागो में प्रकाशित किया गया था। हस्तलिखित प्रतियो पर से उसे प्रकाशित करने का यह प्रथम प्रयास था। उसके प्रकाशित करने में भी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां नही उपलब्ध हुईं। इसके अतिरिक्त उस समय साधन सामग्री की कमी के साथ संशोधक विद्वान् भी उपलब्ध नही हुए। इससे उसमें अशुद्धियाँ बहुत रही हैं, जिन्हें अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। इससे उसके प्रामाणिक शुद्ध सस्करण की अपेक्षा बनी रही है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, उसका दूसरा एक संस्करण 'आ० शा० जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था फलटण' से भी प्रकाशित हुआ है। उसकी प्रति उपलब्ध न होने से मुझे उसके विषय मे अधिक कुछ जानकारी नही है।

---

१. यह टीका और 'आचार्य शा० जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था—फलटण' से प्रकाशित वह प्रति मुझे उपलब्ध नही हो सकी।

२. वृत्तिकार ने 'पचसग्रह' का उल्लेख इस प्रकार किया है—'सग्रहः पंचसंग्रहाबयः'। ज्ञा० पी० सं० गा० २७६, पृ० २३६ (सम्भव है उससे भा० ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'पचसग्रह' का ही अभिप्राय उनका रहा हो)।

अभी हाल में उसका एक अन्य सस्करण उक्त आचार वृत्ति और आर्यिका ज्ञानमती माता जी के द्वारा किये गए अनुवादादि से सम्पन्न भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा क्रम से ई० सन् १९८४ व १९८६ मे दो भागो मे प्रकाशित किया गया है। उसके अनुवाद आदि कार्य के करने में माता जी ने पर्याप्त परिश्रम किया है। किन्तु पूर्व सस्करण मे जो प्रचुर अशुद्धियां रही है वे प्रायः सभी इस सस्करण में भी दृष्टिगोचर होती रही है। इसके लिये कानड़ी लिपि मे लिखित प्राचीन दो चार ताड़पत्रीय प्रतियो से उसके सावधानतापूर्वक पाठ मिलान की आवश्यकता रही है। यदि उनसे पाठ मिलान कर उसे तैयार किया गया होता तो उसका एक प्रामाणिक शुद्ध सस्करण इस प्रकार का बन जाता जिस प्रकार का एक **तिलोयपण्णत्ती** का शुद्ध प्रामाणिक संस्करण **आर्यिका विशुद्धमती** माता जी द्वारा प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से पाठ मिलान के साथ अनुवाद आदि कार्य करके तैयार किया गया है।

मूलाचार के अध्ययन की आवश्यकता

वर्तमान मे साधु-साध्वियो की सख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। उनमे सामान्य श्रमणाचार से कितने परिचित रहते है, यह कहना कठिन है। नवीन दीक्षा देने के पूर्व यदि अपने सघ की सख्या वृद्धि की अपेक्षा न रखकर दीक्षोन्मुख आत्महितैषी को दीक्षा ग्रहरा के लिए कुछ समय देकर इस बीच उसकी धर्मानुरूप प्रवृत्तियों पर ध्यान देते हुए उसे २८ मूलगुण, आहार-ग्रहण और अन्यत्र विहार आदि करने की विधि से परिचित करा दिया जाय तथा सामान्य तत्वो का भी बोध करा दिया जाय और तत्पश्चात् दीक्षा दी जाय तो ऐसा करने से नव-दीक्षित साधु और दीक्षादाता आचार्य दोनो का ही हित है[1]। यह कण्टकाकीर्ण मार्ग वस्तुतः आत्मकल्याण का है, पर का कल्याण भी इसमे गौण है; इसे कभी भूलना न चाहिए। उक्त विधान के पश्चात् यह भी आवश्यक है कि संघस्थ साधु-साध्वियो को मूलाचार जैसे श्रमणाचार के प्ररूपक ग्रन्थ का पूर्णतया अध्ययन कराकर उन्हें श्रमणाचार मे निष्णात करा दिया जाय। यदि यह स्थिति बनती है तो उससे साधु संघ की प्रतिष्ठा के साथ सघस्थ मुनिजनों का आत्मकल्याण भी सुनिश्चित है, जिसके लिए उन्होने घर-द्वार और परिवार आदि को छोड़ा है। साथ ही दिन-प्रति दिन जो समाचार पत्रो मे व परस्पर की चर्चा-वार्ता मे साधु-साध्वियो से सम्बन्धित अनेक प्रकार की आलोचनायें देखने-सुनने एव पढ़ने को मिलती है वे भी सम्भव न रहेंगी।

मूलाचारके शुद्ध प्रामाणिक संस्करणकी आवश्यकता

इसके लिये बहुत समय से मेरी यह अपेक्षा रही है कि इस महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ का एक प्रामाणिक शुद्ध सस्करण तैयार कराया जाय। यह श्रेयस्कर कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब उसकी प्राचीनतम हस्तलिखित दो-चार प्रतियो को प्राप्त कर उनके आश्रय से पाठो का मिलान करा लिया जाय। यह महत्त्वपूर्ण धर्म प्रभावक कार्य पूज्य **आचार्य विद्यासागर जी** जैसे श्रमण के द्वारा सहज मे सम्पन्न हो सकता है। पू० आ० विद्यासागर जी जैसे सिद्धात के मर्मज्ञ है वैसे ही वे सस्कृत-प्राकृत के विद्वान् होने के साथ कानडी भाषा और लिपि के भी विशिष्टज्ञाता है। उनके सघ मे कुछ अन्य मुनि भी कानडी से परिचित है। इससे धर्मानुरागी कुछ आगमनिष्ठ सद्-गृहस्थो के द्वारा दक्षिण (मूडविद्री व श्रवणबेलगोला आदि) से ग्रन्थ की कुछ प्राचीनतम प्रतियो को प्राप्त करके

---

१. प्रस्तुत मूलाचार के ही 'समाचार' अधिकार के अनुसार दीक्षोन्मुख की तो बात क्या, किन्तु एक सघ का साधु यदि विशेष श्रुत के अध्ययनार्थ दूसरे संघ में आचार्य की अनुज्ञा से जाता है तो एक या तीन दिन उसे विश्राम कराते हुए इस बीच उसके आचरण आदि की परीक्षा की जाती है। यदि वह आचरण मे विशुद्ध प्रमाणित होता है तो उसे अपने सघ मे स्वीकार कर यथेच्छ श्रुत का अध्ययन कराया जाता है। इसके विपरीत यदि वह व्रताचरण से अशुद्ध प्रतीत होता है तो सघ मे नही लिया जाता है। यदि कोई आचार्य व्रताचरण मे अयोग्य या शिथिल होने पर भी उसे ग्रहण करता है तो उस आचार्य को भी प्रायश्चित्त के योग्य कहा गया है (देखिये गा० १६३-६८)। यही पर पीछे एकाकी विहार करने का भी कठोरतापूर्वक प्रतिषेध किया गया है। (गा० १४७-५०)।

उन्हें समर्पित कराई जा सकती है। इस संघ की यह भी एक विशेषता है कि तत्वाचर्चा और स्वाध्याय आदि के अतिरिक्त वहां अन्य कोई चर्चा नही देखी सुनी जाती। वर्तमान मे उसकी प्रतियों के प्राप्त करने में पूर्व के समान कठिनाई नही रहेगी। इस प्रकार से इस सघ मे ग्रंथ के वाचनपूर्वक पाठो का मिलान सहज मे कराया जा सकता है, जिससे उसके शुद्ध प्रामाणिक सस्करण के तैयार होने मे कुछ कठिनाई नही रहेगी।

दोनों संस्करणगत अशुद्धियां

ऊपर जो मैंने इन दोनों सस्करणो के अन्तर्गत उपलब्ध कुछ अशुद्धियो का निर्देश किया है उनमे प्रामाणिकता की दृष्टि से यहां मैं कुछ थोडी-सी विशिष्ट अशुद्धियो का उल्लेख कर देना चाहता हूं। जिससे त्यागीवृन्द व विद्वज्जन प्रस्तुत ग्रंथ के शुद्ध प्रामाणिक सस्करण की आवश्यकता का अनुभव कर सके। यथा—

मा० ग्रं० मा० सस्करण गाथा	ज्ञा० पी० सस्करण पृष्ठ	अशुद्ध पाठ	उसके स्थान मे सम्भव शुद्ध पाठ
१-४ वृत्ति	८	प्राणव्यपरोपण प्रमाद:	प्राणव्यपरोपण हिंसा, प्रमाद:
१-२४	३१	स्तुते:	नुते:
१-३४	४४	मिथस्तस्य	स्थितस्य
१-३५	४५	महापुरुषाचरणार्थं	महाव्रताचरणार्थं
,,	,,	अन्यथार्थत्वात्	अन्यार्थत्वात्
,,	४७	विपरीत गतस्य	विपरीततां गतस्य
,,	,,	श्रद्धान	श्रद्धानं
३-५	६६	उपक्रम: प्रवर्तन	उपक्रम: अपवर्तन
४-१	१०६	'कायाः' तस्	'कायास्तस्'
४-२	१०८	सहस्य स:, समान	'सहस्य स' समान
४-१२	११६	पडिछ्णाए	पडिच्छणाए
४-१४	११८	उदभ्रम एवोद्भ्रमको	उद्भ्रम एवोद्भ्रामको
४-१७ (मूल)	११६	पुच्छयमण्ण	पुत्थयमण्णं[1]
४-२५	१२५	भट्टारकपादप्रसन्नै:	भट्टारकपादपादप्रसन्न:
४-२७	१२६	गृहीतार्थश्च	गृहीतार्थस्य
४-२८ (मूल)	१३४	सायरसरसो	सायरसरिसो (वृत्ति मे शुद्ध है)
४-५६ (मूल)	१४७	उव्वट्ठुण	उव्वट्टण
,, (वृत्ति)	१४८	श्रावकादिभि·	श्राविकादिभि:
४-६८ (मूल)	१५४	परियट्टे	परियट्टे
४-७० (मूल)	१५६	सहत्थति	सहच्छति[1]
४-७५ (मूल)	१५६	चरित	चरति (वृत्ति में शुद्ध है)

१. कानडी लिपि मे बहुधा 'त्थ' और 'च्छ' के लिखने मे वर्णव्यत्यय हुआ है—'त्थ' के स्थान मे 'च्छ' और 'च्छ' के स्थान मे 'त्थ' लिखा गया है। देखिये आगे गा० ४-७० व ज्ञा० पी० स० में गा० १६१ (पृ० १५६) मे 'सहत्थंति' का टिप्पण 'अच्छति' तथा आगे गा० ५-१७६ (ज्ञा० पी० स० ३६३, पृ० २६६ मे 'पत्थिदस्स' के स्थान मे 'पछि[च्छि]दस्स' लिखा गया है।

बम्बई सं० गाथांक	ज्ञान पी० सं० पृ०	अशुद्ध पाठ	उसके स्थान में सम्भव शुद्ध पाठ
५-४	१६६	सर्वथानुपवर्तनं	सर्वथानुप्रवर्तनं
५-६	१६६	ज्ञानरूपमुपचारो	ज्ञानरूपत्वमुपचारो
,,	,,	यत्प्रधानं	यत् श्रद्धानं
५-२८ (मूल)	१८८	संवग्गीण	सव्वंगीणं (गो० जी० ११५)
५-३०	१६०	(भव्व) भव्वा निर्वाण-पुरस्कृता: (अभव्वा-) अभव्यास्तद्विपरीता	भव्वाभव्वा भव्या निर्वाण-पुरस्कृता: अभव्यात्तद्विपरीता
५-३५	१६६	पुनरूपिणोऽजीव:	पुनररूपिणो जीवा:
५-६१ (मूल)	२१६	वागणुवादारि	वागणुवागादि (वृत्ति में शुद्ध है)
,,	,,	तुच्छाणित्तिण गे०	तुच्छाणि ताणि ण गे०
,, (वृत्ति)	२१७	यजुर्वेदार्थर्वणादय:	यजुर्वेदाथर्ववेदादय:
५-७०	२२२	अमुख्यं प्रत्यक्षेन्द्रिय	अमुख्यं प्रत्यक्षमिन्द्रिय
५-७५	२२८	सर्वासु सध्यादावन्ते	सर्वासु संध्यास्वादावन्ते
५-११३	२५८	नापि तं (?) (देवैर्दत्तो	नापितैर्देवैर्दत्तो
५-११४	,,	तथैव (व) ह्रस्व	तथैव ह्रस्व
५-११५	२५६	पल्लत्थे(ज्ञा०पी०'पल्हत्थे')	पल्लट्टे (गो० जी० २२३)
५-१२१	२६६	मध्यान्हादरात् (ज्ञान पी० टिप्पण मे शुद्ध है)	मध्याह्लादारात्
,,	,,	संहृत्यावसथो दूरतो	सहृत्यावसथाद् दूरतो
,,	२६७	स (श) तन	शातन
५-१२७	२७२	स्थानं वानुज्ञाप्य	स्थानं नानुज्ञाप्य
५-१६५	२६३	सभावनं	स-भावनं
५-१७१	२६६	श्रुतं पठनयत्नं	श्रुतपठने यत्न:
५-१७६ (मूल)	२६६	पछिदस्सणुसाधण (ज्ञा० पी० 'साहूणं')	पत्थिदस्सणुधावणं
,, (वृत्ति)	,,	करकुंडलेना०	करकुड्मलेना०
५-१८१	३०२	अहीलं अपरिभवचन	अहीलणं अपरिभववचनं
,,	,,	कृष्णादिक्रिया (दि) रहितं	कृष्यादिक्रियारहितं
५-१८२	,,	सम्यग्विराधना	सम्यक्त्वविराधना
५-१८४	३०३	उपकारे	उपचारे
५-२१०	३२१	वेदास्त्रय:। रागाहास्यादय:	वेदास्त्रय: रागा: । हास्यादय:
५-२१६ (मूल)	३२४	जहाथाणं	जहाथामं[1] (पु० ८, सूत्र ४१, पृ० ८६)

---

१. बलोवीरियं थामो इदि एयट्ठो । धवला पु० ८, पृ० ८६

बम्बई सं० गाथांक	ज्ञान पी० सं० पृ०	अशुद्ध पाठ	उसके स्थान सम्भव शुद्ध पाठ
६-५	३३३	श्रवणो	श्रमणो
,,	३३३-३४	पाखण्डिष्वध्यासकर्मणो	पाखण्डिष्वस्याधःकर्मणो
,,	३३४	तेन गृहस्थाः। साधवः	ते न गृहस्थाः, साधवः
६-२२	३४५	जंतुना	जतुना
६-३३	३५४	सकृत्रिमभेदभिन्न	सकृत्रिमाकृत्रिमभेदभिन्नं
६-५५	३६७	जुगुप्सा ततश्चेति	जुगुप्सातश्चेति
६-५८	३६८	गृद्धयामुक्त. आहार-मभ्यवहरति[२]	गृद्धया युक्तः आहरति आहार-मभ्यवहरति
६-६०	३६९	भुक्ते, प्राणादश	भुंक्ते, न प्राणादश
,,	३७०	नातिमात्र धर्म	नात्र धर्म (ज्ञा० पी० सस्करण का टिप्पण=जो कदाचित् शुद्ध हो सकता है)
६-६१	,,	। तितिक्षणाया	। तिरक्खणे तितिक्षणायां
६-६२	३७?	यद्येवमर्त्थं	यद्येतदर्थं
६-"७	३७५	भक्षादिके	भक्ष्यादिके (ज्ञा०पी०—टिप्पण मे शुद्ध है)
६-६८ (मूल)	,,	गयेसमाणो	गवेसमाणो

विचारणीय कुछ ऐसे पाठ जो प्रतिमिलान की अपेक्षा रखते हैं

गाथा या वृत्ति	ज्ञा० पी० स० पृष्ठ	प्रतिमिलान के लिये अपेक्षित पाठ विशेष
१-६ (वृत्ति)	१२-१३	सदाचाराचार्यान्यथार्थकथने दोषाभावो वा सत्यमिति सम्बन्धः ।× × ×सदाचारस्याचार्यस्य स्खलने दोषाभावो वा ।
१-३५	४५	भुंजे भुंक्ष्व वचसा वचसा न भणामीति चतुर्विधाहारस्याभिसन्धि-पूर्वक कायेनादान (वचन सम्बन्धी कारित व अनुमति से सम्बद्ध पाठ स्खलित दिखता है, अनुवाद मे उसे मूल के बिना ले लिया गया है।)
,,	४६	'तदुभयोज्झनमुभयम्' ('उभय' प्रायश्चित्त से सम्बद्ध यह पाठ निश्चित ही अशुद्ध है, देखिये आगे गा० ३६२ की वृत्ति में 'उभय' प्रायश्चित्त का लक्षण-उभयं-आलोचन-प्रतिक्रमणे)
३-५	६६	उपक्रमः प्रवर्तन अस्तित्व । (यह पाठ अशुद्ध है, उसके स्थान में 'उपक्रमः अपवर्तन' पाठ होना चाहिये, आगे गा० १२-८३ (ज्ञा० पी० सं० २, पृ० २७१) की वृत्ति मे उसका लक्षण—उपक्रम्यते इति उपक्रमः विष-वेदन······आयुषोघातः, ऐसा निर्दिष्ट किया गया है। देखिये त० भाष्य २-५२ मे 'उपक्रमोऽपवर्तन-निमित्तम्')

२. ज्ञा० पी० संस्करण में 'गृ-द्धयाद्यायुमुक्तः आहरत्यभ्यवहरति' ? ऐसा पाठ है।

गाथा या वृत्ति	ज्ञान पी० सं० पृ०	प्रतिमिलान के लिए अपेक्षित पाठ विशेष
४-४	१११	नाय पृच्छाशब्दोऽपशब्दः । उत्सर्गापवादसमावेशात् (?) । अनुवाद अस्पष्ट है ।
४-२४	१२३	तुम्हे महद्गुरुकुले (ज्ञा० पी० सं० 'त्वद् महद्गुरुकुले')
४-२७ (मूल)	१२६	बिदिओऽगिहीदत्थससिदो [बिदिग्रोगिहिदत्थसंसिदो]
४-३०	१२८ (गा० १५१)	नमोस्तूनां शासने (ज्ञा० पी० सं० टिप्पण मे 'सर्वज्ञाना शासने')
४-३१ (मूल)	१२६ (गा० १५२)	साणागेणादि (ज्ञा० पी० स० 'साणगोणादि') [साणगोणसादि]
,, (वृत्ति)	,,	श्वगवादय.
४-५८ (मूल)	१४७ (गा० १७६)	कहा व सल्लावणं (वृत्तिगत पाठ भी विचारणीय है)
४-६३	१५१	अल्पगुह्यदीर्घस्तब्धः प्रश्नवादिरहितः (?)
४-७०	१५६	प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'असण्णिवाए' का ग्रभिप्राय अस्पष्ट है, वृत्तिकार को उसे तीन विकल्पो में स्पष्ट करना पडा, फिर भी वह सन्तोषजनक नही है । प्रसग कुछ दुरूह है या अशुद्ध भी हो सकता है ।
५-३८	१६६ (ज्ञा०पी० स०)	पूर्वगाथार्थेनास्य गाथार्थस्य नैकार्थ(?) बन्धास्रवोपकारेण प्रतिपादनात् (यहाँ एक विशेषता यह रही है कि **शुद्ध उपयोग को पुण्यास्रवरूप निर्दिष्ट किया गया है**) ।
५-३६ (मूल)	२००	णेहोउप्पिदगत्तस्स (?)
५-४७	२०४	जीवस्वरूपान्यथाकरणस्सोऽनुभागबन्धः [जीवस्वरूपान्यथाकरणं सोऽनुभाग बन्धः]
,,	,,	योगाज्जीवाः (?) प्रकृतिबन्ध [प्रदेशबन्ध] च करोति ।
५-५७	२१३	उण्हा—उष्ण पूर्वोक्तप्रकारेण सन्निधानाच्छीताभिलाषकारणादित्य-ज्वरादि सन्तापः (?)
५-५६ (मूल)	२१५ (गा० २५६)	ससत्तीए [स्वशक्त्या] वृत्तिकार के अर्थ को देखते हुए 'सव्वसत्तीए' पाठ सम्भव है ।
५-६५ (मूल)	२१६ (गा० २६२)	हिदमिदमवगूहिय (?)
५-७०	२२२	अमुष्य प्रत्यक्षेन्द्रिय- [प्रत्यक्षं इन्द्रिय-] विषयसन्निपाता······ ईषत्प्रत्यक्षभूत । परोक्षं [ईषत् प्रत्यक्षभूतं परोक्षं] श्रुतानु······ भेदेनानेकप्रकारं, [प्रकार ।] श्रुत······मतिपूर्वक इन्द्रिय··· ·· विज्ञान । यथाग्निशब्दात् खर्परविज्ञानं (?) ।
,,	२२३	शूना (?) पीनांगोदेवदत्तो
५-७५	२२८	सर्वासु सन्ध्यादावन्ते [सर्वासु सन्ध्यास्वादावन्ते]
५-६६ (मूल)	२४७	पचण्हंपि यन्हयाणमावज्जणं (?)
,, (वृत्ति)	,,	पचानामप्यह्ववाना ब्रतानामावर्जन भंगः ।
५-११४	२५८	तथैव (व) ह्रस्व [तथैव] ह्रस्व
५-११५	२५६	यदुत नाम तथा न सम्पादयेदभिनीता [सम्पादयेदित्यभिनीता]

गाथा या वृत्ति	ज्ञान पी० सं० पृ०	प्रतिमिलान के लिए अपेक्षित पाठ विशेष
५-१२१	२६५	मुनिरित्याशंकायामाह चकार (र) सूचितार्थं (?)
५-१२७	२७२	यदि प्रथमस्थानं शुद्धं द्वितीयं तृतीयस्थानं वानुज्ञाप्य [वाननुज्ञाप्य]
५-१३९	२७७	अत्रोकारस्य ह्रस्वत्व प्राकृतबलात् द्रष्टव्य (प्रसंग ?)
५-१४२ (मूल)	२७८-७९	······समणुण्णमणाअणण्णभावो वि चत्तपडिसेवी (?)
,,	,,	वृत्तिका पाठ व अनुवाद भी विचारणीय है।
५-१४५ (मूल)	२८१ (गा० ३४२)	स मणागवि किं (पाठान्तर—'समुहदो च किं')
५-१५८	२८९	···तेषा यन्नानाविधान नानाकरण तस्य ग्रहण (?)
५-१८१	३०२ (मूल)	
	(गा० ३७८)	गिहत्थवयणमकिरियमहीलणं (?)
,,	(वृत्ति)	वृत्तिगता पाठ विचारणीय है।
५- ९० (मूल)	३०७ (गा० ३८७)	आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तमोधिनिज्जजा (?)
५-१९३	३०९	दुःशीले वा दुर्बले व्याख्याक्रान्ते वा (?)
,,	,,	कुले शुक्रकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने
५-१९४	,,	वाचनाव्याख्यानविकिंचनमूत्र (?)

इस प्रकार से यहा कुछ थोडी-सी अशुद्धियों और विचारणीय स्थलो का दिग्दर्शन कराया गया है, वैसे अशुद्धियां बहुत दिखती है। पिण्डशुद्धि मे जो श्रमणाचार से अधिक सम्बद्ध है, ऐसे अनेक स्थल है जिनका अभिप्राय समझना कठिन हो रहा है। अन्तिम बारहवे अधिकार मे, विशेषकर गा० १५४-२०६ (अन्त तक) मे, अधिक अशुद्धियां उपलब्ध हैं। इससे प्रस्तुत ग्रन्थ का प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो से मिलान करने की अत्यधिक आवश्यकता है।

ग्रन्थान्तरों के सन्दर्भ :

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, वृत्तिकार आ० वसुनन्दी ने अपने पूर्वकालीन अनेक ग्रन्थों से प्रसंगानुरूप सन्दर्भ लेकर अपनी उस वृत्ति को पुष्ट किया है। उनमें कुछ इस प्रकार है—

१. षट्खण्डागम—मूलाचार गाथा १२–२०० व २०१ में निर्दिष्ट ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने उन मूल प्रकृतियों के साथ उनकी उत्तर प्रकृतियो की भी उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया है, जो षट्खण्डागम से प्रभावित ही नही, यथा प्रसग उसके सूत्रों को उसी क्रम से संस्कृत छायानुवाद के रूप में उन दोनों गाथाओं की वृत्ति में आत्मसात् कर लिया है। यथा—

(क) पचण्ह णाणावरणीयाण नवण्ह दसणावरणीयाणं असादावेदणीय पचण्हमतराइयाणमुक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तीसं सागरोवम कोडाकोडीओ। षट्ख० सूत्र १, ९-६ ४, (पु० ६, पृ० १४६)

(क) पचाना ज्ञानावरणीयाना नवानां दर्शनावरणीयाना सातवेदनीयस्यासातवेदनीयस्य पंचांतरायाणां चोत्कृष्ट स्थितिबन्धो स्फुट त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः। मूला वृत्ति १२–२०० (ज्ञा० पी० स० २, पृ० ३७६)

यहां 'सातावेदनीय' का उल्लेख प्रमादवश हुआ है जो निश्चित ही अशुद्ध है। सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति यही पर आगे गा० २०१ की वृत्ति (ज्ञा० पी० स० २ पृ० ३७७) में पृथक् से पन्द्रह कोड़ाकोड़ी प्रमाण निर्दिष्ट की गई है।

ख) सादावेदणीय-इत्थिवेद-मणुसगदि-मणुसगदिपाओग्गाणुपुव्विणामाणमुक्कस्सओ ट्ठिदिबधो पण्णारस सागरोवमकोडाकोडीओ ष० ख० सूत्र १, ९-६, ७।

सातवेदनीय - स्त्रीवेद - मनुष्यगति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नामुत्कृष्टा स्थितिः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः। मूला० वृत्ति १२-२०१.

(ग) मिच्छत्तस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधोसत्तरिसागरो-वमकोडाकोडीओ। ष० ख० सूत्र १, ६-६, १०।

[मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सप्ततिसागरोपम-कोटीकोट्यः]

यहां कोष्ठकगत [......] यह सन्दर्भ यहाँ निश्चित ही दोनो संस्करणों मे छूट गया है।

(घ) सोलसण्हं कसायाणं उक्कस्सगो ट्ठिदिबधो चत्तलीसं सागरोवमकोडाकोडीओ।

ष० ख० सूत्र १, ६-६, १३

षोडशकषायाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धश्चत्वारिंशत्-कोटीकोट्यःसागराणा [सागरोपमानाम्]। वही वृत्ति०।

आगे इस वृत्तिगत उत्कृष्ट स्थिति से सम्बद्ध प्रसग का यथा-क्रम से षट्खण्डागम के इन सूत्रो से शब्दश. मिलान किया जा सकता है— १६, १६, २२ २६, ३०, ३३, ३६, ३६, ४२ (मा० ग्र० स० २, पृ० ३१५ व ज्ञा० पी० स २, पृ० ३७७-७८)

(क) यहाँ वृत्ति में नपुसकवेद को लेकर नीचगोत्र पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति को प्रगट करते हुए 'अयश.कीति' के आगे 'निर्माण' का उल्लेख रहना चाहिये था, जो नही हुआ है।

(ख) इसी प्रकार आहारकशरीरागोपांग और तीर्थंकर प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण करते हुए प्रारम्भ में 'आहारक शरीर' का भी उल्लेख किया जाना चाहिये था, जो नही किया गया है।

प्रस्तुत वृत्ति में इस उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रसग के आगे यह कहा गया है—

सर्वत्र यावन्त्य. सागरोपमकोटीकोट्यस्तावन्ति वर्ष-शतान्याबाधा। कर्मस्थितिः कर्मनिषेक.। येषा तु अन्त-कोटीकोट्य. स्थितिस्तेषामन्तर्मुहूर्त आबाधा। आयुषः पूर्वकोटित्रिभाग उत्कृष्टाबाधा, आवाधानां (ज्ञा० स० पृ० ३७८ 'आवाधोना') कर्मस्थितिः कर्मनिषेक इति।

इस प्रसंग का मिलान यथाक्रम से षट्खण्डागम के इन सूत्रो से कर लीजिये—

तिण्णि वाससहस्साणि आबाधा। सूत्र १, ६-६, ५ (पूर्व सूत्र ४ से सम्बद्ध) आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ। सूत्र १, ६-६, ६ व ६, १२, १५, १८, २१, ३२ ३५, ३८ और ४१।

आहारसरीर-आहारसरीरगोवंग - तित्थयरणामाणमु-क्कगोट्ठिदिबंधो अंतोकोडाकोडीए: अंतोमुत्तमाबाधा। सूत्र १, ६-६, ३३-३४।

णिरयाउ-देवाउअस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधोतेत्तीसं सागरोवमाणि, पुव्वकोडितिभागो आबाधा, आबाधा, कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ। सूत्र १, ६-६, २२-२५।

यहां उपर्युक्त वृत्ति मे आयु से सम्बद्ध 'आबाधोना (मा० ग्र० स० 'आबाधाना') कर्मस्थितिः 'कर्मस्थिति-कर्मनिषेक." का अनुवाद नही किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि आयु कर्म के आबाधाकाल के भीतर अपकर्षण उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के द्वारा उसकी निषेक स्थिति में कुछ बाधा नही होती, जिस प्रकार कि ज्ञानावरणादि अन्य कर्मों के आबाधा काल के भीतर अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के द्वारा निषेक स्थिति मे बाधा होती है। देखिये षट्खण्डागम सूत्र १, ६-६, २४ और २८ (पु० ६, पृ० १६८ और १७१)।

इसके आगे इसी वृत्ति में यह प्रसंग प्राप्त है जो शब्दश धवला से समान है—

एकेन्द्रियस्य पुनर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्ध एकं सागरोपमम्। कषायाणा सप्त चत्वारो भागाः। ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तराय - सातवेदनीयामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सागरोपमस्यत्रयः सप्तभागाः। नाम-गोत्र-नोकषायाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ।[2] (क्रमशः)

---

१. यह पाठ अशुद्ध दिखता है। उसके स्थान मे कदाचित् ऐसा पाठ रह सकता है—'अबाधा, कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः।'
इसका अभिप्राय यह होगा कि आयु कर्म के निषेक आधाधाकाल के भीतर उत्कर्षण-अपकर्षण आदि की बाधा से रहित होते है, अर्थात् अबाधाकाल के भीतर उसकी निषेक स्थिति में उत्कर्षण आदि के द्वारा बाधा नही होती, जिस प्रकार की बाधा ज्ञानवरणादि अन्य कर्मों की निषेक स्थिति मे सम्भव है।

२. देखिये धवला पु० ६, पृ० १६४-६५, आगे जो वृत्ति में एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति से सम्बन्धित अंकसंदृष्टि दी गई है वह भी यहां धवला में तदवस्थ है।

सिरसा से प्राप्त जैन मूर्तियाँ

□ विद्यासागर शुक्ल रिसर्च स्कोलर

हरियाणा के पश्चिमी भाग मे स्थित सिरसा पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका प्राचीन नाम शौरीषक था जिसका उल्लेख अष्टाध्यायी, महाभारत एवं दिव्यावदान में आया है। यह एक महत्वपूर्ण नगर रहा था जिसके अवशेष सिरसा नगर के समीप विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं। यहां से मिट्टी, शिल्प तथा धातु से बनी अनेक प्रकार की मूर्तियां उपलब्ध हुई है जिनमे से कुछ मूर्तियां जैन धर्म से सम्बन्धित है। सिरसा प्राचीन काल मे जैन धर्म का केन्द्र रहा था जिसकी पुष्टि हमे वहां से प्राप्त कलावशेषों से होती है। ये कलावशेष कालक्रम की दृष्टि से ८वी शती से १२वी शती के हैं। इनमे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है।

सिरसा के समीप ही सिकन्दरपुर गाव मे एक लघुकाय तीर्थंकर मूर्ति का सिर प्राप्त हुआ है जो इस समय कुरुक्षेत्र सग्रहालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र के सग्रह मे है। इसमे सिर सकुचित अलकावली से आवृत है। यह आठवी शती की मूर्ति का भाग है।[१] हरियाणा पुरातत्व विभाग, चण्डीगढ़ के संग्रहालय मे एक जैन मूर्ति का आधार सग्रहीत है।[२] मूर्ति का यह आधार और उस पर खड़ी (अथवा बठी) मूर्ति दोनो अलग-अलग निर्मित हुए थे। इस आधार के मध्य में सामने अलकृत आसन लटकता दिखलाया गया है। उसके नीचे बीच मे (धर्मचक्र) तथा दो हिरण तथा सिंह अंकित है। पार्श्व मे बायी ओर चतुर्भुज चक्रेश्वरी बैठी हुई दिखलाई गयी है। उनके अतिरिक्त दाहिने हाथ मे चक्र तथा उनका सामान्य हाथ अभय-मुद्रा में है।[३] इस आधार के दाहिनी ओर बृषभ-सिर युक्त एक हाथ मे पद्म लिए ललितासन-मुद्रा मे एक पुरुष आकृति आसीन है। यह गोमुख यक्ष का अकन है।[४] चक्रेश्वरी 'यक्षी' तथा गोमुख 'यक्ष' तीर्थंकर ऋषभदेव अथवा आदिनाथ के पार्श्व देवता हैं।[५] इस प्रकार यह मूर्ति-आधार आदिनाथ की मूर्ति के लिए अभिप्रेत था। तीर्थंकर आदिनाथ मूर्ति के इस आधार पर अंकित तथा अलकृत वस्त्रासन बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किये गये हैं। इस मूर्ति आधार को शैली आधार पर नवीं-दसवीं शती में रखा जा सकता है। सिरसा से तीर्थंकर मूर्ति का एक अन्य आधार काले पत्थर का मिला है जो इस समय पुरातत्व संग्रहालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय मे है।[६] इस पर तीर्थंकर की मूर्ति बैठी हुई रही थी। यह आधार त्रिरथ आकृति सदृश है जिसके सम्मुख भाग पर धर्मचक्र, हिरण और सिंह अंकित हैं। बीच में शंख का चित्रण है तथा उसके नीचे एक आकृति मध्य में बनी रही थी जो पर्याप्त घिस गई है। इसकी पहिचान कर सकना कठिन है। इसके साथ ही एक सीध में कुछ बैठी हुई अति लघुकाय आकृतियां भी बनी है। इस मूर्ति मे तीर्थंकर का लांछन (शख) दिखलाये जाने से इस मूर्ति की पहिचान बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ से करना उचित होगा।[७] उक्त मूर्ति वास्तव में विशाल आकार की रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसे मन्दिर के गर्भगृह मे स्थापित किया गया था। शैली के अनुसार यह नवी-दसवी शती ईसवी मे रखा जा सकता है।

सिरसा की अन्य तीर्थंकर मूर्तियां छोटे आकार की है। शैली की दृष्टि से ये १०वी-११वी शती की हैं। इनमे तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में कमलासन पर बैठे दिखलाया गया है।[८] दूसरी मूर्ति जो संगमरमर की है, में ध्यान-मुद्रा मे बैठे तीर्थंकर के साथ दो आकृतियां खड्गासन मे खड़ी अधोवस्त्र पहने दिखलाई गई है। इनको वस्त्र पहने दिखलाये जाने से स्पष्ट है कि ये अन्य देवो से ही

संबंधित रही थी। सिरसा के अतिरिक्त संगमरमर की जैन मूर्तियां पिंजोर से भी प्राप्त हुई हैं।[९] ये मूर्तियां मूलतः राजस्थान में बनी थी जहां से लेकर सिरसा तथा अन्य प्राचीन स्थलों पर निर्मित जैन मंदिरो मे रखा गया था।

सन्दर्भ-सूची

१. शुक्ल, एस० पी, स्कल्प्चर्स एण्ड टेराकोटाज इन दि आर्कियोलाजिकल म्यूजिम, कुरुक्षेत्र, १९८३, पृ० ५३, प्लेट ४७-३

२. यह मूर्ति अभी अप्रकाशित है।

३. चक्रेश्वरी को आदिनाथ की यक्षिणी के रूप मे गरुड़ासीन दिखलाया जाता है। जैन ग्रंथो के अनुसार उनकी मूर्तियां चतुर्भुजी, (अष्टभुज) तथा द्वादशमुखी बननी चाहिए। चतुर्भुजी मूर्ति के दो हाथों मे चक्र होना चाहिए। भट्टाचार्य, बी० सी० दि दि जैन आइकोनोग्राफी, १९७४ (पुनर्मुद्रण), पृ० ८६-८७

४. जैन ग्रंथो के अनुसार (गोमुख) (यक्ष व अभयमुद्रा अक्षमाला और पाश के साथ वृषभ सहित दिखलाया जाता है। (भट्टाचार्य, बी० सी०, उपरोक्त, पृ० ६७-६८१ वृषभ-सिर दिखलाया जाना प्रतीकात्मक है। वृषभ को धर्म का प्रतीक माना जाता है।

५. भट्टाचार्य, बी० सी०, उपरोक्त पृ० ३५

६. संख्या ७२, १२३, ७२-१४० दृष्टव्य शुक्ल, एस० पी०, उपरोक्त, पृ० ५५, प्ले० ५०।

७. नेमिनाथ के लाछन (शल) और शासन देवता गोमेद यक्ष तथा यक्षिणी अम्बिका का उल्लेख जैन ग्रंथो मे मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार वह कृष्ण तथा बलराम के चचेरे भाई माने जाते है। महाचार्य, बी० सी०, उपरोक्त, पृ० ५७-५८

८. शुक्ल, एस० पी० उपरोक्त पृ० ५४, प्लेट ४९।

९. सिंह, यू० वी०, पिंजोर स्कल्प्चर्स कुरुक्षेत्र, '९७२, पृ० ६

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति बहुपाठक
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
हरियाणा-१३२११९

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २, अन्सारी रोड, दरियागज नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

चिन्तन के लिए :

सिद्धा ण जीवा—धवला

□ ले० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

विमर्श :

ज्ञात होता है कि धवलाकार की दृष्टि मे 'जीव' और 'चेतन' दोनों मे भेद है। वे जीवत्व भाव को औदयिक होने से संसारावस्था तक सीमित मानते है और औदयिक होने से ही कर्म-रहित अवस्था मोक्ष मे उसका प्रवेश नही मानते इसीलिए उन्होंने जीवत्व का परिहार कर 'सिद्धा ण जीवा' कहा है और तत्वार्थ सूत्र की प्ररूपणा को चेतन के गुण के अवलम्बन से स्वीकार किया गया माना है—'चेदण-गुणमवलम्बियपरूविदं।' इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जीव व सिद्ध दोनो चेतन की दो पर्यायें है—अशुद्ध-पर्याय 'जीव' है और शुद्ध पर्याय 'सिद्ध' है। हमने इसी बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पाठको के अवलोकनार्थ 'धवला' का अंश भी दे रहे है।

हमने अपने लेख में 'धवला के कथन की पुष्टि का दृष्टिकोण रखा है और अन्य मान्यताओ का विरोध न करने का भी ध्यान रखा है। हम विषय समझने और अन्य मान्यताओं से सामंजस्य बिठाने के लिए अन्य मान्यताओं के विषय में भी लिखने का विचार रखते हैं। ताकि विषय स्पष्ट हो। हम आशा करें कि हमारे लेख को किसी मान्यता-विरोध में न लिया जाएगा।

उद्धरण :

'आउ आदिपाणाण धारणं जीवण। तं च अजोगि-चरिमसमयादो उवरि णत्थि, सिद्धेसु पाणणिबंधणट्ठकम्मा-भावादो। तम्हा सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जते? ण उवयारस्स सच्चत्ताभावादो। सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्त ण पारिणामियं, किंतु कम्मविवागजं, यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात्। तत्तो जीवभावो ओदइओत्ति सिद्धं। तच्चत्थे जं जीवभावस्स परिणामियत्तं परूविदं तं पाणधारणत्तं पडुच्च ण परूविदं, किंतु चेदणगुणमवलंबिय तत्थ परूवणा कदा। तेण तं पि ण विरुज्झइ।'—धव० पु० १४/५/६/१६/१३

'आयु आदि प्राणों का धारण करना जीवन है। वह अयोगी के अन्तिम समय से आगे नही पाया जाता, क्योंकि सिद्धों के प्राणो के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है। इसलिए सिद्ध जीव नहीं है, अधिक से अधिक वे जीवित-पूर्व कहे जा सकते हैं।

शंका—सिद्धों के भी जीवत्व क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है?

समाधान—नही, उपचार में सत्यता का अभाव होने से।

सिद्धों मे प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम होता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है। किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है, क्योंकि, 'जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है, ऐसा कार्य-कारण भाव के ज्ञाता कहते हैं' ऐसा न्याय है। इसलिए जीवत्वभाव औदयिक है, यह सिद्ध होता है। तत्वार्थ सूत्र में जीवत्व को जो पारिणामिक कहा है वह प्राणों को धारण करने की अपेक्षा से नहीं कहा है, किन्तु चेतन के गुण की अपेक्षा से वहां वैसा कथन किया है, इसलिए वह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं

होता।'*

गतांकों मे हमने धवला जी के उक्त कथन 'सिद्धा ण-जीवा: की पुष्टि में जो कुछ लिखा है, वह मान्य प्रतिष्ठित, प्रामाणिक आचार्य के कथन की अपेक्षा को हृदय में श्रद्धा करके ही लिखा है और आज भी उसी विषय को उठा रहे हैं—'सिद्धा ण जीवा।'

उक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं कि सिद्ध भगवान अजीव, जड़ या अचेतन हैं। सिद्ध तो सिद्ध हैं, विकसित चेतन संबंधी अनंतगुणों के त्रैकालिक धनी हैं, शुद्ध चेतन-स्वभावी हैं, अविनाशी-अविकार परमरसधाम हैं। अतः आचार्य-मत में हमने उन्हें (कल्पित, पराश्रित और विनाशीक प्राणाधार पर आश्रित, लौकिक और व्यवहारिक) वैभाविक 'जीव' संज्ञा से अछूता समझा है। हमारा प्रयोजन चेतन के नास्तित्व करने से नही है। यतः—हम यह भी जानते हैं कि यदि हम जीव का मूलतः नाश मानेंगे तो हम ही कैसे जीवित रहेंगे ? यदि रहना भी चाहें तो हमें यहां के लोग रहने क्यों देंगे ? जबकि 'सिद्धा ण जीवा' जैसी आचार्य की एक बात मात्र कहते ही उन्होंने, वस्तुस्थिति को समझे बिना ही, हमें कूटना शुरू कर दिया हो! अस्तु; संस्कार जो हैं।

सभी जानते हैं कि लक्षण एक ऐसा निर्णायक माप है जो दूध और पानी के भेद को दिखाने में समर्थ है। आचार्यों ने लक्षण का लक्षण करते हुए लिखा है—'परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्' अर्थात् जिस हेतु के द्वारा बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी भिन्न जातीय पदार्थ को पृथक् रूप में पहिचाना जाता है, वह हेतु उस पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णत्व और जल का लक्षण शीतत्व। दोनों के लक्षण ऐसे हैं, जो अग्नि और जल की भिन्नता की पहिचान कराते हैं। इसी भांति जब हमें जीवत्व और सिद्धत्व दोनों के लक्षण अलग-अलग मालुम पड़ जाएँगे तब हम सहज में जान जाएँगे कि सिद्ध क्यों और किस अपेक्षा से जीव नही हैं ? फलतः—पहिले हम जीव के लक्षण को लेते हैं और इस लक्षण में किन्हीं आचार्यों को मत-भेद भी नहीं है—सभी ने तत्वार्थसूत्र के 'उपयोगो लक्षणम्' को स्वीकार किया है। इसका अर्थ है कि—जीव का लक्षण उपयोग है। जिसमें उपयोग हो वह जीव है और अन्य सब जीव से बाह्य हैं। अब हमें यह देखना है कि वह उपयोग क्या है? जो जीव में होता है या होना चाहिए? इस विषय को भी हम आचार्य के वाक्यो से ही निर्णय में लाएँ कि उन्होंने उपयोग का क्या लक्षण किया है ?

उपयोग (जीव का लक्षण) :

१. **'स्व-पर ग्रहण परिणामः उपयोग'**

—धवला २/१/१, जी० कां० ६७२

—स्व और पर को ग्रहण करने वाला परिणाम उपयोग है।

२. **'मार्गणोपाय ज्ञान-दर्शन सामान्योपयोगः'**

—गो० जी० जी० प्र० २/११/११

—मार्गण (खोज) का उपाय ज्ञान-दर्शन सामान्य उपयोग है।

३ **उभयनिमित्त वशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायि-परिणामः उपयोग'**—सर्वार्थ २/८

—अंतरंग वहिरंग निमित्तों के वश से उत्पन्न होने वाला चैतन्यानुकूल परिणाम उपयोग है।

४ **वत्थुणिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो'**

—गो० जी० ६७२ पं० सं० प्रा० १/१७८

---

* **नोट**—उक्त सबंध मे 'षट्खंडागम' के भाषाकार विद्वान्-त्रय (डा० हीरालाल जी, पं फूलचंद जी शास्त्री तथा प० बालचंद जी शास्त्री) द्वारा संपादित ग्रन्थ में लिखा है—'यद्यपि अन्यत्र जीवत्व; भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक मानकर इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध कहा है पर ये तीन भाव भी कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिए यहाँ इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध में नहीं गिना है" षट्ख० पुस्तक १४, विषयपरिचय। यदि वे इसका खुलासा कर देते तो समस्या हल हो जाती कि ऐसा भेद क्यों ? पर, यह समस्या हल हो—विद्वानों का इधर ध्यान जाय इसलिए प्रयास प्रारम्भ किया है।—लेखक

—वस्तु निमित्त उत्पन्न जीव का भाव उपयोग होता है।

५. **'लब्धि निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणामः उपयोग इत्युपदिश्यते'**—त० रा० वा० २/१८/१-२ (आवरण कर्म के क्षयोपशम रूप) लब्धि के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उक्त सर्व कथन उपयोग संबंधी हैं और उक्त सभी लक्षण जिसमें हों वह जीव है ऐसा मानना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि क्या उक्त लक्षण सिद्धों में भी पाए जाते हैं? जिनके आधार पर उन्हें जीव कहा जा सके? जब हम विचारते हैं तो सिद्धों में (नं० १)—स्व और पर का विकल्प ही नहीं दिखता और जब विकल्प नहीं तब उनके स्व-पर के ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता, जो उनके उपयोग माना जा सके।

(नं० २)—जब सिद्धों में मार्गणा से प्रयोजन नहीं—उनमें मार्गणाएँ भी नहीं तब उनमें मार्गण (खोज) के उपाय की बात कहां?

(नं० ३)—स्वभाव और स्वाभाविक दशा में निमित्त का प्रश्न ही नहीं, तब उपयोग कैसे संभव होगा? फिर निमित्त तो सदा वैभाविक में पाया जाता है।

(नं० ४)—सिद्ध कृत-कृत्य हैं उनमें वस्तु के ग्रहण का भाव ही संभव नहीं, तब उपयोग कहां?

(नं० ५)—सिद्धों में कर्म ही नहीं तब क्षयोपशम जन्य लब्धि को निमित्त बनाकर परिणाम होने की बात ही पैदा नहीं होती। ऐसे में उपयोग होने का प्रश्न ही नहीं। अपितु इससे तो यही सिद्ध होता है कि क्षयोपशम को निमित्त बनाकर उत्पन्न परिणाम (उपयोग) संसारी-आत्माओं (जीवों) में ही होता है। कहा भी है—

'क्षयोपशम निमित्तस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति'

—धवला १/१/३३ पृ० २४८

—क्षयोपशमजनित उपयोग इन्द्रियों पूर्वक होनेसे। वह उपयोग क्षीण सम्पूर्ण कर्मों वाले सिद्धों में नहीं है।

इस प्रकार जो लक्षण जीव के बताए और जीव में पाए जाते हैं, उनमें से सिद्धों में एक भी घटित नहीं होता। फलत —जीव और सिद्ध को एक श्रेणी का मानना युक्ति-संगत नहीं ठहरता।

आगमों में उपयोग के लक्षण इस भांति और भी मिलते हैं—

१. यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणामः (प्र० मी० परिणाम-विशेषः) उपयोगः (सर्वा० सि० २/१८, प्रमाणमी० १/१/२४)
२. बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चै-तन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः (त० वा० २/८/२१)
३. उपयोगो ज्ञानादि व्यापार. स्पर्शादिविषयः (त० भा० हरि:० वृ० २-१०)
४. उपयोजनमुपयोगो विवक्षिते कर्मणिमनसोऽभिनिवेश (नन्दी० हरि० पृ० ६२)
५. अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः (प्रमाणा० वृ० ६१, लघीय० अभयवृ० १/५)
६. तन्निमित्तः आत्मन. परिणाम उपयोग', कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात् (मूला० वृ० १/१६)
७. उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहण व्यापारः (प्र क० मा० २/५
८. जन्तोर्भावो हि वस्त्वर्थं उपयोगः (भा० स० वाम ४०)
९. उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति जीवोऽनेन इत्युपयोग षडशीति-मलय० वृ० १-७)

उपयोग के उक्त लक्षणों में एक भी ऐसा नहीं दिखता जो चेतन की अशुद्ध अवस्था (जीव) के सिवाय, चेतन की शुद्ध अवस्था 'सिद्ध' पर्याय में पाया जाता हो। क्योंकि ये सभी लक्षण चेतन के पराश्रितपने को इंगित करने वाले हैं। ऐसे लक्षणों के सिवाय यदि कहीं किन्हीं आचार्यों ने उपयोग के लक्षण का ज्ञान-दर्शन के रूप में उल्लेख कर भी दिया हो तो उसे कारण में कार्य का उपचार ही मानना चाहिए। और व्याख्याओं से उसे समझ लेना चाहिए। जैसे

'उवओगो णाणदंसणं भणिदो'

—प्रव० मा० २।६३-६४

'आत्मनो हि पर-द्रव्य-संयोगकारणमुपयोग विशेषः उपयोगो जीवस्य पर-द्रव्यसंयोगकारणमशुद्धिः। स।

तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्त द्वैविध्यः'—टीका (श्री अमृतचन्द) ६३-६४

वास्तव में ज्ञान-दर्शन ये लक्षण चेतना के हैं, उपयोग के नहीं हैं। उपयोग तो विकारीभाव है और विकारी (संसारी) चेतना में ज्ञान-दर्शन के अवलम्बन से उत्पन्न होने से (कारण में कार्य का उपचार करके) उपयोग को दो प्रकार का कह दिया है (देखें—उपयोग क्या)

उपयोग के उक्त लक्षणो के सिवाय ये लक्षण भी देखिए और निर्णय कीजिए कि क्या सिद्धो में उपयोग है जो उन्हें 'जीव' श्रेणी मे बिठाया जा सके ?

१. 'स्व स्वलब्ध्यनुसारेण विषयेषु यः आत्मनः ।
व्यापार उपयोगाख्यं भवेद्भावेन्द्रिय च तत् ।।'
—लोकप्रकाशे० ३

२. 'उवजोगो णाम कोहादिकसायेहिं सह जीवस्स संपओगो ।' जयधवला, (देखें कसायपाहुड, कलकत्ता पृष्ठ ५७६)

अपनी (क्षयोपशम) लब्धि के अनुसार विषयो मे आत्मा का व्यापार उपयोग है और वह भावेन्द्रिय है।

क्रोधादि कषायों के साथ जीव के सम्प्रयोग होने को उपयोग कहते है। मोह की सत्ता मे ही उपयोग होता है और वह सिद्धों मे नही है।

इसी भाँति अब हम सिद्धों के लक्षण देखें और उनसे जीव की तुलना करें कि कहीं ऐसा तो नही कि जो लक्षण सिद्धो के है, वे जीवो में खरे उतरते हो, जिससे जीवों और सिद्धो को एक श्रेणी का मान लिया जाय ? फलत:—यहाँ सिद्धों के स्वरूप पर विचार करते है।

सिद्ध स्वरूप :

आचार्यों ने सिद्धो के संबध में कहा है—

१. 'अट्ठविह कम्म वियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा: ।।'
—जी० कां० ६८/प० सं० १/३

२. णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणट्ठा ।
परमपहुत्तंपत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का ।।'
—नयच० वृ० १०७

३. 'णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ।।'
—निय० सा० ७२

४. 'णवि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहिं गाहिया अत्थे ।
णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंदणाणसुहा ।।

५. 'शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्याय: ।'
प्र० सा०/ता० वृ० १०/१२/६

१. सिद्धआत्मा आठ प्रकार के कर्मों से रहित, शान्त' कर्मकालिमा रहित, नित्य, अष्टगुणयुक्त, कृतकृत्य और लोकाग्रवासी हैं।

२. जो अष्टकर्मक्षय होने से शुद्ध है, अशरीर हैं, अनंत-सुख और ज्ञान मे स्थित है, परम प्रभुत्व को प्राप्त है वे सिद्ध है और निश्चय से वे ही सिद्ध हैं।

३. जिन्होंने अष्टकर्मबधों को नष्ट कर दिया है, जो परम आठ गुणो से समन्वित हैं, नित्य है और लोकाग्र मे स्थित हैं, वे सिद्ध ऐसे होते हैं।

४. वे सिद्ध इन्द्रियों के व्यापार से युक्त नही है और अवग्रहादिक क्षयोपशमिक ज्ञान के द्वारा पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं। उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान और अनतसुख अनीन्द्रिय है।

५. सिद्ध-पर्याय शुद्धआत्मोपलब्धि लक्षणवाली है।

ऊपर दिए गए सभी लक्षण, जो सिद्धों के हैं, उनमें देखा जाय कि कौनसे ऐसे लक्षण हैं जो संसारी (जीव नाम-धारी) अशुद्ध आत्माओं मे प्रकट है जिनसे उनकी सिद्धो से एकरूपता सिद्ध हो सके ? हमारी दृष्टि से तो उक्त लक्षणों के प्रकाश मे एकरूपता के स्थान पर जीवों और सिद्धों दोनों में सर्वथा-सर्वथा वैषम्य ही है। जीवों में आठो कर्म विद्यमान हैं, उनमे आठों गुणो की प्रकटता नही है, वे शान्त नहीं हैं, कर्मकालिमा रहित नहीं हैं, उनकी जीवत्व पर्याय नित्य नही है, वे कृतकृत्य नहीं हैं और लोकाग्र में अशरीर रूप मे विराजमान भी नही हैं। इसके विपरीत—जीव मे १४ गुणस्थान, चार गति, पांच इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व, और आहार हैं—वे सिद्धो मे नहीं है। छह पर्याप्तियों मे से सिद्धों मे एक भी पर्याप्ति नही है, प्राण नही है, चार संज्ञाएँ नहीं हैं। ऐसे में जब सिद्धों के लक्षण जीव में नहीं और जीवों के लक्षण सिद्धो में नहीं

तब ऐसा ही मानना चाहिए कि—मान्य धवलाकार का मत सर्वथा ठीक और ग्राह्य है—'सिद्धा ण जीवा:।'

औपशमिकादि भाव : (जीव के भाव) :

जीवों के औपशमिकादि पांच भाव कहे है। उनमे से धवलाकार के मन्तव्यानुसार 'जीवत्व' आयुकर्माश्रित होने से औदयिक भाव है, वह सिद्धों मे नही और औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक भाव भी उनमे नही है। शेष बचे नव-केवल-लब्धिरूप क्षायिकभाव卐। सो नव लब्धियो में से क्षायिकदान (दिव्यध्वनि रूप में) क्षायिक लाभ (आहार लिए बिना ही दिव्य अनत पुद्गलो के आदान रूप मे) क्षायिक भोग (पुष्पादिवृष्टि रूप में) और क्षायिक उपभोग (अष्ट प्रातिहार्य रूप मे) अरहंतो मे है और केवलज्ञान, केवलदर्शन व सम्यक्त्व तथा वीर्य भी कर्मो की क्षय अपेक्षा में सशरीरी अरहन्तो केवलियो तक ही सीमित है। सिद्धो के तो सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व अव्याबाधत्व और अनतवीर्यादि सभी गुण सर्वथा ही पर-निरपेक्ष, स्वाभाविक और अनत है, उनमे किसी भी पर-भाव की अपेक्षा नही है। आचार्य श्री उमास्वामी और अन्य टीकाकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि—'**अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य:**' सूत्र में 'केवल' शब्द अन्य भावो के परिहार के लिए है (किसी गुण के विशेषण बनने के लिए नही)। सूत्र का अर्थ है कि अपवर्ग मे सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व के सिवाय (इनके सहचारी भावो को छोड़कर) **अन्य भाव नहीं होते**। तथाहि—'**अन्यत्रशब्दो वर्जनार्थ:' तन्निमित्त: सिद्धत्वेभ्य इतिविभक्ति निर्देश:**'—रा० वा० १०/४/१। फलत :—जीव और सिद्धो मे एकत्व स्थापित करना सभव नही। अत:—'सिद्धा ण जीवा' कथन ठीक है।

चेतन आत्मा का गुण : (चेतनत्व) :

आगमो मे उपयोग लक्षण के सिवाय एक लक्षण और मिलता है और धवलाकार ने उसका भी सकेत किया है और वह है चेतन का गुण—चेतना। (मालुम होता है आचार्य ने चेतना को चेतन का गुण माना है और जीव का गुण जीवत्व ही माना है—जिसे वे औदयिक मान रहे है) यहाँ चेतना से ज्ञानदर्शन अपेक्षित है। प्रतीत होता है कि उक्त लक्षण आत्मा के आत्मभूत लक्षण को दृष्टि मे रखकर किया गया है और धवला के 'चेदणगुणमवलम्ब्यरूविदमिदि' की पुष्टि करता है। तथा पूर्वोक्त 'उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम: उपयोग.' लक्षण आत्मा के अनात्मभूत लक्षण को दृष्टि मे रखकरकिया गया है। इनमे अनात्मभूत-लक्षण का लक्ष्य कर्मजन्य जीवत्वपर्याय है, जो कर्मजन्य होने से छूट भी जाती है जबकि चेतना रूप त्रिकाली आत्मभूत लक्षण आत्मा की शुद्ध अशुद्ध दोनो पर्यायो में रहता है। मालुम होता है उपयोग के अनात्मभूत लक्षण को लक्ष्य कर ही आचार्य ने कहा है—'**संसारिण: प्राधान्येनोपयोगिनो मुक्तेषु तदभावात्**'

ससारी प्रधानता से उपयोग वाले है, मुक्तों मे उसका अभाव होने से।

उपयोगशब्दार्थोऽपि संसारिषु मुख्य: परिणामान्तरसक्रमात्। मुक्तेषु तदभावात् गौण कल्प्यते।'—राजवा० २/१०/४-५—उपयोग शब्दार्थ भी संसारियो मे मुख्य है, परिणामो से अन्य परिणामो मे संक्रमण करने से, मुक्त हुओं मे अन्य परिणाम सक्रमण का अभाव होने से उपयोग गौण कल्पित किया जाता है। स्मरण रहे कि अनात्मभूतलक्षण मे परिणामान्तरत्व है और वह ससारियो (जीवो) तक सीमित है जब कि सिद्धो मे अनन्तदर्शन-ज्ञान युगपत् होने से परिणामान्तरपने का अभाव है; वहाँ अनात्मभूत उपयोग का कोई प्रश्न ही नही। अन्यथा यदि उपयोग के उक्त अनात्मभूत लक्षण और आत्म-

---

卐 'अनंत प्राणिगणानुग्रहकर सकलदानान्तरायसक्षयादभयदानम्।'
कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतो······पंचवर्णसुरभि कुसुमवृष्टि-विविधदिव्यगन्ध-चरणनिक्षेपस्थान-सप्तपद्मपंक्ति-सुगन्धित धूप-सुखशीतमारुतादय:······"
निरवशेषस्योपभोगन्तरायकर्मण: प्रलयात्......सिंहासनवालव्यजनाशोक पादपछत्रत्रय-प्रभामंडल गम्भीरस्निग्ध-स्वरपरिणाम-देवदुंदुभिप्रभृतय:।' आदि— राजवा० ।२।४।२—५,

भूत रूप चैतन्य लक्षण में अभेद होता—दोनो को एक माना गया होता (जैसा कि प्रचलित है—ज्ञानदर्शन ही उपयोग है) तो आचार्य भावेन्द्रिय के लक्षण में लब्धि (ज्ञान) और उपयोग इन दो शब्दों को पृथक्-पृथक् नहीं देते और ना ही उपयोग के लक्षण मे लब्धि को उपयोग (परिणाम) का निमित्त कारण ही बताते। स्मरण रहे कि निमित्त सदा स्व से भिन्न होता है। दूसरी बात चेतना का अनात्मभूत लक्षण—उपयोग क्षयोपशमादिजन्य होने से मात्र संसारियो (जीवों) में ही होता है। नित्य और शुद्ध चेतन—आत्मा में नहीं होता।

ऐसा भी प्रतिभासित होता है कि आत्मा के उक्त अशुद्ध और शुद्ध जैसे दो प्रकारोके परिचय कराने हेतु श्लोक वार्तिककार ने भी विधान किया है। वे लिखते है—निश्चय ही चैतन्यमात्र उपयोग नही होता, जिसे जीव का लक्षण माना जाय; अपितु उसके साथ कर्म के क्षयोपशमादिजन्य चैतन्यानुविधायी-परिणाम उपयोग होते है। यानी जीव मे चैतन्य (आत्मा का व्यापकगुण) और व्याप्य जैसे चैतन्यानुविधायी परिणाम—दोनो होते है तथा प्रधान (शुद्ध आत्मा जिसे हम सिद्ध नाम से कह रहे है) मे केवल चैतन्य होता है; चैतन्यानुविधायी परिणाम नही होते। इस प्रकार जीव और सिद्ध दोनो में क्रमशः—हेतुद्वय होने और न होने जैसे भिन्न-भिन्न दो विकल्प है। उक्त सदर्भ मे मालुम होता है कि मोक्षमार्ग प्रसग में 'जीव' नाम का जो सकेत है, वह मात्र चेतन (आत्मा) की अशुद्ध दशा को लक्ष्यकर जीव—अर्थात् ससारी को, क्रमवद्ध तत्त्वो के परिज्ञानार्थ है और क्रमवद्ध मोक्षमार्ग दिग्दर्शन मात्र में है, क्योंकि अशुद्ध को ही शुद्धि की ओर जाना होता है—शुद्ध तो स्वय वर्तमान में शुद्ध है ही, उसे सबोधन की क्या आवश्यकता?

'अत्र हि न चैतन्यमात्रमुपयोगो यतस्तदेव जीवस्य लक्षण स्यात्। कि तर्हि? चैतन्यानुविधायी परिणामः, स चोपलब्धुरात्मनो, न पुनः प्रधानादेः चैतन्यानुविधायित्वाऽभावप्रसंगात्।'—'न चासावहेतुको वाह्याऽभ्यन्तरस्य च हेनोर्द्वयोपात्तनुपात्तविकल्पस्य सन्निधाने सति भावात्।'

—श्लोक वा० २/८

उपयोग के बारह भेद :

शास्त्रों में उपयोग के जो बारह भेद कहे गए हैं वे कर्मों की अपेक्षा में, चेतन के अनात्मभूत लक्षण को दृष्टि में रखकर किए गए हैं। क्योंकि उपयोग क्षयोपशम जन्य अवस्था में ही संभव है और सिद्धों में उसकी संभावना नहीं। सिद्धों में जो केवलदर्शन और केवलज्ञान का व्यपदेश है, वह असहाय दर्शन-ज्ञान के भाव में है—उपयोग के भाव में नही। अरहन्त भगवन्तों में भी जीवत्व के कारण, उपयोगरूप में व्यपदेश उपचार मात्र है।

वास्तव में तो शुद्ध-चैतन्य अभेद है, उसमें जो मतिज्ञान आदि जैसे भेद दर्शाए गए है वे कर्मापेक्षित दशा के सदर्भ मे ही है और उनके निमित्तान्तरोत्पन्न विभिन्न नामकरण भी परस्पर में एक दूसरे में भेद दर्शाने की दृष्टि से ही किए गए हैं—पृथक्त्व बताने को किए गए हैं—वे सब भेद परापेक्षित ही है। सिद्धों के स्वाश्रित होने से वे असहाय-अनन्त शुद्ध ज्ञान-दर्शन के धनी है। उनमे ज्ञान-दर्शन तो है पर, क्षयोपशम जन्य जैसा उपयोग नही है। और उपयोग न होने से वे जीव श्रेणी मे भी नही है। फलतः—'सिद्धा ण जीवा' कथन उचित है।

इतना ही नही। राजवार्तिककार ने तो जीव के लक्षण उपयोग को इन्द्रिय का फल तक कह दिया है—**इन्द्रियफल मुपयोगः।**'—२/१८/३ और कारण धर्म में कार्य की अनुवृत्ति मान ली है। ऐसे मे जब उपयोग इन्द्रियजन्य फल है तब वह फल अतीन्द्रिय, अशरीरी सिद्धों में कहां से कैसे पहुच गया? जो उन्हे उपयोग लक्षणवाले जीवों में बिठाया जाने लगा। यदि 'इन्द्र' शब्द के आत्मवाची रूप से यथाकथचित् इन्द्रिय शब्द भी माना जाय, तो जहां चेतन का स्वरूप स्वाभाविक और कल्पनातीत है वहां फल मानने की कल्पना कोरी कल्पना खर-विषाणवत् ही होगी। धवलाकार तो पहिले ही कह चुके हैं कि—'क्षयोपशमजन्य उपयोग इन्द्रियजन्य है, वह सिद्धों में नही है।'—देखें धवला० १।१।३३, फलतः—'सिद्धा ण जीवा' यह आचार्य का वाक्य सर्वथा युक्ति-सगत है और ठीक है।

एक समाधान :

यद्यपि आयु के सबध से 'जीवत्व' मानने का राजवार्तिककार ने आपत्ति उठाकर खण्डन किया है और 'जीवत्व' को पारिणामिक मानने की पुष्टि की है

'आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्व न पारिणामिकमितिचेत्; न; पुद्गलद्रव्यसंबंधे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ।' ॥३॥—**स्यादेतत्—आयुर्द्रव्योदयाज्जीवतीति जीवो नानादि पारिणामिकत्वादिति; तन्न, किं कारण ? पुद्गलद्रव्यसंबधेसत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् । आयुहि पौद्गलिकं द्रव्यम् । यदि तत्सबधाज्जीवस्य जीवत्व स्यात्; नन्वेवम यद्रव्यस्यापि-धर्मादिरायुः संबधाज्जीवत्व स्यात् ।"** — रा० वा० २।७।३

उनका कहना है कि आयु पौद्गलिकद्रव्य है यदि पौद्गलिकद्रव्य के सबध मे जीवत्व माना जायगा तो अन्य धर्म-अधर्म आदि द्रव्यो मे भी जीवत्व मानना पड़ेगा (क्योकि उन द्रव्यों से पुद्गलों का सदाकाल सबध रहता है)

यद्यपि उक्त तर्क और समाधान प्रामाणिक आचार्य का है और ठीक होना चाहिए, जो हमारी समझ मे बाहर है—इसे विद्वान् विचारे। तथापि हम तो ऐसा समझ पाए है कि उक्त तर्क 'जीवत्व' के औदयिक-भाव, होने को निरस्त करने मे कैसे भी समर्थ नही होगा ? यत —उक्त प्रसग के अनुसार धर्म आदि द्रव्यो मे जीवत्व आ जाने जैसी आपत्ति इसलिए नहीं बनती कि जिस पुद्गलद्रव्य मात्र के सबध से अकलकस्वामी धर्म आदि द्रव्यो मे जीवत्व लाने जैसी आपत्ति उठा रहे हैं, वह पुद्गलद्रव्यमात्र के सबध की बात धवलाकार के मत मे मेल नही खाती। अपितु धवलाकार के मत मे वह मात्र पुद्गल द्रव्य ही नही बल्कि पुद्गलकार्माणवर्गणाओ मे कषायपूर्वक (फलदान की शक्ति को लिए हुए) स्थितिरूप मे आत्मा से बन्ध को प्राप्त आयु नाम का एक कर्मविशेष है, जो कि चेतन मे ही सभव है, धर्म आदि अचेतन द्रव्यो मे उसकी (इन द्रव्यो के अचेतन होने से) सभावना ही नही। फलतः उनमे जीवत्व आ जाने की शका करना अशक्य है। फिर, उदय क्षय, क्षयोपशम, आदि कर्मों से सबधित है —मात्रपुद्गल से सबधित नही। पुद्गल और कर्मपुद्गलो मे क्या भेद है इसे सभी जानते हैं। अतः स्पष्ट है कि धवलाकार अपनी दृष्टि में ठीक हैं—जीवत्व कर्मोदयजन्य* है और इसीलिए 'सिद्धा ण जीवा' जैसा कथन युक्ति-सगत है।

संसारी और मुक्त :

प्रश्न उठता है कि यदि धवलाकार आचार्य के मत मे 'सिद्ध भगवान् जीव-सज्ञक नही तो आचार्य ने जीवो के संसारिणोमुक्ताश्च' जैसे दो भेदो से समन्वय कैसे बिठाया? इस विषय मे हम ऐसा समझ पाए है कि —जहां तक जीव सज्ञा या जीवत्व का प्रश्न है, आचार्य इसे औदयिकभाव जन्य मानते है और वह औदयिक होने से ही सिद्धो मे सभव नही। हां, जहाँ आचार्य ने उक्त प्रसग से जीव और जीवत्व का निषेध किया वहाँ यह भी कह दिया है कि चेतन के गुण को अवलम्बन कर प्ररूपणा की गई है। इससे विदित होता है कि आचार्य की दृष्टि शुद्धत्वाश्रित रही है और इस प्ररूपण मे उन्होने चेतन के गुण को मूल स्थाई मानकर उसे जीवत्वपर्याय और सिद्धत्वपर्याय जैसे दो भागो मे बाँटा है। चेतन की सर्व कर्मरहित अवस्था सिद्धपर्याय है और कर्म सहित चेतन की अवस्था (कर्मजन्य होने से) जीव-पर्याय है और जीव-संज्ञा ससारावस्था तक ही सीमित है—अन्य आचार्यों की मान्यता जो हो ?

यदि कथचित् हम जीवो मे भी संसारी और मुक्त खोजने लगे और वह इसलिए कि ये जीवो के ही भेद कहे गए है। तो हम इस पर विचार कर सकते है कि छद्मस्थ-जीव ससारी और केवलज्ञानी जीव मुक्त कहे जा सकते है। क्योकि अरहन्त जीव है और वे चेतनगुणघाती चार घातिया कर्मों से मुक्त हो चुके है—उन्हे आत्मगुणो की पूर्ण प्राप्ति हो चुकी है, उन्हे सकल-परमात्मा और जीवनमुक्त कहा ही गया है। यहाँ जीवन्मुक्त का अर्थ जीव होते भी मुक्त है—ऐसा लेना चाहिए। शेष चार अघातिया कर्म तो जली रस्सी की भाँति अकिंचित्कर

---

* 'आऊदयेणजीवदि एव भणंति सव्वण्हू।' — कुन्दकुन्द, समयसार– २५१-२५२
'जीवित हि तावज्जीवाना स्वायुकर्मोदयेनैव' — अमृतचन्द्राचार्य० वही

हैं उन कर्मों की स्थिति शरीराश्रित होने मात्र है, और वे अग्नि में तप कर शुद्ध हुए स्वर्ण के ऊपर उभरी हुई उस किट्टकालिमा की भाँति है जिसका स्वाभाविक रूप से झड़ना शेष हो--जो स्वयं झटके में झड़ जाती हो--सुवर्ण में पुन: विकार न कर सकती हो। मोक्ष मे जिन्हें **'मुक्तजीव'** नाम से कहा जा रहा है, वे मुक्त चेतन है। जीव-पर्याय की तो उस अवस्था तक पहुंच ही नही है।

उक्त सभी कथन से ऐसा न समझना चाहिए कि मूल-तत्त्व मे भेद हो जायगा या कमी-वेशी हो जायगी। यह तो आचार्यों की कथनशैली और व्यापक-चिन्तन का परिणाम है, नाम बदलाव है। 'जीव या जीवत्व' न कहा 'चेतन या चेतनत्व' कह दिया शुद्ध पर्याय को 'मुक्तजीव' न कहा 'सिद्ध' कह दिया। मूल तो रहा ही। सब अपेक्षा दृष्टि है।

द्रव्य का लोप नहीं :

हम यह पुन: स्पष्ट कर दे कि हम अपना कुछ नही लिख रहे, आचार्य की दृष्टि समझने का यत्न ही कर रहे है। मालुम होता है कि आचार्य की दृष्टि मे 'सद्द्रव्य-लक्षणम्', गुण-पर्ययवद्द्रव्यम्' और 'नित्यावस्थितान्य-रूपाणि' तीनों सूत्र रहे है और उन्होने तीनों की रक्षा की है। वे चेतन के चैतन्य गुण की त्रिकाली सत्ता को स्वीकार कर उसे सत् और नित्य बनाए रहे है और कर्म-जन्य जीवत्व पर्याय को 'सिद्धत्व' रूप मे स्वीकार कर परिवर्तन भी मानते रहे हैं। और पहिले लेख मे हमने भी बार-बार संज्ञा के बदल व की ही बात लिखी है—किसी मूल के ध्वस की नही। यत.—हमारा लक्ष्य आचार्य को समझना है, जनता मे वितण्डा करना नही। यदि किसी पिता ने किसी कारणवश अपने बेटे का नाम विजय से बदलकर संजय कर लिया, तो क्या उस बदलाव से मूल बेटे का लोप हो गया? जो ना समझी मे उसकी माँ रोने बैठ जाय और स्थिति को न समझ, नाम बदलने वाले को कोसने लगे?

स्मरण रहे आचार्य जीवत्व को शुद्धतत्त्व मानकर नही चले अपितु उन्होने चेतन की अशुद्ध पर्याय-जीवत्व को औदयिक पर्याय और शुद्ध चैतन्य को 'सिद्धत्व' रूप में देखा है। इन दोनों पर्यायो में लक्षणभेद (जैसा ऊपर दिखाया) से भेद है : यत: हर जीव मे दस प्राणो मे न्यूनाधिक प्राण है। यहाँ तक कि विग्रह गति म भी यह जीव काय प्राण से अछूता नही—वहाँ भी तैजस और कार्माणरूप काय-प्राण विद्यमान है। आचार्य के मन्तव्य के प्रकाश में यह सिद्ध होता है कि—कर्मोदयाश्रयी-औपाधिक जीव-जीवत्वसंज्ञक जैसे दोनों नाम और भाव स्थायी नही—कर्म-सत्ता पर्यन्त है और सर्व-कर्मों के विच्छेद को प्राप्त चैतन्य-आत्मा सिद्ध-सिद्धत्व संज्ञक है।

नयों की सीमा :

स्मरण रहे—नय वस्तु के एक देश को ग्रहण करता है। जिस समय एक नय उभरता है तब दूसरा नय मौन स्थिति मे बना रहता है—उभर कर समक्ष आए और गौण किए गए किसी तत्त्वांशका अस्तित्व समाप्त नही हो जाता। भाव ऐसा है कि नय द्वारा किए विवेचन मे द्रव्य के गुणो और पर्यायो को पूरा ग्रहण न किया जाने से उस विवेचन को पूर्ण नही माना जा सकता—जैसा कि लोक-व्यवहार बन गया है—'अमुक नय से ठीक है और अमुकनय से ठीक नही है।' यदि एक नय से ही सर्वथा अर्थ का ग्रहण या ज्ञान हो जा सकता होता तो प्रमाण की आवश्यकता ही न रह जाती? फलत. जहाँ भी वस्तु का विवेचन नयाधीन हो, वहाँ दोनों नयो के दृष्टिभूत पूर्ण तत्त्व को एक साथ लेकर चलना चाहिए। उदाहरणत:—

'तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणोय।
व्यवहारा सो जीवो णिच्चयणयदोदुचेदणा जस्स॥'

अर्थात् जिसमे प्राण हो उसे व्यवहारनय से और जिसमे चेतना हो उसे निश्चयनय से जीव कहा है। इसमे न केवल व्यवहार से कहा गया पूर्ण जीव है और न केवल निश्चय से कहा गया पूर्ण जीव है अपितु दोनो को मिलाकर कहा गया जीव है। यानी जीव मे एक काल मे प्राण भी है और चेतना भी है। यदि अकेले प्राण ही जीव का लक्षण हो या अकेली चेतना ही जीव का लक्षण हो तो नयाधीन होने से यह पदार्थ की एकपक्षीय (अधूरी) ही पकड होगी*—जब

* 'प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो न ज्ञानम्, तत्र वस्त्वध्यवसायस्यार्पितवस्त्वंशे प्रवाशतानर्पित वस्त्वंशस्य प्रमाणत्वविरोधात्। किं च **न नयः प्रमाणम्,** प्रमाणव्यपाश्रयस्य वस्त्वध्यवसायस्य तद्विरोधात्।'...भिन्नकार्यदृष्टेर्वा **न नयः प्रमाणम्।**'– १९९ —जयधवलासहिदेकषायपाहुडे पेज्जदोसविहत्ती १ गाथा १३-१४ पृ० २००

कि दोनों ही नय स्वतंत्र रूप से एक देश को ही ग्रहण करते हैं और पदार्थ अपने मे पूर्ण होता है और पूर्ण पकड़ नय के वश की बात नही। फलत: पूर्णवस्तु-ज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे दोनों नयो-ग्राह्य लक्षणो को समकाल मे मानना ही युक्ति संगत है और आचार्य ने भी एक साथ ही दोनों नयो द्वारा जीव का लक्षण किया है—जो प्रमाणभूत है और इस भाँति जीव में प्राण और चेतना दोनो ही एक साथ में मानना युक्ति सगतहै—जीव में दोनो लक्षण एक साथ होने ही चाहिए और हैं तथा उक्त भाव लेने से गाथा में गृहीत 'तिक्काले' की सगति भी बैठ जायगी। अन्यथा 'तिक्काले चदुपाणा' मे 'तिक्काले' का क्या भाव है? यह भी सोचना पड़ेगा। सिद्धो मे तो केवल एक चेतना मात्र है। इस भाँति धवला का 'सिद्धा ण जीवा' युक्ति सगत और ठीक है।

उपयोग क्या?

चलते-चलते इस प्रसग मे हम एक बात और स्पष्ट कर दें कि उपयोग के उक्त लक्षणो के प्रकाश से उपयोग का अर्थ मात्र शुद्ध ज्ञान या शुद्ध दर्शन मात्र जैसा नही ठहरता अपितु उपयोग 'आवरणकर्म के क्षयोपशम निमित्त को पाकर होने वाले चैतन्यानुविधायि परिणाम' का नाम होता है। इस उपयोग मे अशुद्ध चेतना (ज्ञान-दर्शन) कारण है और उन कारणों से होने वाला परिणाम उपयोग है और वह उपयोग दो प्रकार के अवलवनो से होने के कारण दो प्रकार का कहा गया है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जो उपयोग ज्ञानपूर्वक होता है वह ज्ञानोपयोग और जो दर्शनपूर्वक होता है वह दर्शनोपयोग कहलाता है और इस प्रकार मतिज्ञानादि के निमित्त से होने वाले उपयोग उस-उस ज्ञान के नाम से मतिज्ञानोपयोग आदि कहलाते है और चक्षु आदि पूर्वक होने वाले उपयोग चक्षुदर्शनोपयोग आदि नाम मे कहे जाते है। इसी प्रकार के उपयोग जीव के लक्षण है और इस प्रकार के उपयोग जीव में ही होते है, सिद्धो मे नही। इसीलिए जीव के लक्षण मे कहा गया है—'उपयोगो लक्षणम्।' भाव ऐसा है कि जहाँ चेतना उपयोग रूप हो वहाँ जीव संज्ञा है और जहाँ चेतना शुद्ध—ज्ञान-दर्शन रूप हो वहाँ 'सिद्ध' संज्ञा है और इसीलिए धवलाकार ने कहा है—'सिद्धा ण जीवा:।'

आत्मा शब्द का प्रयोग :

मोक्ष और मुक्त मे क्या अन्तर है यह तो हम बाद में कभी लिखेंगे। हाँ हमने मोक्ष प्रसंग में आचार्यों के कई ऐसे मन्तव्य देखे है, जिनमें चैतन्य आत्मा की शुद्ध अवस्था होने का उल्लेख है, (कही जीव की अवस्था का निर्देश हो तो हमें मालुम नही) तथाहि—

'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।'—सर्वा० : प्रारम्भिक०

'जीवहँ मो परमुक्खु मुणि, जो परमप्पय लाहु।
कम्मकलंक विमुक्काहं, णाणिय बोल्लहिं साहु ।।
परमात्मलाभो मोक्षोभवतीति················।
—परमात्म० १३६

'कृत्स्नकर्मवियोगेसति स्वाधीनात्यन्तिक ज्ञानदर्शनानुपमसुख आत्मा भवति।—त० रा० वा० १।४।२०

'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।'
—द्रव्य० ३७

'आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्ष:।'
—समय० आत्मख्याति २८८

'निर्मलो निष्कल. शान्तो निष्पन्नो उत्यन्तनिर्वृत्त:।
कृतार्थ. साधु बोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम् ।।'
—ज्ञाना० ३।६

इसके सिवाय द्रव्य-सग्रह के मोक्षाधिकार में 'आत्मा' शब्द की भरमार है, जीव शब्द की नही। शायद जीव का परिहार करने या आत्मा और जीव मे भेद दर्शाने के लिए ही ऐसा किया गया हो। अन्यथा प्रारम्भसे जीव को प्रमुख करके व्याख्यान करने के बाद, मोक्षाधिकार मे उसकी उपेक्षा क्यो? देखे—आत्मा के निर्देश—द्रव्य-सग्रह गाथा, ३६, ४०, ४१ ४२, ५०, ५१, ५२, ५३ और ५६ आदि।

मूलतत्त्व क्या?

विचारना यह भी होगा कि जिस जीव तत्त्व को मोक्ष क्रम मे मूल मानकर चला जा रहा है वह 'जीव' मूल तत्त्व है या मोक्षमार्ग दर्शाने के प्रसग मे चेतन की अशुद्ध—ससारी अवस्था? या उसके मूल मे कुछ और बैठा है?

यदि उसके मूल में कुछ और बैठा है तो मूल तत्त्व 'जीव' कैसे होगा ? वहाँ तो जो बैठा है वह ही मूलतत्त्व होगा—मूल तत्त्व वह होगा जिसके कारण जीव 'जीव-संज्ञक है'। इस प्रसंग में इस प्रश्न का समाधान अपने मे कीजिए कि वह जीवत्व के कारण जीव है या जीव होने के कारण से उसमें जीवत्व है ? हमारी दृष्टि से तो जीवत्व होने के कारण से उसकी जीव संज्ञा है न कि जीव संज्ञा पहिले और जीवत्व बाद में है। यदि जीवत्व के कारण से जीव है तो जीवत्व के औदयिक होने से जीव-संज्ञा भी नश्वर ठहरती है। यदि हमारा कथन ठीक हो तो मूलतत्त्व चेतन, अचेतन (जैसा कि आचार्य को अभीष्ट है) ही ठहरेंगे और जीव, जैसा नाम कर्म-जन्य और व्यवहार मे आया हुआ रूप ही ठहरेगा। फलतः— जीव के संबंध मे, आगम के परिप्रेक्ष्य मे जिसे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' लक्षण से कहा गया है, वह मूल-द्रव्य चेतन—आत्मा है और 'जीव' व 'सिद्ध' दो उसकी पर्यायें है और 'जीवत्व व 'सिद्धत्व' उनके गुण हैं। इसीलिए 'चेदणगुणमवलम्बिय परुविद' ऐसा कहा है और इसी चेतन का शुद्धरूप 'सिद्ध' है, फलतः—'सिद्धा ण जीवा।' कथन ठीक है।

फिर यह भी सोचिए कि जब जीव से जीवत्व और चेतन से चेतनत्व शब्दों की संगति उपयुक्त हो, तब जीव मे कर्मोदयजन्य जीवत्व जैसा उचित संगति को त्याग कर, जीव में विषम-शब्द चेतनत्व की संगति बिठाना और कहना कि— जीव का गुण चेतनत्व है, कहाँ तक उचित है—जब कि जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग क्षयोपशमजन्य होता है। फिर—तब, जब कि जीव-जीवत्व, चेतन-चेतनत्व जैसे दो पृथक्-पृथक् नाम और गुण भी पृथक्-पृथक् रूप मे प्रसिद्ध हो। हमारा कहना तो ऐसा है कि जीव का गुण जीवत्व है और चेतन का गुण चेतनत्व है—दोनों पृथक्-पृथक् नाम और पृथक्-पृथक गुण है। चेतन-चेतनत्व शब्द व्यापक हैं और जीव-जीवत्व शब्द व्याप्य (संसार तक सीमित) हैं। आचार्य की दृष्टि मे औदयिक होने से 'जीवत्व' नश्वर है और चेतन त्रैकालिक सत्तावान है। इसीलिए आचार्य ने चेतन के गुण को प्रमुखता देकर जीवत्व का परिहार किया है और इसी परिप्रेक्ष्य में कहा है—'सिद्धा ण जीवा।'—

क्या अशुद्ध की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ?

उक्त प्रसग को लेकर किसी ने हमारा ध्यान इस ओर भी खीचा कि यदि 'जीव'—को चेतन की अशुद्ध पर्याय मानेंगे तो सम्यग्दर्शन के लक्षण मे सात तत्त्वो के श्रद्धान मे जीव (अशुद्ध पर्याय) का श्रद्धान क्यो कहा ? क्या अशुद्ध का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ? प्रश्न तो उचित है; पर, हम इस विषय मे ऐसा समझे है कि—

मोक्षमार्ग के प्रसग मे भेद-विज्ञान को प्रमुखता दी गई है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी बिना भेद-विज्ञान के नही होते। स्व मे स्व-रूप और पर मे पर-रूप से श्रद्धा व ज्ञान करने से सम्यग्दर्शनादि होते है। जहाँ केवल एक (शुद्ध या अशुद्ध) ही हो वहाँ भेद-विज्ञान कैसा ? किसका और किससे ? मोक्षमार्ग की खोज भी क्यो होगी ? अतः जीवादि के श्रद्धान व ज्ञान को ही मोक्षमार्ग कहा है। जीव मे चेतन 'स्व' है और विकारी भाव 'पर' है —इनसे ही भेद-विज्ञान सध सकेगा और मोक्षमार्ग बन सकेगा। इसके अतिरिक्त जो मोक्ष हो चुके है—जिन्हे मार्ग की खोज नही, उनमे सम्यक्त्व 'आत्मानुभूति' के लक्षणरूप मे विद्यमान ही है—भेद-विज्ञान की अपेक्षा नही। ऐसी आत्माओं को लक्ष्यकर ही कहा गया है—'सिद्धा ण जीवा।'—

वीर सेवा मंदिर दिल्ली-२

जरा सोचिए

१. अपरिग्रह की जीवित मूर्तियों की रक्षा :

हमने कब कहा कि—जो विचार हम दें उन्हें लोग मानें ? तथ्य को न मानने का तो लोगो का स्वभाव जैसा बन बैठा है। भला; जब लोगों ने तीर्थंकरो के बताए अपरिग्रह मार्ग की अवहेलना कर उस मार्ग पर अनुगमन न किया, परिग्रह जुटाने मात्र मे लगे रहे, तब हम किस खेत की मूली है, जो उन्हें अपनी बात मनवा सके ? खैर, लोग मानें न माने. फिर भी हमे तो अपनी बात कहना ही है, अस्तु। हम अपरिग्रह के विषय को ही आगे बढा रहे हैं और पुनः लिख रहे हैं कि यदि लोग परिग्रह-परिमाण न कर सकें तो न करें; पर, अपरिग्रह की जीवित मूर्तियो को तो तीर्थंकर मार्ग पर चलने दे, उनको मार्ग से च्युत करने के साधन तो न जुटाएँ। स्मरण करे कि—वह कौन-सी शुभ घडी रही होगी जब उन्होने परिग्रह से मुँह मोड, इस दिशा मे पग बढाया होगा—नग्न होकर परीषह सहने और ममत्व-त्याग के भाव में कच-लोंच किया होगा। यदि हम उन्हें आदर्श-मुनि, त्यागी बने रहनेमे साधन बन सकें, उन्हें शिथिल न करने जैसे साधन जुटाते रहे, तो जिन-धर्म का अपरिग्रही—वीतरागी मुनि-मार्ग सदा-सदा अक्षुण्ण रह सकेगा तथा उसके सहारे लोग भी जैनी बन या बने रह सकेगे।

मानव बडा स्वार्थी बन गया है। अपने स्वार्थपूर्ति के मार्ग मे कुछ लोग अन्यो की गरिमा या उनके पदो तक का ख्याल नही करते। जैसे भी हो वे उनसे सासारिक भोगो की कामना रखते हैं दि० त्यागियो को भी घेरे रहते है और वहाँ भी अपनी यश-प्रतिष्ठा कायम रखना चाहते है, आखिर क्यो न हो ? वे भी तो उन्ही स्वार्थी मानवो में से हैं, जिन्हें मानव संबोधन देते भी लज्जा आती है। भला, कहाँ का न्याय है कि लोग अमानवीय कृत्य करते रहे, मान्यों और पूज्यों को गिराने के साधन जुटाते रहे और मानव कहलाएँ ?

हमने पहिले इशारा किया था वह जीवित धर्म-मूर्तियों की अक्षुण्णता के मार्ग में था। हमने लिखा था—'मुनि श्री के बहाने हम ऐसी किसी भी सस्था के खडे करने के पक्ष मे नही, जिसमे अर्थ सग्रह करने या उसके हिसाब के रख-रखाव का प्रसंग हो। हम तो मुनि श्री को प्रचार के साधनों—टेप-रिकार्डर, माइक, वीडियो और मच आदि से भी दूर देखना चाहते हैं। हम चाहते है कि—मुनि श्री का घेराव न किया जाए। यदि उनमे कुछ धर्मोपदेश सुनना हो तो उनके ठहरने के स्थान पर जाकर ही सुना जाय। मुनि श्री का जयकारा करना कराना उन्हें समूह की ओर खींचना उन्हे मार्ग से च्युत करने जैसे मार्ग है। इनसे साधु का अह बढता है, यशलिप्सा होती है, राग-रजना होती है, और वह जिसके लिए दीक्षित हुआ है उस स्व-साधना से वचित रह जाता है, पर-सुधार के चक्कर मे पड़ जाता है : आदि।

अभी-अभी हमे एक पत्र मिला है जो एक प्रतिष्ठित सम्भ्रान्त ज्ञाता का है और जो मुनिभक्त भी हैं। पाठक देखे कि आज अवस्था कितनी शोचनीय बन गई है ? वे लिखते है—

"अब तो त्यागीवृन्द (क्षुल्लक ब्रह्मचारी आदि) नई-नई सस्थाएँ बनाते जा रहे है तथा किसी मुनि के साथ रहकर उनके नाम और प्रभाव से खूब चन्दा बटोरते हैं : लोग तो कहते है कि घर को भी भेजते है, संघ में जो सचालिका नाम के जीव है, वे चौके लगाती हैं, आहार दान वसूल करती है और उनके चौके में जो आहार देना चाहें वे २१/= या ३१/= अर्पित कर सकते हैं।" उन्होंने यह भी लिखा है कि उन्होंने "जो बातें लिखी और कही हैं वे सुनी हुई नही, आखो देखी हैं अतः सूर्य की धूप की तरह सत्य है" वे लिखते हैं—हमारे कुछ मान्य विद्वान् इन सब बातों को अनदेखी करने के पक्ष में हैं, वे उपगूहन पर तो जोर देते है किन्तु न जाने क्यो, स्थितिकरण के लिए प्रयत्नशील नही होते।'

हम उक्त पत्र का लम्बा-चौड़ा क्या उत्तर लिखते ? हमने तो उनसे साधारण निवेदन कर दिया कि—आश्चर्य है कि आप अब अभी भी ऐसे लोगों को मान्य-विद्वानों जैसे संबोधित कर रहे हैं, जब कि वे ऐसे कृत्य करके न मान्य रहे और ना ही विद्वान्। यदि वे मान्य-विद्वान् होते तो स्थितिकरण के लिए प्रयत्नशील होते। पर, होते कैसे ? शायद स्थितिकरण मे उनकी दक्षिणा और चन्दा-चिट्ठा के मार्ग की क्षति हो जाती होगी,—अवश्य ही वे अर्थी होंगे। मुनि के मुनि पद मे स्थितिकरण होने पर मुनि उनकी दक्षिणा और उनके चन्दा-चिट्ठा मे कैसे सहायी हो सकते। अस्तु ! उक्त बातें धर्म-रक्षा में कहाँ तक समर्थ हो सकती है ? जरा सोचिए !

२. विद्वानों की रक्षा और वृद्धि :

'पंडित और मसालची, ये समान जगमांहि।
औरन को दें चाँदना, आप अँधेरे माँहि।।'

उक्त दोहा हमे किसी ने लिखा है। हमे सतोष है कि किसी ने तो वास्तविकता को समझा। वरना, इधर तो निम्न दोहे का अनुसरण करने वाले ही अधिक सख्या मे दिखते हैं—

'करि फुनेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।'
और तब हम सोचते है—
'रे गन्धी मति-अध तू अतर दिखावत काहि।।'

हां, यह बिल्कुल ठीक ही तो है कि मसालची और सच्चा पडित दोनो की उदारता की समता नही—दोनो ही स्व-लाभ न लेकर दूसरो को लाभान्वित करने मे अपना और आश्रितो का पूरा जीवन तक बेवसी और भटकन मे गुजार देते हैं और फिर भी उन्हे भर्त्सना के सिवाय कुछ नही मिलता। सच भी है, जब वे मति-अध गंधी की भांति अपनी ज्ञान-रूपी गन्ध अनाडियो मे बाँटते फिरें, तब नतीजा तो यही होना था।

हमने किसी से कहा था कि जिस दिन समाज के बीच से पंडित और त्यागी उठ जाएँगे (पडित तो प्रायः उठ रहे हैं और त्यागियो को कुछ श्रावक उठाने के जबरदस्त प्रयत्न मे हैं) उस दिन समाज को कोई नही पूछेगा। आज जो लोग गर्व से अपने को जैन घोषित कर रहे हैं, उनकी आगे की पीढ़ियाँ अवश्य ही अपना मुँह छिपा अपने को जैन लिखना तक बन्द कर देंगी, ऐसी सम्भावना है। पडितों और त्यागियों को ही यह श्रेय प्राप्त है, जिसके कारण आज धर्मक्षेत्र मे साधारण से साधारण व्यक्ति भी सरेआम सिर उठाकर 'जैन धर्म की जय' बोलता नजर आता है। वरना—

हमें वह समय भी याद है और देखा है—जब जनियों को सरे-आम नास्तिक कहा जाता था और बात-बात मे ललकारा जाता था कि वे अपने धर्म के सिद्धान्तों की प्रमाणिकता सिद्ध करें। और जैनी थे, कि अपने को पग-पग पर सहमा-सहमा जैसा महसूस करते थे—निराश होते थे। ऐसे में पंडितो के एक सगठन की ही सूझ-बूझ और हिम्मत थी, जिसने अपने स्वार्थों को ताक में रख जगह-जगह शास्त्रार्थ करके धर्म का उद्योत किया और जैनियो को चैन की साँस लेने के योग्य बनाया। यदि सबूत लेना है तो पूछिए—परलोक मे जाकर स्व० प० मंगलसेन जी वेद-विद्या-विशारद से, प० राजेन्द्रकुमार जैन से, प० अजितकुमार शास्त्री से, प० तुलसीराम जी काव्यतीर्थ से प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ से और बीधूपुरा-इटावा के ब्र० कुंवर दिग्विजय सिंह जी आदि से और मध्यलोक में जाकर पूछिए—दि० जैन सघ मथुरा की फायलों से (यदि हो तो) कि कैसे समय पर पडितो ने धर्म-रक्षा और प्रभावना के लिए क्या किया ? स्व० गुरुवर्य प० गोपालदास वरैया व स्व० प० मक्खनलाल जी मुरैना से भी जाकर पूछिए।

जब विश्वनाथ नगरी काशी मे जैन-ग्रन्थो का सरे आम अपमान होता था, तब पडित-त्यागियो ने क्या किया, उन्होने कैसे जैन आगम की रक्षा और महत्ता-प्रकाश का मार्ग खोला ? यह पूछना हो तो स्वर्ग मे जाकर पूछिए पू० क्षु० प० गणेशप्रसाद जी वर्णी, बाबा भागीरथ जी वर्णी से और पूछिए वहाँ के बाद के कार्यकर्ता ब्र० सीतलप्रसाद जी से। कि कैसे इन सबने वहाँ विद्या के अध्ययन के लिए 'स्याद्वाद महाविद्यालय खोला ?

हम फिर लिख रहे हैं कि—अपने श्रावक पद की गरिमा रखिए, त्यागियो को परिग्रह के चक्कर मे न फँसाइए और उनके नाम पर नाजायज लाभ भी न उठाइए। फिर, वह लाभ यश-सबधी हो या अर्थ-सबधी ही क्यों न हो ?

दोनों ही लाभों के लोभ का त्याग करिए। विद्वानों की वृद्धि और रक्षा करिए, त्यागियो का स्थितिकरण करिए और जो शुद्ध है उन्हें शुद्ध रहने दीजिए और निम्न दोहे के विषय मे गहराई से सोचिए, जरा ठण्डे दिल से—

'पंडित और मसालची ये समान जग-माँहि।
औरन को दें चाँदना आप अँधेरे माँहि॥'

३. तीर्थ-क्षेत्र रक्षा :

तीर्थ धर्म को कहते है और धर्म है वीतरागता व अपरिग्रहरूप। और क्षेत्र स्थान को कहते है जो है परिग्रह का एक भेद। कैसा बेजोड जोड़ है तीर्थ और क्षेत्र का? ऐसे बेजोड जोड़ का जोड़ बिठाना बड़ी हिम्मत का काम है और तीर्थंकरो ने इसे बिठाया—क्षेत्र को भी तीर्थ रूप कर दिया भूमि भी धर्मरूप मे पूजा को प्राप्त हुई। क्षेत्र भी लोगो को तीर्थरूप मे अनुभूत हुए—वहाँ जाकर उनके भाव भी बदलने लगे। ठीक ही है—वह चन्दन ही क्या जो अपनी बास से अन्यो को सुवासित न करे? वरना, तत्त्व-दृष्टि से तो यह कार्य अशक्य और असभव ही था—धर्म और परिग्रह (क्षेत्र) को एक साथ बिठाना, जो तीर्थंकरो ने किया।

जब अर्से से लोगो ने तीर्थक्षेत्रो की रक्षा की माँग दी है और आज यह कार्य जोरो पर है, तब उक्त स्थिति मे हमे आचार्य समन्तभद्र का 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' याद आ है। भला धर्मात्माओ के बिना धर्म कहाँ सुरक्षित रह। है? धर्मरूप तीर्थंकर, क्षेत्रो को धर्मरूप बना सके, परपरित मुनि-श्रावक तीर्थ और क्षेत्रो की रक्षा म समर्थ हुए, पर, आज तो इन दोनो श्रेणियो मे ही आचार-विचार दोनो भाँति ह्रास है, तब धर्म और क्षेत्रो की रक्षा कैसे होगी? यह गम्भीर प्रश्न बन गया है। हमारा ख्याल तो ऐसा है कि—हम ससारियो के स्वभावत परिग्रही होने से हमारी दृष्टि भी मात्र परिग्रह (भूमि) पर ही केंद्रित रह गई है और उसी के लिए हम प्रभूत धन-सग्रह मे लगे हैं। फलतः—हम धर्म से मुखमोड़ मात्र क्षेत्र (भूमि-भवन) की रक्षा हेतु उद्यमशील है और येन-केन प्रकारेण उसे ही स्व-कब्जे मे रखना चाहते है और उस तीर्थ—धर्म को भूल रहे हैं जिसके कारण क्षेत्र, तीर्थ क्षेत्र कहलाए।

लिखने की आवश्यकता नही और इसे लोग जानते भी हों, शायद उनमें चिन्ता भी व्याप्त हो कि कैसे और किस प्रकार तीर्थक्षेत्र आज धर्म क्षेत्र के रूप में सुरक्षित रह सकेंगे? कुछ तीर्थों पर तो पिकनिक जैसे वे सब साधन तक मिलने लगे है जो धर्म से सर्वथा दूर और राग-रंग की ओर आकर्षित करने वाले है। जैसे राग-रंग के वीडियो कैसिट, फिल्म, टी० वी० आदि। जहाँ उस काल में मुनियों ने तपस्या करके-परीषह सहकर और श्रावकों ने घर से अल्प-काल की विरति लेकर व्रत उपवास, पूजा-पाठ, धर्म ध्यान कर तीर्थ और क्षेत्र की रक्षा की वहाँ आज लोग क्षेत्र पर जाकर कूलर, हीटर, फिर एयर कण्डीशन्ड कमरे और गृहस्थी के न जाने कौन-कौन से सासारिक सुख सजोने मे लगे है? ऐसे मे कैसे होगी तीर्थ-रक्षा या कैसे होगी तीर्थ-क्षेत्र रक्षा? यह टेढा प्रश्न है। हाँ, ऐसे में यह तो हो सकता है कि हम परिग्रही लोग—परिग्रही नाम सार्थक करने के लिए येन-केन प्रकारेण क्षेत्र (भूमि) की स्व-स्वामित्व हेतु—रक्षा कर सके, पर धर्म रक्षा तो उक्त सभी परिग्रह मे ममत्व छोड़े बिना, परिग्रह परिमाण किए बिना सर्वथा असभव ही है। जबकि लोग परिग्रह छोड़ना तो दूर—परिग्रह-परिमाण (वह भी थोड़े दिन का भी) करने को भी तैयार नही। ऐसे मे हमारी दृष्टि मे तो ममत्व छोड़े बिना धर्मरक्षित नही और धर्म की अरक्षा मे धर्मक्षेत्र की सच्ची रक्षा नही—क्षेत्र रूपी,(परिग्रह) की रक्षा भले ही हो जाय—अर्थ सचय भले ही हो जाय।

सभी जानते हैं कि क्षेत्रो को तीर्थरूप प्रदान करने का मूल श्रेय वीतरागता की मूर्ति पूज्य तीर्थंकरों व मुनियों को रहा है—उन्होंने त्याग-तप से भूमि को पवित्र किया; उसे तीर्थ क्षेत्र बनाया। आज जब वीतराग देव का अभाव है तब हमारी आँखे मुनिगण की ओर ही निहार रही हैं कि जिस कार्य को आज केवल लक्ष्मी के बल पर संपन्न कराने की चेष्टाएँ की जा रही हैं, उस कार्य की संपन्नता मुनिगण द्वारा सहज-साध्य है। इन क्षेत्रो पर मुनिगण को (जैसा कि उन्हें चाहना भी चाहिए) शहरी दूषित कोलाहल से दूर—आपाधापी से दूर—निर्जन एकान्त मे स्वयं की आत्म-साधना मिलेगी और क्षेत्र भी तीर्थ बने रह सकेंगे। यतः—हमारी दृष्टि मे तीर्थ रक्षा मे प्रभूत द्रव्य की अपेक्षा वहाँ

ऐसे निःस्पृही आत्म-साधकों की सदाकाल उपस्थिति अपेक्षित है, जिनके परम-पूत चारित्र से चारो ओर धर्म तीर्थ सुरक्षित हो सकें और यात्रीगण भी उनकी वैराग्यमयी मूर्ति व दिव्य वाणी से लाभान्वित हो सकें। इस उपाय में तीर्थ और क्षेत्र को चारित्ररूपी ठोस स्रोत होगे जबकि लक्ष्मी की प्रामाणिकता की गारण्टी नहीं। कौन जाने, कब, कहां, और किसके द्वारा, किस प्रकार से उपार्जित लक्ष्मी का उपयोग तीर्थ को उतना न उबार सके? हमारे सभी धार्मिक भावना वाले छोटे-बड़े सभी लक्ष्मीपति भी इस तथ्य को स्वीकार करते होंगे और यदा-कदा शास्त्रो मे पढते-सुनते भी होंगे कि वीतराग मार्ग मे लक्ष्मी भली नही।

हमारी भावना है कि हमारे जीवित तीर्थ—मुनि-त्यागीगण घने-जनसकुल नगरो, कोठियो के दिख-दिखावे से मुख मोड़, इन क्षेत्रों की ओर बढ़ें। श्रावक उनकी तपस्या के साधन जुटाएँ और त्यागियो को अपनी ओर न खीच, उन क्षेत्रो पर जाकर उनकी वन्दना-पूजा-अर्चा करें। इस प्रकार तीर्थ और क्षेत्र दोनो सहज सुरक्षित रह सकेंगे और यह भी चरितार्थ होगा कि जैन धर्म मे भगवान नही आते अपितु भक्त ही उनके चरणो मे नत होने—दूर-दूर तक जाते है।

अब जरा आइए, केवल क्षेत्र-रक्षा की बात पर। भला, जब क्षेत्र (स्थान) ही न रहेगा तो धर्म कहा रहेगा? आखिर, स्थान तो चाहिए ही। सो हमे क्षेत्र-रक्षा करने मे इन्कार नही— किसने कहा इसे न करे? हम तो क्षेत्र की रक्षा का लोप नही कर रहे हैं। लोग जो रक्षा कर रहे हैं सूझ-बूझ से कर रहे है, अच्छा कर रहे हैं, धर्म के लिए स्थान सुरक्षित कर रहे है।

पर, यह सुरक्षा तभी सफल है जब वे स्थान तीर्थ रह सकें। उक्त विषय में आप क्या सोचते है? जरा सोचिए!

४. आविष्कारों का उपयोग कहाँ?

हम साधु को साधु मानकर चल रहे है, कुछ लोगों की भांति उन्हें प्रचारक या सांसारिक प्रलोभनो में अडिग रहने वाले तीर्थंकर मान कर नही चल रहे। हमारा लक्ष्य साधु-मर्यादा की रक्षा है—अपनी स्वार्थ-साधना मे उन्हें आधुनिक आविष्कारों की ओर खीचना नही। यदि साधु मे साधुत्व सुरक्षित होगा तो उनसे 'अवाग्वपुषा' भी धर्म का पाठ मिल सकेगा। हमने देखा—लोगों में आज आविष्कारों से लाभ लेने का मोह इतना बढ़ गया है कि—वे स्व-लाभ के लिए साधु को भी आविष्कारों की ओर खींचने में लगे हैं—कहीं माइक कहीं कैसिट और कही वीडियो, टेप आदि: सोचे, इनसे साधु को स्व-लाभ है या परायों का चक्कर?

उस दिन की घटना है, जब स्थानीय मंदिर मे एक दोपहर में एक वृद्ध आचार्यश्री प्रवचन कर रहे थे। एक सज्जन बोले - पंडित जी, महाराज जैसे वृद्ध है वैसे ही ज्ञानप्रबुद्ध है— पूरा आध्यात्मिक बोलते है, हृदय गद्गद् हो जाता है। पर, इनके दांत न होने से वाणी स्पष्ट नही निकलती (जैसा महाराज भी बार-बार कह रहे थे) जिससे लोगो के पल्ले अधिक कुछ नही पड़ता। यदि श्रोताओ के कल्याण के लिए इनके दांत बनवा दिए जायें तो वाणी स्पष्ट निकलेगी और लोगो को दन्त-आविष्कार-उपयोग के फल-स्वरूप अधिक लाभ भी हो सकेगा। उन्होने यह भी कहा— महाराज, प्रवचन के समय माइक की भांति, दांतो का उपयोग करे और बाद मे निकाल दे। इनमें ममत्व न करने से महाराज मे परिग्रह-दोष की तो बात ही नहीं उठती, ऐसा तो वे उपकार के लिए ही करेंगे?

हमने सिर धुना कि लोगो को क्या हो रहा है? वे अपने स्वार्थ में साधु से भी कैसी-कैसी अपेक्षाएँ रखने मे लगे है। कदाचित् आविष्कारो से अधिक और त्वरित लाभ लेने के लिए ऐसे लोग साधु को T.V. और चित्रपटो के स्टेशनों तक भी खीच ले जाएँ तब भी आश्चर्य नही। क्योंकि आज के आविष्कारो मे ये दोनो सर्वाधिक आकर्षक और त्वरित प्रचार के साधन है। हमने सोचा—स्वार्थ की पूर्ति मे स्वार्थी क्या कुछ नही कर सकता? जो न करे वही थोड़ा है। ठीक ही है कि—

'स्वार्थी दोष न पश्यति।'

हमारा अब तक का अनुभव तो यह है कि आविष्कारो के प्रयोगो के कारण से ही अधिकांश साधु अपरिग्रहरूप साधुत्व की लीक से कटकर प्रचारक मात्र बनकर रह गए है—कुछ जनता के लिए और कुछ ख्याति-लाभ और यश-प्रतिष्ठा के लिए। और यह सब दोष है उन श्रावकों का, जो साधु-चर्या की उपेक्षा कर अपने लाभमात्र में साधुओं को

आधुनिक साधन जुटाते रहे हैं। अन्यथा साधु अपने कल्याण के लिए बना जाता है, या मात्र दूसरों के उद्धार में अपना सर्वस्व खोने के लिए ? जरा सोचिए !

५. सिद्धों में उपयोग : एक भ्रान्ति ?

जब जीव का लक्षण उपयोग है, तब उपयोग क्या है ? इसे सोचिए और उससे निर्णय कीजिए कि लोक परम्परा में प्रसिद्धि को प्राप्त 'जीवतत्त्व' कहने का व्यवहार ससार तक ही सीमित है या औदयिक भावजन्य उस 'जीवत्व' की पहुंच मोक्ष मे भी है ? हमारी दृष्टि से तो उपयोग के लक्षण के मोक्ष में उपलब्ध न होने से भी आचार्य ने सिद्धो को जीव-संज्ञा से बाहर रखा हो और 'सिद्धा ण जीवा' कहा हो तब भी आश्चर्य नही।

लोक मे शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-मात्र को उपयोग मानने की शायद एक भ्रान्ति रही है—साधारणत. किसी से पूछो, उपयोग क्या है ? वह तुरन्त जवाब देगा—ज्ञान-दर्शन उपयोग है। इसी भ्रान्ति के कारण ससार—प्रसिद्ध जीव-तत्त्व (चेतन की वैभाविक पर्याय) को चेतन की शुद्ध-पर्याय—सिद्ध अवस्था में बिठा दिया गया है, इसे हम लिख चुके है। हमारी दृष्टि मे मूलत:—शुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग नही हैं, अपितु ये दोनों क्षयोपशमावस्था में, निमित्तान्तरों की उपलब्धि में, चैतन्यानुविधायी परिणामरूप उपयोग की उत्पत्ति मे कारण है—'उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोग:' (देखिए : इसी अंक में 'उपयोग क्या),

हमें उपयोग का एक लक्षण और भी मिला है—
'**उवजोगो णाम कोहादि-कसाएहि सह जीवस्स संपजोगो,**

क्रोधादि कषायो के साथ जीव के सम्प्रयोग होने को उपयोग कहते है।—जयधवला० (देखें : कसायपाहुड सुत्त, कलकत्ता, पेज ५७६) इस उक्त लक्षण के प्रकाश मे सिद्धो को उपयोगस्वभावी जीव सज्ञा मे रखने के लिए उनमें कषायो का प्रादुर्भाव माने या मान्य आचार्य वीरसेन स्वामी के तथ्यपूर्ण कथन 'सिद्धा ण जीवा' को तथ्य मानें ? जरा सोचिए !

—सम्पादक

उत्थरइ जाण जरओ रोयग्गी जा ण डहई देहउडिं।
इंदिय बलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं॥

—जब तक तेरा बुढ़ापा नही आता है और जब तक रोग रूपी अग्नि देहरूपी झोपड़ी को नहीं जलाती है तथा इन्द्रियों का बल नहीं घटता है तब तक तुम आत्मा का हित-साधन करो।

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगिभावं लिंगिषु च नारदः लिंगी॥

—जो पापमोहित बुद्धि वाला तीर्थकरो का दिगम्बर रूप धारण करके भी लिंगिपने की हसी करता है अर्थात् खोटी क्रियाएँ करता है वह लिंगियो मे नारद के समान लिंग धारण करने वाला है।

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥

—जो श्रमण वेष धारण करके बहुत प्रयत्न से परिग्रह का संचय करता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए आर्तध्यान करता है, वह मूर्छित-(मोह) बुद्धि तिर्यच योनि है अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ५-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

'सिद्धा ण जीवा' : (चिंतन के आयाम) श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ... ... मनन मात्र

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्र

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० २ अप्रैल-जून १९८७

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयो पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography . Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

'सिद्धा रा जीवा' : (चिंतन के आयाम) श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ... ... मनन मात्र

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० २ अप्रैल-जून १९८७

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भावनांजलि

सम्यक् श्रद्धापूर्वक दी गई अंजलि श्रद्धांजलि होती है और वह होती है गुणों में मान्यों—पूज्यों को, कुछ विशिष्ट आत्माओं को। हम नहीं जानते कि आज के श्रद्धांजलि-समर्पण समारोह किस माप में होते हैं और किनको और कैसे होते हैं? क्या, आज श्रद्धांजलि समर्पण एक सरल, सर्वसाधारण तरीका नहीं बन चुका है? जो हर क्षेत्र में हर साधारण व्यक्ति द्वारा हर साधारण से साधारण के लिए भी अपनाया जा रहा है—खानापूर्ति के सिवाय इसका अन्य महत्त्व नहीं।

हम सोचते हैं—परम दिगम्बर श्रमण गुरुजन साधारण हस्तियों से बहुत ऊँचे और उत्कृष्ट हैं—मोक्षमार्ग के पथिक हैं। उनकी गति—जिनके लिए उन्होंने दीक्षा ली होती है, रत्नत्रय की पूर्णता के बिना नहीं, उन्हें मोक्ष प्राप्त करना ही चाहिए और मोक्ष का सीधा सा उपाय है रत्नत्रय की पूर्णता यानी 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'

सम्यक्श्रद्धा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है और हमारी समझ से श्रमण उस पर श्रमणत्व धारण काल से ही आरूढ़ हो बैठे होते हैं। यतः—बिना श्रद्धा के ली गई दीक्षा को दीक्षा ही कैसे कहा जा सकता है? ऐसे में श्रमण को कोरी श्रद्धांजलि भेंट कर—उनके प्रति श्रद्धा मात्र की भावना प्रकट कर, हम श्रमण को प्रथम सीढ़ी पर ही रहने की भावना भाएँ या श्रमण के ज्ञान-चारित्र की पूर्णता की भावना भी भाएँ? हमारी समझ से तो श्रमण के प्रति रत्नत्रय भावनांजलि समर्पण की भावना ही अधिक उपयुक्त और कार्यकारी है, वही मोक्षमार्ग में प्रशस्त है।

गत दिनों दो पूज्य श्रमणाचार्यों की समाधि हुई। एक थे—आचार्य श्री शान्तिसागर पट्ट के परम्परित पट्टाचार्य पूज्य श्रीधर्मसागरजी महाराज—सरल, शान्त, निर्भीक सिंहवृत्ति आचार्य। और दूसरे थे—आज के नेतृत्व प्रमुख, विश्वधर्म-प्रचारक, एलाचार्य (अब आचार्य रत्न) श्री विद्यानन्द महाराज के परम गुरु और अनेक ग्रन्थों के व्याख्याता, धर्मप्रभावक-आचार्य श्री देशभूषण महाराज कोथली। दोनों ही वर्तमान युगीन प्रचलित श्रमण परम्परा के बेजोड़ रत्न थे—दोनों ने स्व-शक्त्यनुसार दि० परम्पराओं को जीवित रखा। फलतः—

समस्त सम्पादक मंडल 'अनेकान्त' और वीर सेवा मंदिर के अधिकारी, सदस्यगण आचार्य-द्वय को रत्नत्रय भावनांजलि समर्पण करते हुए दिवंगत आत्माओं में नतमस्तक हैं। आचार्यद्वय रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त करें ऐसी हमारी भावना है।

—सम्पादक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्
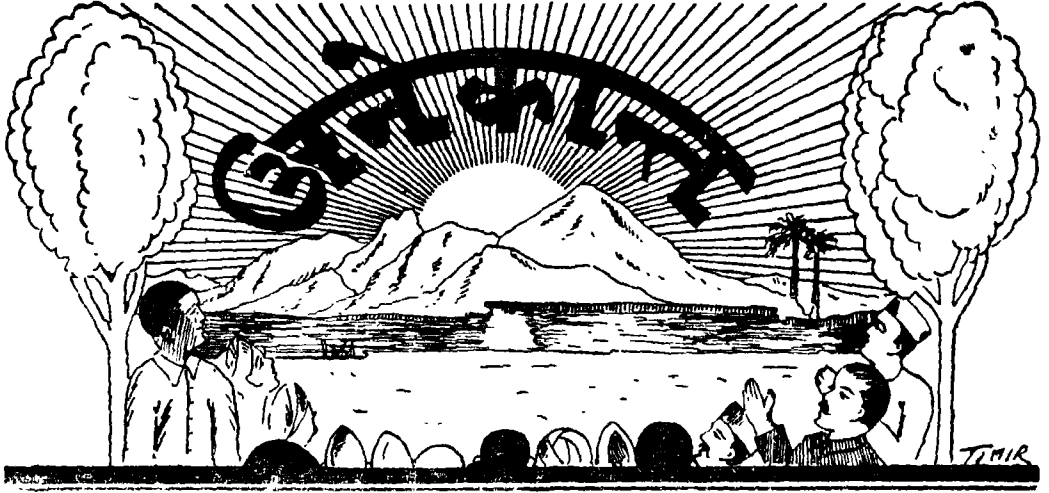
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४०
किरण २

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५१३, वि० सं० २०४४

अप्रैल-जून
१९८७

"चिर-लग्न"

आज क्यों मम प्राण बाजे, सुधियों में सम्यक्त्व साजे ।
वीतरागी बन के साजूं, आज मैं श्रृंगार अपना ॥
निर्वेद की मेंहदी रचाऊँ, संवेग की बिंदिया सजाऊँ ।
नमन में परमात्म से चिर लग्न का लेकर के सपना ॥
ज्ञान का काजल लगाऊँ, निर्मोह का टीका सजाऊँ ।
समदर्शिता की चूनरी से घूंघटा निकालूं आज अपना ॥
नव तत्त्व के सिन्दूर से मैं, आज अपनी माँग भर लूं ।
स्वयं को वरने का कर लूं आज मैं साकार सपना ॥
संवर का मंडप तान कर, लूं निर्जरा के साथ फेरे ।
ब्रह्मचर्य के साथ खेलूं सखि आज के दिन मै कंगना ॥
उत्तम क्षमा तप आदि के, आभूषणों को धार के ।
आकिंचन्य की डोली में चढ़कर कर चलूं प्रस्थान अपना ॥
भक्ति रस में डूब कर, पर से विदा के गीत गाऊँ ।
निज भाव के साहचर्य का देखूं सखि दिन रात सपना ॥
अष्ट सखियों से विदा लूं, चार बहनों को भुला दूं ।
शुभ कर्म का संसार तज कर शुद्धत्व को जानू मैं अपना ॥
राग के उपहार तज दूं, मिथ्यात्व को मुडकर न देखूं ।
सिद्धत्व को पाने का ही दिन रात देखूं एक सपना ॥
विरति का आसन बिछा कर, ध्यान की मैं लो जलाऊँ ।
रत्नत्रय के दीपकों से जगमगा लूं मन मैं अपना ॥

—डा० कु० सविता जैन, 7/35 दरियागंज, दिल्ली

जैन बिबलियोग्रेफी

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

आधुनिक युग में विशेषज्ञता पर बल दिया जाने लगा है एवं शोध खोज को विश्वविद्यालयी स्तर पर पी०एच० डी०, डी० लिट्० आदि उपाधियों के लिए सुव्यवस्थित रूप से एव सुयोग्य निर्देशन में तैयार किए जाने वाले शोध प्रबन्धों ने प्रभूत विस्तार एवं व्यापकता प्रदान कर दी है। इस कार्य के लिए पुरातन प्रकाशित व अप्रकाशित साहित्य, आलेखों, शिलालेखों आदि का निरीक्षण, परीक्षण, अध्ययन तो आवश्यक है ही, किन्तु ऐसी अपेक्षित सामग्री सर्वत्र अथवा सहज सुलभ नही होती। शोधार्थी को उसकी जानकारी भी बहुधा नही हो पाती। ऐसी स्थिति मे विभिन्न प्रकार के संदर्भ ग्रन्थ बड़े सहायक होते है। शास्त्र भडारो की ग्रन्थ-सूचियाँ, प्रकाशित साहित्य की सदर्भ सूचियाँ (बिबलियो ग्रेफी), विश्वकोश, व्यक्तिकोश, भौगोलिक या स्थलकोश, शिलालेख संग्रह, विषय विशेष सम्बन्धी कोश, पारिभाषिक शब्दाथ कोश, विशेषार्थक कोश, विविध अनुक्रमणिकाएं आदि ऐसे सदर्भ ग्रन्थों का गत लगभग एक सौ वर्षों मे पर्याप्त संख्या मे निर्माणहुआ है, और हो रहा है।

गत लगभग २०० वर्षों में देशी-विदेशी प्राच्यविदो एव भारतीय विद्या विशारदों का ध्यान जैन साहित्य एवं संस्कृति की ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक आकृष्ट होता आया है। जैन शास्त्र भडारों मे संरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थो का बहुभाग भी मुद्रित-प्रकाशित हो गया है। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के तो समीक्षात्मक विस्तृत प्रस्तावनाओ सहित सुसंपादित स्तरीय संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। भारतीय भाषाओं में उन पर अलग से समीक्षात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन, गवेषणाए, विवेचनाए भी हुई है। इनके अतिरिक्त अग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी, इतावली, रूसी आदि विभिन्न पाश्चात्य भाषाओं मे भी प्रकाशित शोध निबन्धो, लेखों, सर्वेक्षणों, रिपोर्टों, पुस्तकों आदि विविध प्रकाशनों में जैन-धर्म-संस्कृति-साहित्य-कला-पुरातत्त्व-इतिहास तथा जिन धर्म के अनुयायियो के विषय में अनगिनत उल्लेख प्राप्त है। वर्तमान शती के आरम्भ से तो ऐसे प्रकाशनों एवं सदर्भों में द्रुतवेग से प्रगति हुई है। परिणामस्वरूप प्राच्यविद्या के अन्तर्गत भारतीय विद्या के एक अति महत्त्वपूर्ण अंग एवं विभाग के रूप में जैनविद्या (जैनालाजी) का स्वतन्त्र अस्तित्व सुनिश्चित हुआ, और जैन संदर्भ ग्रन्थों या कोषों की आवश्यकता भी अधिकाधिक अनुभव की जाने लगी, जिसकी पूर्ति के लिए अनेक विद्वान एवं सस्थाए सलग्न हुईं।

जहां तक पाश्चात्य भाषाओ के जैन सदर्भ कोश का प्रश्न है, सर्वप्रथम फ्रान्सीसी प्राच्यविद डा० ए० गिरनाट ने १९०६-९ ई० मे अपने तीन निबन्ध जैन बिबलियो ग्रेफी एवं एपीग्रेफी पर प्रकाशित कराए। तदनन्तर दिल्ली निवासी रायबहादुर पारसदास ने 'जैन बिबलियोग्रेफी न० १ प्रकाशित की, और १९४५ ई० मे स्व० बा० छोटेलाल जैन ने अपनी 'जैन बिबलियोग्रेफी' का प्रथम सस्करण प्रकाशित किया, जिसमें गिरनाट आदि द्वारा प्रदत्त पूर्ववर्ती संदर्भ-सूचनों का समावेश करते हुए, १९२५ ई० पर्यन्त के प्रकाशनों मे प्राप्त सदर्भों को सम्मिलित किया गया था। तदुत्तरकालीन सन्दर्भों के सकलन भी वह करते-कराते रहे, और १९६६ ई० मे उन्होने १९६० ई० पर्यन्त के प्रायः समस्त सन्दर्भों का सकलन कार्य पूरा कर लिया था। दुर्भाग्य से उसी वर्ष उनका स्वर्गवास हो जाने से ग्रन्थ का प्रकाशन स्थगित सा हो गया। अन्ततः उनके परमस्नेही स्व० साहू शान्ति प्रसाद जी के आर्थिक सहयोग एव प्रेरणा से वीर सेवा मंदिर दिल्ली ने १९८२ ई० मे इसे दो जिल्दों मे विभाजित, लगभग दो हजार पृष्ठो के विशाल जैन सदर्भ कोश का समुचित प्रकाशन कर दिया। बड़ा आकार, उत्तम कागज, स्वच्छ मुद्रण एवं पुष्ट जिल्द वाली बा०

छोटेलाल जी जैन की बिबलियोग्रेफी का यह सशोधित परिवर्द्धित सस्करण जैनाध्ययन के अत्युत्साही प्रेरक एवं प्रोत्साहक स्व० बाबूजी का सजीव स्मरण है। भारतीय विद्या के किसी भी अग पर विशेषाध्ययन या शोध-खोज करने वालों के लिए जैन सदर्भों का उपयोग आज अनिवार्य सा बन गया है। जैन विद्या के अनुसधित्सुओं के लिए तो इसकी आवश्यकता, महत्त्व एव उपयोगिता असंदिग्ध है। ग्रन्थ का मूल्य तीन सौ रुपये है, जो उसकी लागत एव उपादेयता को देखते हुए कुछ अधिक नहीं है। यो प्रस्तुत प्रकाशन में मुद्रण की भी कतिपय अशुद्धियाँ रह गई है, विभिन्न प्रकार की अन्य कई त्रुटियाँ, दोष एव कमियाँ भी रह गई प्रतीत हो सकती है। किन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता है उपयुक्त इडेक्स या अनुक्रमणिका की जिसके कारण ग्रन्थगत अधिकांश सदर्भों व्यक्ति, प्रकाशन आदि के विषय मे अपेक्षित सदर्भ या सदर्भों को पा लेना सहज सुगम हो सके। अभी इस बिबलियोग्रेफी के पूरे दो हजार पृष्ठों को पलटने पर ही अभीष्ट सूचन पाय या एकत्र किए जा सकते है। इस सन्दर्भ कोश का अन्वर्थ बनाने के लिए कम से कम तीन अनुक्रमणिकाओं का प्रकाशन आवश्यक है—(१) ग्रन्थानुक्रमणिका, जिसमे ग्रन्थगत समस्त पुस्तकों, पत्रिकाओ, आलेखो आदि का इंडेक्स हो; (२) लेखानुक्रमणिका, जिसमे ग्रन्थगत सन्दर्भों के लेखको, सपादकों आदि का इडेक्स हो; और (३) सामान्य नामानुक्रमणिका, जिसमे ग्रन्थगत विभिन्न सदर्भों मे प्राप्त समस्त व्यक्तिनामो, स्थलादि नामो अन्य व्यक्तिवाचक सज्ञाओं का इडेक्स हो। वैसे ग्रन्थ की तीसरी जिल्द के रूप मे ऐसा एक इडेक्स प्रकाशित करने की योजना प्रारम्भ से ही थी, किन्तु कतिपय अपरिहार्य कारणो से वह अभी संभव नही हो सका। एक जैनविद्यारसिक जैन मनीषी की साधिक तीन दशकों की स्वान्त: सुखाय साधना एवं प्रयास द्वारा निर्मित और, और उन्ही से संरक्षित-सम्पोषित वीर सेवा मदिर दिल्ली जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक जैन संस्था द्वारा प्रकाशित इस सदर्भ ग्रन्थ का यह अधूरापन खटकने वाला है। हमे आशा है कि उक्त संस्था के पदाधिकारी गण इस अभाव की पूर्ति करने में यथासंभव शीघ्र तत्पर होंगे।

इसके अतिरिक्त, इस बिबलियोग्रेफी में १९६० ई० पर्यन्त के ही सदर्भ समाविष्ट है—कुछ एक १९६० से १९६५ तक के भी सम्मिलित कर लिए गए है, और कई एक १९६० से पूर्व के भी छूट गए लगते है। अतएव, ग्रन्थ की तीसरी जिल्द मे उपरोक्त अनुक्रमणिकाओं के अतिरिक्त एक शुद्धिपत्र भी दिया जा सकता है, और संभव हो तो १९६० से पूर्व के जो संदर्भ छूट गए है उन्हें भी एक परिशिष्ट के रूप में सम्मिलित किया जा सकता है।

१९६० के पश्चात् भी अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं मे जैन-सम्बन्धी विपुल साहित्य प्रकाशित हो चुका है। क्या ही अच्छा हो कि प्रस्तुत बिबलियोग्रेफी के दसवर्षीय (१९६१-७०, १९७१-८०, १९८१-९०) पूरकों के रूप मे इडेक्स युक्त प्रकाशनों की योजना भी यथा संभव शीघ्र कार्यान्वित की जा सके।

जैन विद्या के विभिन्न अगों से सम्बन्धित साहित्य पाश्चात्य भाषाओ मे जितना अद्यावधि प्रकाशित हो चुका है, उसका कई गुना भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिन्दी मेप्रकाशित हो चुका है। उसमे भी शोध-खोज परक विपुल स्तरीय सामग्री प्राप्त होती है अतएव तत्सबधी सदर्भकोशों के सम्यक्निर्माण एव प्रकाशनकी भी महती आवश्यकता है। वीर सेवा मदिर जैसी किसी भी प्रतिष्ठित एवं साधन सम्पन्न साहित्यिक सस्था इस अतीव उपयोगी कार्य को सुयोग्य निर्देशन मे सम्पन्न करा सकती है।

ऐसी योजनाओ मे व्यावसायिक हानि-लाभ की अपेक्षा नही की जाती, यद्यपि यदि देश-विदेश के विश्व विद्यालयों, महाविद्यालयो, शोध सस्थानों, पुस्तकालयो आदि के संचालक ऐसे उपयोगी सदर्भ कोशो को क्रय करके संग्रह करे तो उनके निर्माणकर्ताओ एव प्रकाशको को तो प्रोत्साहन मिलेगा ही, जिज्ञासु अध्येताओ को भी अतीव लाभ होगा, तथा जैनविद्या विषयक शोध-खोज एव साहित्यनिर्माण में भी द्रुतवेग से अभूतपूर्व गति होगी।

□□

उद्दिष्ट आहार

□ श्री बाबूलाल जैन

समयसार तात्पर्यवृतिः गाथा ३०४-३०५ की टीका करते हुए आचार्य जयसेन स्वामि लिखते हैं कि :—
अयमत्रभिप्राय ; पश्चात्पूर्वं संप्रतिकाले वा योग्याहारविषये मनोवचन कायकृत कारितानुमत रूपैर्नवभिविकल्पै-शुद्धास्तेषां परकृताहारादि विषये बधो नास्ति यदि पुन परकीय परिणामेन बंधो भवति र्तहि क्वापि काले निर्वाण नास्ति । तथा चोक्त—

णव कोडि कम्मसुद्धो पच्छापुरदो य संपडियकाले
पर सुह दुक्खणिमितं वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाण

यहां यह अभिप्राय है कि भोजन के पीछे पहले या भोजन करते समय मुनि के योग्य आहार के विषय मे मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदन रूप नौ विकल्पो से रहित शुद्ध आहार होता है । अर्थात मुनि किसी आहार के विषय में मन वचन-काय कृत कारित अनुमोदन रूप कोई भी विकल्प नही करते, इसी से उन मुनियो के दूसरे गृहस्थी के द्वारा किये हुए आहार आदि के सम्बन्ध मे कर्मों का बन्ध नही होता क्योंकि बध परिणामो के आधीन है । गृहस्थ उसके बनाने आदि के विकल्प करता है इससे बधता है । मुनि महाराज ऐसे विकल्प नही करते इससे नही बधते) यदि ऐसे माने कि दूसरे के द्वारा किए गए परिणाम से दूसरे के बध हो जाय तो कही भी किसी को भी निर्वाण का लाभ न होवे ।
ऐसा ही अन्य ग्रन्थ मे कहा है ।

तीन काल में नव कोटि शुद्ध भोजन को जो मुनि लेता है सो पीछे पहले व वर्तमान मे नव कोटि शुद्ध है और यदि वह दूसरों के सुख दुख का निमित्त हो और बध को प्राप्त करें तो उसको निर्वाण का लाभ नही हो सकता ।

औद्देसिक आहार को लेकर अपने समाज मे बहुत प्रकार की ऊहापोह है । श्रावक तो गर्म पानी पीता नही, बिना नमक का, बिना चीनी का, बिना घी का भोजन करता नहीं । वह तो जो कुछ भी तैयारीं करता है पात्र के आहार दान के लिये ही करता है चाहे एक चौका लगे चाहे १० चौका लगे । श्रावक रोगी मुनि को औषध देता है वह अपने लिए नही बनाता । व्रती श्रावक भी पात्र दान के लिये ही आहार बनाता है । आज कल तो व्रती श्रावक नही के बराबर है अव्रती श्रावक शुद्ध भोजन करता नही वह जो आहार बनाता है वह पात्र दान के लिये ही बनाता है। अगर उद्देशिक आहार की यही परिभाषा की जावे कि पात्र के उद्देश्य से बनाया है वह उद्देशिक आहार है तब तो सभी मुनि आज भी और प्राचीन काल मे भी उद्देशिक आहार के दोष के भागी रहते और कर्म बध नहीं रुक सकता । मुनि को यह मालूम भी कैसे हो सकता है कि यह मेरे उद्देश्य से बनाया या बिना उद्देश्य के बनाया आहार है । यह तो श्रावक के परिणामो पर निर्भर करता है और श्रावक के परिणामों का फल मुनि को लगने लगे तो उसके कर्म बध रुक नही सकता और मोक्ष की प्राप्ति हो नही सकती । यह तो तथ्य है कि जीव अपने ही परिणामो का फल पाता है दूसरे के परिणामों का फल दूसरा नही पाता । पर जितने भी चरणानुयोग के ग्रन्थ हैं उनमें ये ही परिभाषा मिलती है कि मुनि के उद्देश्य से बनाया आहार उद्देशिक है । परन्तु ऊपर मे जो प्रमाण दिया गया है उससे यह परिभाषा निकली है कि मुनि नव कोटि शुद्ध है तो मुनि के आहार कृत आरभ का दोष नही लगेगा । यही परिभाषा ज्यादा युक्तियुक्त लगती है । श्रावक ने अपने लिये आहार बनाया अगर मुनि ने मन, वचन, काय से कृत, कारित या अनुमोदन करो तो वह उद्देशीक आहार हो गया और मुनि को कर्म बध हो गया । यदि श्रावक ने पात्र दान के लिये ही आहार बनाया और मुनि नव कोटि शुद्ध है तो कर्म बध नही हुआ कर्मबंध में मुख्यता मुनि के अपने परिणामों की है । यदि यह परिभाषा मानी जावे तभी उद्देशीक आहार का त्याग बन सकता है

(शेष पृ० ६ पर)

दो शास्त्रीय प्रसंग

☐ आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज

१. "दंसण भट्टा भट्टा..."

दंसण भट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झति चरियभट्टा दसणभट्टा ण सिज्झति ॥3॥

—दर्शनपाहुड : कुन्दकुन्दाचार्य

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन से जो भ्रष्ट हैं यानी आज तक जिन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हुई, उसको निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। (कारण जिसे एक बार भी सम्यक्त्व हो गया तो वह भ्रष्ट होकर भी अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के बाद निर्वाण को अवश्य प्राप्त होगा।) जो चारित्र से भ्रष्ट है, वह निर्वाण को प्राप्त होता है (सिज्झति) परन्तु दर्शन से भ्रष्ट जीव निर्वाण को प्राप्त नही होता।

उपर्युक्त गाथा का टीकाकारो ने ऐसा अर्थ किया है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है यानी जिनका सम्यग्दर्शन (होकर) नष्ट हो गया है उन्हे कभी मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती तथा जो चारित्र से भ्रष्ट है और जिनका सम्यग्दर्शन बना हुआ हे, वे तो चारित्र धारण कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जैसे चारित्र से भ्रष्ट हुआ प्राणी फिर चारित्र धारण कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है वैसे ही एक द्रव्यलिंगी मुनि भी सम्यक्त्व को प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। पर गाथा का अभिप्राय ऐसा नही लगता। गाथा तो 'चारित्रधारण' का सकेत ही नही करती अपितु घोषित करती है कि 'सिज्झंति चरियभट्टा'। यही बात गम्भीरतपूर्वक विचार करने योग्य है। (क्योंकि यदि चारित्रभ्रष्ट चारित्र धारण करे तो दर्शनभ्रष्ट भी तो सम्यक्त्व धारण कर सकता है और मोक्ष जा सकता है।) तो फिर इस 'सिज्झति चरियभट्टा' पद के प्रयोग में क्या रहस्य है?

श्री समयसार जी में कथन आता है कि प्रतिक्रमण ऊपर की श्रेणी वालों के लिए विषकुम्भ है यानी जो प्रतिक्रमण रूप चारित्र से भ्रष्ट हैं,...वे बुद्धिपूर्वक बाहरी पंच महाव्रत के पालन से भ्रष्ट हैं, वे तो ध्यानमग्न हैं, आत्मलीन हैं। नीचे की अवस्था में यानी जो बुद्धिपूर्वक पंच महाव्रतादि का पालन करते हैं उनके लिए प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है—इस सन्दर्भ मे समाधितंत्र की गाथायें (८३-८४) ध्यान देने योग्य है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

अर्थ—हिंसादि पाँच अव्रतो के अनुष्ठान से पाप का बन्ध होता है ओर अहिंसादिक पाँच व्रतो के पालन से पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों का जो विनाश है, वही मोक्ष है अतः मोक्ष के इच्छुक भव्य पुरुष को अव्रतो की तरह व्रतो को भी छोड़ना चाहिए ॥८३॥

हिंसादिक पाँच अव्रतों को छोड़ करके अहिंसादिक व्रतों मे निष्ठावान रहे अर्थात् उनका दृढ़ता से पालन करे, फिर आत्मा के रागद्वेषादि रहित परम वीतराग पद को प्राप्त करके उन व्रतों को भी छोड़ देवे।

क्षपक श्रेणी आरूढ साधु अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में व्रतों का पालन बुद्धिपूर्वक न करते हुए भी (उनके अभाव में भी) निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। यानी भेद रत्नत्रय रूप चारित्र का पालन न करते हुए चारित्रभ्रष्ट साधु 'सिज्झंति'।

पंचास्तिकाय गाथा ३७ में मोक्ष जीवों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अमृतचन्द स्वामी की टीका में आठ भाव दिए गये हैं—शाश्वत-नाश्वासत; भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य, ज्ञान-अज्ञान। अर्थात् मुक्त जीव भव्य भी है और अभव्य भी, आदि।

इसी प्रकार बुद्धिपूर्वक चारित्रपालन के अभाव की चारित्रभ्रष्ट संज्ञा है न कि भेद रत्नत्रय रूप चारित्रपालन के अभाव की। क्योंकि निर्वाण तो तभी होगा जब सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्चारित्र भी होगा पर गाथा कहती है कि 'चरियभट्टा सिज्झंति' अर्थात् चरित्रभ्रष्ट मोक्ष प्राप्त करते हैं तो वहाँ चरियभट्टा का अर्थ उपर्युक्त ही लगाना होगा।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायों के (प्रवृत्ति के) अभाव का नाम अप्रमाद है, इसी की चरिनभट्टा संज्ञा है।

—धवल पु० १४ पृष्ठ ८६

☐ उपर्युक्त अभिप्राय पर विज्ञ पुरुषों से विचार करने का अनुरोध है।

२. योगे पयडि पदेसा, ठिदि अनुभागाकसायदो होदि

उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ हम सब ऐसा करते आए हैं कि योगों से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं और कषायो से स्थिति और अनुभाग बन्ध। सो ठीक भी है क्योंकि गाथा का स्थूल अर्थ तो यही निकलता है परन्तु विचार करें कि जब आचार्यों ने बन्ध के प्रत्यय मिथ्यात्व अविरति (असंयम), कषाय और योग बताये है तो इन मे से योग और कषाय को ही बन्ध का कारण मानेंगे तो मिथ्यात्व और अविरति के हिस्से मे कौन-सी बन्ध का कार्य आएगा, जबकि बन्ध में मिथ्यात्व प्रधान है और योग सभी अवस्थाओं में सबके साथ बन्ध कराने मे आगे रहता है। यदि कषाय को अन्तरदीपक मान कर विचार करे तो योग जब मिथ्यात्व के नेतृत्व मे रहता है तो वहाँ अविरति और कषाय भी है परन्तु बन्ध कराने में प्रधानता मिथ्यात्व की रही और जब योग अविरति के साथ उदय में आता है, वहाँ कषाय है पर बन्ध कराने का श्रेय अविरति को है; इस तरह जब योग मिथ्यात्व अविरति के उदयाभाव में सिर्फ कषाय के साथ उदय को प्राप्त होता है, वहाँ बंध कराने की प्रधानता कषाय की है और जब योग एकाकी उदय में आता है यानी उसके साथ किसी और का बल नही होता तब सिर्फ प्रकृति प्रदेश बन्ध होता है। इस विषय में धवला पु० १३ पृ० ४७ सूत्र २३ मे कहा है कि "ईर्या का अर्थ योग है। वह जिस कार्मण शरीर का पथ, मार्ग हेतु है, वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है। मात्र योग के कारण जो कर्म बँधता है, वह ईर्यापथ कर्म है।"

कषायसहित जीवो के ईर्यापथ कर्म नहीं होता।

(पु० १३ पृ० ६२)

जो कार्मण वर्गणा स्कन्ध अकर्म रूप मे स्थित है, वे मिथ्यात्व आदि कारणों का निमित्त पाकर अन्य परिणामों को प्राप्त न होकर अनन्तर समय मे आठ कर्म रूप, सात कर्म रूप और छह कर्मरूप परिणत होकर गृहीत होते हैं।

इस तरह सभी आचार्यों ने मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगो को बन्ध के प्रत्यय (कारण) स्थिर किये हैं; फिर मिथ्यात्व और असयम को बन्ध के कारणो से निकाल देना क्या आचार्यों के वचनो की अवहेलना करना नही है?

अत: आचार्यों के वचनो की गरिमा और सिद्धान्त की रक्षा कषाय को अन्त दीपक मानकर अर्थ करने मे है।

☐ विद्वानो से इस अभिप्राय पर विचार करने का अनुरोध है।

(पृ० ४ का शेषांश)

अन्यथा तो निर्दोषी आहार बन ही नहीं सकता।

श्रावक तो अपने लिये आहार बनाता ही नही वह तो पात्र दान के लिये ही आहार बनाता है इसलिये पाप बँध न करके पुण्य बंध करता है। यदि वही आहार वह अपने लिए बनाता तो पाप बंध होता। पात्र को आहार दान देकर वह जो भी बचा सो आप भी खा लेता है। दुबारा आरंभ नहीं करता। और मुनि नव कोटि शुद्ध है इसलिए कर्म बंध नहीं होता। भोजन तो बनावे पात्र दान के लिये और यह कहवे कि आपके लिये नहीं बनाया तब तो मायाचारी आवेगी पाप का बंध होगा।

यह लेख विद्वानों और त्यागियों के विचार करने के लिये लिखा है:

२/१० अंसारी रोड
नई दिल्ली-११००२
सन्मति विहार

शुभोपयोग का स्वरूप

❀ श्री नरेन्द्रकुमार जैन, बिजनौर

जो आत्मा देव, शास्त्र, गुरु की पूजा में, दान में, गुणव्रत, महाव्रत रूप उत्तम शीलो में और उपवास आदि शुभ कार्यो में लीन रहता है, वह शुभोपयोगी कहलाया है। जो आत्मा शुभोपयोग से सहित है वह तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने काल तक इन्द्रिय जन्य विविध सुखों को पाता है। अन्य की बात जाने दो, देवों के भी स्वभाव जन्य सुख नहीं हैं, ऐसा विजेन्द्र भगवान के उपदेश मे युक्तियों से सिद्ध है, वास्तव मे शरीर की वेदना से उत्पीड़ित हाकर रमणीय विषयों मे रमण करते हैं। जबकि मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव चारो ही गतियों के जीव शरीर से उत्पन्न होने वाला दु:ख भोगते है। तब जीवो का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है? इन्द्रिय जन्य दु:खों का कारण होने से शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान ही हैं, निश्चय से इनम कुछ अन्तर नही है। इन्द्र तथा चक्रवर्ती सुखियों के समान लीन हुए शुभोपयोगात्मक भोगो से शरीर आदि की ही वृद्धि करते है। शुभोपयोग का उत्तम फल दोनो मे इन्द्र को और मनुष्यों मे चक्रवर्ती को ही प्राप्त होता है परन्तु उस फल से वे अपने शरीर को ही पुष्ट करते है न कि आत्मा को भी। वे वास्तव मे दुखी रहते है, परन्तु बाह्य मे सुखियों के समान मालूम होते हैं। यह ठीक है कि शुभोपयोग रूप परिणामो से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान रहते है, परन्तु वे देवो तक समस्त जीवो की विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते है। शुभोपयोग के फलस्वरूप अनेक भोगोपभोगों की सामग्री उपलब्ध होती है, उससे समस्त जीवों की विषयतृष्णा ही बढती है, इसलिए शुभोपयोग का अच्छा कैसे कहा जा सकता है? फिर जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है, ऐसे समस्त ससारी जीव तृष्णाओ से दुखी और दु खों से संतप्त होते हुए विषयजन्य सुखों की इच्छा करते हैं और मरण पर्यंत उन्हीं का अनुभव करते रहते हैं। विषय जन्य सुखों से तृष्णा बढ़ती है, और तृष्णा ही दुखों का कारण है। अत: शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विषय सुख हेय है—छोड़ने योग्य है। जो सुख पांच इन्द्रियो से प्राप्त होता है, वह पराधीन है, बाधा सहित है। बीच मे नष्ट हो जाने वाला है, बन्ध का कारण है और विषम है,—हानि वृद्धि रूप है, इसलिए दु:ख ही है। शुभोपयोग से पुण्य होता है और पुण्य से इन्द्रियजन्य सुख मिलता है परन्तु यथार्थ में विचार करने पर वह इन्द्रियजन्य सुख-दु:ख रूप ही मालूम होता है। पुण्य और पाप मे (बन्धन की अपेक्षा) विशेषता नही है, ऐसा जो नही मानता है, वह मोह से आच्छादित होता हुआ भयानक और अन्तरहित ससार मे भटकता है।

प्रवचनसार मे अन्यत्र कहा गया है कि जो जीव जिनेन्द्रो को जानता है, सिद्धो तथा अनगारों (आचार्य, उपाध्याय, और सर्व साधुओ) की श्रद्धा करता है, जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है उसके वह शुभ उपयोग है। यदि मुनि अवस्था मे अरहन्त आदि मे भक्ति तथा परमागम से युक्त महामुनियों में वत्सलता-गोवत्स की तरह स्नेहवृत्ति है तो वह शुभोपयोग से युक्त चर्या है। सराग-चरित्र की दशा मे अपने से पूज्य मुनिराजों की वन्दना करना, नमस्कार करना, आते हुए देख उठकर खड़ा होना, जाते समय पीछे-पीछे चलना इत्यादि प्रवृत्ति तथा उनके श्रम, थकावट को दूर करना निन्दित नहीं है, प्रशस्त है।

शुभोपयोगी मुनि की प्रवृत्तियां—दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का सग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागी मुनियो की प्रवृत्ति है। जो ऋषि, मुनि यति, अनगार के भेद से चतुर्विध मुनि समूह का षटकायिक जीवों की विराधना से रहित उपकार करता है—वैयावृत्य के द्वारा उन्हें सुख पहुंचाना है वह भी सराग प्रधान अर्थात् शुभोपयोगी है। यद्यपि अल्प कर्मबन्धन होता है, तथापि

(शेष पृ० ८ पर)

रेल की जैन प्रतिमा

□ डा० प्रदीप शालिग्राम मेश्राम

महाराष्ट्र राज्य के अकोला जिले में अकोला से लगभग २० मि० मी० दूर चौहाटा के पास "रेल" नामक एक छोटा-सा कस्बा है। यहाँ उगलियो पर गिनने लायक दिगंबर जैन परिवार बसे है। अधिकांश परिवारो मे पीतल की बनी अधुनिक मूर्तियां पूजा मे है। लेकिन श्री शंकरराव फुलंबरकार के घर एक सफेद संगमरमर की बनी पार्श्वनाथ की मूर्ति बरबस ही ध्यान खीच लेती हैं। यह मूर्ति उनके मदिर प्रकोष्ट मे है तथा रोज पूजी जाती है। शोधकर्ता किसी व्यक्तिगत कार्य से रेल गया था तब यह मूर्ति देखने का सुअवसर मिला। लेखक फुलबरकारजी का कृतज्ञ है जिन्होने कुछ मिनट मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर दिया।

सफेद संगमरमर की बनी २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पद्मासन मुद्रा मे बैठी यह अत्यत आकर्षक प्रतिमा है। यह ८" लबे तथा एक इच मोटे पादपीठ पर बनी है। पादपीठ सहित मूर्ति की ऊचाई बारह इच याने एक फीट है। इसमे पार्श्वनाथ के सिर पर दो इच ऊँचे सात सर्पफणों का छत्र भी सम्मिलित है। पादपीठ का आकार त्रिकोणी है।

पार्श्वनाथ के सिर पर भगवान बुद्ध के उष्णीष की भांति तीन घुंघराले केशों की लटें मात्र है। शेष भाग केश रहित या मुण्डित है जिस पर सर्पफण अवशिष्ट है। कान कंधे पर लटक रहे हैं आंखें अधखुली हैं तथा भौहें लंबी हैं ओठ किंचित मोटे हैं तथा नासाग्र सीधा है ग्रीवा तथा पेट का हिस्सा समतल है किन्तु सीना थोड़ा बाहर निकला प्रतीत होता है जिसके मध्य मे श्रीवत्स चिह्न अकित है। स्तनों के घुंडियों की जगह बारीक छिद्र मात्र दृष्टिगोचर होते है। नाभी को अर्धचंद्रकार रूप मे प्रदर्शित किया गया है। इसके नीचे तीन चौकोर पद्मकों का अंकन है। सभवत: अधोवस्त्र को बांधने के लिए मेखला के रूप मे इसे उपयुक्त किया गया हो। लेकिन प्रतिमा में वस्त्र के कही भी लक्षण नही है। इसके सामने ही बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखा है जिनकी चारों उंगलियां स्पष्ट दिखाई देती है जो अगुष्ठ में जुड़ी हुई है।

मूर्ति को धोते समय जल सग्रहन की सुविधा हो इसलिए कमर के चारों ओर खांच नुमा परिघा बनाई गई है। जिससे पानी मूर्ति के पीछे न बहे इतना ही नही नाभी के नीचे जो स्थान बना है उसमें पानी बाहर निकलने के लिए एक छिद्र बनाया गया है जो सहजता से दृष्टिगोचर नही होता।

पार्श्वनाथ के सिर पर सात सर्पफण का छत्र प्रदर्शित किया गया है जिसमें वह ध्यानमुद्रा मे विराजमान है। प्रत्येक फन पर दोनों ओर दो-दो वर्तुलाकार आँखें उत्कीर्ण की गई है। सिर पर धरे सातो सर्प फन पीछे मे भी सिर पर सात खांचाओं से अकित है जो गर्दन तक पहुंच कर एक मे विलीन हो जाते हैं। इतना ही नही रीढ़ की हड्डी के साथ इसे एकाकार कर कमर के नीचे तक पहुंचाया

(शेष पृ० १६ पर)

(पृ० ७ का शेषांश)

शुभोपयोग श्रमण गृहस्थ अथवा मुनिधर्म की चर्या से युक्त श्रावक और मुनियो का निरपेक्ष हो दयाभाव से उपकार करे। शुभोपयोगी मुनि किसी अन्य मुनि को रोग से, भूख से, प्यास से अथवा श्रम-थकावट आदि से आक्रात, देख अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकृत करें अर्थात् वैयावृत्य द्वारा उसका खेद दूर करे। ग्लान (बीमार) गुरु बाल अथवा वृद्ध साधुओ की वैयावृत्य के निमित्त शुभ भावों सहित लौकिक जनों के साथ वार्तालाप भी निन्दित नही है।

मुनियों और श्रावकों का शुभोपयोग—शुभराग रूप प्रवृत्ति मुनियो के अल्प रूप मे और गृहस्थो के उत्कट रूप मे होती है। गृहस्थ इसी शुभ प्रवृत्ति से उत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं। □□

गतांक से आगे :

मूलाचार व उसकी आचार वृत्ति

□ पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

आगे मूलाचार गाथा २०२ मे निर्दिष्ट ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियो की जघन्य स्थिति को विशद करते हुए वृत्ति मे जो उनके साथ उत्तर प्रकृतियो की भी जघन्य स्थिति का निरूपण किया गया है वह षट्खण्डागम के इन सूत्रों का छायानुवाद है—

पचण्ह णाणावरणीयाण चदुण्ह दसणावरणीयाण लोभ-सजलणस्स पचण्हमनराइयाण जहण्णओ ट्ठिदिबंघो अतो-मुहुत्त। ष० ख० सूत्र १, ६-७, ३ (पु० ६, पृ० १८२) यथा—

पचज्ञानावरण—चतुर्दर्शनावरण—लोभसज्वलन-पचातरायाणा जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं। (मूला० वृत्ति गा० १२-२०२)।

आगे के इस प्रसग का मिलान क्रम के बिना इन ष० ख० के सूत्रो से कर लीजिए —६, ४१, १८, २१, ६, १२, १५, २४, २७, ३१, ३५, ३८ व पुन: २४।

विशेषता :

दोनो ग्रन्थगत इस प्रसग मे अभिप्रायभेद के बिना शब्दभेद कुछ हुआ है जो इस प्रकार है—

(१) सूत्र १५ मे जहाँ ष० ख० मे 'बारह कषाय' ऐसा सामान्य से कहा गया है वहा इस वृत्ति मे विशेष रूप मे उन बारह कषायो का नामोल्लेख अनन्तानुबन्धी आदि के रूप मे किया गया है। (ज्ञा० पी० सं० २, पृ० २८०)।

(२) सूत्र २४ मे ष० ख० में जहाँ स्त्रीवेद आदि के रूप मे पृथक् पृथक् आठ नोकषायो का नामनिर्देश किया गया है वहां इस वृत्ति मे 'आठ नोकषाय' के रूप मे सामान्य से कर दिया गया है।

(३) सूत्र ३५ के समान इस वृत्ति मे वैक्रियिक अंगोपांग के साथ 'वैक्रियिक शरीर' का भी उल्लेख किया जाना चाहिए था जो नही हुआ है। यह अशुद्धि लिपिकार या प्रूफ संशोधन के प्रमादवश हुई है। बम्बई संस्करण में यहां नरकगति के आगे 'देवगति' छूटा है, उसे ज्ञा० पी० सस्करण मे ले लिया गया है।

(४) आहार शरीर, आहार शरीरांगोपांग और तीर्थंकर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का निर्देश करते हुए वृत्ति में **'कोटी कोट्योऽन्त:कोटीकोटी'** के स्थान मे मात्र **'अन्त: कोटीकोटी'** ही होना चाहिए था। 'कोटीकोट्यो' का ग्रहण अशुद्ध है। यहां बम्बई सस्करण में 'आहारशरीर छूटा था, उसे ज्ञा० पी० सस्करण में 'आहार' इतने मात्र से ग्रहण कर लिया गया है।

(५) ष० ख० सूत्र में जहां स्त्रीवेद आदि आठ नोकषायो के पृथक् पृथक् नाम निर्देशपूर्वक उनके साथ तिर्यंचगति व मनुष्यगति आदि अन्य कुछ प्रकृतियों को भी ग्रहण किया गया है वहा इस वृत्ति में वृत्तिकार द्वारा आगे **'शेषाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ'** इत्यादि कहकर उन अन्य प्रकृतियों की सूचना ही की गई है, स्पष्ट उल्लेख उनका नहीं किया गया है।

(६) एक उल्लेखनीय अशुद्धि यहां वृत्ति में यह हुई है कि 'मिथ्यात्वस्य सागरोपमस्य **सप्तदश भागा:**......' कहा गया है जो निश्चित ही अशुद्ध है। 'सप्तदशभागा:' के स्थान मे **'सप्त सप्तभागा:'** ही होना चाहिए था। (ज्ञा० पी० स० २, पृ० ३७६-८०)। जिसका अभिप्राय एक सागरोपम (७/७) होता है।

वह ष० खं० के 'मिच्छत्तस्स जहण्णगो ट्ठिदिबंधो सागरोवमस्स **सत्त सत्तभागा** पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणिया' इस सूत्र (१, ६-७, १२, पु० ६, पृ० १८६) से सुस्पष्ट है।

२ सर्वार्थसिद्धि—(१) मूलाचार गा० १-१६ की वृत्ति मे जो विभिन्न इन्द्रियो के स्वरूप आदि को स्पष्ट किया गया है उसमे अधिकांश सन्दर्भ थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रायः सर्वार्थसिद्धि (सूत्र २, १७-२०) से जसा का तैसा ले लिया गया है। यथा—

कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। सा च द्विविधा बाह्याभ्यन्तरा चेति। उत्सेधाङ्गुल्यसंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां **प्रतिनियतचक्षुःश्रोत्र-घ्राण-रसन-स्पर्श-नेन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां** वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाग् यः प्रतिनियतसंस्थान नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गल-प्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः। ......एवं **श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रियाणां वक्तव्यं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यम्।** मूला० वृत्ति १-१६.

निर्वर्त्यते निष्पाद्यते इति निर्वृत्तिः। **केन निर्वर्त्यते? कर्मणा।** सा द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्। उत्सेधांगुला-सख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां **प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां** वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेष्वि**न्द्रियव्यपदेशभाक्षु** यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः।......**एवं शेषेष्विन्द्रियेषु ज्ञेयम्।** स० सि० २-१७.

मूलाचार वृत्ति में यहा जो बुद्धिपुरःसरपरिवर्तन किया गया है व जिससे कुछ अभिप्राय का भेद नही हुआ है उसे दोनो मे रेखांकित कर दिया गया है।

इसी प्रकार लब्धि और उपयोग भावेन्द्रियों के स्वरूप आदि को सर्वार्थसिद्धि २-१८ और स्पर्शनादि इन्द्रियों के स्वरूप को स० सि० २-१६ से मिलाया जा सकता है।

(२) मूलाचार गा० ८-१४ की वृत्ति मे जो पाच परिवर्तनो का निरूपण किया गया है वह सब सन्दर्भ शब्दशः सर्वार्थसिद्धि २-१० से लिया गया है। यहां एक यह विशेषता रही है कि सर्वार्थसिद्धि मे पाच परिवर्तनों का नामनिर्देश किया गया है, पर यहां (मूल गाथा में) चार परिवर्तनों का नामनिर्देश किया गया है तथा वृत्ति मे 'भवपरिवर्तन' के विषय में यह कह दिया है—**भवपरिवर्तनं चात्रैव दृष्टव्यमन्यत्र पंचविधस्योपदेशात्।** 'अन्यत्र' के कहने से कदाचित् द्वादशानुप्रेक्षा (कुन्दकुन्द) और सर्वार्थसिद्धि का अभिप्राय हो सकता है, किन्तु उनके नाम का उल्लेख स्पष्टतया नहीं किया जा सका है। दूसरी एक विशेषता यह भी रही है कि स० सि० में जो उपर्युक्त प्रसंग में 'उक्तं च' कह कर क्रम से **"सव्वे वि पुग्गला खलु"** आदि पाच गाथाओ को उद्धृत किया है उन्हें यहां उद्धृत नही किया गया है। वे गाथायें यथा क्रम से आ० कुन्दकुन्द विरचित द्वादशानुप्रेक्षा मे २५-२६ गाथांकों मे उपलब्ध होती है। अन्यत्र कही से उद्धरण देना यह वृत्तिकार वसुनन्दी को अभिप्रेत नहीं रहा।

(३) मूलाचार में जो "सुहुमे जोगविसेसेण" इत्यादि गाथा (१२-२०४) उपलब्ध होती है उसकी वृत्ति मे गाथागत पदों की सार्थकता स्पष्ट की गई है। उधर तत्त्वार्थसूत्र में जो "नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्" इत्यादि सूत्र (८-२४) उपलब्ध होता है वह सम्भवतः मूलाचार की इसी गाथा पर आधारित है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धि मे सभी सूत्रगत पदों की सफलता को स्पष्ट किया गया। इन दोनो मे उपयुक्त सन्दर्भ शब्द व अर्थ से बहुत कुछ अभिन्न है। यथा—

सूक्ष्मादिग्रहणं कर्मयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्तनार्थं ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति। एक क्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम्। स्थिता इति वचन क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता न गच्छन्त इति। सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमाधारनिर्देशार्थं नैकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा वर्तन्ते। क्व तर्हि? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति। इत्यादि। स० सि० ८-२४.

सूक्ष्मग्रहण ग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्णनार्थं [वर्तनार्थं] वर्ण(?) ग्रहणयोग्या पुद्गला सूक्ष्मा न स्थूलाः। एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तर निवृत्त्यर्थम्। × × × क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता न गच्छन्तः। (एकैक प्रदेशे इत्यत्र वीप्सानिर्देशेन सर्वात्मप्रदेशसग्रह कृतस्तेन एकप्रदेशादिषु न) कर्मप्रदेशाः प्रवर्तन्ते। क्व तर्हि? ऊर्ध्वमधः स्थितास्तिर्यक् च सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति। इत्यादि। मूला० वृत्ति १२-२०४. प्रस्तुत किये जा सकते हैं—जैसे मूलाचार वृत्ति

१२-१८३ व सर्वार्थसिद्धि ८-२ मे कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात् सिद्धेः कर्मणो योग्यानिति पृथगविभक्त्युच्चारण वाक्यान्तरज्ञापनार्थम् ।·· ···इत्यादि । (मूला० वृत्तिगत प्रसंग कुछ अशुद्ध भी हुआ है) । किन्तु लेख को अधिक विस्तृत करना समय के अनुरूप नही है, अत; उनको अभी स्थगित करना ही उचित होगा ।

३ जैनेन्द्र व्याकरण—वृत्तिकर्ता लक्षणशास्त्र के भी अधिकारी विद्वान रहे है । उनकी विशेष रुचि जैनेन्द्र व्याकरण की ओर रही है, यह उनकी इस वृत्ति के परिशीलन से स्पष्ट है । मूल ग्रन्थकार ने 'सामाचार' अधिकार को प्रारम्भ करते हुए जो मगल किया है उसमे '**सामाचारं समासदो वोच्छं**' इस प्रकार से मंगलपूर्वक सामाचार अधिकार के कहने की प्रतिज्ञा की है । इसमे जो :समासदो (समासतः)' पद प्रयुक्त हुआ है उसके विषय मे वृत्तिकार ने यह स्पष्ट किया है कि यहां 'समासतः' मे जो पचमी विभक्ति का बोधक 'तस्' प्रत्यय हुआ है वह जैनेन्द्र व्याकरण के इस सूत्र के अनुसार हुआ है—

कायास्तस् (जैनेन्द्र सूत्र ४।१।११३) ।

यहा यह स्मरणीय है कि जैन व्याकरण मे '**का**' यह पंचमी विभक्ति की सज्ञा है ।

यही पर आगे गाथा ४-२ में प्रयुक्त '**सम्मान, समान**)' के स्पष्टीकरण मे उन्होने यह कहा है कि 'सह मानेन वर्तते इति समान' इस विग्रह के अनुसार यहा 'सह' के स्थान मे इस सूत्र से 'स' आदेश हो गया है—

सहस्य स. खो (जैनेन्द्र सूत्र ४।३।२१६.) ।

४ धवला—प्रस्तुत मूलाचार वृत्ति मे षट्खण्डागम की टीका धवला के अन्तर्गत अनेक सन्दर्भों को कही शब्दश उसी रूप मे और कही पर सस्कृत छायानुवाद के रूप मे यथा प्रसग अन्तर्हित कर लिया गया है । यथा—

षट्खण्डागम मे सर्वप्रथम सूत्र १, ६-२३ (पु० १, पृ० १६१-७०) मे मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानो के नामों का निर्देश मात्र किया गया है । उधर मूलाचार मे गाथा १२-१५४-५५ द्वारा भी उक्त गुणस्थानो का नामनिर्देश मात्र किया गया है । उनका विशेष विवरण इन दोनो ग्रन्थों की टीका मे उपलब्ध होता है । विशेषता यह रही है कि धवला में जहां उनका स्पष्टीकरण मूल ग्रन्थ के अनुसार पूर्वोक्त उन सूत्रों मे पृथक् पृथक् किया गया है वहा प्रस्तुत मूलाचार वृत्ति में उनका स्पष्टीकरण उक्त दोनों गाथाओ (१२,१५४-५५) की वृत्ति में एक साथ कर दिया गया है । जैसे प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप धवला में इस प्रकार कहा गया है—

मिथ्या वितथा व्यालीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्त-विनय-सशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषा ते मिथ्यादृष्टयः । × × × अथवा मिथ्या वितथम्, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धाप्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः'। धवला पु० १, १६२.

इसे मूलाचार वृत्ति में शब्दशः इस प्रकार आत्मसात् कर लिया गया है—

मिथ्या वितथा[व्यलीका]ऽसत्या दृष्टिर्दर्शन विपरीतैकान्त-विनय-संशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषा ते मिथ्यादृष्टयोऽथवा मिथ्या वितथा, तत्र दृष्टी रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयो[ऽनेकान्ततत्त्वपराङ्मुखाः] । मूलाचार वृत्ति बम्बई संस्करण २, पृ० २७३ व ज्ञा० पी० संस्करण २, पृ० ३१३.

इसी प्रकार सासादन आदि अन्य गुणस्थानो से सम्बन्धित सन्दर्भ को भी दोनों ग्रन्थो मे समान रूप से देखा जा सकता है (धवला पु० १—सासादन पृ० १६३, सम्यग्मि० पृ० १६६, असं० पृ० १७१, सयता० पृ० १७३-७४, प्रमत्त १७६-७७, अप्रमत्त० १७८-७९, अपूर्व० १८०-८२, अनिवृत्ति १८३-८६, सूक्ष्मसां० १८७-८८, उपशा० १८८-८९, क्षीणक० १८९-९०, सयो.ग० १९१, अयोगके० १९२ और गुणस्थानातीत सिद्ध २००.

इस प्रसंग मे धवला मे प्रसग के अनुरूप शका-समाधान पूर्वक बीच बीच मे कुछ अन्य चर्चा भी की गई है, इससे क्रमश. सन्दर्भों का मिलान करना शक्य नहीं है, इसलिए यहा धवला से लेकर कुछ सम्बद्ध वाक्यो को

१, यहां धवला मे प्रसग से सम्बद्ध दो प्राचीन गाथाओं को उद्धृत कर उनके आश्रय से अपने अभिप्राय की पुष्टि की गई है, जिन्हें आ० वसुनन्दी ने उद्धृत करना आवश्यक नही समझा ।

उद्धृत कर देते है, जिन्हें प्रस्तुत मूलाचार वृत्ति मे मिलाया जा सकता है। जैसे—

२ **सासादन**—आसादन सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेनवर्तते इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्त-मिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते। पृ० १६३.

३ **सम्यङ्मिथ्यादृष्टि**—दृष्टिः श्रद्धा रुचिः इति यावत्, समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। ××× सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्धकानां क्षयात् सतामुदयाभावलक्षणोपशमान्मिथ्यात्वकर्मण. सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च……। पृ० १६६ व आगे पृ० १७०.

४ **असंयतसम्यग्दृष्टि**—समीचीना दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असयत-सम्यग्दृष्टिः। सो त्ति सम्माइट्ठी तिविहो खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि।…पृ० १७१.

५ **संयतासंयत**—सयताश्च ते असयताश्च संयता-संयताः। ××× न चात्र विरोधः सयमासयमयोरेक-द्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात्। ××× अप्रत्या-ख्यानावरणीयस्य सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात् सता चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदयादप्रत्याख्यानोत्पत्ते.। पृ० १७३-७५.

इसी पद्धति से आगे के प्रमत्तसयतादि गुणस्थानो से सम्बद्ध सन्दर्भों को भी इन दोनो ग्रन्थों मे मिलाया जा सकता है।

धवला और मूलाचार वृत्ति मे कुछ अन्य प्रसग भी शब्दशः मिलान के योग्य है—

पर्याप्ति के छह भेद—धवला पु० १, पृ० २५४-५६ व मूला० वृत्ति १२-१६५, मा० ग्र० संस्करण २, पृ० ३०९-१० व भा० ज्ञा० पी० सस्करण २, पृ० ३६७-६८. (यहा इन दोनों सस्करणो मे आहारपर्याप्ति से सम्बद्ध प्रसंग कुछ त्रुटित भी हुआ है। जैसे—

'……खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तिराहारपर्याप्ति.।' इसके स्थान मे ऐसा पाठ सम्भव है—' …खल-रसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः।' आगे 'सा च ……जायते शरीरोपादानात् प्रथम' इसके स्थान में सा च…… जायते, आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावात्। शरीरोपादानात् प्रथम'……।

उपशमनविधि—धवला पु० १, पृ० २१०-१४ और मूला वृ० गा० १२-२०५ (मा० संस्करण २ पृ० ३२०-२२ व ज्ञा० पी० संस्करण, पु० ३८५-८७)। दोनो मे शब्दशः मिलान कीजिये—

धवला पु० १, पृ० २११—अपुव्वकरणे ण एक्क पि कम्ममुवसमदि किंतु अपुव्वकरणे …पृ० २११-१४ तक।

मूला० वृत्ति १२-२०५—अपूर्वकरणे नैकमपि कर्मोपशाम्यति। किंत्वपूर्वकरण.…… पृ० ३२०-२२ (मा० ग्र० तथा ज्ञा० पी० २, पृ० ३८५-८७) तक।

यहां कुछ वाक्य आगे-पीछे भी व्यवहृत हुए है। यथा—

अणताणुबंधिकोध - माण-माया-लोभ-सम्मत्त - सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्त पयडीओ असजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसजदोत्ति ताव एदेसु जो वा सो वा उवसामेदि। ××× दंमणतियस्स उदयाभावो उपसमो, तेसिमुवसताण पि ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिसंकमाणमत्थित्तादो। धवला पृ० २१०-११

अनन्तानुबंधि - क्रोध-मान-माया-लोभ-सम्यक्त्वमिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्वानीत्येताः सप्तप्रकृतीः असयतसम्यग्दृष्ट - सयतासयत-प्रमत्ताप्रमत्तादीना (?) मध्ये कोऽप्येक उपशमयति। ××× दर्शनमोहत्रिकस्योदयाभाव उपशमस्तेषामुपशान्तानामप्युत्कर्षापकर्ष - परप्रकृतिसक्रमणानामस्तित्व यतः इति। मूला० वृत्ति पृ० ३२०-२१, मा० ग्र० मा० स० २ पृ० ३८५ व ३८६।

क्षपणविधि—इस प्रसग का भी दोनों ग्रन्थो मे शब्दशः मिलन किया जा सकता है—धवला० पु० १, पृ० २१५-२३ 'सजोगिजिणो होदि' तक और मूला० वृत्ति २ पृ० ३१२-१३ ज्ञा० पी० स० २, पृ० ३८८-९० '**सयोगिजिनो भवति**' तक।

इन दोनो प्रसंगों की प्ररूपणा करते हुए मूलाचार-वृत्ति मे अनेक अशुद्धियां हुई हैं।

उपशमविधि के अन्त में '**उदयोदीरणात्कर्षणापकर्षण**··· **स्थानमपि समन्नाम्नेष मोहनीयोपशमनविधिः** इति' यह अधिक जुड़ गया है जो अशुद्ध या विचारणीय है (अनुवाद भी विचारणीय है)।

यहां धवला मे **क्षपणविधि** के प्रसग मे मतभेद से सम्बद्ध एक लंबा शका-समाधान हुआ है (पृ० २१७-२२)। यह शका-समाधान मूलाचार वृत्ति (पृ० ३२३) मे भी उपलब्ध होता है, जिसे धवलागत निष्कर्ष को लेकर प्रायः उन्ही शब्दों के द्वारा २-३ पक्तियों मे समाप्त कर दिया गया है। इस प्रसंग में मूलाचार मे 'षोडशकर्माणि द्वादश या (?)' ऐसा जो कहा गया है विचारणीय है।

उपर्युक्त प्रसंगों के अतिरिक्त धवलागत अनेक प्रसगों को इस वृत्ति के अन्तर्गत किया गया है, जिन्हें प्रस्तुत करना इस लेख मे सम्भव नही है। वह एक स्वतत्र निबन्ध का विषय है। यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया तो उसे फिर कभी प्रस्तुत किया जायगा।

५ पंचसंग्रह—(१) मूलाचार गाथा १२-२०३ मे अनुभागबन्ध के स्वरूप का निर्देश किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने उस अनुभाग को स्वमुख और प्रमुख के भेद से दो प्रकार का कहा है। उस प्रसग मे उन्होने यह स्पष्ट किया है कि सब मूल प्रकृतियों के रसविशेष का अनुभव (विपाक) स्वमुख से ही होना है—उनमें परस्पर सक्रमण नही होता। किन्तु उनकी उत्तर प्रकृतियो का विपाक स्वमुख से भी होता है व परमुख से भी होता है। विशेष इतना है कि चार आयु प्रकृतियो में परस्पर सक्रमण नही होता, अर्थात् एक कोई आयु दूसरी आयु के रूप मे परिणत होकर विपाक को प्राप्त नही होती। इसी प्रकार दर्शन मोह और चारित्रमोह मे भी परस्पर सक्रमण नही होता।

इस स्पष्टोकरण का आधार कदाचित् पचसग्रह (दि०) की ये गाथायें हो सकती है—

पच्चंति मूलपयडी णूण समुद्देण सव्वजीवाणं।
समुद्देण परमुहेण य मोहाउविवज्जिया सेसा ॥४-४४६
पच्चइ णो मणुयाऊ णिरयाउमुहेण समयणिद्दिट्ठ।
तह चरियमोहणीय दंसणमोहेण सजुत्त ॥४-४५०

यहा यह स्मरणीय है कि 'पचसग्रह' यह एक गाथाबद्ध ग्रन्थ है, पर प्रस्तुत वृत्ति गद्य रूप सस्कृत में रची गई है, इसलिये वृत्ति मे उपर्युक्त गाथाओ को उसी रूप में आत्मसात् करना सम्भव नही था। हा, 'उक्त च आदि के रूप मे वृत्तिकार उनके द्वारा अपने उक्त अभिप्राय की पुष्टि कर सकते थे, पर वैसी उनकी पद्धति नही रही।

(२) इसी वृत्ति मे आगे उन्होने कर्मप्रकृतियो मे सर्वघातिरूपता और देशघातिरूपता को भी स्पष्ट किया है। इस प्रसग में सर्वप्रथम यह वाक्य उपलब्ध होता है—

केवलज्ञानावरण- केवलदर्शनावरण[1]-निद्रनिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यान-गृद्धि-प्रचला-निद्राः चतुः सज्वलनवर्ज्या द्वादशकषायाः। मिथ्यात्वादीनां (?) विंशति प्रकृतीनामनुभाग सर्वघाती।

यहा 'मिथ्यात्व' के आगे जो षष्ठी बहुवचन के साथ 'आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे वृत्तिकार का क्या अभिप्राय रहा है, यह ज्ञात नहीं होता। पाठ भी कदाचित् अशुद्ध हो सकता है। सख्या उनकी बीस(२०) निर्दिष्ट की गई है। हा सकता है वे 'आदि' से कदाचित् 'सम्यग्मिथ्यात्व' की सूचना कर रहे है, पर वैसा होने पर बीस के स्थान मे इक्कीस सख्या हो जाती है।

पचसग्रह मे इस प्रसग में यह एक गाथा उपलब्ध होती है—

केवलणाणावरणं दसणछक्कं च मोहबारसयं।
ता सव्वघाइसण्णा मिस्स मिच्छत्तमेयवीसदियं ॥४-४८३

यहा स्पष्टतया 'मिस्स' के साथ 'एयवीसदिय' का निर्देश किया गया है। यह संख्याविषयक भेद बन्ध व उदीरणा की अपेक्षा हो सकता है। कारण यह कि 'सम्यग्मिथ्यात्व' अबन्धनीय प्रकृति है, अतः उसका बन्ध तो नहीं होता, किन्तु उदय-उदीरणा उसकी सम्भव है।[2]

१. यहां मा० ग्र० सस्करण में 'केवलज्ञानावरण केवल दर्शनावरण'-नही रहे है, पर ज्ञा० पी० संस्करण (पृ० ३८१) में उन्हें ग्रहण कर लिया गया है।

२. मिथ्यात्वं विंशतिर्बन्धे सम्यग्मिथ्यात्वसंयुता।
उदये ता पुनर्दक्षैरेकविंशतिरीरिता ॥
पचसंग्रह की संस्कृत टीका में उद्धृत। पृ० २७५

(३) आगे वृत्ति में सर्वघाती और देशघाती का प्रसंग इस प्रकार प्राप्त होता है—

मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावधिज्ञान-मन.पर्ययज्ञानावरण-पंचान्तराय-संज्वलनक्रोध-मानमाया - लोभ- नवनोकषाणामुत्कृष्टानुभागबन्धः सर्वघाती व जघन्यो देशघाती।

उसका जो इस प्रकार से अनुवाद किया गया है वह मूल का अनुसरण नही करता—

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, पाच अन्तराय, सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ और नौ नोकषाय, **चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और सम्यक्त्व** प्रकृति; इन छब्बीस का उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती है और जघन्य अनुभाग देशघाती है।[1]

मूल में चक्षुदर्शनावरण आदि चार प्रकृतियों का और छब्बीस सख्या का उल्लेख नही किया गया है।

उपर्युक्त अनुवाद सम्भवतः कर्मकाण्ड गाथा ४० के अनुसार किया गया है। पर वहा उक्त छब्बीस प्रकृतियो को देशघाती ही कहा गया है, उनके उत्कृष्ट अनुभाग को सर्वघाती और जघन्य अनुभाग को देशघाती नही कहा गया है।

पंचसंग्रह की भी यह गाथा दृष्टव्य है—

णाणावरण चउक्क दसणतिगमतराइगे पच।
ता होंति देसघाई सम्म सजलण णोकसाया य॥४-४८४

वृत्तिकारने सम्भवतः उपर्युक्त प्रसग के स्पष्टीकरण मे धवलाका अनुसरण किया है।

(४) इससे आगे जो यहां वृत्ति मे साता-असाता आदि अघाति प्रकृतियों, पुण्य-पाप सज्ञाओ और चतुःस्थानिक आदि अनुभागविशेष का विचार किया गया है वह पचसग्रह की ४,४८५-८७ गाथाओं से बहुत कुछ समान है:

अनुवाद

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, अभी हाल में मूलाचार का जो संस्करण भा० ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है उसमे वे सभी अशुद्धिया और विचारणीय स्थल प्रायः उसी रूप मे तद्वस्थ हैं, जिस प्रकार कि मा० ग्रन्थमाला से प्रकाशित पूर्व सस्करण मे रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद सुयोग्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती जी ने अपने कृत निर्णय (आद्य उपोद्घात पृ० 26) के अनुसार शब्दशः टीकानुवाद के साथ किया है। इस महत्त्वपूर्ण अनुवादादि कार्य मे आर्यिका माता जी की योग्यता एव परिश्रम सराहनीय है। इसका आधार कदाचित् 'आ० शा० जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था, फलटण' से प्रकाशित उसका पूर्व सस्करण हो सकता है। इस सब परिस्थिति के रहते हुए भी इस अनुवाद मे पाठो की अशुद्धियो और प्राचीन प्रतियो से मिलान के योग्य अनेक दुरूह स्थलो के कारण कुछ विसगति भी हुई है। इसके लिये मैं यहा लेख-विस्तार के भय से कुछ थोड़ी ही विसगतियो को उदाहरणो द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हू। यथा—

१ गाथा ३४ मे 'स्थितिभोजन मूलगुण के प्रसग मे '**मिथस्तस्य**···' इत्यादि पाठ वृत्ति(पृ० ४४) में मुद्रित है। वह निश्चित ही अशुद्ध है। उसके स्थान मे '**स्थितस्य**···' पाठ शुद्ध होना चाहिये। अनुवाद में '**मुनि खड़े होकर आहार ग्रहण करते हैं**' यह उसका अभिप्राय सगत ही रहा है, पर मूल मे '**मिथस्तस्य**' यही अशुद्ध पाठ तद्वस्थ रहा है, जिसकी सगति अनुवाद के साथ नही रही। प्रकृत में '**मिथः तस्य**' उस पाठ की किसी भी प्रकार से सगति नही बैठ सकती।

२ आगे गाथा ३५ की वृत्ति मे (पृ० ४५) '**अन्यथार्थत्वात् भिषक्क्रियावदिति**' ऐसा पाठ मुद्रित है। यहां '**अन्यथार्थत्वात्**' के स्थान मे '**अन्यार्थत्वात्**' ऐसा शुद्ध पाठ सम्भव है। तदनुसार अनुवाद में " वैद्य की शल्य क्रिया के समान ये दुःख से विपरीत **अन्यथा अर्थवालेही हैं**' इसके स्थान मे 'उपर्युक्त महाव्रतादि के अनुष्ठान विषयक उपदेश

---

[1] यह धवलाका अनुसरण है—वहां पु० १५ पृ० १७०-७१ में अनुभाग उदीरणा के प्रसग मे इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट अनुभाग से सम्बन्धित सर्वघातित्व और देशघातित्व का पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। वहां अचक्षुदर्शनावरण के उत्कृष्ट व अनुभाग को देशघाती तथा चक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण के उत्कृष्ट को सर्वघाती और अनुत्कृष्ट को सर्वघाती व देशघाती कहा गया है।

का भिन्न ही प्रयोजन या अभिप्राय रहा है' ऐसा स्पष्टीकरण होना चाहिये। आगे अनुवाद में जैसे वैद्य रोगी के फोड़े को चीरता है...' इत्यादि स्पष्टीकरण प्रसंग के अनुरूप ही रहा है।

३ यहीं पर आगे वृत्ति में (पृ० ४६) **'तदुभयोज्झनमुभयम्'** पाठ मुद्रित है, जो निश्चित ही अशुद्ध है। पर उसका **'आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय तप है'** यह अनुवाद सगत ही है। 'तप' के स्थान मे 'प्रायश्चित' शब्द का प्रयोग अधिक निकटवर्ती था। मुद्रित उस अशुद्ध पाठ के अनुसार **'उन दोनों को छोड़ देना'** यह उसका अर्थ होता है, जो प्रसग के सर्वथा विरुद्ध है।

४ इसके आगे यही पर वृत्ति मे (पृ० ४७) **'विपरीतं गतस्य मनसः** निवर्तन श्रद्धानम्' यह 'श्रद्धान' प्रायश्चित्त के प्रसंग में कहा गया है।

यहां **'विपरीतं'** के स्थान मे सम्भवतः "**विपरीततां**' पाठ रहा है। विपरीत' पाठ को देखकर ही सम्भवतः उसके अनुवाद मे 'विपरीत मिथ्यात्व' अर्थ किया गया है जो संगत नही दिखता। 'विपरीतता' पाठ के के अनुसार उसका अर्थ विपरीतता—मिथ्याभाव (अयथार्थ श्रद्धान) को प्राप्त मन को उससे लौटाना, यह अर्थ होगा जिसे असगत नहीं कहा जा सकता कारण यह है कि 'श्रद्धान' के प्रसग में मन को केवल विपरीत मिथ्यात्व की ओर से ही नही हटाना है, प्रत्युत सब ही प्रकार के मिथ्यात्व से हटाना अभिप्रेत है।

५ गाथा ११२की वृत्ति (पृ० ६६) मे गाथा मे उपयुक्त 'उपक्रम' का अर्थ उपलब्ध पाठ के अनुसार 'प्रवर्तन' होता है जो प्रसग के अनुरूप नही है। **'उपक्रम प्रवर्तन'** के स्थान मे 'उपक्रमः अपवर्तन' पाठ सम्भव है। तदनुसार अनुवाद में **'यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा'** के स्थान में **'यदि इस देश या काल में मेरे जीवन का उपक्रम—अपघात—होता है'** ऐसा अभिप्राय रहना चाहिए।

६ गाथा १८७ (पृ० १५३) में 'विभासिदव्वो-विभाषयितव्यः' पद प्रयुक्त हुआ है। अनुवाद में उसका अर्थ **'करना चाहिए'** ऐसा किया गया है, जो प्रसग के अनुरूप नही है। उसका अर्थ **'व्याख्यान करना चाहिए'** यह होना चाहिए। उस प्रसंग में जो अपवाद के रूप मे विशेष वक्तव्य रहा है उसे मूल ग्रन्थकार ने उसके आगे स्वय १८८-९५ गाथाओं में अभिव्यक्त कर दिया है।

इसी भूल से यहां **भावार्थ में जो उसका** स्पष्टीकरण किया गया है वह आगम परम्परा के विरुद्ध सिद्ध होने वाला है। उसमे यह अभिप्राय प्रगट किया गया है—

"इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए **वे ही अट्ठाईस मूलगुण** और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तरग्रहण आदि तथा वे ही औघिक पदविभागिक समाचार माने गये है जो कि यहा तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित है।"

इस प्रसग मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मूलगुणों में तो **आचेलक्य** और **स्थितिभोजन** भी हैं (यही पर पीछे गा० २-३ व प्रवचनसार गा० ३, ८-९), ऐसी परिस्थिति में क्या ये दोनो मूलगुण भी आर्यिकाओं के द्वारा अनुष्ठेय हैं। यह यहां विशेष स्मरणीय है कि धवलाकार आ० वीरसेन ने स्त्रियों की अचेलकता (निर्वस्त्रता) का प्रबलता से विरोध किया है (पु० १, पृ० ३३२-३३)।

आ० कुन्दकुन्द ने भी स्त्रियो के लिए प्रव्रज्या का प्रतिषेध करते हुए उन्हें एक वस्त्र की धारक कहा है। यथा —

लिंग इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणे ण भुंजेइ। **बोधप्राभृत** २२ (आगे की गाथा २३-२६ भी द्रष्टव्य है।

यह भी स्मरणीय है आ० ज्ञानमती माता जी प्रस्तुत मूलाचार का रचयिता आ० कुन्दकुन्द को ही मानती हैं।

निष्कर्ष :

जहां तक मैं समझ सका हूं प्रस्तुत गाथा मे उपयुक्त **'एसो अज्जाण पि सामाचारो'** में मूलग्रन्थकर्ता का अभिप्राय **'एसो'** से केवल प्रकृत चौथे सामाचार अधिकार का ही रहा है, न कि पूर्व चार अधिकारों का। यदि ऐसा न समझा जाय तो एक यह आपत्ति भी उपस्थित होती है कि आगे के अन्य पंचाचार, पिण्डशुद्धि और आवश्यक आदि अधिकारों में प्ररूपित अनुष्ठान आर्यिकाओं के लिए निषिद्ध ठहर सकते हैं।

७ आगे गाथा २०३ की वृत्ति (पृ० १६६) में प्रसंग-प्राप्त एक शंका-समाधान में 'यावतैषामधिगताना यत् प्रधानं तत् सम्यक्त्वमित्युक्तम्' ऐसा पाठ मुद्रित है। इसमें निश्चित ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे 'प्रधानं' के स्थान मे 'श्रद्धानं' पाठ उपलब्ध होना चाहिए। तदनुसार उसका यह अभिप्राय होना चाहिए कि समीचीननया जाने गये इन गाथोक्त जीवाजीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यक्त्व है, ऐसा कहा गया है। इसकी सगति आगे उस शका के समाधान में जो 'नैष दोष, श्रद्धान रूपेयमधिगतिरन्यथा परमार्थाधिगतेरभावात्' यह जो कहा गया है, उससे भी बैठ जाती है। इस परिस्थिति में अनुवाद में जो "......सद्यार्थरूप से जाने गये इनमे से जो प्रधान है वह सम्यक्त्व है ऐसा सम्यक्त्व है ऐसा कहना तो युक्त हो भी सकता है?" यह स्पष्ट किया गया है वह किसी भी प्रकार (से संगत नही हो सकता पृ० ३७०)।

८ गाथा २३२ की वृत्ति पृ० १६६) में जो 'ते पुनररूपिणोऽजीवा:' ऐसा पाठ मुद्रित है वह सगत नही हैं, उसे अवग्रह चिह्न (ऽ) से रहित 'ते पुनररूपिणो जीवा.' ऐसा होना चाहिए। तदनुसार उसका यह अभिप्राय होगा कि पूर्व में जिन जीवों की प्ररूपणा की जा चुकी है (गा० २०४-२६) उन अरूपी जीवो के साथ प्रस्तुत गाथा (३३२) में निर्दिष्ट धर्म, अधर्म और आकाश तथा काल भी ये अरूपी द्रव्य है।

इस प्रकार से गाथा का अर्थ और उतने अश का वृत्ति का भी अर्थ (वे पुन. अरूपी अजीव द्रव्य हैं) असगत रहा है।

यह यहां विशेष ध्यातव्य है कि वृत्तिकार 'तच्छब्द. पूर्वप्रक्रान्त-(प्रकरणगत-)परामर्शी' है, यह कह कर गाथा मे प्रयुक्त 'ते' पद के ही अभिप्राय को स्पष्ट कर रहे है।

९ यही पर आगे इसी वृत्ति मे जो 'धर्मादीना च स्कन्धादिभेदप्रतिपादनार्थं च पुनर्ग्रहणम्' यह कहा गया है उसका अनुवाद जो 'धर्म आदि का प्रतिपादन करके पुद्गल के स्कन्ध आदि के भेद बतलाने के लिए यहा उनका पुन: ग्रहण कर लिया गया है' यह स्पष्टीकरण किया गया है वह संगत नहीं है। इसके स्थान में उसका अनुवाद इस प्रकार होना चाहिए—धर्म आदि द्रव्यों के भी स्कन्ध व स्कन्धदेश आदि भेद होते हैं, इसके निरूपणार्थ भी यहां 'स्कन्ध' आदि को पुन: ग्रहण किया गया है। इसके लिए षट्खण्डागम-बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत ये सूत्र देखे जा सकते है—

जो सो अणादियविस्ससाबंधो सो तिविहो—धम्मत्थिया अधम्मत्थिया आगासत्थिया चेदि ॥३०॥ धम्मत्थिया धम्मत्थियदेसा धम्मत्थियपदेसा अधम्मत्थिया अधम्मत्थियदेसा अधम्मत्थियपदेसा आगासत्थिया आगासत्थियदेसा आगासत्थियपदेसा एदासिं तिण्ण पि अत्थिआणमण्णोण्णपदेसबंधो होदि ॥३१॥ (पु० १४ पृ० २९)।

१० गाथा २४४ की वृत्ति में (पृ० २०४) यह पाठ उपलब्ध होता है—अथवाऽयमभिसम्बन्धः कर्तव्यो मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तानामेतद् व्याख्यान वेदितव्यम्।

इसका अनुवाद इस प्रकार है—अथवा ऐसा सम्बन्ध करना कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थान पर्यन्त यह (बन्ध का) व्याख्यान समझना चाहिए। इस प्रकार मूल मे जहां 'मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तानामेतत्' ऐसा कहा गया है वहा अनुवाद मे 'मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थान पर्यन्त' ऐसा अर्थ किया गया है। इस प्रकार मूल में और अनुवाद मे एकरूपता नहीं रही है।

११ इसी प्रकार यही पर आगे वृत्ति मे 'अपरिणत' का अर्थ 'अयोगी और सिद्ध अथवा सयोगी और अयोगी' ऐसा तथा 'उच्छिन्न' का अर्थ 'क्षीणकषाय' ऐसा किया गया है। किन्तु अनवाद में उसके स्पष्टीकरण में 'अपरिणत' अर्थात उपशान्तमोह और 'उच्छिन्न' अर्थात क्षीणमोह आदि' इतना मात्र कहा गया है। यह स्पष्टीकरण भी मूल से सम्बद्ध नही रहा।

वैसे तो यह मुद्रित वृत्तिगत पाठ ही कुछ अस्त-व्यस्त हुआ सा दिखता है।

अनुवाद का अभाव :

सम्भवत: व्याकरण आदि की ओर विशेष लक्ष्य न रहने से कहीं-कही अनुवाद को छोड़ भी दिया गया है या

अस्पष्ट बह रहा है। जैसे—

(१) गाथा १२२ की वृत्ति में (पृ० १०६) "समासदो—संक्षेपेण 'कायाः' तस् ['कायास्तस्']।" इतना मात्र संकेत किया गया है। उसका अनुवाद नही है।

'कायास्तस्' यह जैनेन्द्र व्याकरण का सूत्र (४।१।११३) है। जैन व्याकरण के अनुसार 'का' यह पंचमी विभक्ति की संज्ञा है। तदनुसार उसका अभिप्राय यह है कि पंचमी-विभक्त्यन्त 'किम्' आदि शब्द को 'तस्' प्रत्यय हो जाता है। जैसे 'कस्मात्—कुत'। प्रकृत मे 'समासात्' यहां पंचमी विभक्ति से 'तस्' प्रत्यय हो कर 'समासतः (समासदो)' निष्पन्न हुआ है।

(२) यही पर आगे गा० १२३ की वृत्ति में (पृ० १०८) "सम्माणं—सह मानेन परिणामेन वर्तते इति समान सहस्य सः"······यह कहा गया है। उसका अनुवाद इस प्रकार हुआ है—यहां सह को स आदेश व्याकरण के नियम से सह मान समान बना है। यह अस्पष्ट है, कुछ उद्धरणक आदि चिह्न विशेष भी नही है, जिससे उसका कुछ अभिप्राय समझा जा सके।

'सहस्य सः खौ' यह भी उक्त जैनेन्द्र व्याकरण का ही सूत्र (४।३।२४६) है। उसका अभिप्राय है कि संज्ञा-शब्द के होने पर 'सह' के स्थान मे 'स' आदेश हो जाता है। जैसे—सह अश्वत्थेन साश्वत्थं। प्रकृत मे 'सह मानेन' यहां 'सह' के स्थान में 'स' होकर 'समान' बन गया है।

(३) गा० १२४ की वृत्ति मे (पृ० १०९) 'सम्यक् आचार एव सामाचारः प्राकृत बलाद्वा दीर्घत्वमादेः' ऐसा कहा गया है। इसका अनुवाद इस प्रकार है—यहां प्राकृत व्याकरण के निमित्त से दीर्घ हो गया है। इसमें विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रही है।

एए छच्च समाणा दोण्णि य संझक्खरा अट्ठ।
अण्णोण्णस्स परोप्परमुवेंति सव्वे समादेसं॥
धवला पु० १२, २८६ (उद्धृत)

यह एक सामान्य सूत्र है। इसका अभिप्राय यह है कि अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ये छह समान स्वर तथा ए और ओ के ये दो सन्ध्यक्षर ये आठों स्वर परस्पर में आदेश को प्राप्त होते है—बिना विरोध के एक दूसरे के स्थान मे हो जाते हैं। तदनुसार यहां 'समाचार' में सकारवर्ती अकार के स्थान मे आकार होकर 'सामाचार' निष्पन्न हुआ है।

(४) गा० १९९ की वृत्ति मे (पृ० १६३) में यह सूचना की गई है—नात्र विभक्त्यन्तरं प्राकृत लक्षणेनाकारस्यैकारः कृतोयतः। इसका अनुवाद नहीं किया गया है।

मूल गाथा में 'दंसण-णाण-चरित्ते' यह जो कहा गया है उसमे 'चरित्ते' पद को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते है कि गाथा में जो 'चरित्ते' है, इसे विभक्त्यन्तर नही समझना चाहिए, क्योंकि प्राकृत व्याकरण के अनुसार यहां तकारवर्ती एकार के स्थान में अकार हो गया है। यहां उपर्युक्त (एए छच्च समाणा) सूत्र ही लागू होता है।

इस प्रकार यहा प्रस्तुत ग्रन्थगत कुछ ही अधिकारों मे जो स्थूल दृष्टि से अशुद्धियां दिखी हैं उन्हीं के विषय में विचार किया गया है।

□

सम्पादकीय :—'आगम की प्रामाणिकता' विषय पर हमारा कुछ लिखने का विचार है। अभी तो परमागम षट्खंडागम आदि के अनुवादक व जैन लक्षणावली आदि के सर्जक, उच्चकोटि के विद्वान् पंडित जी का उक्त लेख मूलाचार' के प्रामाणिक संस्करण के प्रकाश में लाने के संदर्भ मे है। पाठक उनकी अन्तर्वेदना को समझ, अन्य सभी आगमो को प्रामाणिक रखने की दिशा मे प्रयत्नशील हों—यह हमारा भाव है।

गत अंको मे हम जिनवाणी के अक्षुण्ण निर्मल रखने और उक्त लेख के लेखक—विचारक, ज्ञानसमृद्ध जैसे विद्वानों के उत्पादन और संरक्षण करने की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं। उक्त लेख के परमोपयोगी होने पर भी विवश—हम उसे एक अक मे पूरा न द सके इसके लिए क्षमाप्रार्थी है।

—सम्पादक

दो हजारवीं जयंती हेतु विशेष प्रेरणा

आचार्य हमारे कुन्दकुन्द

□ सुरेश सरल, जबलपुर

जैनों के वह आचार्य जो नीति, न्याय और बुद्धि के धरातल पर आध्यात्मिक के ग्रन्थ, ग्रन्थ नही ग्रन्थावली, अब से सैकड़ों साल पूर्व रचकर हमे विश्व के विद्वानो के समक्ष बराबरी से खड़े हो जाने लायक स्थान दे गए, जिनके कारण विश्व के किसी भी महान् ग्रन्थ और उसके रचयिता की चर्चा सुनकर हमें हीनता का आभास नही होता। जब जिस किसी भी विशिष्ट धर्मधारा, नीति-धारा, की खुली चर्चा की जाती है वह पूर्व से ही उन ग्रन्थों में, ग्रन्थकार के दर्शन में, भरी पड़ी है। मानें कि अकेले ग्रन्थराज 'समयसार' में वह सब है जिसके कारण संसार में कोई ग्रन्थ 'आदर्श' कहलाता है। किसकी देन है यह? महापडित महामुनि, महाचार्य प्रातः स्मरणीय कुन्दकुन्द जी की। उनने एक ग्रन्थ नही चौरासी पाहुड़ें दी हैं। उनके सात ग्रन्थों मे समूचे विश्व का मर्म—जैन धर्म आध्यात्म, सस्कृति नीति और न्याय के आदर्श सूत्र है जिनके बल पर हम विश्व का पांडित्य करने लायक हो गए है। समयसार के बाद प्रवचनसार, पचास्तिकाय अष्टपाहुड, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा और रयणसार जैसे ग्रन्थ जहां उनकी बौद्धिक तपस्या के प्रतीक है वही वे उनके वैचारिक क्षितिज की उच्चतर के मानक स्तम्भ भी हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म, जो किसी 'अवतार' से कम नही है, सत ईसा से तेरह वर्ष पूर्व हुआ था। कहे हमारे देश के महाराजा, श्री विक्रम के ४४ वर्ष बाद वे जन्मे। भगवान महावीर के ५१३ वर्ष बाद कुन्दकुन्द ने जन्म लेकर महावीर दर्शन एक मायने मे पुनर्स्थापित किया था। महावीर की वाणी और वैचारिकता के जीवन चित्र है उनके ग्रन्थ। ब्राह्मणराज गौतम गणधर को जो करना था उनसे कही ज्यादा कुन्दकुन्द ने किया महावीर का कार्य लेखनी चला कर। अब से करीब दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम संवत् ४४ अथवा वीर नि० स० ५१३ में जन्मने वाले कुन्दकुन्द विचारक्रान्ति और चरित्र-उपासना के उदाहरण-महाकवि बनकर जग की अगुवाई करने तत्कालीन समाज के सामने आए थे और तब से अब तक वे आगे हैं अपने हर परावर्ती से।

विश्व-विद्वत्ता के भडारो अथवा प्रतीको-श्रेष्ठ शकराचार्यों और महामहोपाध्यायों—की हर पीढ़ी पर अपने दर्शन का हिमालयी-प्रभाव बनाये रखने वाले यदि कोई जैन आचार्य हुए हैं तो वे कुन्दकुन्द ही हैं। प्राचीन-वेदो से लेकर गीता, रामायण, बाइबिल, कुरान और 'शबद' तक के दर्शन के समक्ष कुन्दकुन्द जी अपनी मौलिकता और मनोवैज्ञानिकता अलग ही चमकाते मिलते हैं। उनके धर्म-सूत्र अखिल-विश्व एवं समग्र-प्राणी जन के लिए हैं। पुद्गल से ऊपर आत्मा का सौन्दर्य-शास्त्र है उनका—सुलेखन। ऐसे महान् परोपकारी, धर्म-सुधारक, धर्म प्रवर्तक संत की जयन्ती प्रतिवर्ष, उनके जन्म दिन पर आषाढ शुक्ल पूर्णिमा को राष्ट्र स्तर पर मनाए तो हम अपने पूर्वजों के प्रति एक ईमानदार परम्परा को प्रारभ कर स्वयं ही उपकृत हो सकेंगे और हो सकेगे कृतज्ञ।

जयती क्यों मनाए? कैसे मनाए? दो प्रश्न सामने उछाले जा सकते हैं। पहले प्रश्न का समीचीन उत्तर उक्त पक्तियो मे आ पा चुके है। समाधान चाहिए अब द्वितीय का कैसे मनाए? उनके कार्यकाज के विषय पर मनीषियों से लिखाकर। उनके लिखे हुए पर शोध कार्य कर उनके उपलब्ध ग्रन्थो को सरल हिन्दी व अन्य भाषाओं मे प्रकाशित-सम्पादित करा कर। समयसार के 'सरल-संस्करण' को लाखो की सख्या मे तैयार कर आम-जन के हाथों मे पहुंचाकर उनके ग्रन्थों पर शिक्षण-प्रशिक्षण की सुविधाएं नव-विद्वानों को प्रदान कर। पाक्षिक मासिक

शिविरो का सयोजन-सचालन कर उनके विचारो पर टीका पढ़ाकर। अधिकारी-विद्वानो और विज्ञ मुनि आचार्यगणो की विचार गोष्ठिया आयोजित कर। विद्वान और मुनि सभा मे सामान्य-जैन को बतलाएगे कि आचार्य श्रेष्ठ कुन्दकुन्द के विचारो का सामाजिक योगदान क्या रहा है, क्या हो सकता है।

परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी ने समयसार ग्रन्थ को 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' कहा है। वह कुन्दन अब घर-घर पहुच सकेगा। सुनरहाई या सराफा से लिया जाने वाला स्वर्ण आपके देह तत्व को कुछ समय तक ही सजा-सवार सकता है पर कुन्दकुन्द का कुन्दन आपके आत्मतत्व को, फिर समूचे परिवार और समाज को सुशोभित कर देगा। आपका ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी कुन्दन की नाई रश्मियां बिखेरता रहेगा। अपने कुन्दकुन्द के कुन्दन की भव्याभा से आखे, मन-प्राण, कर्ण पवित्र करें और आत्मा को अपने स्वभाव में रमने का अवसर दें।

पहले आप पा ले तो फिर आपके बेटे-बेटी कुन्दकुन्द के इस प्रसाद को जतन से प्राप्त करते रहेगे और अपने मगलमय-विशाल-प्रासादो के कक्ष सदा कुन्दकुन्द से परिपूर्ण रखेगे।

(पृ० ८ का शेषाश)

गया है मूर्ती का पिछला हिस्सा नाग शरीर के सिवा समतल है। इस प्रतिमा मे शासन देवी तथा यक्ष आदि की अनुपस्थिति महत्वपूर्ण है।

पादपीठ की विशेषता यह है कि इस पर दो पक्तियो मे लेख विद्यमान है जो अधिकाश घिस गया है। लेखक को अधिक समय तक मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर नही दिया जिससे उसे आसानी से पढ़ा जा सकता। फिर भी लिपी नागरी मिश्रित अक्षरो की है और १८वीं शताब्दी की तो निश्चित ही है और यही इस प्रतिमा का समय भी है। प्रथम पक्ति मे कुछ शब्दो के बाद "मूलसघे" शब्द स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है। निचली पक्ति मे एक त्रिकोण आकार का चिह्न बना है जिसके बाद लेखनी द्वितीय पक्ति आरभ होती है।

प्रस्तुत मूर्ति का पिछला हिस्सा कुछ लाल-पीला पड गया है। पता चला कि लगभग ५० वर्षों पहले घर मे लगी आग की वजह से ऐसा है। इसके सिवाय कोई क्षति नही पहुची शेष प्रतिमा का पालिश अब भी जैसे का वैसा है।

प्रस्तुत मूर्ति सभवत: गुजरात या राजस्थानी कला का प्रतिनिधित्व करती है क्योकि इसी क्षेत्र मे सात सर्पफणों के छत्र के साथ ही लेखों मे पार्श्वनाथ नामोल्लेख की परम्परा लोकप्रिय थी। संभव है यह शब्द भी उक्त मूर्ति लेख मे आया हो। वैसे ही यहां के जैन परिवारों की पिछली पीढी कही बाहर से आकर बसी है। आसपास के इलाके मे विरले ही जैन लोग मिलते है।

वर्तमान युग मे २४ तीर्थंकरो मे से अंतिम दो तीर्थंकरों पार्श्वनाथ एव महावीर की ही ऐतिहासिकता सर्वमान्य है। पार्श्वनाथ की यह मूर्ति विदर्भ के जैन धर्म के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है इसमे सदेह नही।

बेझनबाग, नागपुर-४४०००४

स्वच्छन्दो यो गणं त्यक्त्वा चरत्येकाक्यसंवृतः।
मृगचारीत्यसौ जैनधर्माऽकीर्तिकरः नरः॥ आचा० ६/५२

—जो स्वच्छन्द होकर मृग के समान एकाकी भ्रमण करता है और इन्द्रिय दास होता है वह जैनधर्म की निन्दा कराने वाला होता है।

अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ—सम्मइजिणचरिउ

□ प्रो० (डा०) राजाराम जैन

अपभ्रंश के महावीर-चरितों की परम्परा

"सम्मइजिणचरिउ"[1] अपभ्रंश का एक पौराणिक काव्य है, जिसमें सन्मति अथवा वर्धमान अथवा तीर्थंकर महावीर का जीवन चरित वर्णित है। प्राच्य-शास्त्र-भण्डारों से अभी तक अपभ्रंश के स्वतन्त्र रूप से लिखित एतद्विषयक चार रचनाओ की जानकारी मिल सकी है—विबुध श्रीधर (१३वी सदी) कृत वड्ढमाणचरिउ[2], कवि नरसेन (१४वी सदी) कृत वड्ढमाणकहा।[3] कवि जयमित्र हल्ल (अपरनाम हरिचद, १५वी सदी) कृत वड्ढमाण कव्व[4] एव महाकवि रइधू कृत सम्मइजिणचरिउ। इनमें से प्रथम दो ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है। चतुर्थ रचना की अभी तक ६ प्रतियो का जानकारी मिल चुकी है, किन्तु दुर्भाग्य से उन सभी मे प्रथम पांच सन्धियाँ अनुपलब्ध हैं। इन पाँचो सन्धियो मे मगध सम्राट श्रेणिक का चरित वर्णित है और छठवी सन्धि से महावीर-चरित का वर्णन प्रारम्भ होता है। यदि श्रेणिक चरित को जयमित्र की एक पृथक् स्वतन्त्र-रचना भी मान ले, जो कि कभी भ्रमवश महावीर चरित के साथ किसी प्रतिलिपिक की भूल से एक ही लेखक की रचना होने के कारण सयुक्त कर दी गई होगी, तो भी, वह (श्रेणिक चरित) भी वर्तमान मे अनुपलब्ध ही है। तृतीय उक्त रचना—सम्मइ-जिणचरिउ सम्पादित होकर प्रेस मे जा चुकी है।[5] बहुत सम्भव है कि इस वर्ष के अन्त तक वह प्रकाशित होकर पाठको के हाथ मे पहुंच जाय।

उक्त सभी रचनाओं मे मूल कथानक दिगम्बर-परम्परानुमोदित ही है, किन्तु भाषा एव वर्णन-शैली कवियो की अपनी-अपनी है। घटनाओ मे भी कवियों ने हीनाधिक मात्रा मे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सकोच अथवा विस्तार किया हैं।

रइधूकृत सम्मइजिणचरिउ : ग्रन्थ-विस्तार एवं कार्य-विषय-संक्षेप

प्रस्तुतसम्मइजिणचरिउ मे १० सन्धियाँ और कुल मिलाकर २४५ कडवक।

पहली सन्धि के १९ कडवको मे मगलाचरण के बाद कवि द्वारा अपने प्रेरक गुरु यश कीर्ति भट्टारक तथा उनकी पूर्व-परम्परा के गुरुओं का स्मरण, अपने आश्रयदाता का परिचय, अपभ्रंश के चउमुह, दोणु आदि पूर्ववर्ती कवियो का स्मरण तथा सज्जन-दुर्जन वर्णन के बाद मूलकथा का प्रारम्भ मगध देश एव राजगृही नगर-वर्णन तथा उसके सम्राट श्रेणिक के परिचय और विपुलाचल पर महावीर के समवशरण के आगमन से प्रारम्भ होता है।

दूसरी सन्धि के १६ कडवको मे तीनों लोको का सक्षिप्त वर्णन किया गया है।

तीसरी सन्धि के ३८ कडवको तथा सन्धि के १३वे कडवक तक महावीर के पूर्वभवो का वर्णन और चौथी सन्धि के ही १४वे कडवक से अन्तिम २१वे कडवक तक महावीर के जन्म स्थल कुण्डलपुर आदि का वर्णन किया गया है। इसमें, तथा पाँचवी ३८ कडवक), सातवी (१४ कडवक तथा आठवी सन्धि (२७ कडवक) में महावीर के प्रथम ४ कल्याणकों का साहित्यिक शैली मे वर्णन किया गया है। इन सन्धियो मे कवि ने कुछ विशिष्ट प्रसग उपस्थित कर उनमे सम्यक्त्व, जीवादि सप्ततत्व, षड्द्रव्य,द्वादशानुप्रेक्षा, द्वादशतप, द्वादशव्रत, ध्यान एव योग आदि के भी सक्षिप्त वर्णन किए हैं, जिनका आधार उमास्वतिकृत तत्त्वार्थसूत्र है।

नवमी सन्धि के २१ कडवको मे से प्रथम १५ कडवकों मे तीर्थंकर महावीर के प्रधान शिष्य-गणधर—इन्द्रभूति गौतम का जीवन-चरित्र तथा उसके बाद महावीर-निर्वाण तथा उसके स्मृति चिह्न के रूप मे दीपावली-पर्व के प्रारम्भ

किए जाने की सूचना देकर, कवि ने अन्तिम एक कड़वक में महावीर के बाद के होने वाले श्रुतधाराचार्यों की काल-गणना का विवरण दिया है।

अन्तिम दसवी सन्धि के ६४ कडवकों मे से प्रथम २४ कड़वको में कवि ने अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया है और इसी प्रसग में कवि ने आचार्य गोवर्धन, पाटलिपुत्र नरेश राजानन्द, महामन्त्री शकटाल प्रत्यन्तवासी राजा पुरु, ब्राह्मण-चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) बिन्दुसार, अशोक, मकुल (कुणाल), सम्प्रति चन्द्रगुप्त के सक्षिप्त परिचयों के साथ पाटलिपुत्र के द्वादशवर्षीय भीषरा दुष्काल का वर्णन किया है। इस प्रसग मे कवि ने राजा चन्द्रगुप्त द्वारा जैन दीक्षा-ग्रहण तथा आचार्य भद्रबाहु के साथ उनके १२००० साधुओं के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान तथा वहाँ चन्द्रगुप्त मुनि की कान्तार-चर्या आदि का बडा ही मार्मिक वर्णन किया है। इसी क्रम मे आचार्य विशाखनन्दी की चोल देश यात्रा, तथा वहाँ से पाटलिपुत्र में उनकी वापिसी, पाटलिपुत्र से स्थूलिभद्र धम्मिल्ल तथा स्थूलाचार्य से भेट आदि का वर्णन और विशाखनन्दी क शिष्यों द्वारा श्रुताङ्ग-लेखन एव श्रुतपञ्चमी पर्व के आरम्भ किए जाने का वर्णन है। इसके बाद पाटलिपुत्र के कल्कि राजाओं की दुष्टता का वर्णन है।

इस वर्णन के बाद के कड़वको मे गोपाचल एव हिसार नगर वर्णन तोमरवशी राजा डूंगरसिंह का वर्णन भट्टारक-परम्परा एवं आश्रयदाता का विस्तृत परिचय दिया गया है।

ग्रन्थकार-परिचय

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, "सम्मइजिणचरिउ" महाकवि रइधू द्वारा प्रणीत है। कवि ने ग्रन्थ-प्रशस्ति मे अपना परिचय देते हुए अपने पितामह का नाम सघपति देवराय तथा पिता का नाम हरिसिंह बतलाया है।[६] अग्र-पुरुष की संघपति उपाधि से विदित होता है कि कवि के पूर्वज लब्धप्रतिष्ठ सार्थवाह एवं लक्ष्मीपति रहे होगे, किन्तु रइधू ने कवि बनकर अपनी कुल परम्परा बदल दी। कवि ने स्वयं लिखा है कि उसे श्रुतदेवी ने स्वप्न देकर कहा[७]— "मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अपने मन की समस्त चिन्ताएँ छोड़, हे भव्य तू निरन्तर काव्य-रचना किया कर। दुर्जनों से मत डर, क्योंकि, भय समस्त बुद्धि का अपहरण कर लेता है।"

रइधू ने अपना समस्त जीवन-वृत एक स्थान पर नही लिखा, यह दुर्भाग्य का विषय है। हाँ, उसने अपनी अनेक ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे अपने विषय मे कुछ न कुछ सूचनाएँ अवश्य दी हैं और उनका सग्रह करने से कवि के जीवन-वृत की एक रूपरेखा तैयार हो जाती है, फिर भी उसकी जन्मतिथि एव जन्म स्थान की जानकारी के संकेत नही मिल सके हैं। इस विषय पर हमने अन्यत्र चर्चा की है।[८] अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर रइधू का समय वि० सं० १४४० से १५३० के मध्य स्थिर होता है।

रइधू-साहित्य में सम्मइजिणचरिउ का क्रम-निर्धारण

कवि रइधू की अद्यावधि २९ रचनाएँ ज्ञात हो सकी है, जो सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एव प्राचीन हिन्दी मे लिखित है। इनमे से २२ रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं,बाकी की ७ रचनाएँ अनुपलब्ध है,[९] कवि की यह विशेषता है कि उसने अपनी अधिकाश कृतियों मे स्वरचित अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं के उल्लेख कर दिए है। "सम्मइजिणचरिउ" में भी उसने लिखा है कि इस रचना के पूर्व वह पासणाहचरिउ, मेहेमर सेणावइचरिउ, तिसट्ठिमहापुराणपुरिसगुणालकारु, सिरिवालचरिउ, पउमचरिउ सुदसणचरिउ एवं धण्णकुमार चरिउ का प्रणयन कर चुका है।[१०] इस दृष्टि से कवि की रचनाओं मे प्रस्तुत रचना का क्रम आठवाँ सिद्ध होता है।

गुरु स्मरण एवं भट्टारकाय परम्परा

प्रस्तुत रचना मे कवि ने काष्ठासघ, माथुरगच्छ पुष्करगण शाखा के भट्टारक यश कीर्ति को अपने प्रेरक गुरु के रूप मे स्मरण किया है।[११] यशःकीर्ति न उसे किसी काव्य की रचना के लिए प्रेरित किया था। सयोग से यश.कीर्ति का परमभक्त ब्रह्म० खेल्हा अपनी माता (आजाही) कीस्मृति को स्थायी बनाना चाहता था अतः यश.कीर्ति से एक कोई नवीन ग्रन्थ लिखने की प्रार्थना करता है। इस कार्य के लिए यशःकीर्ति उसे कवि रइधू का नाम सुझाते हैं। खेल्हा के बारम्बार निवेदन करने पर

रइधू खेल्हा के हिसार निवासी तोसड साहू का आश्रय पाकर सम्मइ जिणचरिउ की रचना प्रारम्भ कर देते है।[११] कवि ने इस परिवार की ५ पीढ़ियों के कार्यकलापो का विवरण दिया है, जिसमे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति की झाँकी मिलती है।

अपने गुरु-स्मरण के प्रसग में कवि ने यश.कीर्ति के पूर्ववर्ती एवं समकालीन निम्न भट्टारको के उल्लेख किऐ हैं[१२]—देवसेन गणि, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्र-कीर्ति गुणकीर्ति यशःकीर्ति (गुरु) एव मलयकीर्ति। कठोर संयम एवं तपश्चरण के साधक होने के साथ-साथ ये भट्टारक पारंगत विद्वान् एव लेखक तो थे ही, उत्साही युवकों को कवि एव लेखक बनने की प्रेरणा एव प्रशिक्षण भी प्रदान करते थे। मध्यकालीन विविध विषयक साहित्य-लेखन एव कला-कृतियो के निर्माण मे इनके अभूतपूर्व ऐतिहासिक कार्यों को विस्मृत नही किया जा सकता। समाज को साहित्य-सरक्षण, साहित्यरसिक तथा साहित्य-स्वाध्याय की प्रेरणा प्रदान करते थे। इनका समय विभिन्न प्रमाणों के आधार पर वि० स० १४०० से १४६८ के मध्य स्थिर होता है। इस विषय पर मैंने अन्यत्र चर्चा की है।[१४]

रचना स्थल

कवि ने लिखा है कि उसने तोमरवशी राजा डूगरसिंह के राज्य मे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है।[१५] उसने यह भी लिखा है कि उसने गोपाचल दुर्ग मे अपने भट्टारक गुरु यशःकीर्ति के सान्निध्य मे जैनविद्या का अध्ययन किया है।[१६] इन उल्लेखो से विदित होता है कि अधिकाश मूर्तियो की प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य रइधू ने सम्पन्न किया था।[१७] सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० हेमचन्द्र राय चौधुरी महोदय के अनुसार राजा डूगरसिंह एव उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह के राज्यकाल मे लगभग ३३ वर्षों तक इन जैन मूर्तियो का निर्माण एवं प्रतिष्ठा कार्य होता रहा।[१८] इन उल्लेखों से उक्त राजाओ का जैन धर्म के प्रति प्रेम स्पष्ट विदित होता है।

समकालीन राजा

गोपाचल के राजा डूंगर सिंह का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कवि ने उसके व्यक्तित्व, पराक्रम एव उदारता एव सहिष्णुता का अच्छा वर्णन किया है।[१९] इसमें सन्देह नही कि डूंगरसिंह का समय राजनैतिक दृष्टि से बड़ा ही सघर्षपूर्ण था। गोपाचल के उत्तर में सैयदवश, दक्षिण में मांडो के सुल्तान तथा पूर्व में जौनपुर के शर्कियों ने डूगरसिंह को घोर यातनाएँ दी किन्तु डूंगरसिंह ने अपनी चतुराई तथा पुरुषार्थ-पराक्रम से सबके छक्के छुड़ा दिए और सभी दृष्टियों से गोपाचाल को सुखी-समृद्ध बनाया।[२०]

अपभ्रंश के पूर्ववर्ती कवियों के उल्लेख

कवि ने पूर्ववर्ती कवियो के स्मरण-प्रसग मे अपभ्र श के ५ कवियो का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है जिनके नाम है[२१]—चउमुह दोण सयभु, पुप्फयंतु एव वीरु। इनमें से सयभु,[१२] पुप्फयतु[१२] एवं वीरु कवियो की रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है बाकी के चउमुह एव दोण की रचनाएँ अज्ञात एव अनुपलब्ध है।[२३] बहुत सम्भव है कि रइधू को उनकी रचनाएँ देखने का अवसर मिला हो। रइधू ने इन कवियो की प्रशसा मे लिखा है कि वे कवि सूर्य के प्रकाश के समान ही ज्ञान के प्रकाशक है। मैं तो उनके आगे टिम-टिमाते हुए दीपक के समान हीनगुण वाला हू।"[२४]

आश्रयदाता परिचय

जैसा कि पूर्व म कहा जा चुका है सम्मइजिणचरिउ की रचना हिसार-निवासी साहू तोसड के आश्रय मे की गई थी।[२५] साहू तोसड की धर्मपत्नी आजाही ने गोपाचल-दुर्ग मे एक विशाल चन्द्रप्रभ की मूर्ति भी स्थापित कराई थी।[२६] कवि ने इस वश की भूरि-भूरि प्रशसा की है। उसने लिखा है कि तोसड के बडे भाई सहदेव ने अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा कराई थी।[२७] इस वश के वील्हा साहू का सम्राट फिरोजशाह द्वारा सम्मान किया गया था।[२८] धर्मा नाम पुत्र सघपति था क्योंकि उसने गिरनार-पर्वत की यात्रा के लिए एक विशाल सघ निकाला था।[२९] इसी वश का छीतम अपने समय के सभी व्यापारियों के सघ का अध्यक्ष था,[३०] जिसकी देखरेख मे ६६ प्रकार के व्यापार चलते थे।[३१] जालपु भी व्यापारिक नीतियो के जानकार के रूप मे प्रसिद्ध था। सत्यता पवित्रता एवं विश्वसनीयता ही इस परिवार के व्यापार की नीति थी।[३२]

ग्रन्थ की विशेषताएँ

सम्मइजिणचरिउ का कथानक परम्परानुमोदित है, इसमें सन्देह नही, किन्तु कवि ने उसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य जोडकर उसे महत्वपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। गौतमचरित एवं भद्रबाहुचरित तथा चाणक्य-चन्द्रगुप्त, नन्द-शकटाल आदि के वर्णन इसी कोटि मे आते हैं। महावीर-निर्वाण के बाद ६८३ वर्षों की आचार्य-कालगणना जैन इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। कवि के अनुसार वीर-निर्वाण (ई० पू० ५२७) के बाद ६२ वर्षों मे गौतम सुधर्मा एव जम्बू स्वामी ये तीन केवलज्ञानी हुए। उनके बाद अगले १०० वर्षों मे ५ श्रुतिकेवली हुए, जो १४ पूर्वों के ज्ञाता थे। उनके बाद अगले १८३ वर्षों में १० पूर्वों के धारी हुए। तत्पश्चात् अगले २२० वर्षों में ११ श्रुतांगों के धारी हुए और उनके बाद ११८ वर्षों में ४ मुनि १ अग के धारी हुए। इस प्रकार (६२+१००+१८३+२२०+११८) ६८३ वर्षों तक श्रुतज्ञान की परम्परा चलती रही और उसके बाद वह लुप्त होती गई।[13]

सम्मइजिणचरिउ की प्रशस्ति का अध्ययन करने से विदित होता है कि उसका लेखक साहित्यकार तो है ही किन्तु समकालीन भूगोल एव इतिहास का भी जानकार है। वह लिखता है कि हिसार नगर योगिनीपुर (अर्थात् वर्तमान दिल्ली की पश्चिम दिशा मे स्थित है।[14] वह नगर हिसार-पिरोजा के नाम से भी प्रसिद्ध है[15] क्योंकि उसे पेरोसाहि अर्थात् फीरोजशाह ने बसाया था।[16] वर्तमान इतिहास से भी इस तथ्य का समर्थन होता है। कवि ने इस नगर को चित्रांग नदी के किनारे पर स्थित बताया है।[17] बहुत सम्भव है कि चिनाव नदी का यह तत्कालीन नाम हो और उस समय वह हिसार के समीप ही बहती हो ?

भाषा की दृष्टि से भी "सम्मइजिणचरिउ" विशेष महत्वपूर्ण रचना है। रइघ ने यद्यपि व्याकरण-सम्मत अपभ्रंश के प्रयोग किए हैं किन्तु समकालीन स्थानीय अथवा लोकप्रचलित जनभाषा के अनेक प्रयोग सहज रूप मे ही उपलब्ध हो जाते हैं। यथा—डाल (१।२।६)= वृक्षशाखा, चडाव (१।८।१४)=चढ़ाना, चंग (३।२८।८) ठीक, स्वस्थ, देखण (१०।५।६) देखना, सत्तू (१०।५।१४) =सत्तू, फाडिउ (१०।१७।२०) फाउना, किवाड (१०।१६।१) किवाड, गया (१०-२-०५) = गया, एक्क बार (१०।२१।६) = एक बार, ८।३१।३ (१०।३३।१६) = चौथा, घर (१०।२८) = घर, हट्ट (१।५।१) हटना, डर (१।४।३) डरना आदि।

उक्त शब्द-प्रयोगों का मूल कारण यह है कि रइधू-काल अपभ्रंश एव हिन्दी का सन्धिकाल था। अवधी, ब्रज, राजस्थानी, मालवी एव हरियाणिवी मे साहित्य लिखा जाने लगा था। चन्दवरदाई के पृथिवीराज रासो का पठन-पाठन भी प्रचुर मात्रा में होने लगा था। अपभ्रंश के रूपों में पर्याप्त विकास होने लगा था। अत: रइधू के साहित्य भी उसका प्रभाव स्वाभाविक था। डा० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये एव प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रइधू-साहित्य मे सन्धिकालीन उक्त प्रवृत्तियों को देखकर ही उसे Neo-Indo-Aryan Lauguages के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण बताकर उसके तत्काल प्रकाशन पर जोर दिया था।[18]

पौराणिक तथ्य

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, सम्मइजिणचरिउ एक पौराणिक काव्य है उसमे विविध स्थलों पर अनेक पौराणिक तथ्य उपलब्ध है। ऐसे तथ्यो मे महावीर के समवशरण में उनके प्रभाव से सर्वदा वसन्त ऋतु का रहना, शीतल मन्द सुगन्ध समीर का बहना चतुर्निकाय देवो द्वारा अतिशयो को प्रकट करना आदि बातों का सम्बन्ध पुराण के साथ है। कवि रइधू ने उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

सो विउलइ रितु सपत्तउ–समवसरण भूइहि सजुत्तउ।
तह आयमि अयालि वणराई–जायस अकुर फल-दल राई।
सुक्क-तलाय-कूव जलपुण्णा–कइलकलरव लवइ पसण्णा।
पिउ-पिउ वव्वीहा उलनावइ–ण जिणजत्त भव्व बोल्लवाइ।
बहइ सुयधु पवणु सुक्खायरु–मदु मदु दाहिण मलयायरु।
हयउ अयालि वसतु णरेसर–अणु त्रि हुउ अच्छरिउ सुसकर।
हरिहु सयासि गइदु वइट्ठ–अहिसिहिड कलितउ दिट्ठउ।
मज्जारहु तलु साणु लिहतउ–हरिणहु वग्गु जिणेहु चहतउ।
एवमाइ आजम्म विरुद्धा–सयलजीव जाया जेहद्धा।
सम्मइ० १।१६।१-६

कवि की बहुज्ञता

महाकवि रइधू काव्य, दर्शन, सिद्धान्त आचार, अध्यात्म इतिहास आदिवासियों के साथ-साथ सामुद्रिक शास्त्र से भी सुपरिचितप्रतीत होते हैं। उन्होंने सन्मइजिणचरिउ मे राजा कुमार नन्द के ३२ लक्षणों का विवेचन करते हुए बताया है कि कुमार के नख, हस्ततल, चरणाग्र, नेत्र के प्रान्तभाग, तालु, जिह्वा एवं अधरोष्ठ ये रक्तवर्ण के थे नाभि स्वर एव सत्व ये तीनों गम्भीर एव प्रशस्त थे। वक्षस्थल, नितम्ब एव मुख चौड़े थे। उनकी देह उत्तम, स्निग्ध एव काञ्चनवर्ण की थी, लिंग, गर्दन, पीठ और जंघा ह्रस्व थे। अगुष्ठो के पर्व, दांत, केश नख और त्वक् सूक्ष्म थे। कक्ष, कुक्षि, वक्ष, नासिका, स्कन्ध और ललाट उन्नत थे। इस प्रकार कवि ने सामुद्रिक-शास्त्र मे निरूपित नियमो के अनुसार कुमार के लक्षणो का वर्णन किया है।

सम्मइ० ३।३।६-१५

वर्णन चमत्कार

वर्णनो के चमत्कार कई स्थलों पर सुन्दर छन्द मे आविर्भूत हुए है: महारानी चेलना का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मक सौन्दर्य एक ही साथ कवि ने दिखलाया है। यथा :—

सुरिंदुपीलु गामिणी—कुरंगडिम लोयणी।
पहुल्लकजवत्तिया—ससामिणेहरत्तिया।
जिणेसु सुत्तणिच्छया—सदूरिमुक्कमिच्छया।
सुदंसणेण सोहिया—सुदुग्ग णिरोहिया।
सुवारिसेण मायरी—पणाहसिक्खदायरी।
अखंडसीलमंडिया—महावणग पंडिया।
तयासमाणु राणउ—गुणाणभूरि राणउ ॥
करेइ राजु सुंदरे—अकपुणाइ मंदिरे।
सुहेण काल गच्छइ—जरेसु जाम अच्छइ।
सहा हरम्मि संठिउ—पिया जुत्तु उक्कठिउ।

सम्मइ० १।१५।१-१०

महावीर शैशवावस्था में है। माता-पिता ने अत्यन्त स्नेहवश उन्हें विविध आभूषण पहिना दिए, जिससे उनका सौन्दर्य और अधिक निखर उठा। कवि ने उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है :—

सिरि सेहरु णिरुवमु जडिउ—कुडलजुउ सवणि सुरेण घडिउ।
भालयलि तिलउगलि कुसुममाला—ककणहि हत्थु अगिणखाल
किंकिणिहि मोहिय कुरंग—कडिमेहलडिकडिदेसहिं अभंग।
तह कट्टारुवि मणि छुरियवतु—उरुहार अद्धहारिहिं सहंतु।
णेवर सज्जिय पायहिं पहट्ठ—अगुलिय समुद्दा दयगुणट्ठ।

सम्मइ०।५।२३।५-६

उक्त तथ्यो के आलोक मे कोई भी निष्पक्ष आलोचक महाकवि रइधू का सहज मे ही मूल्याकन कर सकता है। कवि ने चरित, आख्यान, काव्य, सिद्धान्त, दर्शन, आचार अध्यात्म एवं इतिहास आदि विषयों पर अपभ्रंश-साहित्य के क्षेत्र में २६ बहुमूल्य रचनाएँ प्रदान की है अतः भाषा और साहित्य दोनो ही दृष्टियो से रइधू एक महाकवि सिद्ध होते है।

युनिवर्सिटी प्रोफेसर (प्राकृत)
एवं अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत विभाग,
ह० दा० जैन कालेज, आरा, बिहार-८०२३०१

सन्दर्भ-सूची

१. आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर के प्रति के आधार पर।
२. डा० राजाराम जैन द्वारा सम्पादित एवं भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वारा १९७४ ई० मे प्रकाशित।
३. डा० देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा सम्पादित एव भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९७४ मे प्रकाशित।
४. आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर मे सुरक्षित।
५. डा० राजाराम जैन द्वारा रइधू ग्रन्थावली भाग २ के अन्तर्गत सम्पादित एव जीवराजग्रन्थमाला शोलापुर द्वारा प्रकाश्यमान।
६. सम्मइ० १०।२८।१३-१५।
७. सम्मइ० १।४।२-४।
८. रइधू ग्रन्थावली, प्रथम भाग (भूमिका)
९. मेहेसरचरिउ, हरिवंशपुराण पासणाहचरिउ, सम्मइजिणचरिउ, तिसट्ठि, पउम०, सिखाल, वित्तसारु, सिद्धतत्थसारु, जीवधरचरिउ, दहलक्खणजयमाल, अप्पसंबोहकव्व पुण्णासवकहा, सम्मत्तगुणणिहाणकव्व, बारहभावना, संबोह पचासिका, धण्णकुमारचरिउ, सुकोसलचरिउ, जसहरचरिउ, अणथमिउकहा, सतिणाहचरिउ, तथा पज्जुण, रत्नत्रयी, छपकम्मोवस्स, भविस्सदत्त० करकड, उवएसरयणमाल, एव सुदसणचरिउ।
१०. सम्मइ० १।९।१-९।

(शेष पृ० २९ पर)

समन्तभद्र स्वामी का आयुर्वेद ग्रंथ कर्तृत्व

☐ श्री राजकुमार जैन आयुर्वेदाचार्य

जैन वाङ्मय के रचयिताओ तथा जैन सस्कृति के प्रभावक आचार्यों में श्री समन्तभद्र स्वामी का नाम अत्यन्त श्रद्धा एव आदर के साथ लिया जाता है। आप एक ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली आचार्य रहे है जिन्होंने वीरशासन के रहस्य को हृदयगम कर दिग्-दिगन्त में उसे व्याप्त किया। आपके वैदुष्य का एक वैशिष्ट्य यह था कि आपने समस्त दर्शन शास्त्रो का गहन अध्ययन किया था और उनके गूढतम रहस्यो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। अपने धर्मशास्त्र के मर्म को हृदयगम कर उसके आचरण-व्यवहार मे विशेष रूप से तत्परता प्रकट की आपकी पूजनीयता एव महनीयता के कारण ही परवर्ती अनेक आचार्यों एवं मनीषियो ने अत्यन्त श्रद्धा एव बहुमान पूर्वक आपको स्मरण किया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने युक्त्यनुशासन टीका के अन्त मे आपको 'परीक्षेक्षण'—परीक्षा नेत्र से सबको देखने वाले लिखा है। इसी प्रकार अष्टसहस्री मे आपके वचन महात्म्य का गौरव ख्यापित करते हुए आपको बहुमान दिया गया है। श्री अकलक देव ने अपने ग्रथ 'अष्टशती' मे आपको' भव्यैकलोकनयन' कहते हुए आपकी महनीयता प्रकट की है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण मे कवियो, गमको, वादियों और वाग्मियों में समन्तभद्र का यश चूडामणि की भांति सर्वोपरि निरूपित किया है। इसी भांति जिनसेन सूरि ने हरिवंश पुराण में, वादिराज सूरि ने न्याय विनिश्चय-विवरण तथा पार्श्वनाथ चरित मे, वीरनन्दि ने चन्द्रप्रभ चरित्र मे, हस्तिमल्ल ने विक्रान्त कौरव नाटक मे तथा अन्य अनेक ग्रंथकारो ने भी अपने-अपने ग्रंथ के प्रारम्भ मे इनका बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है। इसमे समन्तभद्र स्वामी का वैदुष्य, ज्ञान गरिमा, पूजनीयता और परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव भली भांति ज्ञात होता है।

जैनाचार्यों की परम्परा में स्वामी समन्तभद्र की ख्याति एक तार्किक विद्वान के रूप में थी और वे आचारांग में प्रतिपादित मूलाचार के अन्तर्गत श्रमणचर्या के परिपालन में ही निरन्तर तत्पर रहते थे। मुनिचर्या का निर्दोष पालन करना उनके जीवनकी प्रमुख विशेषता थी। वे असाधारण प्रतिभा के धनी, अध्यात्म विद्या के पारगत और जिन धर्म धारक निर्ग्रन्थवादी महान् व्यक्तित्व के धनी थे। उनके जीवन क्रम, जीवन की असाधारण अन्यान्य घटनाओं तथा उनके द्वारा रचित ग्रथों को देखने से ज्ञात होता है कि उनके द्वारा जैनधर्म का प्रभूत प्रचार एवं अपूर्व प्रभावना हुई। इसका एक मुख्य कारण यह है कि आप श्रद्धा, भक्ति और गुणज्ञता के साथ एक बहुत बड़े अर्हद्भक्त और अर्हद गुण प्रतिपादक थे जिसकी पुष्टि आपके द्वारा रचित स्वयम्भू स्तोत्र, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्तुतिविद्या (जिनशतक) नामक स्तुति ग्रंथो से होती है। इन ग्रन्थों से आपकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है।

स्वामी समन्तभद्र एक क्षत्रियवशोद्भव राजपुत्र थे। उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे। जैसा कि उनकी 'आप्तमीमासा' नामक कृति की एक प्राचीन प्रति उल्लिखित पुष्पिका-वाक्य से ज्ञात होता है जो श्रवणबेलगोल के श्री दौर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्र भण्डार मे सुरक्षित है—

"इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः
स्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।"

एक ओर आप जहाँ क्षत्रियोचित तेज से देदीप्यमान अपूर्व व्यक्तित्वशाली पुरुष थे वहां आत्महित चिन्तन में तत्पर रहते हुए लोकहित की उत्कृष्ट भावना से परिपूरित थे। यही कारण है कि राज्य-वैभव के आधारभूत भौतिक सुख और गृहस्थ जीवन के भोग विलास के मोह में न फसकर आपने त्यागमय जीवन को अंगीकार किया और साधुवेश धारण कर देशाटन करते हुए सम्पूर्ण देश में जैनधर्म की दुन्दुभिबजाई। लगता है कि आपने अत्यन्त अल्प समय में ही जैन धर्म-दर्शन-न्याय और समस्त

सैद्धान्तिक विषयों में अगाध पाण्डित्य अर्जित कर लिया था। क्योंकि देशाटन करते हुए वे प्रायः वहीं पहुंच जाते थे जहां उन्हें किसी महावादी या किसी वादशाला के होने का पता चलता था। वहां पहुंचकर वे अपने वाद का डंका बजाकर स्वतः ही वाद के लिए विद्वानों का आह्वान करते थे। यह तथ्य निम्न पद्य से उद्घटित होता है जो उन्होंने किसी राजा के सम्मुख आत्म परिचय देते हुए प्रस्तुत किया था—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

यह आत्मपरिचयात्मक पद्य उनके द्वारा किसी राजसभा में अपना परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा गया है जिसमें स्वयं को कांची का 'नग्नाटक' बतलाते हुए 'जैन-निर्ग्रंथवादी' निरूपित किया है। संभव है कुछ परिस्थितियोंवश किसी स्थान पर उन्हें कोई अन्य वेष धारण करना पड़ा हो, किन्तु वह सब अस्थायी था। प्रस्तुत पद्य में वाद के लिए विद्वानों को ललकारा गया है और कहा गया है कि हे राजन्! मैं तो वस्तुतः जैन निर्ग्रन्थवादी हूं, जिस किसी में वाद करने की शक्ति हो वह मेरे सामने आकर मुझसे वाद करे।

एक बार आप विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए 'करहाटक' नगर में पहुंचे थे जो उस समय विद्या का उत्कट स्थान था और अनेक भटों से युक्त था। वहाँ के राजा के सम्मुख आपने अपना जो परिचय प्रस्तुत किया था वह श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकार से उत्कीर्ण है—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिंधु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

अर्थात् हे राजन्! पहले मेरे द्वारा पाटलिपुत्र नगर के मध्य और तत्पश्चात् मालव (मालवा), सिंधु देश, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (विदिशा) देश में भेरी बजाई गई थी। अब मैं अनेक भटो से युक्त तथा विद्या की उत्कृष्ट स्थली करहाटक में आया हूं। वाद का अभिलाषी मैं सिंह विचरण की भांति विचरण करता हूं।

आयुर्वेदज्ञता—

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि श्री समन्तभद्र स्वामी जैन सिद्धान्त, धर्म, दर्शन और न्याय शास्त्र के अगाध पाण्डित्य से परिपूर्ण महान् तार्किक एव उद्भट विद्वान् थे। उनके ज्ञान रवि ने चारों ओर ऐसा प्रकाश पुंज फैला रखा था जिसमें जैनधर्म का माहात्म्य निरन्तर उद्भासित था। इस सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इनके साथ ही वे आयुर्वेद शास्त्र में निष्णात् कुशल वैद्य भी थे। क्योंकि एक पद्य में जहां उन्होंने अपने आचार्य, कविवर वादिराट, पण्डित (गमक), दैवज्ञ (ज्योतिर्विद), मान्त्रिक (मंत्र विशेषज्ञ) तांत्रिक (तन्त्र विशेषज्ञ), आज्ञासिद्ध, सिद्ध सारस्वत आदि विशेषण बतलाए हैं वहां आयुर्वेद शास्त्र में पारंगत कुशल वैद्य होने के कारण उन्होंने स्वयं के लिए 'भिषग्' विशेषण भी उल्लिखित किया है जो उनकी आयुर्वेदज्ञता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यथा—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

इस श्लोक मे आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने जो विशेषण बतलाए हैं उनसे उनके असाधारण व्यक्तित्व, बहुशास्त्रज्ञता एव प्रकाण्ड पाण्डित्य का आभास सहज ही मिल जाता है। इनमें अन्त के दो विशेषण विशेष महत्वपूर्ण है जो उनकी विलक्षणता के द्योतक हैं। वे राजा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं - हे राजन् समुद्र वलय वाली इस पृथ्वी पर मैं 'आज्ञासिद्ध' हूं अर्थात् जो आज्ञा देता हूं वह अवश्य पूरा होता है। और अधिक क्या कहूं? मैं 'सिद्ध सारस्वत' हूं अर्थात् सरस्वती मुझे सिद्ध है। इन्हीं इन्हीं विशेषणों के साथ उन्होने स्वयं को राजा के सम्मुख 'भिषग्' भी निरूपित किया है। सामान्यतः भिषग् वही होता है जिसने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कर उसमें निपुणता प्राप्त की हो। असाधारण व्यक्तित्व के धनी

और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न आचार्य समन्तभद्र के लिए आयुर्वेद शास्त्र में निष्णात होना कोई कठिन बात नही थी। अतः उन्होंने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर अपने आयुर्वेदीय ज्ञान के आधार पर जैन सिद्धान्तानुसारी लोकोपयोगी किसी आयुर्वेद ग्रंथ का प्रणयन किया हो—यह असम्भव प्रतीत नही होता।

इस पद्य का अध्ययन करने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि इस पद्य में श्री समन्तभद्र स्वामी ने अपने जिन विशेषणों का उल्लेख किया है वह आत्म श्लाघावश नही किया है अपितु किसी राज दरबार में राजा के सम्मुख आत्म परिचय प्रस्तुत करते हुए किया है। उस काल में किसी राजा के सम्मुख आत्म परिचय मे अपने मुख से इस प्रकार के विशेषण प्रयुक्त करना साधारण बात नही थी। क्योंकि उन्हें उसकी सार्थकता भी सिद्ध करनी होती थी।

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य के असाधारण व्यक्तित्व सदर्भ में यह पद्य निश्चय ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि इससे उनकी अन्यान्य विशेषताओं के साथ-साथ उनका भिषगत्व (आयुर्वेदज्ञता) भी प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रमाण और मिलते है जिनसे प्रतीत होता है कि वे वैद्यक विद्या के पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होने अपने स्तोत्र ग्रथों में भगवान का जो स्तुतिगान किया है उसमे उन्होने भगवान को वैद्य की भांति सांसारिक तृष्णा-रोगो का नाशक बतलाया है। श्री सभव जिन का स्तवन करते हुए वे कहते हैं—

त्वं शम्भवः सम्भवतर्ष रोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै॥
—स्वयंभू स्तोत्र, श्लोक ११

अर्थात् हे शम्भव जिन! सांसारिक तृष्णा रोगो से पीड़ित जन के लिए आप इस लोक में उसी भांति आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार अनाथ (धन आदि से विहीन असहाय जन) के रोगोपशमन के लिए कोई चतुर वैद्य होता है।

इसी प्रकार भगवान शीतलनाथ की स्तुति करते हुए उन्हें भिषगोपम निरूपित किया है। यथा—

सुखाभिलाषा नलदाहमूर्च्छितं मनो
निजं ज्ञानमयाऽमृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विष-दाहमोहितं यथा
भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम्॥
—स्वयम्भू स्तोत्र, श्लोक ४७

अर्थात् जिस प्रकार वैद्य विष-दाह से मूर्च्छित स्वशरीर को विषापहार मंत्र के गुणों से (उसकी अमोघ शक्ति के प्रभाव से) निर्विष एवं मूर्च्छा रहित कर देता है उसी प्रकार (हे शीतल जिन!) अपने सांसारिक सुखों की अभिलाषा रूप अग्नि के दाह से (चतुर्गति सम्बन्धी दुःख सन्ताप से) मूर्च्छित हुए (हेयोपादेय विवेक से शून्य हुए) अपने मन (आत्मा) को ज्ञानरूपी अमृतजल के सिंचन से मूर्च्छारहित शान्त किया है।

ये दोनो ही उद्धरण इस बात का सकेत करते हैं कि श्री समन्तभद्र स्वामी वैद्योचित गुणों और वैद्य द्वारा विहित की जाने वाली क्रिया—चिकित्सा विधि के पूर्ण ज्ञाता थे। इसीलिए उन्होने श्री शम्भव जिन और श्री शीतल जिन को वैद्य-भिषग् की उपमा देकर वैद्य का महत्व बढ़ाया है। वैद्यक विद्या का ज्ञान होने के कारण ही सम्भवतः उन्हें वैद्य और जिनेन्द्र देव के कतिपय कार्यों में समानता की प्रतीति हुई है। इस कथन का मेरा आशय मात्र इतना ही है कि श्री समन्तभद्र स्वामी अन्य विषयों की भांति ही आयुर्वेद के ज्ञान से भी अन्वित थे। साथ ही यह तो सुविदित है कि जब वे भस्मक महाव्याधि से पीड़ित हुए तो स्वय ही उसके उपचार मे तत्पर हुए और कुछ काल पश्चात् उस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। अतः उनका भिषग् होना सार्थक है जो उनकी आयुर्वेदज्ञता की पुष्टि करता है।

आयुर्वेद ग्रंथ कर्तृत्व—

स्वामी समन्तभद्र की वर्तमान में कोई भी आयुर्वेद कृति उपलब्ध नही है। अतः कुछ विद्वान उनका आयुर्वेद कर्तृत्व संदिग्ध मानते हैं। वर्तमान में स्वामी समन्तभद्र की पाँच कृतियां उपलब्ध है—देवागम (आप्त मीमांसा), स्वयम्भू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिन शतक (स्तुति विद्या) और रत्नकरण्ड श्रावकाचार। इनके अतिरिक्त 'जीवसिद्धि' नामक उनकी एक कृति का उल्लेख तो मिलता है किन्तु वह अभी तक कही से उपलब्ध नहीं हुई है। ऊपर उनकी जिनकृतियों का उल्लेख किया गया है उनमे से किसी भी कृति

का सम्बन्ध आयुर्वेद से नही है सभी कृतियां जैन दर्शन, जैनाचार, स्तुतिविद्या आदि से सम्बन्धित है। अतः वर्तमान मे उपलब्ध उनके ग्रथो के आधार पर यह कह सकना कठिन है कि उन्होने आयुर्वेद के किसी ग्रथ की रचना की होगी।

इस संदर्भ मे एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नवम शताब्दी के विद्वान श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रथ कल्याणकारक मे स्पष्टता पूर्वक इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि आचार्य समन्तभद्र ने आयुर्वेद विषय को अधिकृत कर किसी ग्रथ की रचना की थी जिसमे विस्तारपूर्वक अष्टाग का प्रतिपादन किया गया है। उन्होन आगे यह भी स्पष्ट किया कि समन्तभद्र के उस 'अष्टांग संग्रह' ग्रथ का अनुसरण करते हुए मैने सक्षेप मे इस 'कल्याणकारक' ग्रथ की रचना की है।[1] श्री उग्रादित्याचार्य के इस उल्लेख से से यह असदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि उन काल मे श्री समन्तभद्र स्वामी का अष्टाग वैद्यक विषयक कोई महत्वपूर्ण ग्रथ अवश्य ही विद्यमान एव उपलब्ध रहा होगा।

सिद्धान्त रसायन कल्प—

इसी सदर्भ मे एक यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि 'कल्याणकारक ग्रथ की प्रस्तावना मे श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने आचार्य समन्तभद्र स्वामी की अद्वितीय विद्वत्ता का निरूपण करते हुए उनके द्वारा 'सिद्धान्तरसायन कल्प' नामक वैद्यक ग्रथ की रचना किए जाने का उल्लेख किया है। वे लिखते है कि पूज्यपाद के पहले महर्षि समन्तभद्र हर एक विषय मे अद्वितीय विद्वता को धारण करने वाले हुए। आपने न्याय, सिद्धान्त के विषय मे जिस प्रकार प्रौढ़ प्रभुत्व प्राप्त किया था उसी प्रकार आयुर्वेद के विषय मे भी अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त की थी। आपके द्वारा सिद्धान्त रसायन कल्प नामक एक वैद्यक ग्रथ की रचना की गई थी जो अठारह हजार श्लोक परिमित थी। परन्तु आज वह उपलब्ध नही है और हमारी उदासीनता के कारण सम्भवतः अब वह कीटों का भक्ष्य बन गई है और कहीं-कहीं उसके कुछ श्लोक मिलते है जिनको यदि सग्रह किया जाय तो २-३ हजार श्लोक सहज हो सकते हैं। इस ग्रथ की मुख्य विशेषता यह है कि अहिंसा धर्म प्रेमी आचार्य ने अपने ग्रंथ मे औषध योगो में पूर्ण अहिंसा धर्म का ही समर्थन किया है। इसके अलावा इस ग्रथ मे जैन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग एव सकेत भी तदनुकूल दिए गए है। इसलिए अर्थ करते समय जैनमत की प्रक्रियाओ को ध्यान मे रखकर अर्थ करना ही अभीष्ट है। उदाहरणार्थ 'रत्नत्रयौषध" का उल्लेख ग्रथ मे आया है, सर्व-सामान्य दृष्टि से इसका अर्थ होगा—'वज्रादि रत्नत्रयों के द्वारा निर्मित औषधि—परन्तु वैसा नही है। जैन सिद्धान्त में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को रत्नत्रय के नाम से जाना जाता है। यह रत्नत्रय जिस प्रकार मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चरित्र रूपी दोषत्रय के निराकरण मे समर्थ है उसी प्रकार आयुर्वेदीय रसशास्त्रोक्त पारद, गन्धक और धातूपधातु आदि तीन द्रव्यों के सम्मिश्रण से निर्मित तथा अमृतीकरण पूर्वक तैयार किया गया रसायन वात-पित्त कफ दोषत्रय का नाश करता है। अतएव इस रसायन का नाम 'रत्नत्रयौषध' रखा गया है।[2]

आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'सिद्धान्त रसायन कल्प' नामक उक्त ग्रथ मे विभिन्न औषध योगो के निर्माण में घटक द्रव्यों का जो प्रमाण (मात्रा) निर्दिष्ट किया है उसमे भी जैन धर्म सम्मत सख्या प्रक्रिया का अनुसरण किया है जो अन्यत्र नही मिलता है। इस ग्रथ मे कथित सख्या-सकेत को केवल वह समझ सकता है जिसे जैनमत की जानकारी है। जैसे—'रससिन्दूर नामक रस औषधि की निर्माण प्रक्रिया मे कथित निम्न सख्या सकेत दृष्टव्य है—"सूत केसरि गंधकं मृगनवासारद्रुमान"। यहाँ पर द्रव्य के प्रमाण के लिए जिस सख्या का सकेत किया गया है वह सहज और सर्व ज्ञात नही है। जैसे—'सूत केसरि' यहा सूत शब्द से पारद और केसरि शब्द से सिंह अभिप्रेत है जिससे पारद सिंह प्रमाण में लिया जाय—यह अर्थ ध्वनि

१. अष्टागमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः
प्रोक्तं, सविस्तरमथो विभवैः विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या
कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥ कल्याणकारक २०/८६

२. कल्याणकारक की प्रस्तावना, पृष्ठ ३६

होता है। 'केसरि' शब्द यहां संख्या विशेष की ओर इंगित करता है। जैन धर्म मे २४ तीर्थंकर होते है। प्रत्येक तीर्थंकर का एक चिह्न होता है जिसे लाछन कहते है। जैसे ऋषभ देव का लांछन बैल है 'अजितनाथ का लांछन'''है इत्यादि। चौबीसवे तीर्थंकर का चिह्न सिंह (केसरि) है। अत: यहा फलितार्थ यह हुआ कि सूत (पारद) केसरि अर्थात् २४ भाग प्रमाण लिया जाय। इसी प्रकार 'गंधक मृ..' अर्थात् गन्धक 'मृग' प्रमाण मे लिया जाय। मृग चिह्न सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान का है। अत. गन्धक का प्रमाण १६ भाग लेने का निर्देश है। समन्तभद्र स्वामी के सम्पूर्ण ग्रथ मे सर्वत्र इसी प्रकार के साकेतिक व पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग हुआ है जो ग्रथ की मौलिक विशेषता है।'

स्वामी समन्तभद्र के उक्त ग्रंथ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनसे पहले भी जैनेन्द्र मत सम्मत वैद्यक ग्रन्थो का निर्माण उनके पूर्ववर्ती मुनियो ने किया था। क्योकि उन्होने परिपक्व शैली मे रचित अपने ग्रथ मे पूर्वाचार्यों की परम्परागतता को 'रसेन्द्र जैनागमसूत्रबद्ध' इत्यादि शब्दो द्वारा उल्लिखित किया है। इसके अतिरिक्त 'सिद्धान्तरसायनकल्प' मे श्री समन्तभद्राचार्य ने स्वय उल्लेख किया है— **श्रीमद्भवल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनि. सूतवादे रसाब्ज**" इत्यादि। यह कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि आचार्य समन्तभद्र से पूर्व भी वैद्यक ग्रथो की रचना करने वाले जैनमुनि हुए है जो सभवत: ईसा पूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दी मे रहे होंगे और वे कारवाल जिला होन्नावर तालुका के गेरसप्पा के पास हाडल्लि' मे रहते थे। हाडिल्ल मे इन्द्रगिरि और चन्द्रगिरि नाम के दो पर्वत है। वहा पर वे तपश्चर्या करते थे। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार अभी भी इन दोनो पर्वतो पर पुरातत्वीय अवशेष विद्यमान है।

पुष्पायुर्वेद—

श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार श्री समन्तभद्र स्वामी ने किसी पुष्पायुर्वेद नामक ग्रथ का भी निर्माण किया था। क्योंकि जैन धर्म मे व्यवहार में अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक अहिंसा को प्रधानता दी गई है। धर्माचरणरत व्रतधारी मुनियो ने आयुर्वेद के सन्दर्भ मे इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि औषध निर्माण के कार्य में भी किसी प्राणि को कष्ट या उसका घात नहीं होना चाहिये। इस पर इतनी सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया कि एकेन्द्रिय जीवो का भी सहार नही होना चाहिये। इस अहिंसा दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए पुष्पायुर्वेद का निर्माण किया गया था। उस पुष्पायुर्वेद मे ग्रथकार ने अठारह हजार जाति के कुसुम (पराग) रहित पुष्पो से ही रसायन औषधियो की निर्माण विधि और प्रयोग को उल्लिखित किया है। इस पुष्पायुर्वेद ग्रथ मे ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी की कर्नाटक लिपि उपलब्ध होती है जो अत्यन्त कठिनता पूर्वक पढ़ी जाती है। यह एक चिन्तनीय विषय है कि जिस ग्रथ मे औषध निर्माण एव प्रयोग के लिए अठारह हजार जाति के केवल पुष्पो का उपयोग उल्लिखित हो, वह भी ई०-सन् द्वितीय-तृतीय शताब्दी मे; तो उस ग्रथ का कितना महत्व नही होगा? अत: ऐसे महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और ऐतिहासिक ग्रंथ की छानबीन, परिसस्कार एव प्रकाशन के लिए समाज के विद्वज्जनो, शोध सस्थानो तथा श्रेष्ठ वर्ग को समुचित ध्यान देना चाहिये।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि न केवल आयुर्वेद जगत् मे अपितु वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र मे भी पुष्पो की इतनी जातियों पर प्रकाश डालने वाला कोई भी ग्रथ किसी अन्य ग्रंथकार द्वारा अभी तक नही रचा गया है। अत: पुष्पायुर्वेद जैसे विषय पर ग्रथ रचना का श्रेय मात्र जैनाचार्यों को ही है। यद्यपि वैदिक दृष्टि से रचित आयुर्वेद के ग्रथो मे चरक-सुश्रुत आदि महनीय ग्रथकारो ने औषध योगो मे वानस्पतिक द्रव्यो को प्रधानता दी है, जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। किन्तु साथ मे मासादि भक्ष्य द्रव्यो का औषधि के रूप मे उल्लेख किया जाने से उसमे अहिंसा तत्व की प्रतिष्ठा नही हो सकी। इसके विपरीत जैनाचार्यों ने अहिंसा धर्म के पालन का लक्ष्य रखते हुए पुष्पायुर्वेद जैसे ग्रथो की रचना कर जो

१. उपर्युक्त

२. भट्टारकीय प्रशस्ति मे इस हडल्लि का उल्लेख सगीतपुर के नाम से मिलता है। क्योकि कन्नड़ भाषा मे हाडु शब्द का अर्थ सगीत है और हल्लि शब्द का अर्थ ग्राम है। अत: यह निश्चित है कि हाडल्लि का ही संस्कृत नाम संगीत पुर है।

लोकपयोगी श्रेयस्करी कार्य किया है वह अद्वितीय और बेमिसाल है।

उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार श्री समन्तभद्राचार्य का पीठ गेरसप्पा (कर्नाटक) मे विद्यमान था। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार जिस अरण्य प्रदेश में स्वामी समन्तभद्र निवास करते थे वहाँ अभी तक विशाल शिलामय चतुर्मुख मन्दिर, ज्वालामालिनी मन्दिर और पार्श्वनाथ जिन चैत्यालय विद्यमान है जो दर्शनीय तो हैं ही, पुरातत्वीय और ऐतिहासिक दृष्टि से आज उनका विशेष महत्व है। जगल मे यत्र तत्र अनेक मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं जिससे उस स्थान का धार्मिक महत्व परिज्ञात होता है। इस क्षेत्र में व्याप्त परंपरागत किवदन्ती से ज्ञात होता है कि इस जंगल में एक सिद्धरसकूप है। कलियुग में जब धर्म संकट उत्पन्न होगा उस समय इसरसकूप का उपयोग करने का निर्देश दिया गया है। इस रसकूप को सर्वांजन नामक अंजन नेत्र मे लगाकर देखा जा सकता है। सर्वांजन के निर्माण एवं प्रयोग विधि का उल्लेख 'पुष्पायुर्वेद' में वर्णित है। साथ में यह भी उल्लिखित है कि 'सर्वांजन' के निर्माण में प्रयोग किए जाने वाले पुष्प उसी प्रदेश मे मिलते हैं। इसलिए उस प्रदेश की भूमि को 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' के नाम से उल्लिखित किया गया है।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि स्वामी समन्तभद्र का निवास जिस क्षेत्र या अरण्य प्रदेश में था उस क्षेत्र में कतिपय विशिष्ट प्रकार की पुष्प जातियां उपलब्ध रही होंगी जो सम्भवतः अब न हों। श्री सन्तभद्र स्वामी को उस क्षेत्र की समस्त प्रकार की वनस्पतियों एवं पुष्पों का सर्वांगीण परिज्ञान था और वे उनके औषधीय गुण धर्मों त उपयोग से हस्तामलकवत् परिचित थे। उनका अगाध ज्ञान ही उनकी कृतियों एवं ग्रंथों मे अवतरित हुआ है जो लोकोपयोगी होने के साथ-साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व का भी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र स्वामी द्वारा आयुर्वेद के ग्रंथों की भी रचना की गई थी जिनमें आयुर्वेदीय ज्ञान और चिकित्सा विधि के अतिरिक्त अन्य अनेक मौलिक विशेषताएँ विद्यमान थी। इस दिशा मे पर्याप्त प्रयास एवं अनुसंधान अपेक्षित है। आशा है समाज के मनीषी विद्वज्जन एवं शोध संस्थाएं इस दिशा में अपेक्षित ध्यान देंगी।

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्
१ ई/६, स्वामी रामतीर्थ नगर
नई दिल्ली-५५

१. कल्याणकारक, सम्पादकीय, पुष्ठ ३८।

(शेषांश पृ० २४)

११. सम्मइ० १।३-८।
१२. वही। १३. वही १०।२६-३०।
१४. रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (डा० राजाराम जैन) १७७४।
१५. सम्मइ०-आद्यप्रशस्ति। १६. सम्मइ० १।३।११-१२।
१७. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० १३०-१४२।
१८. Romance of the Fort of Gwalior (1931). Pages 19-20.
१९. सम्मइ० १०।२६।
२०. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्यक परिशीलन पृ० ९५-१०४।
२१. सम्मइ० १।१०।२३-२४।
२२-२४. भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से इनके ग्रन्थों क प्रकाशन हो चुका है।
२५. विशेष के लिए दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक-परिशीलन—पृ० ११-१५।
२६. सम्मइ० १।९ घत्ता।
२७. सम्मइ० की सन्धिके अन्त में लिखित पुष्पिकाएँ देखें।
२८. सम्मइ० १।४।१५। २९. वही—१०।३२।१-५।
३०. वही—१०।३३।६-१०। ३१. वही—१०।३३।९-१०।
३२. वही—१०।३३।४-५। ३३. वही—१।७।१६-२०।
३४. वही—१०।३३।११। ३५. वही—१।६।१६।
३६. वही—९।२१। ३७. सम्मइ०—१।६।४।
३८. सम्मइ०—१।६।५। ३९. सम्मइ०—१।६।६।
४०. रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन पृ०८९६।

जरा सोचिए !

१. कितनी दूर कितनी पास ?

चौबीसों तीर्थंकरों के चरित्र पढने वाले स्वाध्यायी इन प्रश्नो के सहज उत्तर खोजें कि कौन-कौन से तीर्थंकर ऐसे हैं जिन्होंने साधु-पद अंगीकार कर केवलज्ञानी होने की अवस्था के पूर्वक्षणपर्यन्त साधु-पद मात्र का निर्वाह किया और आचार्य-उपाध्याय पद नही लिया ? और कौन से ऐसे हैं जिन्होंने बीच के काल में आचार्य और उपाध्याय पद स्वीकार किए ? यह भी देखे कि किन तीर्थंकरों ने किन्हें-किन्हें स्वयं दीक्षित कर उन्हें स्व-शिष्य घोषित किया ? हमारी दृष्टि से तो सभी तीर्थंकर न तो आचार्य उपाध्याय जैसे पदों से जुड़े और ना ही उन्होने स्वयं के लिए चेला-चेली बनाए । जिसने भी दीक्षा ली उनके चरणों की साक्षी-पूर्वक स्वयं ही ली । ऐसा क्यों ?

हम समझते हैं—पंच परमेष्ठियों मे सिद्ध परमेष्ठी सर्वोत्कृष्ट, आत्मा के शुद्ध रूप हैं और अर्हन्त दूसरे नम्बर पर है । तथा आचार्य-उपाध्याय और साधु इन तीनो पदों में—मोक्षमार्ग की दृष्टि से—साधु सर्वोच्च और उत्तम हैं । प्रश्न होता है यदि उपर्युक्त क्रम सही है तो णमोकार मंत्र में जो क्रम है वह क्यों ? वहां अर्हन्तों को प्रथम और साधुओं को अन्त में क्यों रखा गया ?

तत्त्व-दृष्टि से देखा जाय तो हम व्यवहारी हैं और व्यवहार में हमारा उपकार अर्हन्तों से होता है तथा आचार्य व उपाध्याय साधु-पद मे दृढ़ता के लिए मार्ग दर्शक होते हैं, इस दृष्टि से ऐसा क्रम रख दिया गया है । अन्यथा यदि आचार्य पद—मोक्षमार्ग में, श्रेष्ठ होता तो किसी आचार्य को सल्लेखना करने के लिए भी अपने आचार्य पद का त्याग करना न पड़ता । यह निश्चय है कि 'पर' के उत्तरदायित्व के निर्वाह का त्याग किए बिना स्व की साधना नहीं हो सकती । फलतः स्व-साधना मे आचार्य पद त्यागना अनिवार्य है—निश्चय ही आचार्य पद मुक्ति-बाधक है । यही कारण है कि तीर्थंकरों ने मुक्ति से दूरस्थ ये पद ग्रहण नहीं किए । फिर ये पद स्व-हेतु मंगलोत्तम-शरणभूत भी नही है । कहा भी है—

"चत्तारि मंगलं । अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल । चत्तारिलोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा सिद्धालोगुत्तमा, साहू-लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमा । चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।"—

उक्त प्रसंग में आचार्य और उपाध्याय पदों को छोड़ दिया गया है । क्योंकि परमार्थ दृष्टि से आचार्य और उपाध्याय दोनों ही पद—स्व के लिए न तो मंगलरूप हैं, ना ही उत्तम हैं और ना ही ये परमार्थ में शरणभूत हैं । आचार्य पद तो मजबूरी मे गुरुआज्ञापालनार्थ और संघ सचालनार्थ लेना पड़ता है, कोई खुशी का त्योहार नहीं है, जो लोग इसमे लाखो-लाखों का द्रव्य व्यय कर लोक दिखावा करें और जय-जयकार करें । ये पद तो साधु की स्वसाधना में शिथिलता लाने और पर की देखभाल करने जैसी उलझनों में फँसाने वाला है । इस पद पर बैठने वाला कांटों का ताज जैसा पहिनता है—उत्तरदायित्व निर्वाह के प्रति उसकी जिम्मेदारी बढ जाती है । वास्तव में तो 'शेषाः—वहिर्भवाभावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः' और 'अहमेव मयोपास्यः' ही तथ्य है । उक्त स्थिति मे कौन सा पद मोक्षमार्ग से दूर और कौन-सा पद मोक्षमार्ग के निकट है तथा कौन-सा पद छोड़ना और किसकी ओर दौड़ना इष्ट है और आज क्या हो रहा है ? जरा सोचिए !

२. कौन-सी परम्परा सही ?

आज परम्परा शब्द भी परम्परित (गलत या सही) रूप धारण करता जा रहा है और इस शब्द का संबंध वास्तविकता से न रहकर कोरी परम्परा (Direct या Indirect) से रहने लगा है । जैसे तीर्थंकर महावीर की परम्परा का वास्तविक रूप हमारी दृष्टि से ओझल हो

गया है और आज दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, व तेरापंथी सभी अपने को भगवान महावीर की परम्परा का घोषित कर बैठे हैं। वैसे ही आचार्यों की परम्परा भी विविध रूपों को धारण किए जा रही है।

आचार्य शान्तिसागर जी ने अपना आचार्यत्व अपने द्वारा, आर्ष अनुरूपतपस्वी, निर्ग्रंथ, निर्दोष आचारपालक मुनि श्री वीरसागर जी को सौंपा और उसका समर्थन सघ के समस्त साधुगण ने किया। श्री वीरसागर के बाद उनके आचार्यपट्ट पर क्रमशः श्री शिवसागर जी और श्री धर्मसागर जी विराजमान हुए—लोग कहते है कि श्री आचार्य शान्तिसागर जी ने अपना पट्टाचार्यत्व श्री पायसागर जी को नही दिया अपितु उन्होंने कुन्थलगिरि मे अपनी सल्लेखना के अवसर पर अपना आचार्य पद वहाँ उपस्थित विशाल जन समुदाय के बीच श्री वीर सागर महाराज को प्रदान करने की घोषणा की और आचार्य श्री द्वारा प्रदत्त पीछी कमण्डलु श्री वीरसागर को जयपुर मे एक विशाल आयोजन मे विशाल चातुर्विध सघ के समक्ष विधिपूर्वक अर्पित किए गए। यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष है—आ० शान्तिसागर से मुनिरूप मे दीक्षित मुनि श्री पायसागर जी थे और उनसे दीक्षित मुनि श्री जयकीर्ति थे और उनके शिष्य आचार्य श्री देशभूषण जी थे—जो श्री पायसागर जी की परम्परा के पट्टाचार्य थे।

उक्त दोनों परम्पराओ मे आचार्य शान्ति सागर जी की पट्टाचार्य परम्परा कौन-सी मानी जाय? आ० धर्मसागर जी वाली या आचार्य देशभूषण जी वाली? हालाकि श्रावको के लिए दोनो ही पूज्य है। पर पूज्य होते हुए भी भ्रम-निवारणार्थ वस्तुस्थिति तो समझनी ही होगी और यह भी समझना—सोचना होगा कि क्या अन्य पूर्वाचार्यों की परम्पराएँ भी, कभी ऐसी विवादास्पद स्थितियों मे ही निश्चित हुई होंगी। जरा सोचिए।

३. देखते-देखते धांधला?

एक कथा है—एक दिन वज्रदन्तचक्रवर्ती अपनी सभा मे विराजमान थे। एक माली ने उन्हें एक सुन्दर मुकुलित कमल लाकर भेंट किया। उसमें एक मरे हुए भौंरे को देखकर महाराज विचारने लगे—देखो, एक नासिका इन्द्रिय के वशीभूत होने से इस भ्रमर की जान चली गई तो फिर मैं तो रात्रि-दिवस पचेन्द्रिय के भोगोपभोग में लीन हो रहा हूं, कभी तृप्ति ही नही होती। यदि मैं इनको स्वयं नही छोड़ दूंगा, तो एक दिन मेरा भी यही हाल होगा। ऐसा विचार कर ससार से उदास हो वे अपने पुत्र अमिततेज को राज्य देने लगे, परन्तु उसने कहा—**पिता जी, जिस कारण आप इस राज्य को छोड़ते हैं, मैं भी इसे छोड़कर आपके साथ क्यों न चलूं?** वज्रदन्त के बहुत समझाने पर भी राज्य को जूठन समान जानकर उसने स्वीकार नहीं किया। अन्य पुत्रो को कहा तब वे भी अमिततेज के ही अनुयायी निकले। जो उत्तर अमिततेज से मिला था वही सबपुत्रो से मिला। निदान अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को राज्य देकर······यशोधर तीर्थंकर के चरणो के निकट महाराज वज्रदन्त ने दीक्षा धारण की।'

हमने पू० आचार्य देशभूषण जी के आचार्य पट्ट ग्राहकत्व के लिए प्रचारित (दो मुनियो के प्रति) विभिन्न दो प्रकार की सूचनाएँ प्रकाशित देखी और दोनो सकल (समस्त) दि० जैन समाज के नाम से प्रसारित देखी। समझ मे नही आया कि सकल (एक) ने दो-रूप कैसे धारण कर लिए? सकल शब्द एकत्व का सूचक है—द्वित्व का नही। ऐसे सकल के नेतापन का दावेदार कौन? जो भेदवाद पर अकुश न लगा सका हो? स्पष्ट तो यही होता है कि समाज पर किसी का अकुश नही—सकल के भी कई भेद और कई नायक जैसे मालुम देते है—'नश्यन्ति बहुनायकाः।'

हमारी दृष्टि से तो सच्च दिगम्बर मुनि ऐसे विवादो मे सदा तटस्थ और उदासीन ही रहते है—वे अमिततेज आदि भ्राताओ की भाति—और उससे भी कही अधिक विरक्ति का भाव दर्शाते है। यदि कही कोई विसगति होती है तो भ्रमोत्पादक नेताओ की प्रेरणा से ही होती है—सच्चे साधु की ओर से नही। स्मरण रहे—साधुपद, ज्ञाता-साधु की मर्यादाएँ, साधु की क्रियाएँ बहुत उच्च है—वे साधु के अध्यक्षत्व की ही अपेक्षा रखती है। फलत. उनके

वैराग्यमयी मुद्रा संबंधी विधान, अधिकारों और पद-आदि संबंधी क्रियाओं में अगुआ—मुखिया बनने या पर-प्रेरणा-वश उनमें विघ्न या भेद-परक सूचनाएँ प्रसारित करने का अधिकार श्रावकों को नहीं—जैसा कि किया गया है। हाँ, श्रावकों का कर्तव्य है कि वे ऐसे अवसरों पर साधु को दिख-दिखावे, जयकारों या विरुदावली—गानों आदि मे न भरमाएं बल्कि उन्हें उनके कर्तव्य-निर्वाह हेतु—आत्म-बलवर्धक दशभक्त्यादि जैसे धर्मानुष्ठानों के विशदरीति से करने का अवसर ही प्रदान करें—उन्हें जय-जयकार में घेरें नहीं—जैसा कि वर्तमान में चल पड़ा है। जरा निम्न पंक्तियां भी देखिए, कि इनमें कैसे सामंजस्य बैठेगा ?

1. 'आचार्य श्री (शान्तिसागर ने सन् १९५२ में २६ अगस्त शुक्रवार को वीरसागर महाराज को पट्टाचार्य-पद प्रदान किया, उन्होंने कहा—हम स्वयं के संतोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्यपद देते हैं···।' दि० 'जैन साधु परिचय' पृ० ५८

२. 'चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी, तच्छिष्य आचार्य श्री जयकीर्ति जी उनके पट्टशिष्य आचार्य देशभूषण जी महाराज···।' —एक पोस्टर

३. जैन परम्परा में आचार्य शान्तिसागर से आरम्भ हुई आचार्य शृंखला में मुनि श्री विद्यानंद पांचवें आचार्य हैं—।' —नवभारत २६ जून ८७

४. दिगम्बर आ० १०८ अजीतसागर जी महाराज को···श्री शान्तिसागर जी महाराज के चतुर्थ पट्टाधीश के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।'

—जैन गजट ३० जून ८७

५. 'आ० रत्नदेशभूषण मुनिमहाराज के करकमलों द्वारा ही···अपने पदस्थान पर···आचार्यरत्न पद नियोजित ···किये हैं। परमपूज्य १०८ बाहुबली जी बालाचार्य ही आचार्यरत्न।'— —'एक पोस्टर'

भविष्य में दिगम्बर गुरुओं को लेकर पुन: कभी कोई दूषित व भ्रामक वातावरण न बने, इसके लिए आप कैसा, क्या उपाय सोचते हैं? जरा-सोचिए।

४. 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च':

मोक्ष में जिन भावों का अभाव होता है, तत्संबंधी यह सूत्र है। इसका अर्थ ऐसा किया जा रहा है कि वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावों का और पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का अभाव हो जाता है। हम यहाँ क्षायिक भावों को इसलिए छोड़ रहे हैं कि—लोग वहाँ क्षायिक भावों का रहना कहते हैं और पारिणामिक में से जीवत्व को भी स्वीकार करते हैं भव्यत्व तो वहाँ है ही नहीं।

विचारणीय यह है कि उक्त सूत्र में 'आदि' शब्द का भाव किस मर्यादा में है? न्यायसंगत तो यही है कि 'आदि' शब्द सदा ही प्रसंगगत शेष सभी के लक्ष्य में होता है—वह किसी को छोड़ता नहीं। यहाँ भावों का प्रसंग है। और सूत्र में प्रथमभाव के बाद आदि शब्द होने से पाँचों ही भावों का ग्रहण होना चाहिए और तदनुसार मोक्ष में पाँचों ही भावों का अभाव स्वीकार करना चाहिए। पाठक सोचें कि—क्षायिकभाव और पारिणामिक भावों में जीवत्व के रह जाने जैसा अर्थ सूत्र के किस भाग से फलित किया गया है?

हमारी दृष्टि में उक्त सूत्र से ऐसा फलित करना सभी भांति न्याय-सगत होना चाहिए कि—मोक्ष में सभी भांति, सभी प्रकार के सभी भाव—जो जीव—(संसारी) अवस्था के हैं—नहीं रहते। मोक्ष होने पर शुद्धचेतना मात्र ही शेष रहता हैं जिसका उक्त भावों से स्वाभाविक कोई संबंध नहीं। विकारी (कर्म-सापेक्ष) अवस्था का नाम जीव है, जो कर्माधार पर जीता-मरता है।—कर्म-सापेक्षता के कारण उसी के पाँच भाव हैं और शुद्ध-चेतना इन सभी भावों से अछूता—'चिदेकरस-निर्भर' है। इसी भाव में श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है 'सिद्धा ण जीवा:' और तथ्य भी यही है। जरा सोचिए! सूत्र में 'भव्यत्वानां च' क्यों कहा? इसे हम फिर लिखेंगे।

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८७

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

शत-शत बार सादर नमन

हम नेताओं को राजा मानते हैं—सन्मान के साथ। किसी को छोटा, किसी को बड़ा। सभी का अपना शासन है—कई भागों में विभक्त—भारतीय, प्रादेशिक, नागरिक और स्थानीय संस्थाओं आदि के रूप में। सभी मोर्चे संभालने और विवाद-विजयी—स्व-दृष्टि मनवाने में निपुण। पुराने राजा लड़ते थे शासन के लिए। और गणतंत्र में इनकी लड़ाई है सेवा के नाम पर, सेवक बन-कर सेवा में आने के लिए। वे द्रव्य और भूमि को आत्मसात् करते थे और इनको मिलते हैं उपहार—यश, प्रतिष्ठा, मान और सन्मान, बुराई-भलाई भी। आज कम राजा होंगे ऐसे—जो इन सम्पदाओं में से किसी एक से महरूम रहे हों। कइयों को तो इनमें से बहुत कुछ मिल चुका होगा—कई कई बार—ग्रामों, नगरों, जंगलों तक में। इनको बहुत कुछ मिल चुका होगा—त्यागियों, विद्वानों, सेठों और साधारण जनता के बीच। फिर भी इन्हें संकोच नहीं होता बार-बार इनके ग्रहण करने से। आखिर, संकोच हो भी तो क्यों? इनकी तो आदत अनादि से पर को ग्रहण करने की रही है। जैनी नाम धरा कर भी ये जैन के सिद्धान्त 'अपरिग्रह' को नहीं जान पाए हैं। फलत:--स्वयं परिगह में डूबे हैं, त्यागियों को परिग्रह के चक्कर में फँसाते हैं—संस्थाओं के उत्सवों में घेरकर, उनकी जय बोलकर और अपने मन्तव्यों पर उनकी मोहरें लगवाकर। ये सब जैन हैं—जैनत्व की अभ्यास दशा में। कभी इनका ये परिग्रह छूट जायगा और कल्याण होगा इनका और समाज का। विरले ही संकोची और सच्चे त्यागी आदि होंगे जो इनके चक्कर से बच पाए हों। धन्य हैं चक्करों से बचने वाले—नग्न दिगम्बर मुनि, व्रती—श्रावक और निःस्पृह नेताओं को। सबको हमारा सादर नमन। बार-बार नमन, सौ बार नमन।

कर्म परवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥

कर्मों के आधीन, नश्वर, दुखों से मिश्रित और पाप के कारणभूत सांसारिक सुख की चाहना नहीं करना, निःकांक्षित अंग है।

ओम् अर्हम्
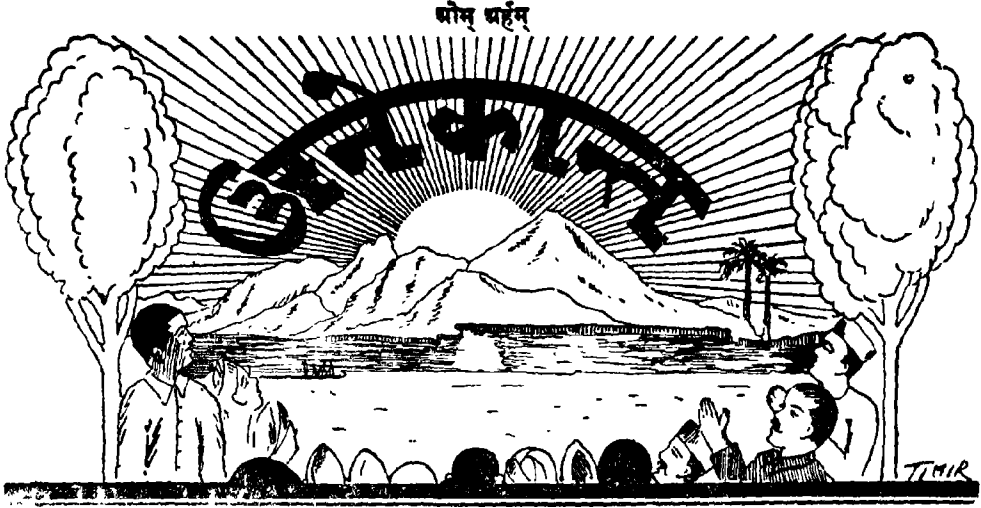
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४०
किरण ३

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१३, वि० स० २०४४

जुलाई-सितम्बर
१९८७

"मैं" और "तू"

मैं शुद्ध बुद्ध चैतन्य रूप, तू जड़ पुद्गल का रागी।
मैं शुभ्र स्फटिक सम उज्जवल, तू कलुषित भावों का धारी ॥
मैं शीतल अमृत जलधार सदृश, तू तप्तायमान लौह-सा दग्ध।
मैं आनन्द महोदधि का वासी, तू राग-द्वेष भावों से तप्त ॥
मैं मोह-अरि का हन्ता, तू मोह-रिपु का दीन दास।
मैं ध्रुव अचल और अनुपम, तू हर क्षण काल का ग्रास ॥
मैं ज्ञान ज्योति की दीपशिखा, तू अज्ञान तिमिर का वासी।
मैं वीतराग बन कर डोलूं, तू शलभ सदृश अनुरागी ॥
मैं निज स्वभाव में लीन हुआ, तू पर भावों के साथ बहा।
मैं एक अकेला आकिंचन, तू प्रिय जनों से रहा घिरा ॥
मैं हर क्षण ज्ञाता-दृष्टा, तू हर क्षण कर्ता-भोक्ता।
मैं हर क्षण कर्म काटता, तू हर क्षण कर्म जोड़ता ॥
मैं शुद्धोपयोग में रमण करूँ, तू पुण्य-बंध का अभिलाषी।
मैं मुक्ति रमा का सहचर, तू चंचला लक्ष्मी का साथी ॥
मैं 'सविता' सम आलोक पुंज, तू निशा सदृश दिग्भ्रमित रहा।
मैं मोक्ष मार्ग का पथिक बना, तू स्वर्ण महल में रमा रहा ॥
मैं जरा-मरण से मुक्त हुआ, तू रोग-शोक से व्यथित सदा।
"मैं" ने पाया सिद्धों का स्वरूप, "तू" ने पाया संसार सदा ॥

—डॉ० सविता जैन
२/३५ दरियागंज, नई दिल्ली

दिवंगत हिन्दी-सेवी

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

चार वर्ष पूर्व दश खंडों में पूरी की जाने वाली महत् योजना के अन्तर्गत 'दिवंगत हिन्दी-सेवी' शीर्षक बृहदकाय कोष के प्रथम एवं द्वितीय खंड प्रकाशित हुए थे। सन् १८०० ई० से लेकर वर्तमान पर्यन्त के दिवंगत हिन्दी-सेवियों के अकारादिक्रम से निर्मित इस परिचयात्मक कोष जैसी श्रम एवं समय साध्य योजना के कार्यान्वियन का भार समर्पित हिन्दीसेवी श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' वहन कर रहे हैं। और उनके सुष्ठु मुद्रण-प्रकाशन का श्रेय शकुन प्रकाशन दिल्ली के संचालक श्री सुभाष जैन को है। अद्यावधि प्रकाशित प्रथम खंड की पृष्ठ संख्या ७८० है और उसमे कुल ८८६ प्रविष्टियाँ हैं। द्वितीय खंड मे ८५० पृष्ठ और ८६३ प्रविष्टियां हैं। अधिकांश परिचय सचित्र है। उल्लिखित हिन्दी-सेवियो मे अनेक ऐसे भी हैं जो हिन्दी जगत के लिए प्रायः अज्ञात या अपरिचित थे, और जिन्हें संकलक सम्पादक श्री सुमन जी ने हिन्दी भाषी क्षेत्रों का ग्रामानुग्राम भ्रमण करके खोज निकाला है। जिसका जो न्यूनाधिक परिचय प्राप्त हुआ, संक्षेप मे दे दिया है। प्रत्येक खंड अ-ह तक स्वय में पूर्ण है—जैसे-जैसे सामग्री एकत्रित होती गई या होती जा रही है, प्रकाशन की सुविधानुसार आगामी खंड निकालते रहने की योजना है। शायद यह विवशता रही, किन्तु इससे कालक्रमिक, सुव्यवस्थित अथवा वर्गीकृत चित्र उभर कर नही आता। बहुधा अति प्रसिद्ध, अथवा १६वीं शती के पूर्वार्ध के, और नितान्त अपरिचित अथवा २०वीं शती के उत्तरार्ध के साहित्यसेवी, साथ-साथ मिल गए है। व्यक्तिशः परिचय भी कहीं-कही अपर्याप्त, असन्तोष-जनक, सदोष या भ्रान्त प्रतीत होते हैं। आकार-प्रकार, कागज, मुद्रण, साज-सज्जा, जैकेट आदि से समन्वित प्रत्येक खंड का मूल्य ३०० रु० है। ग्रन्थ के निर्माता एवं प्रकाशक बधाई एवं धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशन पठनीय, प्रेरक एव संग्रहणीय है।

एक बात अवश्य खटकती है कि ग्रन्थ के प्रथम खंड में दिवंगत जैन हिन्दी-सेवियों की मात्र २७ प्रविष्टियाँ हैं, और द्वितीय खंड मे मात्र ३४—इस प्रकार दोनो खडो की लगभग १८०० प्रविष्टियों में केवल ६१ जैन सम्मिलित हो पाए हैं। इतना ही नही, प्रथम खड के अन्त में सहायक सामग्री की जो सूची दी है, उसमें लगभग ३०० पुस्तकों और लगभग १५० पत्र-पत्रिकाओं के अंकों आदि का उल्लेख है—उक्त सूची में भी मात्र तीन-चार जैन प्रकाशनों का समावेश किया गया है। हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास, लेखकों एव कृतियों का परिचय प्रदान करने वाले दर्जनों प्रकाशन उपलब्ध है, जिनके अतिरिक्त अनेकान्त, जैन सिद्धान्त भास्कर, शोधाक, शोधादर्श, वीरवाणी जैसी प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं की फाइलो में प्रभूत सामग्री बिखरी पडी है। अनेक अभिनन्दन ग्रन्थ, स्मृति ग्रन्थ, स्मारिकाओं, विशेषाको आदि मे भी अच्छी सामग्री मिल जाती हैं। आज सामग्री का अभाव नहीं है, अतएव ऐसे कोशो के सम्पादक यदि अनभिज्ञता, अपरिचय या साधना-भाव को इस कमी का कारण बतायें तो वह गले उतरने वाली बात नही है। प्रथम खण्ड के अन्त मे आगामी खडो में प्रकाशनार्थ प्रस्तावित साधिक अढाई हजार परिचयो में भी जैनो की सख्या मात्र ७५ ही है, जिनमे से भी ३४ तो द्वितीय खंड मे आ गए है, अवशिष्ट आठ खण्डो के लिए लगभग ४० बचते है। जबकि १८०० से वर्तमान पर्यन्त के ही दिवंगत जैन हिन्दी-सेवियो की सख्या लगभग ५०० अनुमानित है इसके अतिरिक्त, अद्यावधि प्रकाशित दोनो खंडो मे समाविष्ट दिवगत जैन हिन्दी-सेवियो के कई परिचय सदोष अथवा भ्रान्त हैं—वीर सेवा मन्दिर एव 'अनेकान्त' शोध पत्रिका के सस्थापक, साहित्यकार, समीक्षक, कवि, सम्पादक, पत्रकार स्व० आचार्य जुगल-किशोर मुख्तार 'युगवीर' की स्वर्गवास तिथि १६५४ ई०

दी है, जबकि सही तिथि १९६९ ई० है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी अपर्याप्त व आंशिक ही परिचय है, उनका फोटो चित्र भी बहुत पुराना, लगा १९२०-२५ का है, जबकि उनके अनेको चित्र १९५०-६९ के बीच के वीर सेवा मंदिर में ही उपलब्ध होगे। पं० नाथूराम जी प्रेमी के परिचय के साथ जो चित्र दिया है, वह उनका प्रतीत नही होता—हमने कई बार उनके दर्शन किए है, उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में तथा तदुपरान्त भी उनके फोटो चित्र प्रकाशित हुए हैं। कवि फूलचन्द जैन 'पुष्पेन्दु' की प्रविष्टि में दो तन्नाम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को—एक लखनऊ निवासी और दूसरे खुरई निवासी को व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही अपेक्षाओं से अभिन्न बना दिया—खुरई निवासी 'पुष्पेन्दु' का तो अभी दो-तीन वर्ष पूर्व निधन हुआ है। डा० गुलाबचन्द चौधरी के शोध प्रबन्ध का शीर्षक या विषय गलत दिया है—वह शोध प्रबन्ध अंग्रेजी में लिखा गया एवं प्रकाशित हुआ है—'पालिटिकल हिस्टरी आफ नर्दन इंडिया फ्राम जैना सोर्सेज। प० गणेशप्रसाद जी वर्णी, या क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी, जो बड़े वर्णी जी नाम से भी प्रसिद्ध रहे, न्यायाचार्य थे तथा अनेक पुस्तको के लेकख भी थे, उनका परिचय 'आचार्य गणेशकीर्ति महाराज' के रूप में दिया है जो ठीक नही है उन्होने न कभी मुनिदीक्षा ली और न आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए - कुछ अति भक्तों ने उनके अन्त समय मे इनका समाधिकरण कराते हुए उन्हे मुनि संज्ञा दे दी थी और शायद 'गणेशकीर्ति' नाम भी। इस प्रकार कई परिचय सदोष हैं। कोई परिचय कुछ अधिक संक्षिप्त या अपर्याप्त सा रहे तो उतनी हानि नही जितना कि यथार्थ या भ्रान्त परिचय से है।

अच्छा तो यह होता कि एक स्वतन्त्र खंड मे ही समस्त दिवंगत जैन हिन्दी-सेवियो का परिचय दे दिया जाता। अवश्य ही इस परिचय-कोष के विद्वान सकलन-सम्पादक जैन नहीं हैं, किसी जैन संस्था, सस्थान या जैन दातार का इसके निर्माण या प्रकाशन में आर्थिक या अन्य योगदान भी नहीं है—इसके उत्साही प्रकाशक सयोग से जैन अवश्य हैं, किन्तु जैन के नाते इस ग्रन्थ का प्रकाशन उन्होंने नहीं किया, वरन् एक व्यवसायी के नाते किया है। अतएव ऐसे प्रकाशन से वे अपेक्षाएं तो नही की जानी चाहिएँ जो एक जैन साहिय प्रेमी को हो सकती है। तथापि जैसी गौणता या उपेक्षा हिन्दी साहित्य, या समग्र भारतीय साहित्य के आधुनिक इतिहास ग्रन्थों में जैन साहित्य एवं साहित्यकारों के साथ प्राय: बरती जाती रही है, इस सन्दर्भ में कोष से उसकी अपेक्षा कुछ अधिक न्याय होने की आशा थी। हमें विश्वास है कि इस कोष के आगामी खंडों मे उसके यशस्वी सम्पादक एवं प्रकाशक उक्त कमी की पूर्ति करने का प्रयास करने की कृपा करेंगे।

चार बाग, लखनऊ

सम्पादकीय—ग्रन्थ के संपादक श्री क्षमचन्द्र 'सुमन' से हमने बात की तो उन्होंने कहा—"यद्यपि हिन्दी साहित्य-सेवी मे अंकित जैनों के परिचयादि में जैनियों का सहयोग रहा है? जैसी सूचनाएँ मिली, संकलित की गई हैं। तथापि यदि तथ्यों में कुछ खामियां रह गई हों तो सपादक के नाते हमें खेद है। हमे संशोधन के जैसे-जैसे सुझाव मिलते जाएँगे उनको विधिवत् अगले संस्करण या परिशिष्ट मे देने का ध्यान रखेगे। जैन विद्वानों और जानकारों से निवेदन है कि वे हमारा अधिक-से-अधिक सही रूप में सहयोग करे। हमें खुशी है कि डा० ज्योतिप्रसाद जी का इधर ध्यान गया। धन्यवाद।"

—जानकारो से आशा की जाती है कि जिन जैन दिवंगत हिन्दी-सेवियों का परिचय इन दो खण्डों मे नहीं गया है, उनका प्रामाणिक परिचय सुमन जी को यथा शीघ्र भेजें ताकि आगामी खण्डों में उन विद्वानों के परिचय का समावेश किया जा सके।

"१०वीं शताब्दी के जैन काव्यों में बौद्धदर्शन की समीक्षा"

□ जिनेन्द्र कुमार जैन

साहित्य समाज का दर्पण है। इसलिए समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के लिए तत्कालीन साहित्य का अध्ययन अपेक्षित है। कवि अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए किसी कथा के माध्यम से उस समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि परिस्थितियों अथवा मान्यताओं की झांकी प्रस्तुत करता है।

जैन संस्कृति एवं साहित्य के विकास मे मध्ययुगीन जैनाचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि इस युग के साहित्य से साम्प्रदायिक विरोध एव वैमनस्य की परम्परा परिलक्षित होती है, फिर भी जैनाचार्यों ने सहिष्णुता, समभाव, उदारता अहिंसा एव अनेकान्त आदि सिद्धान्तो के माध्यम से उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है।

मध्ययुग, जैनसाहित्य में वर्णित धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के मन्थन की दृष्टि से १०वी शताब्दी मे लिखा गया जैन साहित्य विशेष महत्व का है। इस शताब्दी के जैन साहित्य में प्राकृत भाषा मे निबद्ध विजय सिंह सूरि कृत 'भुवनसुन्दरीकहा' धार्मिक एवं दार्शनिक सामग्री की दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। अपभ्रश साहित्य मे पुष्पदन्त कृत महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, वीर कवि कृत जम्बू सामिचरिउ, हरिषेण कृत धम्मपरिक्खा, मुनि रामसिंह कृत करकंड चरिउ तथा संस्कृत साहित्य में सोमदेव सूरि कृत 'यशस्तिलकचम्पू' नीतिवाक्यामृत, वादीभ सिंह सूरि कृत गद्यचिंतामणिवीरनन्दि कृत चन्द्रप्रभचरितं,सिद्धर्षि कृत उपमितिभवप्रपच कथा हरिसेणकृत वृहत्कथा, कोश एव अमितगति कृत धर्म परीक्षा आदि प्रमुख कृतियाँ हैं, जिनमें तत्कालीन धर्म एव दर्शन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

उन ग्रन्थों मे जैन धर्म एव दर्शन के साथ-साथ वैदिक, चार्वाक, बौद्ध, सांख्य न्याय, वैशेषिक, शैव, वेदान्त आदि भारतीय दर्शनो का तुलनात्मक वर्णन किया गया है।

१०वीं शताब्दी के जैन काव्य ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध दर्शन की समीक्षा को निबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। जिसमें बौद्ध दर्शन के निम्न बिंदुओं पर चर्चा की गई है .—

१. अनात्मवाद (नैरात्मवाद) :
२. क्षणिकवाद :
३. प्रतीत्य समुत्पादवाद (कारण-कार्यवाद) :
४. शून्यवाद :
५. निर्वाण (मोक्ष) :

अनात्मवाद :—जगत को नश्वर, क्षणविध्वंशी एव अनित्य मानने वाला बौद्ध दर्शन आत्मा (जीव) की भी नित्यसता को स्वीकार नही करता। प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, अतः यदि पचस्कन्ध[1] को आत्मा मान भी लिया जाय, तो उसे क्षणिक (अनित्य) माना जायेगा, नित्य नही। इसलिए आत्मवादी मतो द्वारा आत्मा को नित्य मानना उचित नही है।[2] बौद्ध दर्शन शरीरपर्यन्त ही जीव की सत्ता स्वीकार करता है अर्थात शरीर के नष्ट होते ही जीव पच स्कन्ध-समुच्चय (रूप, विज्ञान वेदना, सज्ञा और संस्कार) का समूह होने के कारण अन्य रूप धारण कर लेता है।

आ० वीरनन्दि ने आत्मा को नित्य और ज्ञानधारा रूप ही माना है।[3] समस्त क्रियाओं का मूल आत्मा को मानते हुए भी जगत को क्षणिक मानने के कारण बौद्ध दर्शन में आत्मा की पृथक एवं नित्यसत्ता स्वीकार नही की गई।[4] सोमदेव सूरि ने बौद्ध दर्शन की जीव सम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है, कि—जो बौद्ध मरे हुए प्राणी का जन्म स्वीकार करते हैं और जो ऐसे धर्म को देखते हैं जिसका फल प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है। ऐसी उनकी मान्यता युक्तियुक्त नही है, मात्र भ्रामक है।[5]

बौद्ध दर्शन के उपर्युक्त आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं की

कवियों ने समीक्षा करते हुए कहा है कि—"केवलचित्त-संतानज्ञानधारा ही आत्मा है" ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि सन्तानी (सन्तानवान) द्रव्य के बिना कोई भी सन्तान-गुण पर्याय—सम्भव नहीं है। गुण द्रव्य को आश्रय बनाकर उसी में रहते हैं। अतः ज्ञान की धारा तो गुण है, इसलिए गुणी आत्मा के बिना गुण-ज्ञानधारा की सत्ता कैसे रह सकती है।[५] इसी प्रकार यदि क्षणिकवाद के सिद्धान्त के कारण आत्मा की नित्य सत्ता स्वीकार न करते हुए, उसे क्षण-क्षण में परिवर्तनशील माना जाये तो छः मास तक की व्याधि (रोग) की वेदना (दुःख) कौन सहन करता है?[७] बौद्ध धर्म में आत्मा को पंच-स्कन्ध (रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का समुच्चय मात्र (संघात समूह) माना गया है। किन्तु ये स्कंध भी क्षणमात्र ही स्थायी रहते हैं, तब उन्हें उक्त सिद्धान्तानुसार कैसे बांधा जा सकता है।[८]

"शरीर पर्यन्त ही आत्मा की सत्ता है" बौद्ध दर्शन के इस मत की समीक्षा कवियों ने कस्तूरी एवं चम्पक पुष्प की गंध के उद्धरण देकर की है। कहा है कि—जिस प्रकार कस्तूरी के समाप्त हो जाने पर भी उसकी गंध बनी रहती है, उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है।[९] अथवा जिस प्रकार चम्पक पुष्प को तेल में डालने से मात्र गंध नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का और शरीर का पृथक अस्तित्व है।[१०]

क्षणिकवाद :—क्षणिकवाद के नियमानुसार जगत की समस्त वस्तुओं का अस्तित्व क्षणमात्र ही रहता है: किसी भी वस्तु की शाश्वत व नित्य सत्ता नहीं होती। प्रत्येक वस्तु का क्षणमात्र ही अस्तित्व रहता है और अगले ही (दूसरे ही) क्षण वह बहुत नष्ट हो जाती है। जो नित्य अथवा स्थायी प्रतीत होता है, वह भी अनित्य है। वस्तु की नित्य-प्रतीति मात्र भ्रम है।

क्षणिकवाद के समर्थन में बौद्ध दार्शनिक अर्थ क्रिया-कारित्व का तर्क प्रस्तुत करते हैं। जिसका अर्थ है—किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति। इस सिद्धांतानुसार जिस क्षण वस्तु (कारण) से कार्य उत्पन्न होता है, उसी क्षणमात्र तक उस वस्तु (कारण) से कार्य उत्पन्न होता है, उसी क्षणमात्र तक उस वस्तु कारण का अस्तित्व रहता है। और अगले क्षण उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जैसे :—एक बीज किन्हीं दो कार्यों का कारण नहीं बन सकता अतः एक बीज (कारण) से एक पौधा (कार्य) ही उत्पन्न होता है। चूंकि पौधा परिवर्तनशील (क्रमिक विकासशील) होता है, इसलिए पौधे के विकास का कारण (बीज) भी परिवर्तनशील होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रथम क्षण जिस बीज का अस्तित्व था, दूसरे ही क्षण उस बीज की सत्ता समाप्त हो गई। इसलिए एक बीज से (कारण से) एक ही पौधा (कार्य) उत्पन्न होता है।

महपुराण[११] मे पूर्व पक्ष उठाते हुए कहा गया है कि यदि जिस क्षण मे जीव उत्पन्न होता है, वह क्षण विनश्वर है। और जीव के जो संस्कार दिखाई देते हैं, वे क्षणवर्ती स्कन्ध हैं। इसलिए न तो आत्मा की ही नित्य सत्ता है और न पूर्वकृत कर्मों की ही।

उक्त अंश के निराकरण मे महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण मे मंत्री स्वयबुद्ध द्वारा उक्त कथन की समीक्षा करते हुए लिखा है कि—यदि जगत को क्षणभंगुर माना जाये तो किसी व्यक्ति द्वारा रखी वस्तु उसी व्यक्ति को प्राप्त न होकर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। अथवा द्रव्य को क्षणस्थायी मानने से वासना का (जिसके द्वारा पूर्व मे रखी हुई वस्तु का स्मरण होता है) भी अस्तित्व नहीं रह जाता है।[१२] यदि क्षण-क्षण मे नये अन्य जीव उत्पन्न होते रहते है, तो प्रश्न उठता है कि जीव घर से बाहर जाता है, वही घर कैसे लौटता है? अतः जो वस्तु एक रखी उसे दूसरा नही जान सकता।[१३] जीव की क्षणिक सत्ता मानने वाले बौद्ध दर्शन के इस सिद्धान्त की (क्षणिकवाद की) समीक्षा करते हुए वीरनन्दि कहते हैं कि—यदि जीव की क्षणिक सत्ता मानी गई है तो जो जीव एक क्षण मे अच्छे-बुरे कर्म करेगा वह दूसरे ही क्षण नष्ट हो जायेगा। फलतः जो जीव दूसरे क्षण मे उत्पन्न होगा वही पूर्वकृत कर्मों का फल भोगेगा। इस दृष्टि से क्षणिक जीव को कृत व आकृताभ्यागम् दोष लगेगा। जिससे बौद्ध दर्शन का क्षणिक वाद खण्डित हो जाता है।[१४] एक ओर

वस्तु को क्षणिक मानना, और दूसरी ओर—"जो मैं बाल्यावस्था में था, वही मैं युवावस्था में हूँ" इस प्रकार के एकत्व मानने से भी क्षणिकवाद खण्डित हो जाता है।[१५]

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि वासना के नष्ट होने पर ज्ञान प्रकट होता है। इसलिए उनकी यह उक्ति क्षणिकवाद के सिद्धान्त को भंग कर देती है।[१६]

प्रतीत्य समुत्पाद की समीक्षा :—(कारण-कार्य-वाद) :—

बौद्धदर्शन में चार आर्यसत्यो के विवेचन के साथ-साथ द्वादशनिदान की भी चर्चा की गई। अर्थात् दुःखो के १२ कारणों को स्पष्ट किया गया है। जिसे प्रतीत्य-समुत्पाद (कारण-कार्यवाद) कहा जाता है। इस सिद्धान्तानुसार बुद्ध यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि दुःख के कारण को जानकर ही उसका विनाश किया जा सकता है। क्योंकि कार्य (दुःख) की उत्पत्ति एवं विनाश, कारण (अवधि—अज्ञान) पर ही निर्भर है।

संसार में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य है। "अस्मिन सति इद भवति" अर्थात "इसके होने से यह होगा" इस प्रकार का भाव ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। श्चेरबत्स्की[१७] के मत मे हीनयान शाखाएँ प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ इस प्रकार मानती है— 'प्रति प्रति इत्यनाम् विनाशिनां समुत्पादः" अर्थात् प्रत्येक धर्म या वस्तु का उत्पाद उसके विनाश से बधा है। अतः क्षणिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। अतः क्षणिक वस्तुओं का अविच्छिन्न प्रवाह ही प्रतीत्य-समुत्पाद है।

प्रस्तुत सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है कि—यदि क्षण विनाशी पदार्थों मे कारण-कार्यरूप धाराप्रवाह माना जाये, जैसे—गाय (कारण) से दूध (कार्य) एवं दीपक (कारण) से अजन (कार्य) की प्राप्ति माना जाये, तो प्रतिक्षण गौ और दीपक (कारण) के विनष्ट हो जाने पर दूध एवं अंजन (कार्य) की प्राप्ति कैसे हो सकती है।[१८]

शून्यवाद :—शून्यवाद की भावना को जन्म देने का श्रेय दूसरी शताब्दी के आचार्य नागार्जुन को है। जिन्होंने शून्यवाद के माध्यम से माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने अपनी माध्यमिककारिका मे शून्यवाद की विस्तृत व्याख्या की है। आर्य देव (दूसरी शताब्दी) बुद्धपालित (वी शता०), चन्द्रकीर्ति (६वीं शता०) शान्तिदेव (७वीं शता०) तथा शान्तिरक्षित (८वी शता०) आदि प्रमुख शून्यवादी आचार्य हैं, जिन्होंने माध्यमिककारिका की व्याख्याओं के साथ-साथ अन्य कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

माध्वाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में शून्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि—"तत्व (दर्शन का मूल पदार्थ) शून्य ही है, जो इन चार कोटियों से नितांत मुक्त है—(१) सत् (२) असत् (३) उभयात्मक (४) अनुभयात्मक।" अर्थात शून्य उसे कहते हैं, जो सत् भी न हो, न असत् हो, न सदसत् हो और न सद्सत् से भिन्न ही हो। अतः शून्य एक अनिर्वचनीय तत्व है, जिसका केवल ज्ञान ही है।[१९]

हीनयान आचार्य तथा ब्राह्मण और विद्वानों ने भी बौद्ध दर्शन के इस शून्य का अर्थ सकल सत्ता का निषेध या अभाव ही किया है।[२०] अर्थात शून्यवाद को ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों का ही अभाव मानने वाले मत के रूप में प्रस्तुत किया है।

१०वी शताब्दी के आचार्यों ने भी बौद्धदर्शन सिद्धात की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य अमितगति[२१] ने कहा है कि "सर्वशून्यता की कल्पना करने पर जगत में कुछ भी वास्तविक नही प्रतीत होता। यह जो दृष्टिगोचर होता है, वह अविद्या के कारण सत् प्रतीत होता है।" कवि ने इस सिद्धान्त की आलोचना इस प्रकार की है कि—"जो वस्तुतः स्वप्न में देखी गई वस्तुओं के समान भ्रान्ति से परिपूर्ण है।" ऐसा स्वीकार करने पर जहाँ उसके उपदेष्टा बुद्ध का ही अस्तित्व नहीं रह सकता, वहाँ बन्ध और मोक्ष आदि तत्वों की सत्ता/व्यवस्था कैसे हो सकती है? अर्थात नही हो सकती। पुष्पदन्त कहते हैं—यदि शून्यवादी जगत में शून्य का ही विधान करते हैं तो बौद्धों के इस इन्द्रियों के दमन, वस्त्रों को धारण करना, व्रत पालन, रात्रि से पूर्व भोजन करना और सिर मुंडन से क्या प्रयोजन।[२२]

महान नीतिकारक एवं दार्शनिक आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में समस्त भारतीय दर्शनों पर प्रकाश डालते हुए उनकी समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। बौद्ध दर्शन के शून्यवाद के सम्बन्ध में वे कहते हैं—इस लोक में निश्चय से न तो कोई अन्तरंग तत्व (आत्मा आदि पदार्थ) है, और न ही बाह्यतत्व (घट-पट आदि) है। क्योंकि प्रस्तुत दोनों तत्व विचार रहित हैं। अतः शून्यता ही कल्याण करने वाली है।[११] "वही मैं हू, वही (पूर्वदृष्ट) पात्र है, वे ही दाताओं के गृह है" इस मान्यता के समर्थक बौद्धों को आत्मा की शून्यता को नहीं मानना चाहिए।[१४]

सोमदेव सूरि आगे कहते है कि जब बौद्ध दर्शन समस्त संसार में शून्य का विधान मानता है तो उसके तपश्चरण करने एवं मूर्ति को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन? वास्तव में इससे उनकी मूर्खता ही प्रकट होती है।[१५]

"संसार में कुछ भी नित्य नही है, सब कुछ शून्य है, इसे मैं प्रमाण से सिद्ध कर सकता हूँ ऐसी प्रतिज्ञा यदि आपके द्वारा (माध्यमिक बौद्ध) की जाती है तो आपका सर्वशून्यतावाद का सिद्धान्त स्वतः ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि प्रमाण तत्व के सिद्ध हो जाने पर शून्यवाद का विधान नही किया जा सकता।[१६] चूंकि 'मैं' शून्य तत्व को सिद्ध करता है, इसलिए 'मैं' की सत्ता स्वयसिद्ध है। अतः बौद्धो का शून्यवाद उनके द्वारा ही खण्डित हो जाता है।

निर्वाण मोक्ष :—भगवान बुद्ध ने अपनी शिक्षाएँ चार आर्यसत्यों मे समाहित करते हुए संसार को दुःखमय कहा है। दुःख, दुःख का कारण, दुःख-निरोध, एव दुःख निरोध के उपाय। इन चार आर्यसत्यों को मानव, जीवन में मूर्त रूप देकर जन्म-मरण के भवचक्र से छुटकारा पा सकता है। तृतीय आर्यसत्य (दुःख-निरोध) के अन्तर्गत बुद्ध ने निब्बाण (निर्वाण) का उल्लेख किया है।

निर्वाण शब्द भगवतगीता एव उपनिषदो में भी मिलता है। जहाँ पर उसका अर्थ, 'आत्मसाक्षात्कार' अर्थात, 'ब्रह्म से मिलन' लिया गया है। जबकि बौद्ध दर्शन में इसका शाब्दिक अर्थ है, "बुझा हुआ।" कुछ लोग उसे जीव का अन्त समझते हैं, जो उचित नही है। बौद्ध ग्रन्थों मे जलने और बुझने का जिक्र बहुत आया है। अतः निर्वाण का अर्थ वासना की अग्नि का बुझ जाना है। जिसमें लोभ, क्रोध, घृणा व भ्रम रूपी अग्नि बुझकर कामासव, भावासव एवं अविद्यासव आदि मन की विशुद्ध प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती है।[१७] निर्वाण को 'सितिभाव' या शीतलता की अवस्था कहा गया है।[१८] इसमें कर्मों का नहीं बल्कि राग-द्वेष रूपी मलो का क्षय हो जाता है। शरीर के रहने पर भी जिसमे तृष्णा का अभाव हो निर्वाण कहलाता है। रजतसुत्त मे कहा गया है कि निर्वाण के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। यह (निर्वाण) मानव-शरीर का दीपक के बुझ जाने के समान है।[१९] जिसमें जीव लोभ, क्रोध, भ्रम आदि विकारो से मुक्त हो परमानन्द या पूर्ण शान्ति की अवस्था को प्राप्त होता है।[२०]

सोमदेव सूरि ने भी बौद्धों की इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—जिस प्रकार बुझता हुआ दीपक किसी भी दिशा को नही जाता, बल्कि तेल के समाप्त होते ही नष्ट (शांत) हो जाता, है, वैसे ही समस्त दुःखों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो केवल शान्ति का लाभ पाता है।[२१] बौद्ध दर्शन आत्म शून्यता आदि तत्वो की भावना से मुक्ति मानता है।[२२] अर्थात समस्त जगत क्षणिक, दुःखरूप, स्वलक्षणात्मक एव शून्य रूप है, इस तरह से चार प्रकार की भावना से मुक्ति होती है।[२३]

बौद्धों की उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए कवि कहता है कि—भावना मात्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि भावना से सभी शुभ-शुभ वस्तु चित्त में स्पष्ट रूप से झलकने लगती है। अर्थात वस्तु का मात्र चिन्तन होता है। प्राप्ति नही। यदि भावना मात्र से मुक्ति की प्राप्ति माना जावे तो बचकों अथवा वियोगियों की भी मुक्ति होनी चाहिए।[२४]

बौद्ध दर्शन मे वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील माना गया है। इस सिद्धात को मानने से बन्ध व मोक्ष का अभाव हो जायेगा। क्योंकि यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही माना जाये, तो प्रत्येक वस्तु अगले क्षण में समूल नष्ट हो जायेगी एसी अवस्था में जो आत्मा बंधा है (कर्म से बद्ध है), वह दूसरे क्षण नष्ट हो जायेगा, तब मुक्ति किसे होगी।[२५] इसलिए राग-द्वेष रूप आभ्यन्तर मल के क्षय हो जाने से जीव के आत्म स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं

अतः बौद्ध जो दीपक के बुझने-सरीखी आत्मशून्यता से मुक्ति मानते हैं, वह असम्भव है।"

इस प्रकार १०वीं शताब्दी का समूचा जैन साहित्य इस तरह की दार्शनिक मान्यताओं एवं उनके खण्डन-मण्डन की सामग्री से भरा पड़ा है। प्रस्तुत निबन्ध में मात्र बौद्ध दर्शन की मान्यताओं एवं खण्डन की परम्परा को स्पष्ट किया गया है। किन्तु इस युग के कवियों ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन अन्य दर्शनों पर भी लेखनी चलायी है।

—सुखाड़िया वि० वि० उदयपुर

सन्दर्भ-सूची

१. मिलिन्द प्रश्न
२ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—१।२।८
३. चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि)
—सोलापुर संस्करण, २।८४।५३
४ णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त)—९।५।२
५. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य (सोमदेवसूरि), दीपिका—पं० सुन्दरलाल शास्त्री—५।११९।१६४
६. चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि)—२।८४।५३
७. जसहरचरिउ (पुष्पदन्त)—३।२६।५
८ शर्मा रामनाथ—भारतीयदर्शन के मूल तत्व—पृ० १५१
९ यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य (सोमदेव)—५।११०।१६२
१०. जसहरचरिउ (पुष्पदन्त)—३।२१।११६
११. महापुराण (पुष्पदन्त), सम्पादक—डा० वैद्य भा० ज्ञा० पीठ प्रकाशन २०।१९।३५
१२. महापुराण—२०।२०।८-५
१३. खनि-खनि अण्ण जीउ जइ जायउ,
तो वहिरेणउ किह्घड आयउ।
अण्णे थवियउ अण्णुण याणइ,
सुण्णुवि वाइ काइ वक्खाणइ ॥
—णायकुमारचरिउ, ९।५।१०-११
१४. क्षणिकत्वेऽपसतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणम्।
कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यते ॥
चन्द्रप्रभचरित, २।८६।५४११
१५ यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य—दीपिक, प० सुन्दरलाल शास्त्री—८।१२६।४०९
१६. जसहरचरिउ—३।२६।५
१७. Stcherbatsky—Conception of Buddhist Nirvan—Page 9
१८. णायकुमारचरिउ—९।५।८-९
१९ (क) "अतस्तत्त्वंसदसदुभयानुभयात्मक चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्यमेव"—सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य) हिन्दी भाष्यकार—प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पृ० ६३-६४
(ख) माध्यमिक कारिका (नागार्जुन), १-७
२०. उपाध्याय, बलदेव : बौद्ध दर्शन मीमांसा—पृ० २९९
२१. धर्म परीक्षा (अमितगति)
—सोलापुर संस्करण—१८।७४।२८८
२२. सुण्णु असेसु वि जइ कहिउ
तो किं तहो पंचिन्दियदण्डणु।
चीवरवणिवसणु वयधरणु सत्तहडीभोयणु सिरमुण्डणु ॥
—(णायकुमारचरिउ ९।१०।१३)
२३. यशस्तिलकचम्पू महाकाव्यं (सोमदेव) दीपिका प० सुन्दरलाल शास्त्री—६।११।१८६
२४. वही—५।१०९।१६२ २५. वही—५।११२।१६३
२६. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्यं (सोमदेव)—६।३४।१९१
२७. सयुत्त निकाय, III, २५१, २६१, २७१ II
२८. सयुत्त निकाय, Encyclopedia of Religion & Ethics I.
२९. रजत-सुत—७, १३
३०. धम्मपद—२०२, २०३
३१ यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य
(सोमदेव)—६।१३, १४।१८६ ८७
३२. वही—अश्वास ६, पृ० १८४
३३. सर्वदर्शनसंग्रह (मध्वाचार्य) पृ० ३५, ३६
३४. यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यं (सोमदेव)—६।२९।१८९
३५. वही—६।१०६।२०५
३६. यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य (सोमदेव)—६।२१६।२०७

—सुखाड़िया वि० वि० उदयपुर

ऋषभ, भरत और बाहुबलि का चारित्रिक विश्लेषण

अपभ्रंश महापुराण के आधार पर

☐ (श्रीमती) डा० ज्योति जैन

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रथम चक्रवर्ती भरत और आद्य कामदेव बाहुबलि का चरित्र समग्र भारतीय साहित्य के आकर्षण का केन्द्र रहा है। जैन साहित्य तो इनकी अमर गाथाओं से भरा पड़ा है। इनके प्रजापतित्व वीरत्व और अप्रतिम व्यक्तित्व की छाप इतनी गहरी है कि सभी संस्कृतियों ने इन्हें अपनाया और अपने-अपने अनुरूप आकलन किया।

साहित्यकारों और शिल्पियों के लिए इनके चरित्र आदर्शमय हैं। आगम और लौकिक दोनों प्रकार के साहित्य में उल्लिखित हैं। पुराण, काव्य, कथाचरित, आदि इनके गुणानुवाद से भरे पड़े है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओ के अतिरिक्त दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी इन महापुरुषों का चरित्र उपलब्ध है। अपभ्रंश भाषा मे महाकवि पुष्पदन्त विरचित 'महा पुराण' या त्रिषष्ठि महापुरुष गुणालंकार' पुराण एतद्विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ६३ शलाकापुरुषो का चरित्र निबद्ध है।

महापुराण के आदिपुराण और उत्तरपुराण ये दो भाग हैं। आदि पुराण के पूर्वार्ध मे उक्त तीनों महापुरुषों का चरित्र विस्तार से चित्रित है। इसमे कुल ३७ सन्धियां या परिच्छेद है।

इससे पूर्व ८-९वी शती के आचार्य जिनसेन का संस्कृत भाषा मे निबद्ध 'महापुराण' उपलब्ध है। जिसमे भी ६३ शलाकापुरुषों का चरित्र चित्रित है। अत: इस अनुमान को पर्याप्त अवकाश मिलता है कि पुष्पदन्त ने जिनसेन का अनुकरण किया है, पर नही, पुष्पदन्त ने चरित्रो का चित्रण तो जिनसेन या जैन परम्परानुसार ही किया है पर उनकी शैली अपनी है, यथा जिनसेन ने तीर्थङ्करों के पूर्वभवो का चित्रण पहले किया है।[1] पर पुष्पदन्त ने बाद (ऋषभदेव के जन्मादि के) मे किया है।[2] हम क्रम से तीनों का चारित्रिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे है।

ऋषभदेव—

ती० ऋषभदेव को जैन परम्परा में आद्य तीर्थङ्कर, कर्मभूमि के आदि प्रवर्तनकर्ता तथा प्रजापति के रूप में पूजित किया गया है स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा है—

"प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।"[3]

जैन साहित्य के आगमग्रन्थों, पुराणों, कथाओं एवं काव्यग्रन्थों में उनका स्मरण किया गया है। भागवत् में उन्हें आठवां अवतार कहा गया है[4] ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि मिष्ट भाषी, ज्ञानी, स्तुति योग्य ऋषभ को साधक मन्त्र द्वारा वर्धित करो[5] एक अन्य मन्त्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्तिसम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यो और देवों मे पूर्वयाया कहा गया है।[6] यजुर्वेद[7] तथा अथर्ववेद[8] मे बुद्धि एव बल के लिए उनका आह्वान किया गया है।

लिङ्ग, मार्कण्डेय, कर्म, नारद, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों के अनुसार स्वयम्भुव मनु से प्रियव्रत उनके आग्नीध्र नाभि और नाभि के ऋषभ हुए। भागवत् के अनुसार वे योगी थे।[9] बौद्ध साहित्य में ऋषभ महावीर के साथ उल्लिखित हैं।[10] शिव और ऋषभ के ऐक्य-सन्दर्भ में अनेकों लेख पत्र-पत्रिकाओ मे समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। मुनि श्री विद्यानन्द महाराज ने बाबा आदम को भी ऋषभदेव माना है। मुनि श्री की दृष्टि मे आदम आदिनाथ का अपभ्रंश है।[11]

यह सब लिखने का प्रयोजन यही है कि पाठक यह समझ सकें कि ती० ऋषभदेव जैन परम्परा में ही नहीं,

वैदिक या अन्य परम्पराओं में भी उल्लिखित हैं। पुष्पदन्त कृत महापुराण और जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर थे। वे अन्तिम कुलकर नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र थे। गर्भ में आने से ६ माह पूर्व ही नाभिराय के आंगन में रत्नों की वृष्टि हुई। मरुदेवी ने १६ स्वप्न देखे। आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वे गर्भ मे अवतरित हुए।[१२]

चैत्र कृष्ण नवमी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में मरुदेवी ने एक ओजस्वी पुत्र को जन्म दिया।[१३] विभिन्न देवपुत्रों के साथ क्रीडाएं करते हुए उनका बचपन बीता। युवा होने पर यशस्वी और सुनन्दा के साथ उनका विवाह हुआ।[१४]

ऋषभदेव का सम्भवत: पहला चरित्र है जिसने वैवाहिक जीवन का आरम्भ किया। इससे पूर्व भोग भूमि में युगल सन्तान होती थी और वही युवा होने पर पति-पत्नी हो जाते थे। नाभिराय ने उनका बड़ी धूमधाम से पट्टबन्ध किया और ऋषभदेव राजकाज चलाने लगे।[१५] उनकी महारानी यशस्वती से भरत, ९९ अन्य पुत्र तथा ब्राह्मी नाम की पुत्री और सुनन्दा से बाहुबलि पुत्र तथा सुन्दरी नाम की पुत्री इस प्रकार १०३ सन्तानें हुई।[१६]

ऋषभदेव जी का जीवन लोक कल्याण के लिए था उनसे पहले कल्प वृक्षों से सभी की आवश्यकताएं पूरी होती रहती थीं अत: आजीविकार्थ भ्रमण का प्रश्न ही नहीं था, पर उनके काल में कल्पवृक्षो की शक्ति क्षीण होने लगी, अत: उन्होंने असिमसि, कृषि, वाणिज्य आदि का उपदेश सर्वप्रथम दिया। उन्होंने पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को वर्णमाला और अंकों का उपदेश दिया। ब्राह्मी गोद में दाहिनी ओर बैठी थी, और सुन्दरी बायीं ओर। इसी कारण वर्णमाला दायी ओर अंक बायी ओर को लिखे जाते हैं। पुत्र को भी यथायोग्य शास्त्रो का ज्ञान उन्होंने कराया। इस प्रकार उन्होंने सन्तानों को सुशिक्षित बनाकर अपने कर्म से यह उपदेश दिया कि माता-पिता का कर्त्तव्य केवल जन्म दे देना ही नहीं है किन्तु उन्हें सुशिक्षित बनाना भी है, तथा पुत्रों से भी पहले पुत्रियों को सुशिक्षित करना आवश्यक है।

राज्य व्यवस्था का सूत्रपात तीर्थंकर ऋषभदेव ने ही किया उन्होंने विभिन्न जनपदों, खेट-खर्बट तथा ग्रामों की स्थापना की और साम्-दाम-दण्ड-भेद आदि की व्यवस्था की।

वर्ण व्यवस्था की सर्वप्रथम स्थापना भी तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने की उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण बनाये यद्यपि मनुष्य जाति एक है, अत: ऊँच-नीच का प्रश्न नही। मात्र वृत्ति और आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए ही उन्होंने यह वर्ण भेद किया। वैदिक संस्कृति जहाँ यह विभाजन जन्म से स्वीकारती है वहाँ जैन संस्कृति कर्म से। कहा गया है—

'कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो ॥
वइसो कम्मुणा होई सुद्दो हवई कम्मुणा।'[१७]

महापुराण की छठी और सातवी सन्धियों मे ऋषभदेव की प्रव्रज्या का सुन्दर वर्णन है। सर्वविदित है कि ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक राज्य का सुन्दर सचालन किया और नीलांजना का विनाश देखकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी। यह प्रतीक इस बात का है कि मनुष्य को राज्य और सत्ता से सदा चिपके नही रहना चाहिए, जीवन को क्षणिक मानते हुए आत्मचिन्तन में भी रत होना चाहिए।

ऋषभदेव ने शरीर से ममत्व छोड़कर कठोर तपश्चरण किया। आहारार्थ निकलने पर कही आहार नही मिला, लोग उपहार में बहुमूल्य वस्तुएं लाते पर सन्यासी को इनसे क्या मोह? यह उनकी इस वृत्ति का परिचायक है कि कठिन से कठिन आपद आने पर भी धर्म और धैर्य न छोड़ो। अन्त में हस्तिनापुर के सोमप्रभ के लघु भ्राता श्रेयांस ने उन्हें इक्षु रस का आहार दिया। तभी से यह दिन इक्षु तृतीया (अक्षय तृतीया) के नाम से प्रचलित हुआ। उन्हें फाल्गुन कृष्ण एकादशी को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।[१८]

इन्द्राज्ञा से कुबेर ने समशरण का निर्माण किया, जिसमें देव, मनुष्य, पशुओं आदि के बैठने के लिए अलग-अलग स्थान था। तीर्थंकर की दिव्यध्वनि को सभी जीव अपनी-अपनी भाषा मे सुनते थे। किसी समय यह विवाद का विषय था किन्तु विज्ञान ने आज ऐसे यन्त्रों का निर्माण

कर डाला है, जो स्वयं एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करते चलते हैं। तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सात तत्वों, छह द्रव्यो, नवपदार्थों का सुन्दर उपदेश दिया। अन्त मे दिगम्बर परम्परानुसार माघ कृष्ण चतुर्दशी और श्वेताम्बर परम्परानुसार त्रयोदशी को सूर्योदय के समय अनेक मुनियों के साथ कैलाश पर्वत पर निर्वाण को प्राप्त हुए।

तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्ण काञ्चन, चिह्न वृषभ, यक्ष गोमुख, यक्षिणी चक्रेश्वरी,[१] गर्भविक्रान्ति: श्वेत वृषभ रूप[१] देह ५०० शरासन, आयु ८४ लक्ष्य पूर्व थी।[११] उनके ८४ गणधरों मे वृषभसेन प्रमुख थे। पूर्वधरों की संख्या ४७५०, अवधिज्ञानियो की ९०००, केवलियों की २०००० मनःपर्यज्ञानियों की १२६५०, अनुत्तरवादियों की १२६५०, आर्यिकाओं की ३०००००, श्रावको की ३५०००० तथा श्राविकाओं की संख्या ५ लाख थी।[११]

चक्रवर्ती भरत—

भारतीय इतिहास में भरत नाम के दो प्रतापशाली राजाओ का उल्लेख मिलता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत और द्वितीय महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत। पुराणों में दोनों का ही उल्लेख हुआ है। बहुत पहिले इतिहासविदो की यह मान्यता थी कि दुष्यन्त—शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। किन्तु ज्यों-ज्यों प्राचीन साहित्य का प्रकाशन होता रहा, इतिहास अपने अवगुण्ठन खोलता रहा, यह मान्यता टूटती रही और आज लगभग सभी इतिहासविद् यह स्वीकार करते हैं कि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।[२१]

महापुराण के अनुसार भरत इस अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती थे। ऋषभदेव जब भरत को राज्याभिषिक्त कर वन चले गये, तब भरत दिग्विजय के लिए निकले उन्होंने अत्यन्त बलशाली मागध देव को पराजित किया।[१४] अन्य भी अत्यन्त शक्ति सम्पन्न राजाओं को जीता। समस्त उत्तर भारत पर विजय पाई।[१५] किन्तु अयोध्या आकर चक्र नगरी में प्रविष्ट न हुआ। यहाँ तक उनके चरित्र का संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है किन्तु इसके आगे का चरित्र जैन पुराणों का सबसे लोकप्रिय भाग रहे हैं। एक तरफ अभी हाल ही तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने संस्कृति का निर्माण करते हुए जनता को रहना सिखाया था, दूसरी ओर उन्हीं के पुत्र उसे नष्ट करने पर तुले हुए थे कैसी विडम्बना है।

ज्योतिषियों से चक्र के नगर में प्रविष्ट न होने का कारण जानकर उन्होने चतुर दूत बाहुबलि के पास भेजा, पर बाहुबलि ने भरत की अधीनता स्वीकार न कर युद्ध करना उचित समझा। भरत और बाहुबलि के युद्ध का सुन्दर चित्रण महापुराण[१६] मे हुआ है।

इस प्रकार भरत के चरित्र को हम किसी सत्ता लोलुप पुरुष का चरित्र कह सकते हैं, जो राज्य के लिए अपने भाई को भी क्षमा न कर सका। पर वस्तुत: देखा जाये तो यह प्रश्न अकेले भरत का नही था, यह प्रश्न राजधर्म का था। युद्ध करना उनकी विवशता थी। कर्त्तव्य था। इस सन्दर्भ में श्री विष्णु प्रभाकर ने 'सत्ता के आर-पार' मे लिखा है—

"नारीमूर्ति—अब यह आपके चाहने न चाहने का प्रश्न नही है, राजधर्म का प्रश्न है······आपने छह खण्ड के राजाओं को क्यों अपने चरणों में झुकाया।

भरत (तड़पकर) सब याद है हमें, पर भाई का भाई से युद्ध······नारीमूर्ति—राजधर्म बहुत गहन हैं। वहाँ सांसारिक दृष्टि से उचित-अनुचित का, नाते-रिश्ता का, कोई अर्थ नहीं है, अर्थ है केवल अपना कर्त्तव्य-पालन करने का और अपना कर्त्तव्य है, टुकड़ों मे बटी धरती को एक करना······।[१७]

इसी सन्दर्भ में स्वयं लेखक की एक कविता तीर्थङ्कर (इन्दौर) फरवरी १९८१ में दृष्टव्य है।

युद्ध होने से पूर्व ही दोनो पक्षों के मन्त्रियों ने विचार कर प्रस्ताव रखा कि आप दोनों चरमशरीरी हैं, आप का कुछ न बिगड़ेगा, व्यर्थ सेना का रक्तपात क्यों हो? अत: आप जल, दृष्टि और बाहुयुद्ध करके हारजीत का निर्णय कर लें।[१८] सभी युद्धों में भरत पराजित और बाहुबलि विजयी हुए। पराजय के दारुण दु:ख से अभिभूत भरत ने बाहुबलि पर चक्र चला दिया, पर वह उनकी प्रदक्षिणा कर लौट आया।

बाहुबलि की दीक्षा और उसके बाद केवल ज्ञान न होने पर भरत ने उनकी पूजा की और समझाया तब उन्हें

केवल ज्ञान हुआ। दीर्घकाल तक राज्य श्री का भोग कर, सिर के सफेद बाल को देखकर उन्हें वैराग्य हुआ पुत्र को राज्य देकर उन्होने दीक्षा ले ली और कठिन तपस्या कर मोक्ष पद पाया।

बाहुबलि—

महापुराण मे बाहुबलि का उल्लेख एक स्वातन्त्र्य प्रेमी और उनका शरीर अतिशय सुन्दर था। उन्हें अपनी जनता से बहुत प्यार था, भले ही उनका राज्य भरत की अपेक्षा छोटा हो। भरत द्वारा दूत भेजकर अधीनता स्वीकार करने के प्रस्ताव को वे नहीं मानते और युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते है। वह सत्ता के लिए नही अपने अधिकारो के लिए लड़ते हैं। वह कहते हैं कि यह भाई-भाई के प्रेम का प्रश्न नही अधिकारो के सघर्षका है। वे अद्भुत देहयष्टि के स्वामी थे। इसलिए वह तीनों-युद्धों में भरत को पराजित कर देते हैं। भरत द्वारा क्रोधित होकर चक्र चलाये जाने पर बाहुबलि को वैराग्य हो जाता है।[११] वह महाबली पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ले लेते हैं और कठोर तप करते हैं।

समग्र जैन साहित्य मे बहुबलि की तपस्या का जैसा वर्णन मिलता है वैसा अन्य किसी तपस्वी की तपस्या का नहीं। वे पाषाण प्रतिमा की तरह स्थिर, नग्न, मौन, एकाकी ही ध्यानस्थ खड़े रहे। दिन और रात सप्ताह और मास बीत गये पर एक बार भी उनका ध्यान नही टूटा। उनके चमणो में सर्पों ने वामियो को बना लिया था। दो माधवी लताए भी उनकी देह के सहारे चढती चली गयी। यही कारण है कि आज भी बाहुबलि की मूर्ति के हाथ और पैरो पर लिपटी हुई बेलों के चिह्न बने होते हैं।

इतना होने पर भी उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हुई। अन्त मे भरत द्वारा नमस्कार करते ही उन्हें केवल ज्ञान हो जाता है और वे ऋषभदेव से पहले ही मुक्तिबधू-पति बन जाते है।

बाहुबलि के चरित्र की अपनी विशेषताये है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' की वह साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। पिता प्रदत्त छोटे से राज्य की स्वतन्त्रता के लिए वह बड़े भाई की चुनौती को सहर्ष स्वीकार करते हैं, यह उनके अजेय पौरुष का प्रतीक है।' भरत को पराजित करके भी वे उनके अनीति भरे आचरण के प्रति तत्काल क्षमा भाव धारण कर लेते है, यह उनकी अनुपम क्षमाशीलता का उदाहरण है।

चक्रवर्ती नरेश अपने समय का सर्वशक्तिमान और सर्वाधिक संप्रभुता सम्पन्न महापुरुष होता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में पराजय की पीड़ा से उसका कभी परिचय नही होता किन्तु बाहुबली के चरित्र की यह विशेषता है कि उनके हाथो उन्ही के अग्रज को तीन बार पराजित होना पड़ा। व्यक्ति मे स्वयं का बल और अदम्य साहस हो तो उसका कोई कुछ नही बिगाड सकता यहाँ तक कि दैवी शक्तियाँ भी नही। देवों से सरक्षित सम्राट भरत का चक्र बाहुबलि का कुछ नही बिगाड़ सका।

उनके चरित्र की एक महनीय विशेषता यह है कि उन्होने जीत कर भी हार मान ली लेकिन वे भाई से नहीं हारे वे हारे अपने अन्तस्तल से। जीत के बाद विचारो का द्वन्द चला, कैसा यह ससार है, कैसी घृणित इसकी प्रवृत्तियाँ हैं······यही सोचते रहे वे क्षण भर और वैराग्य की संसार-असारता की भावना विजयी हुई सत्ता की भावना हार चुकी थी। उन्होने कठोर तप किया यही कारण है कि आज वे तीर्थङ्कर न होते हुए भी तीर्थङ्करो की तरह पूजे जाते हैं। अनीति पर नीति की, असद पर सद की, दुष्प्रवृत्तियो पर सुप्रवृत्तियो की विजय के वे प्रतीक हैं।

इस प्रकार इन तीनो महापुरुषो ने अपने-अपने चरित्र से मानव जाति के समुन्नयन में महद् योगदान दिया है। संसार की किसी भी सस्कृति में ऐसे महापुरुष नही हैं, जिनकी विचारधारा और चिन्तन का मानव जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, पर ये तीनों ऐसे ही हैं। उनके उपदेश जितना कल उपादेय और आदर्शमय थे उतने ही आज हैं, और 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ रहेंगे।

—१३०, बड़ा बाजार,
खतौली २५१२०१ (उ० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. आदिपुराण : अनु० पं० पन्नालाल, ज्ञानपीठ १९६३, पर्व-४-१५
२. महापुराण (आदिपुराण) : सम्पा० पी० एल० वैद्य, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई १९३७, सन्धि २१-२७
३. बृहत्स्वयंभू स्तोत्र : पाटनी ग्रन्थमाला मराठे २४७६, २
४. श्रीमद्भागवत : गीता प्रेस गोरखपुर, पचम स्कन्ध
५. ऋग्वेद: सम्पा० विश्वबन्धु, होशियारपुर १।१९०।१
६. वही ३।४।२ एवं अन्य—८।४५।३८, १०।१८७।१, ६।२६।४ आदि
७. यजुर्वेद : संस्कृति सस्थान बरेली, ३१।१८
८. अथर्ववेद : सस्कृति संस्थान बरेली १९।४२।४
९. श्रीमद्भागवत : पचम स्कन्ध
१०. धम्मपद : धर्मरक्षित, मा० खेलाडी लाल वाराणसी ५९, गाथा ४२३
११. विश्वधर्म की रूपरेखा : मुनि विद्यानन्द, पृष्ठ १९
१२. महापुराण : पुष्पदन्त, तृतीय सन्धि
१३. वही तृतीय सन्धि
१४. वही चतुर्थ सन्धि
१५. वही पचम सन्धि
१६ श्वेताम्बर परम्परा १०० पुत्र व पुत्रियाँ=१०२ सन्तानें मानती हैं
१७. उत्तराध्ययन सूत्र : कलकत्ता १९६७, २५।३१
१८. महापुराण : पुष्पदन्त नवम सन्धि
१९ वही : उत्तरपुराण द्वितीय खण्ड, बम्बई १९४०, परिशिष्ट १
२०. वही : परिशिष्ट २
२१. वही : परिशिष्ट २
२२. वही परिशिष्ट ३
२३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : ज्ञानपीठ १९६६, पृष्ठ २४
२४. महापुराण पुष्पदन्त, बारहवी सन्धि
२५. वही : पन्द्रहवी सन्धि
२६. वही : सत्तरहवी सन्धि
२७. 'सत्ता के आर-पार' : ज्ञानपीठ १९८१, पृ० ७
२८. श्वेताम्बर परम्परा दृष्टि, वाक्, बाहु मुष्ठि और दण्ड ये पाँच युद्ध मानती है -
२९. महापुराण पुष्पदन्त, सोलहवी व सत्तरहवीं सन्धि ।

卐卐

(पृ० १८ का शेषांश)

मुनि अमरसेन इस प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणो मे प्रथम कारण जिनेन्द्र की पूजा का महत्व प्रतिपादित कर अपने भाई मुनि वइरसेन के साथ सन्यासपूर्वक देह त्याग कर पाँचवें स्वर्ग में देव हुए। राजा देवदत्त और रानी देवश्री ने जिनेन्द्र की पूजा की।

अन्त में कवि ने आचार्य परम्परा का उल्लेख करते हुए उनसे आनन्द प्राप्ति की कामना की है। ग्रन्थ रचना के प्रेरक चौधरी देवराज के पूर्वज करमचन्द चौधरी का परिचय देने के उपरान्त गुरु के प्रति कृतज्ञता और अपनी अल्पज्ञता का भी उल्लेख किया है। ग्रन्थ समाप्ति तिथि सवत् १५७६ चैत्र शुक्ला पञ्चमी शनिवार बताई गई है। कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति कामना प्रकट करते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया है कि—"तैल, जल और शिथिल बन्धन से ग्रन्थ को बचाइए। इसे मूर्ख के हाथ में न दीजिए।"

प्रभारी एवं शोध सहायक
जैन शिक्षा सस्थान
जिला सवाई माधोपुर (राज०)

सम्यक्त्व प्राप्ति यत्न साध्य है या सहज साध्य है ?

□ श्री बाबू लाल जैन

अर्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर सम्यक दर्शन होता है अथवा सम्यक दर्शन होने पर अर्ध पुद्गल परावर्तनकाल शेष रह जाता है। प्रायः करके हमारे समाज में, विद्वानों में एव त्यागियों में यही मान्यता प्रचलित है कि जिसका अर्ध पुद्गल परावर्तन काल मोक्ष प्राप्ति मे शेष रहता है उसी के सम्यक प्राप्त करने की योग्यता होती है। अगर संसार ज्यादा है तब सम्यक्दर्शन प्राप्त नही होगा। कितना ही पुरुषार्थ करे परन्तु काल अधिक है तब सम्यक दर्शन नही होगा। इससे मालूम देता है कि सम्यक्-दर्शन पुरुषार्थ प्रधान नही है परन्तु काल लब्धि के आधीन हैं। वह काल लब्धि कब आवेगी यह मालूम नही। उसके पहले पुरुषार्थ करने से कोई फायदा नही है। इस विषय पर विचार करना जरूरी है। कोई भी कर्म ७० कोडा-कोडी सागर से ज्यादा स्थिति वाला नहीं होता है इससे भी यह बात नही समझी जा सकती है कि इस जीव की काल लब्धि अभी आयी है या नही। इसके अलावा फिर और कोई उपाय रहा ही नही कि जिससे यह समझा जा सके कि मोक्ष प्राप्ति में अभी अर्ध पुद्गल परावर्तन से काल ज्यादा है या समय के भीतर है। भगवान सर्वज्ञ और आचार्य सभी जीवों को सम्यक प्राप्ति का उपदेश देते हैं। वहाँ यह नहीं कहते कि अमुक जीव को अभी पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए क्योंकि अभी अर्ध पुद्गल भी परावर्तन काल से मोक्ष प्राप्ति में काल ज्यादा है।

इस विषय में श्री धवला जी और जय धवला जी में निम्न विषय मिलता है—

षट् खण्डागम प्रथम खण्ड पु० ५ सूत्र ८

उवसम सम्मत्तं पडिवण्ण पढम समए अणंतो संसारो छिण्णो अद्ध पोग्गल परियट्टमत्तो कवो।

अर्थ उपसम सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथम समय मे अनन्त संसार को छिन्न कर अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र किया।

इसी प्रकार का कथन सूत्र ११ एवं १५ में भी है। श्री जयधवला—कषायपाहुड गाथा ४२ शंका २६० पन्ना २५३।

समाधान—जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीनों कारणो को करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और इस प्रकार जिसने अनन्त संसार को छेदकर संसार के रहने के काल को अर्ध पुद्गल परिवर्तन प्रमाण किया।

यह कथन युक्तियुक्त मालूम होता है। मिथ्यादृष्टि का संसार अनन्त है अर्थात जिसका अन्त नहीं है क्योकि कर्म का उदय आयेगा नया बंध होता जायेगा और फिर उसका उदय आ जायेगा इस प्रकार चलता ही रहेगा। अन्त नहीं होगा। परन्तु जब यह सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब सम्यक्त्व प्राप्त करने के प्रथम समय में इसका अन्त पाने—जिसका अन्त नहीं था वह ससार अर्ध पुद्गल परि-वर्तन मात्र रह जाता है। इसलिए हरेक सज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। सम्यक्त्व प्राप्त करना पुरुषार्थ आधीन है।

कुछ रोज पहले पू० आचार्य विद्या सागर जी से भी चर्चा हुई थी उन्होंने भी इसी बात को पुष्ट किया है। विद्वानों और त्यागियों से निवेदन है वे इस बात का विचार करें।

२/१० अन्सारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

एक अप्रकाशित कृति अमरसेन चरिउ

□ डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम. ए. पी-एच. डी.

प्रस्तुत कृति का सामान्य परिचय अनेकान्त वर्ष ३७ किरण ४ में प्रकाशित किया गया है। ग्रन्थकार और ग्रंथ के प्रेरक का परिचय प्रस्तुत करने के बाद प्रस्तुत लेख में ग्रन्थ की विषयवस्तु का अंकन करना लेखक का ध्येय है।

रचयिता पण्डित माणिक्कराज ने सम्पूर्ण कृति में मुनि अमरसेन का जीवनवृत्त अकित किया है। उन्होने इसे सात परिच्छेदों में विभाजित करते हुए प्रथम परिच्छेद के आदि मे चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करके उनकी वाणी हृदयङ्गम करते हुए गौतम गणधर तथा उनकी परम्परा में हुए मुनियो की स्तुति पूर्वक अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। अनन्तर ग्रन्थ के प्रेरक चौधरी देवराज के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। दुर्जन और सज्जनों के स्वभाव का अकन करने के बाद मूल कथा आरम्भ हुयी है।

राजा श्रेणिक महावीर के समवशरण में जाकर गौतम गणधर से ग्वाल-बाल का भवान्तर पूछते है। उत्तर मे अमरसेन वइरसेन युगल भाइयो के पूर्वभव का अकन इस परिच्छेद की विषय-वस्तु है। ये दोनो भाई पूर्वभव मे भरतक्षेत्र मे ऋषभपुर नगर के निवासी अभयकर सेठ के धण्णंकर पुण्णकर नामक कर्मचारी थे। ससार से उदासीन होकर उन्होने ब्रह्मचर्य धारण कर लिया था। उनके धार्मिक स्नेह को देखकर सेठ अभयकर उन्हे स्नान कराकर जिन मन्दिर ले जाता है। पूजा के लिए वह सेठ अपनी द्रव्य इन दोनो भाइयो को देता है किन्तु वे द्रव्य नहीं लेते। मुनिराज के समझाने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हैं। उनके पास पाँच कौडियां थी जिनसे पूजन सामग्री लेकर वे भाव पूर्वक जिनेन्द्र की अभिषेक पूर्वक पूजा करते हैं।

घर आने पर सेठानी उन्हें सरस स्वादिष्ट भोजन परोसती है। दोनों भाई आहार आहारदान में देने की इच्छा से मुनियों का स्मरण करते हैं। अपने पुण्य योग से चारण मुनियों का आगमन देख वे हर्षित हुए, उन्होंने आहार दिया। मुनि आहार लेकर अपने यथेष्ट स्थान की ओर गमन कर जाते हैं।

द्वितीय परिच्छेद

चारण मुनियों के आहार लेकर चले जाने के पश्चात् सेठ अभयकर दोनों भाइयों से भोजन के लिए निवेदन करता है किन्तु दोनों भाई चतुर्विध आहार का त्याग कर देते हैं। सेठ प्रीतिभोज में सम्मिलित होने के लिए आग्रह करता हैं किन्तु दोनों भाई स्वीकृति नही देते। अन्त में निराहार रहते हुए नमस्कार मंत्र जपते-जपते समाधिपूर्वक शरीर त्याग सनत्कुमार स्वर्ग मे देव हुये।

वहां से चयकर दोनों भाई जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र के कलिंग देश मे विद्यमान दलवट्टण नामक नगर के राजा सूरसेन और रानी विजयादेवी के अमरसेन वइरसेन नामक युगल पुत्र हुए। हस्तिनापुर का राजा सूरसेन का मित्र था। अमरसेन वइरसेन हस्तिनापुर मे ही जनमें और युवा हुए। हस्तिनापुर का राजा देवदत्त सूरसेन नृप के निकट जाता है इधर अमरसेन वइरसेन के सौन्दर्य को देखकर राजा देवदत्त की रानी देवश्री सूरसेन के पुत्रो पर मुग्ध हो जाती है। वह अमरसेन वइरसेन से अपना मनोरथ भी प्रकट करती है किन्तु सफलता न मिलने पर अपने शील भंग करने का आरोप लगाकर राजा देवदत्त से उन्हें मार डालने का आदेश करा देती है।

चाण्डाल कुमारों को बचा लेते है। वे कुमारों को ऐसे स्थान में चले जाने के लिए कहते हैं जहाँ राजा देवदत्त न पहुंच सके। कुमार चले जाते हैं। इधर चांडाल दो कृत्रिम नरमुण्ड राजा को देकर कुमारों के मारे जाने की सूचना द देते हैं।

अमरसेन वइरसेन दोनों भाई जंगल में थककर एक

वृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं। वृक्ष का निवासी यक्ष दम्पत्ति मुग्ध होकर इनकी सहायता करते हैं। यक्ष लाकर इन्हें दो आम्र फल लाकर नीचे गिराता है जिनमे बडा फल सात दिन में राज्य प्राप्त कराने वाला था और छोटा फल भक्षक को नित्य पांच सौ रत्नदायी। फलों के रहस्य को ज्ञातकर छोटा फल वइरसेन विधिपूर्वक खाकर पाँच सौ रत्न प्राप्त करने लगता है और बडा फल अमरसेन को देकर उसके रहस्य की प्रतीक्षा करता है।

तृतीय परिच्छेद

वइरसेन भाई अमरसेन से भोजन सामग्री लाने के लिए 'कंचनपुर जाता हू" कहकर चला जाता है। इधर कचनपुर नरेश का मरण हो जाने तथा योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में "हाथी जिसका अभिषेक करे वही नगर का नृप ह' इस निश्चय से हाथी नगर मे घुमाया जाता है। वह वन मे जाकर सोये हुए अमरसेन का अभिषेक करता है। अमरसेन कचनपुर के राजा घोषित होते हैं। उधर वइरसेन कंचनपुर जाकर एक वेश्या के चक्कर मे पड जाता है। वह अमरसेन के पास लौट नही पाता। अमरसेन बहुत खोज कराते हैं किन्तु प्रच्छन्न वेश मे रहने से वे इसे खोज नहीं पाते।

वेश्या लोभाकृष्ट होकर वइरसेन का धन ले लेना चाहती है। वह वइरसेन से उसकी धन प्राप्ति का रहस्य ज्ञातकर और उससे आम्रफल लेकर घर से हाथ पकडकर निकाल देती है। वइरसेन बार-बार मुंह धोता, कुरले करता किन्तु रत्न नही गिरते। वह हताश होकर सोचता है कि स्त्रियों को गुप्त भेद प्रकट न करे। उसे चारुदत्त, यशोधर मुनि, गोपवती, रक्तादेवी आदि के इस सम्बन्ध में उदाहरण याद आते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

वइरसेन नगर के बाहर एक मन्दिर मे आता है। दैवयोग से उसी मन्दिर मे चार चोर किसी योगी की साधना से प्राप्त कथरी, लाठी और पांवड़ी तीन वस्तुए चुराकर आते हैं। वस्तुओ के बटवारे को लेकर झगडते हुए उन चोरों से वइरसेन झगडे का कारण पूछता है तथा चोरों से तीनों वस्तुओं के गुण ज्ञात कर बटवारे का आश्वासन देकर जैसे ही वस्तुएँ हाथ में लेता है कि पाँवड़ी पैर मे पहिन वह कंचनपुर आ जाता है, चोर हाथ मलते रह जाते हैं।

वइरसेन की वेश्या से पुन: भेंट हो जाती है। वेश्या इसकी पाँवडी लेना चाहती है। वह इसे ठगने के लिए छलपूर्वक मन्मथ मन्दिर के दर्शन कराने के लिए आग्रह करती है। वइरसेन जैसे ही वेश्या को लेकर वहां जाता है कि वेश्या इसे मन्दिर में छोड पाँवडी पहिन कर कंचनपुर आ जाती है। मन्दिर में उसी समय एक देव दर्शनार्थ आता है। वइरसेन की व्यथा सुनकर वह उसे पन्द्रह दिन बाद पुन: आकर यथा स्थान ले जाने का वचन देता है। जाते समय पश्चिम की ओर गमन न करने के लिए कह कर चला जाता है। वइरसेन उत्सुकता वश उस ओर जाता है। एक वृक्ष के फूल को सूघते ही वह गधा बन जाता है। देव यथा समय आकर और इसे मनुष्य का रूप देकर चलने के लिए आग्रह करता है किन्तु यह देव को पाँच दिन बाद पुन: आने के लिए निवेदन करता है। देव स्वीकृति प्रदान कर जैसे ही जाता है कि वइरसेन दोनो वृक्षों के फल पृथक्-पृथक् रख लेता है और पाँच दिन बाद देव के आने पर उसकी सहायता से कंचनपुर आ जाता है।

वेश्या इसे देखकर कृत्रिम पश्चाताप प्रकट करती है। वइरसेन वेश्या को छलने की दृष्टि से अपने लाये हुए फूल के सम्बन्ध मे वेश्या से कहता है कि जो इन्हे सूंघता है वह युवा हो जाता है। वेश्या इन फूलो को सूघने की इच्छा प्रकट करती है और वइरसेन जैसे ही उसे फूल सुंघाता है कि वेश्या गधी बन जाती है। वइरसेन अपने साथ किए गए कपट व्यवहार का प्रतिफल देने की दृष्टि से उसे मार मार कर नगर मे घुमाता है। वेश्य के कुटुम्बी विरोध करते हैं किन्तु उनकी एक नहीं चलती। वे हताश होकर राजा से निवेदन करते है। राजा अपनी सेना भेजता है किन्तु लाठी के प्रहार से यह सेना को भी पराजित कर देता है। अन्त मे राजा स्वय आक्रमण करता है। वह जैसे ही वइरसेन को देखता है कि उसे हृदय से लगा लेता है। वइरसेन भी बड़े भाई अमरसेन से मिलकर प्रसन्न हो जाता है।

पञ्चम परिच्छेद

अमरसेन कुशलता पूछने के बाद वइरसेन से वेश्या के गधी बनाए जाने का कारण पूछते हैं। वइरसेन उत्तर देते हुए कहता है कि इस वेश्या ने मुझे छला है। कपट पूर्वक इसने मेरा आम्रफल तथा पाँवड़ी ली है। अमरसेन वइर-सेन से ऐसा ज्ञात कर वेश्या से अपनी वस्तुयें लेने और उसे मनुष्य रूप देने के लिए कहता है। वइरसेन गधी को वेश्या बनाकर अपनी वस्तुयें ले लेता है। वइरसेन को युवराज पद दिया गया। अमरसेन वइरसेन दोनों भाई एक दिन चारण युगल मुनियों को आहार कराते है। आहार कराते हुए उन्हें अपने पूर्वभव का स्मरण होता है। उन्हें याद आता है कि पूर्वभव मे वे धण्णकर पुण्णकर नाम के कर्मचारी थे, उन्होने मुनियों को आहार कराकर उनसे धर्मोपदेश सुना था। इस भव मे मुनि से अपने पूर्व-भव तथा सौतेली माँ के दोषारोपण सम्बन्धी कारण ज्ञात कर दोनों भाई नगर में आते हैं। यहा आकर उन्होने चतुर्विध दान दिया; कुआं, बावली, सरोवर तथा मन्दिर निर्मित कराये। आचार्य देवसेन से दोनों दीक्षित हुए। बारह प्रकार का तप करते हुए वे विहार करते है। राजा देवसेन और रानी देवश्री इन दोनों अमरसेन वइरसेन मुनियों के दर्शनार्थ आते है।

अमरसेन राजा देवसेन को सम्यग्दर्शन और उसके प्रथम कारण पूजा का महात्म्य समझाते हुए कहते हैं—कुसुमावलि और कुसुमलता दोनों बहिनें जिनेन्द्र पूजा के लिए पुष्प चयन करते समय सर्प द्वारा काटे जाने से मर-कर पूजा के भाव स्वरूप स्वर्ग मे देवाङ्गनायें हुयी। पूजा की अनुमोदना करने से प्रीतिंकर यक्षाधिपति हुआ था तथा कुछ भवों के उपरान्त उसने मोक्ष भी प्राप्त किया।

षष्ठ परिच्छेद

मुनि अमरसेन राजा देवसेन के लिए पूजा के फल से मेंढक के देव होने का वृत्तान्त सुनाते हुए कहते है राजन्! पूर्वभव मे मेढक राजगृही नगरी का नागदत्त नामक सेठ था। भयदत्ता नाम की उसकी सेठानी थी। नागदत्त आर्त-ध्यान से मरकर मेढक हुआ। पूर्व स्नेह के कारण वह भयदत्ता का आंचल पकड़ता है, जहाँ वह जाती उसके आगे आगे उछलता है। भयदत्ता पानी लेने नहीं जाती। एक दिन वह सुव्रत मुनि से मेंढक की इस वृत्ति का कारण पूछती है—"मेंढक तेरा पूर्वभव का पति है, इसीलिए वह तेरे आगे आगे चलता है।" मुनि द्वारा यह रहस्य प्रकट करते ही भयदत्ता का मेंढक के प्रति स्नेह बढ़ जाता है। वह उस मेंढक को वहां से लाकर अपनी बावली में रखती और जिनेन्द्र भाषित दश धर्म की शिक्षा देती है। एक दिन राजा श्रेणिक महावीर के समवसरण-दर्शन के लिए घोषणा कराते हैं। नगरवासियों के साथ सोत्साह यह मेंढक भी मुँह मे कमल की एक पांखुड़ी दबाकर जिनेन्द्र की पूजा के लिए जाता है। मार्ग में संकीर्णता देखकर वह हाथी के नीचे अपनी सुरक्षा समझ कर चलने लगता है कि चलते चलते वह हाथी के पैर तले आकर मर जाता है। मरणकाल में पूजा के शुभ भाव रहने से वह मेंढक मरकर देव हुआ।

अमरसेन मुनि कहते हैं हे राजन! इसी प्रकार कुसु-माञ्जलि व्रत का महात्म्य है। इसकी साधना से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। मदनमञ्जूषा स्वर्ग गयी और चक्रवर्ती रत्नशेखर तथा उसका सेनापति घनवाहन दोनों मुनि व्रत धारण कर तप करते हुए कर्म-विनाशकर मोक्ष गये। रत्नशेखर राजा वज्रसेन और रानी जयावती का पुत्र था। विद्याधर घनवाहन से उसकी प्रीति हो गयी थी। घनवाहन के साथ रत्नशेखर अढ़ाई द्वीप की यात्रा करता है।

सिद्धकूट जिनालय में पूजा करते समय उसे मदन-मञ्जूषा नामक कन्या दिखाई दी। मदनमञ्जूषा भी इसे देखकर कामाक्रान्त हुई। वह इसे अपने घर ले जाती है और अपने पिता से अपनी मनोव्यथा प्रकट कर देती है। पिता स्वयंवर रचाते है और स्वयंवर में इसका विवाह रत्नशेखर से कर देते हैं।

घनवाहन के चारणमुनि अमितगति से रत्नशेखर की मदनमञ्जूषा मे हुई प्रीति का कारण जानने की इच्छा व्यक्त करने पर मुनि कहते हैं कि आप तीनों का पूर्वभव से सम्बद्ध है। मंगलावती के राजा जितशत्रु का श्रुतकीर्ति नामक एक पुरोहित था। प्रभावती उसकी पुत्री थी। श्रुतकीर्ति मुनि हो गये थे। प्रभावती की माँ सर्प के काटने से मर गई थी। मोहवश श्रुतकीर्ति अपने पद से च्युत हुए। प्रभावती ने उन्हें सत्पथ पर स्थिर रखने के लिए

बहु प्रयत्न किये। वह विरक्त हो गयी। श्रुतकीर्ति विद्या भेजकर प्रथम तो उसे अपने निकटवर्ती वन में लाया अनन्तर विद्या के द्वारा उसे कैलाश पर्वत पर भिजवाया। वहाँ प्रभावती की देवी पद्मावती से भेंट हुई। पद्मावती ने कुसुमाञ्जलि व्रत की विधि एवं फल का निरूपण करते हुए यह व्रत प्रभावती को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया, अतः व्रत धारण करते हुए मुनि त्रिभुवनचन्द से अपनी आयु तीन दिन मात्र की शेष ज्ञात कर इसने महा-तप भी धारण कर लिया। श्रुतकीर्ति ने विद्या भेजकर इसका तप भंग करना चाहा किन्तु विद्या के अनेक उपसर्ग करने पर भी उसे योग से विचलित न कर सकी। प्रभा-वती संन्यास पूर्वक देह त्याग अच्युत स्वर्ग में पद्मनाथ नामक देव हुई और स्वर्ग से चयकर रत्नशेखर। प्रभावती का पिता धनवाहन और माता मदनमञ्जूषा हुयी है।

सप्तम परिच्छेद

राजा देवसेन से मुनि अमरसेन कहते हैं—हे राजन्! त्रिलोक मण्डल हाथी की प्रसिद्धि और भवन की सिद्धि में कुसुमाञ्जलि पूजा ही एक हेतु है। केवली देशभूषण ने बताया था कि कई भवपूर्व भरत और त्रिलोकमण्डन हाथी सूर्योदय और चन्द्रोदय नामक सहोदर थे। विशुद्ध तप को त्याग दोनों राज्य संचालन में रत हुए। आर्तध्यान से मर कर स्त्रीपर्याय में भ्रमण करने के बाद चन्द्रोदय गजपुर नगर में कुलंकर नाम से उत्पन्न हुआ और सूर्योदय गजपुर नगर के मंत्री विश्वास का श्रुति नामक पुत्र। दोनों मर-कर तिर्यंच योनि में भ्रमण करने के बाद राजगृही नगरी में एक ब्राह्मण के पुत्र हुए। बड़े का नाम विनोद और छोटे का नाम रमण रखा गया। विनोद और रमण मर-कर मृग हुए। राजा स्वम्भूति इन दोनों हिरणों को शिकारी के पास से ले जाकर जिन मन्दिर के समीप बांध देता है। हिरण भाव पूर्वक जिनेन्द्र की पूजा सुनते हैं। पूजा के भावों के साथ मरकर रमण का जीव हिरण स्वर्ग में देव हुआ और विनोद का जीव तिर्यञ्च योनि में भ्रमण करने के बाद धनद नामक वैश्य हुआ। रमण का जीव स्वर्ग से चयकर इसी वैश्य का भूषण नामक पुत्र हुआ। वन में सर्प के काटने से मरकर भूषण माहेन्द्र स्वर्ग में देव होने के बाद भोगभूमि में उत्पन्न हुआ। भोगभूमि से स्वर्ग गया और स्वर्ग से चयकर चक्रवर्ती अचल का अभिराम नामक पुत्र हुआ। अनन्तर श्रावक के व्रत धारण करते हुए देह त्याग कर ब्रह्मोत्तर स्वर्ग गया। इधर पूर्व-भव सम्बन्धी इसका पिता धनद वैश्य विभिन्न योनियों में भ्रमण करने के बाद पोदनपुर नगर में अग्निमुख ब्राह्मण का मृदुमति नामक पुत्र हुआ।

मृदुमति वेश्या में आसक्त होकर अपना सम्पूर्ण धन का नाश कर देता है। धन के अभाव में दुखी होकर वह चोरी करने लगता है। एक दिन वह राजमहल में चोरी करने गया। रात्रि मे वह राजा की रानी के साथ हो रही बातों को सुनता है। राजा रानी से कह रहा था कि रानी प्रातः होते ही मैं तप ग्रहण करूँगा, रानी कहती है कि मैं भी दीक्षित हो जाऊँगी। संसार में कुछ भी तो सार नहीं है। मृदुमति राजा रानी के विचारों से प्रभावित होकर प्रातः महाव्रत धारण करने का निश्चय कर लेता है तथा प्रातः होते ही तीनों दीक्षित हो गये।

मृदुमति विहार करता हुआ एक ऐसे नगर पहुंचा जहाँ कोई गुणनिधि नामक चारण मुनि विराजमान थे। उनके मासोपवासों से नगर के लोग अधिक प्रभावित थे। गुणनिधि ने योग पूर्ण कर जैसे ही गजपुर के लिए विहार किया कि मृदुमति मुनि उस नगर में आये। चर्या के लिए उनके निकलते ही श्रावकों ने बार बार प्रश्न किया कि क्या आप वही मासोपवासी मुनि हैं? इस प्रश्न का मुनि मृदुमति ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे मौन रहे। उन्होने यथार्थ स्थिति प्रकट नहीं की। इस कपट व्यवहार के कारण मृदुमति मुनि तप के प्रभाव से ब्रह्म स्वर्ग मे उत्पन्न तो हुए किन्तु वहाँ से चयकर त्रिलोकमण्डन हाथी हुए हैं तथा अभिराम का जीव स्वर्ग से चयकर भरत हुआ है।

इस प्रकार अपना भवान्तर सुनकर भरत ने दीक्षा ग्रहण की, कैकेयी ने तप धारण किया, राम ने अणुव्रत धारण कर त्रिलोकमण्डन को भी धारण कराए। इसी कुसुमाञ्जलि पूजा के फलस्वरूप ग्वाल करकण्डु नामक राजा हुआ।

(शेष पृ० १३ पर)

क्या मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है

□ डा० कुसुम पटोरिया

मूलाचार दिगम्बर परम्परा में मान्य मुनि-आचार का प्रतिपादक ग्रन्थ है। धवलाकार आचार्य वीरसेन, ने इसका आचारांग के नाम से उल्लेख किया है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि मुनि ने अपनी वृत्ति मे इसे वट्टकेर/वट्टकेरि प्रणीत बताया है, परन्तु मूलाचार की कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे इसे कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत कहा गया है, जिससे वट्टकेरि और कुन्दकुन्द को एक मानकर कुछ विद्वानों ने इसे आचार्य कुन्दकुन्दप्रणीत माना था।[1] प्रारम्भ मे पण्डित परमानद शास्त्री ने इसे सग्रह ग्रंथ माना था,[2] पर बाद में इसे मौलिक ग्रन्थ स्वीकार किया है।[3]

यद्यपि यह सत्य है कि मूलाचार और आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं मे अनेक गाथाएं समान है, उदाहरण के लिए मूलाचार का द्वादशानुप्रेक्षाधिकार तथा आचार्य कुंदकुंद की द्वादशानुप्रेक्षा को देखा जा सकता है, परन्तु ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ अनेक स्थलो पर आचार्य कुन्दकुन्द की विचारधारा से मेल नही खाता।

वस्तुत: यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा का है। यद्यपि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने 'वट्टकेरि का मूलाचार' निबन्ध में इस पर सप्रमाण ऊहापोह किया है, परन्तु फिर भी विद्वान् मूलाचार नाम ही इसे मूलसघ का ग्रन्थ मानते हैं। पं० परमानद जी शास्त्री ने 'वट्टकेराचार्य और मूलाचार' निबन्ध में यही प्रतिपादित किया है।[4]

अत: क्या मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है, इस पर पुन: विमर्श आवश्यक है।

दशस्थितिकल्प :

मूलाचार मे मुनियों के दशस्थिति कल्प की प्रतिपादक गाथा निबद्ध है।[5] यह गाथा भगवती आराधना (४२१), जीतकल्पभाष्य (गा० १९७२) तथा अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थो में मिलती है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के स्त्रीमुक्तिविचारप्रकरण में इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्तके रूप मे ही किया है।[6]

ये दश श्रमणकल्प है आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्याधरपिंडत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, पुरुषज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषण। इनमें से शय्याधरपिण्ड तथा राजपिण्ड त्याग का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में कहीं प्राप्त नहीं होता। शय्याधर का अर्थ है वसतिका बनवाने सुधरवाने या देने वाला। इस शय्याधर के पिण्ड का त्याग मुनि के लिए आवश्यक कल्प (नियम) है। परन्तु पं० सदासुख जी भगवती-आराधना पर अपनी वचनिका में इसका अर्थ 'स्त्री-पुरुषो के क्रीडा का स्थान' करते हैं, इसका कारण दिगम्बर परम्परा में दशस्थिति कल्प का उल्लेख नहीं है।

ये दोनो उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द की विचारधारा के प्रतिकूल हैं, क्योकि उन्होने बोधपाहुड (गाथा ४८) मे स्पष्ट रूप से कहा है—

उत्तममज्झमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पवज्जा एरिसा भणिया॥

अर्थात् उत्तम और मध्यम घरो मे दरिद्र अथवा ऐश्वर्यशाली के घर सर्वत्र समान भाव से अन्न ग्रहण करना चाहिए। इस स्थिति में पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का यह कथन 'कि दस कल्प तो दिगम्बर परम्परा के प्रतिकूल नहीं , किन्तु अनुकूल ही है,[7] उचित नहीं है।

आहार और औषधि से मुनि द्वारा मुनि की वैयावृत्ति :

मुनि द्वारा मुनि के वैयावृत्य का वर्णन करते हुए कहा गया है—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गिदे।
आहारोसहवायणविकिचणुव्वत्तणदीसु॥ (गाथा ३९१)

अर्थात् शय्या, स्थान, आसन, उपधि, प्रतिलेखन, आहार, औषधि वाचन, उठाना-बैठाना आदि क्रियाओं में वैयावृत्य करना चाहिए।

अन्यत्र समाचार अधिकार में 'अच्छे वेज्जावच्चं' आदि १७४वीं गाथा की टीका में आचार्य वसुनन्दि ने वैयावृत्ति का अर्थ शारीरिक प्रवृत्ति और आहारादि से उपकार करना लिखा है—'वेज्जावच्चं—वैयावृत्यं कायिकव्यापाराहारादिनिरुपग्रहणम्।'

समाचाराधिकार में ही अन्यत्र भी कहा गया है—

सुहदुक्खे उवयारो वसही आहारभेसजादीहिं
तुम्हं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ॥ ४।२१

अर्थात् सुख और दुःख में वसति, आहार और भेषज आदि द्वारा उपकार करना तथा मैं आपका हूं, इस प्रकार के वचन सुखदुःख में उपसंपत् हैं।

यह विचारधारा आचार्य कुन्कुन्द की विचारधारा के विपरीत है। प्रवचनसार में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०

अर्थात् यदि वैयावृत्य करने में उद्यम श्रमण काय को खेद पहुचाकर वैयावृत्य करता है, तो वह श्रमण नही है। काय को क्लेश पहुंचाकर वैयावृत्य करना श्रावकों का धर्म है।

उनके मत से श्रमण दो प्रकार के होते है—शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी। अरहतादि की भक्ति, प्रवचन मे अभियुक्तो के प्रति वात्सल्य, वंदन, नमस्कार, अभ्युत्थान, (गुरुओं के आदर के लिए खड़े होना) अनुगमन आदि मे प्रवृत्ति शुभोपयोगी के लिए निन्दनीय नहीं है। शुभोपयोगी साधु दर्शन-ज्ञान का उपदेश करते है, शिष्यो का संग्रह एवं पोषण करते हैं तथा जिनेन्द्रपूजा का उपदेश देना है। यह चर्या सरागी साधु की है। जो चातुर्वर्ण श्रमणसघ का कायविराधना से रहित होकर उपकार करता है, तो उसका यह आचरण भी राग की प्रधानता से शुभोपयोग है। परन्तु जो काय की विराधना करके वैयावृत्य करता है, वह तो शुभोपयोगी श्रमण का भी आचरण नहीं है, वह तो गृहस्थ का धर्म है।

उपाश्रय में भिक्षा लाकर भोजन न करने के संकेत :

मूलाचार में समाचाराधिकार तथा समयसाराधिकार मे दो बार एक गाथा प्राप्त होती है—

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खवोसरणे ॥

अर्थात् साधुओं का आर्यिकाओं के उपाश्रय में ठहरना युक्त नहीं है। वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार; भिक्षा, व्युत्सर्ग आदि उचित नहीं है।

चौथे अध्याय में इसकी टीका मे आहार और भिक्षा का भेद करते हुए कहा गया है कि आर्यिकाओं का बनाया हुआ भोजन आहार तथा श्रावकों की दी हुई भिक्षा है। आर्याओं के समाचार में उन्हें रोदन, स्नापन, भोजन-पचन आदि षट्विध आरभ तथा साधुओं के पादप्रक्षालन आदि न करने के लिए कहा गया है—

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्त च छव्विहारंभे
विरदाणं पादमक्खणधोवणगेय च ण य कुज्जा ॥ ४।६८

आर्यिकाओं का समाचार :

आर्यिकाओ के लिए भी वही यथाख्यात समाचार बताया गया है, जो मुनियो के लिए है। वे मुनि और आर्यिका को एक श्रेणी मे रखते हैं, उनके व्रतो को उपचार से महाव्रत नही मानते। आगे स्पष्ट कहा है—

एव विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्ज कित्ति सुह च लद्धूण सिज्झंति ॥ ४।१७१

अर्थात् इस प्रकार आचरण करने वाले साधु व आर्या दोनों जगत्पूज्य होकर कीर्ति व सुख प्राप्त करके सिद्ध होते है।

स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख दिगम्बर परम्परा बिलकुल प्रतिकूल है, फिर भी इसे मूलसंघ के आचार्य की कृति मानना दुराग्रह ही कहा जाएगा।

तीर्थङ्करों के धर्म में अन्तर का उल्लेख :

मूलाचार में कहा गया है कि—

बावीसं तित्थयरा सामाइयसयमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥

अर्थात् बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश

दिया है, भगवान वृषभ तथा वीर ने छेदोपस्थापना का।

इनके धर्म में दूसरा अन्तर यह है कि वृषभ व वीर के धर्म प्रतिक्रमण सहित है, जबकि मध्यम तीर्थंकरों के काल में अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता था।

सपडकम्मो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमण मज्झिमयाण जिणवराण ॥ ६।१२९

यह अन्तर आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे या उनकी परम्परा में कही नहीं कहा गया।

ये दोनो गाथाएं भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति मे हैं।

अशुचित्व के स्थान पर अशुभत्व अनुप्रेक्षा का कथन :

यद्यपि संग्रह-गाथा मे अशुचित्व का नामोल्लेख है (८।२) पर वर्णन करते समय सर्वत्र अशुभ की चर्चा है। संभवता संग्रह गाथा में भी असुहत्तं ही होगा, क्योकि इसकी संस्कृत छाया मे अशुभत्वम् ही है। टीका मे भी मूल शब्द अशुभत्व ही मानकर उसका अर्थ अशुचित्व किया गया है। अन्यत्र जहां अशुभ अनुप्रेक्षा के वर्णन में पांच गाथाओं में अशुभ शब्द का ही प्रयोग है।

दश अनगार भावना :

अनगारभावनाधिकार नामक नवमे अधिकार मे साधुओं की दश भावनाओं का वर्णन है। ये दस भावनाएं हैं लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान उज्झन, वाक्य, तप और ध्यान की शुद्धि। उज्झनशुद्धि का अर्थ है शरीर से ममत्व का त्याग। इन अनगारभावनाओ अथवा अनगार-सूत्रों का उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में भी मिलता है। वहां इस ३५वें अध्ययन का नाम अनगारमार्गगति है।

समयसाराधिकार :

मूलाचार के एक अध्याय का नाम समयसार अधिकार है। इसमें भी साधुओं के मूलगुण, उत्तरगुण रत्नत्रय तथा भिक्षा आदि की शुद्धि का ही वर्णन है। कहा गया है वैराग्य पर साधु थोड़े से शास्त्रज्ञान से ही सिद्ध हो जाता है। उसके लिए उपदेश है—

भिक्खं चर, वस रण्णे, थोव जेमेहि मा बहू जंप।
दुख सह, जिण णिद्दा मेत्ति भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥ १०।४

ज्ञान, ध्यान, केशलोच, व्युत्सृष्टशरीरता, प्रतिलेखन, दशस्थितिकल्प, मूलगुणों का पालन करना चाहिए। यात्रा-साधनमात्र आहारग्रहण करना चाहिए। गिरिकंदरा आदि में निवास करना चाहिए। आर्यिकाओं के उपाश्रय में अनावश्यक नही जाना चाहिए। सगतित्याग करना चाहिए। इस प्रकार इस अधिकार मे पुनरुक्तियां हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार से इसका विषय भिन्न है।

प्रवर्तक और स्थविर पदों के उल्लेख :

मूलाचार मे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणधर ये पांच पद बताए गये है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य व उपाध्याय इन दो पदो का ही उल्लेख एवं विवरण मिलता है। तीर्थङ्करों के बचनों को गुम्फित करने वाले उनके साक्षात् शिष्य गणधर कहे गये है।

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पञ्च आधारा।
आइरियउवज्झायापवत्तथेरा गणधरा य ॥ ४।३१

यापनीय सकलित आगम को मानते है तथा स्त्रीमुक्ति के समर्थक है। उपर्युक्त उल्लेखो से उनके श्वेताम्बर आगमों का समर्थन प्रमाणित होता है साथ ही स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख है। अत: मूलाचार यापनीय ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। लोग शोध करें कि वास्तविकता क्या है?

आजाद चौक सदर नागपुर

सन्दर्भ-सूची

१. अनेकांत वर्ष १२ किरण ११ मे प्रकाशित निबन्ध 'मूलाचार की मौलिकता और उसके रचयिता,' प० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री।

२. अनेकात वर्ष २ किरण ५ मे प्रकाशित 'मूलाचार संग्रह ग्रथ है' निबन्ध।

३. अनेकांत वर्ष १२ किरण ११मे प्रकाशित निबन्ध— 'मूलाचार संग्रह ग्रंथ न होकर आचारांग के रूप ५ मौलिक ग्रन्थ है।'

४. जैन साहित्य और इतिहास द्वितीय संस्करण ५, वीर निर्वाण स्मारिका, जयपुर १९७५

५. मूलाचार गाथा ९०९

६. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० १३१

७. भगवती आराधना भाग १ जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर १९७८ प्रस्तावना पृ० ३५

जैन समाज किधर जा रहा है?

□ श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ

इन दिनों हमारे पास कुछ ऐसे पत्र, पेम्फलेट पर्चे आये हैं जिनमें जैन समाज की पतनोन्मुख अधोदशा का चित्रण है। राजस्थान व मध्य प्रदेश आदि में गत दिनों घटित कुछ घटनाओं को पढ़कर/सुनकर हमें अत्यधिक आश्चर्य, दुख और साथ ही लज्जा का अनुभव हो रहा है कि जैन समाज आज किधर जा रहा है। हम नही चाहते कि उन पर्चों/पत्रों को प्रकाशित किया जावे जिनसे समाज की हंसी उड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

धर्म क्या है—इसे लोग समझते नही सिद्धान्तानुकूल हमारी चर्या नहीं रही। समाज का नेतृत्व पूजीपतियो और व्रतियों के हाथो मे है—विद्वानो के हाथो मे नही। पैसा व्रतियों को भी अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। धनिक चाहते है कि व्रती उनका पोषण करे—उनकी यथेच्छ प्रवृत्ति को समर्थन दें। धर्म भीरू जैन समाज अन्दर ही अन्दर दुखी है आज के वातावरण से। बीसो व्यक्तियो से चर्चा वार्ता हुई वे धर्म विरुद्ध कार्यों को देखकर कहते है कि यह क्या हो रहा है। कभी जैन समाज मे ऐसा नही हुआ—पर उनमें हिम्मत नहीं, साहस नही खुलकर कहने की। उपगूहन और स्थितिकरण अग का ही सहारा पकड़े बैठे है। किन्हीं अंशों में बात सही भी है—क्योंकि जांघ उघाड़ने मे—आखिर अपनी ही तो बदनामी है। क्या चित्र होगा—इतर समाज के सामने। लेकिन बार-बार ऐसी बाते ही सामने आती हैं जिसका आपरेशन यदि नहीं हुआ तो क्या जैनत्व रह सकेगा? भगवान आदिनाथ से लेकर भ० महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने कभी धार्मिक शिथिलता के आगे सिर नहीं झुकाया। बुद्ध ने परिस्थितियों वश दया करुणा के भाव से समय-समय पर सघस्थ व्रतियों की बात पर ध्यान दिया। संघ मे कइयों ने चाहा कि भन्ते! भूख-प्यास सर्दी गर्मी सही नहीं जाती—कुछ उपाय बताइये। बुद्ध को वल्कल के उपयोग की आज्ञा देनी पड़ी। जहां भगवान बुद्ध पैदा हुए उनका धर्म फैला। पर वहाँ आज कितने हैं बुद्ध के अनुयायी और क्या है उनका धर्म। चीन जापान में बुद्ध हैं—क्या शाकाहारी हैं? मछली माँस का उपयोग वहाँ धडल्ले के साथ होता है। कहाँ रही बुद्ध की अहिंसा? उनकी दया और करुणा ने कितना चोपट कर दिया अहिंसा सिद्धान्त को। दूसरी ओर हम देखते हैं ऋषभादि महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों और उनके गणधरो, आचार्यों के उपदेश और सिद्धान्त आज भी अविच्छिन्न रूप से चले आ रहे हैं—क्यों? इसलिए कि धर्म के प्रति आस्था विश्वास और उनके पालन के प्रति कट्टरता रही—वहाँ परिस्थितिवश भी शैथिल्य नही आने दिया। इतरलोगो के द्वारा आघात सहे—पर धर्म से नही डिगे। धर्म के नाम पर ३६३ पाखंड मत भले ही बन गये हो पर जैन बड़े कट्टर थे अपने नियमों/सिद्धांतों के पालन मे। यही कारण रहा कि जैनत्व रहा। समय-समय पर परिस्थितियां विकट हुई—पर ऐसे महा मानव भी पैदा हुए जिनने धर्म को दृढ़ता पूर्वक पालने में ही योगदान किया—परवर्ती आचार्यों विद्वानों ने शैथिल्य का विरोध किया १०वी ग्यारहवीं शताब्दी तक और उसके बाद भी जैनाचार्य होते रहे हैं- जिनने धर्मत्व को समझाया। पं० आशाधरजी आदि मनीषी, तत्पश्चात् कवि बनारसी दास, प० टोडरमलजी, जयचंद जी, सदासुख जी आदि अनेक विद्वान् हुए जो महावीर के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते रहे। ४०-५० वर्ष पहले भी होने वाले पं० गोपालदासजी वरेया, प० जीवन्धरजी, पं० माणिकचंद जी न्यायाचार्य, वर्णी गणेशप्रसादजी, पं० देवकीनन्दजी, पं० रमानाथजी, पं० चेनसुखदासजी आदि कई विद्वान् उसी परंपरा के हुए जिनने निर्भीक होकर जैनत्व को समझाया, प्रचार किया। आज भी पं० बंशीधरजी बीना, पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, पं० फूलचन्दजी, पं० जगन्मोहनलालजी आदि विद्वान् हैं पर वृद्ध होचले हैं। कई तो रुग्ण

(शेष पृ० ११ पर)

श्वेताम्बर तेरा-पंथ द्वारा दिगम्बर समाज पर खुला-प्रहार

□ ले० श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

अभी हमने एक पुस्तक देखी **'बाल कहानियाँ'**। इसमें इतिहास से और आगमिक तथ्यों से हटकर दिगम्बर-मत के विषय में बहुत कुछ ऊल-जलूल मनमाने ढंग से लिखा गया है। पुस्तक आदर्श साहित्य संघ से प्रकाशित और अणुव्रत-विहार नई दिल्ली से प्राप्य है और इसके लेखक हैं—मुनि श्री कन्हैयालाल, तेरापंथी श्वेताम्बर आचार्य तुलसी के शिष्य।

पुस्तक के आलेखों में पृ० ४६० पर एक शीर्षक **'दिगम्बरमत'** के नाम से छपा है। यह आलेख जैन एकता का ढोल पीटने वाले आ० तुलसी एवं उनके तेरापथ द्वारा महान् दिगम्बर परम्परा पर खुला प्रहार ही है। यह पुस्तक बताती है कि आ० तुलसी जी अपने भक्तो मे दिगम्बर मुनि और दिगम्बर मत के प्रति किस प्रकार घृणा का भाव भर रहे हैं ? उन्होंने अबोध बालको तक में वैमनस्य के बीजारोपण करने को भी नहीं बख्शा। जबकि श्वेताम्बर परम्परा स्वयं मानती है कि भगवान ऋषभदेव तथा भगवान महावीर दिगम्बर थे।

हम श्वेताम्बराचार्यों के ग्रन्थो से दिगम्बरत्व की प्राचीनता सिद्ध करें इससे पहिले पाठकों को उस प्रसग से अवगत करा दें जो उस पुस्तक में छपा है। पाठक उतने मात्र से ही समझ जाएगे कि तेरापथी श्वेताम्बर-साधु किस प्रकार फूट के बीज बोने में लगे हैं—रसगुल्लों के नाम पर विष दे रहे हैं।

पुस्तक का अंश इस भांति है—

दिगम्बर मत

भगवान महावीर के ६०६ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, ऐसी मान्यता है। एक बुटकना नाम का साधु था। वह गुरु से बढ़कर भी अपने आपको विशेष ज्ञानी समझता था। अहम् के उच्च शिखर पर चढ़ा हुआ वह सबको निम्न समझता था। उसके पास बहुत ही मूल्यवान एक पछेवड़ी थी, उस पर ममत्व होने के कारण उसे वह अन्दर ही अन्दर रखता था, कभी भी काम में नहीं लेता था। कई वर्ष व्यतीत हो गए। ममत्व की भावना दिनों-दिन बढ़ती ही गई।

एक दिन वह गोचरी गया हुआ था गुरु ने सोचा—क्या करना चाहिए यह चेला पछेवड़ी को काम में नहीं लेता है। ममत्व रखता है। आखिर गहराई से चिंतन कर गुरु ने उस पछेवड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर सन्तो को दे दिए। वह गोचरी से वापिस आया। पता लगते ही उसके हृदय में क्रोध की चिनगारियां उछलने लगीं। गुरु के प्रति द्वेष उबलने लगा। सोचा—कपड़ा रखने वाले मुनि अपनी साधना में कभी भी सफल नही हो सकते। क्योंकि वस्त्रों पर ममत्व (मूर्छा भाव) आये बगैर नहीं रहता। अत: इस संघ में रहना उचित नही है। अलग होकर वस्त्रों का परिहार कर साधना करना श्रेयस्कर है।

चिन्तन क्रियान्वित हुआ। कपड़ो का परित्याग कर नग्न हुआ। संघ से अलग होकर साधना करने लगा। उस मुनि ने अपनी बहिन 'पालका' को भी नग्न होने के लिए प्रेरित किया। बन्धव मुनि के सकेत को वह कैसे टाल सकती थी ? उसने कपड़ो का परित्याग किया; वह नग्न बनी। लोगो मे अपवाद होने लगा। मुख-मुख पर निन्दा। जैन-समाज की निन्दा। घृणा।

अपरिमित अपवाद सुनकर मुनिवर ने चिन्तन कर अपनी बहन को लाल कपड़े पहना दिए। बाई जी के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। स्त्री कपड़े पहने बिना रह नहीं सकती, इस पुष्टि से स्त्री को मोक्ष नहीं, यह बात वायु की भांति सर्वत्र फैल गई। शास्त्रों का नया निर्माण हुआ। वस्त्र रखने वाले को मोक्ष नहीं मिल सकता। ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार होने लगा लोग इन साधुओं को दिगम्बर कहकर पुकारने लगे। आगे जाकर धीरे-धीरे वहां से दिगम्बर मत के नाम से प्रचारित हो गया।

एक बुटकने साधु ने, किया वस्त्र परिहार।
चला दिगम्बर मत तदा, उस दिन से साकार ॥"

—उक्त मनगढन्त कहानी गढ़कर लेखक ने दिगम्बरत्व पर घृणित प्रहार किया है जो सर्वथा निन्द्य है। हम श्वेताम्बर ग्रन्थों के कुछ उद्धरण दे रहे हैं जिनसे दिगम्बरत्व के सदाकाल अस्तित्व की पुष्टि होती है। तथाहि—

समणे भगव महावीरे संवत्सरं साहिय मास चीवरधारी होत्था, तेण परं अचेलए पाणि पाडिग्गहिए।'
—कल्पसूत्र, षष्ठक्षण, पृ० १५७

'तदेवं भगवता सवस्त्र धर्म प्ररूपणाय साधिकमासाधिक वर्षं यावद्वस्त्रं स्वीकृत' सपात्रधर्म स्थापनाय च प्रथमां पारणां पात्रेण कृतवान्, तत पर तु यावज्जीवं अचेलकः पाणिपात्रश्चाभूत।'—वही (सुबोधनी) पृ० १५८

'श्री महावीरदेवः कृपया चीवरार्धं विप्राय अदात्। (सः विप्रः) साधिकमासं वर्षं यात् भगवत पृष्ठमनुगच्छन् दक्षिणवाचालासन्नसुवर्णवालुकानदी तटस्थतरुकण्टके विलग्न देवदूष्यार्धं अग्रहीत्।' —कल्पसूत्र, कल्पलता पृ० १३३

उक्त अशो से स्पष्ट है कि भ० महावीर साधिकमास-वर्ष पर्यन्त चीवरधारी (सचेल) रहे और बाद मे आजीवन अचेल—(निर्वस्त्र) दिगम्बर रहे। उन्होंने आधादेवदूष्य सोमनामा ब्राह्मण को दे दिया और आधा कांटों मे उलझकर रह गया, जिसे ब्राह्मण ने उठा लिया। ऐसे में जब महावीर स्वयं दिगम्बर थे, तब दिगम्बर मत को उनके ६०९ वर्ष बाद से चला बतलाना स्व-वचन वाधित ही है—जैसे कोई पुत्र अपनी माता को वन्ध्या कह रहा हो। ऐसे में सोचना चाहिए कि लोग मनगढन्त कहानियों के आधार पर एक दूसरे पर कब तक कीचड़ उछालते रहेंगे?

श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र ने तो दिगम्बरत्व की खुलकर पुष्टि की है; उन्होंने तो कटि-सूत्र मात्र रखने वाले तक को भी नपुंसक तक कह दिया है। तथाहि—

'कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडियाइ जलमुवणेई।
सो वाहणो य हिंडइ बंधइ कटिपट्टयमकज्जे॥'—
—सबोध प्रकरण, पृ० १४

—वे केशलोंच नहीं करते, प्रतिमावहन करते शरमाते है शरीर पर का मैल उतारते हैं, पादुकाएँ पहिनकर फिरते हैं और बिना कारण कटिवस्त्र बाधते हैं: वे क्लीव हैं।
—जैन सा० और इति० पृ० ३५०

इतना ही क्यों? श्वेताम्बर तो आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के धर्म को भी अचेलक-दिगम्बर मान रहे हैं। उनमें भी आदि और अन्त के दो तीर्थंकरों को अचेल (दिगम्बर) स्वीकार किया गया है। तथाहि—

'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणो।'
—पंचाशक १२

—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर का धर्म अचेलक (दिगम्बर) था।

अब रही अचेलक शब्द के अर्थ की बात। सो अचेल का अर्थ 'ईषत्वस्त्र' करना, स्वयं में अपने को धोखा देना है। यदि कदाचित् 'ईषत्' अर्थ कर भी लिया जाय तो सोचा जाय कि महावीर के पास कौन-सा 'ईषत्' वस्त्र रह गया था? जब कि पूरा देवदूष्य दो भागों में विभक्त होकर ब्राह्मण को चला गया। इसके बाद उन्हें किसी ने कभी वस्त्र दिया हो तो प्रमाण खोजा जाय? अन्यथा यही ठीक समझा जायगा कि—अचेलक का अर्थ सर्वथा निर्वस्त्र-नग्न-दिगम्बर है और महावीर अचेलक निर्वस्त्र, दिगम्बर थे और उनके समय भी दिगम्बर-मत था। जरा, कल्पसूत्र के 'चीवरधारी' शब्द के मुकाबले में उसके विपरीत शब्द 'अचेलक' को भी गहराई से सोचिए कि—क्यों 'अचेलक' की जगह 'चीवर रहित नहीं कहा गया? जबकि महावीर सर्वथा ही चीवररहित हो गए थे। हमारी दृष्टि तो ऐसी है कि 'अचेलक' शब्द का जानबूझ कर प्रयोग किया गया, जिससे 'अ' को भ्रामक अर्थ—ईषत् में लेकर, भद्रबाहु स्वामी के समय में प्रादुर्भूतश्वेताम्बर मत को पुरातन सिद्ध किया जा सके। सभी जानते हैं कि 'अ' का प्रयोग सदा ही 'नहीं' 'सर्वथा अभाव' के लिऐ होता आया है। अस्तु,

जो भी हो, हमें समाज में औरों की भाँति, एकता के प्रदर्शन कर, एकता के नाम पर सम्प्रदायों मे काँटे बोना इष्ट नहीं। हम चाहते हैं कोई, कहीं भी, किसी प्रकार कीचड न उछाले—जो जिस मान्यता में है उसी में रहे। हम ऐसी एकता से बाज आए। आचार्य धर्मसागर महाराज ने एक बार कहा था—'दोनों एक तभी हो सकते है जब दोनों नग्न हो जायें या दोनों कपड़े पहिन ले। और ऐसा हो नहीं सकता।' फलत. सब अपने में बने रहें—कोई शान्ति रूपी अमृत में अशान्ति का विष न घोलें।

गतांक ४०/१ से आगे—

(चिन्तन के लिए)

'सिद्धा ण जीवा'—धवला

□ ले० पद्मचंद्र शास्त्री, नई दिल्ली

गतांकों में हम धवला की उक्त मान्यता की पुष्टि आगम के जिन विभिन्न प्रमाणो और तर्कों द्वारा कर चुके हैं उनमे एक सकेत यह भी है कि सिद्धो मे जीव का लक्षण उपयोग नही पाया जाता। क्योंकि शास्त्रो मे उपयोग के जो विभिन्न लक्षण मिलते है वे सभी लक्षण कर्म की क्षयोपशम दशा में ही उपयोग की सत्ता की पुष्टि मे हैं और आचार्यों का यह कथन युक्तिसगत भी है। क्योंकि उपयोग संसारी आत्मा का लगाव-रूप एक ऐसा परिणाम है जो अपूर्णदर्शन-ज्ञान यानी क्षयोपशम अवस्था मे ही संभव है। यतः—क्षयोपशम अवस्था ज्ञान-दर्शन (चैतन्य परिणाम) की अल्पता की सूचक है और अल्पता ही जिज्ञासा में कारण है और जिज्ञासा ही किसी परिणाम के उत्पन्न होने या परिणाम के परिणामान्तरत्व में कारण है। जिनके घातिया कर्मों का क्षय हो चुका हो, उनमे सर्वज्ञता के कारण समस्त तत्त्वों की त्रिकाली समस्तपर्यायें प्रकट होने से, न तो किसी परिणाम के पैदा होने का प्रसग है और ना ही परिणामांतरत्व का कोई कारण है। मानी हुई और अनुभूत बात है कि कोई भी परिणाम किसी जिज्ञासा (अपूर्णता) के पूर्ण करने के प्रसंग मे ही जन्म लेता है और सिद्धों में पूर्णज्ञान के कारण किसी जिज्ञासा की सभावना नही रह जाती, जिससे उनके उपयोग-परिणाम हो सके। कहा भी है—'संसारिण: प्राधान्येनोपयोगिनः, मुक्तेषु तदभावात्।'—राजवा० २।१०।४

उपयोग शब्द : अब जरा, उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति पर भी ध्यान दीजिए—उपयोग शब्द उप उपसर्गपूर्वक जोड़ना-जुड़ना अर्थ वाले 'युजिर्योगे' धातु से निष्पन्न है और इसकी व्युत्पत्ति है—'उपयोजनमुपयोगः, उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेद प्रति व्यापार्यंते जीवोऽनेनेत्युपयोगः, कर्मणिघञ्।' अभि० रा० पृ० ८५६, अर्थात् जिस कारण जीव वस्तु के परिच्छेद के प्रति व्यापार करता है, या वस्तु के प्रति जुड़ता है वह उपयोग है।

विचार करें कि क्या अनंतज्ञाता सिद्ध भगवान किसी विषय (वस्तु) के परिच्छेद हेतु वस्तु मे अपने ज्ञान-दर्शन की अभिमुखता, समीपता या जोड़रूपता जैसा कोई व्यापार करते या कर भी सकते है या नही? जब कि समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायें उनके ज्ञान में स्वतः ही स्पष्ट है। ऐसे मे वस्तु परिच्छेद की बात ही पैदा नहीं होती। तत्त्वदृष्टि से भी अनन्त-ज्ञाता सिद्ध भगवान विषय की ओर स्वयं अभिमुख नही होते, अपने ज्ञान को स्वयं उससे नहीं जोड़ते, अपितु पदार्थ स्वय ही उनके दर्पणवत् निर्मल अनतज्ञान में झलकते हैं। ऐसे मे पदार्थों के स्वयमेव ज्ञान में झलकने रूप पदार्थों की प्रक्रिया को, पदार्थों के प्रति सिद्धों का उपयोग, जुडाव या लगाव कैसे और क्यों कहा या माना जा सकेगा? अर्थात् नही माना जा सकेगा। फिर जब सिद्धो मे उपयोग—परिणाम की उत्पत्ति मे कारणभूत ज्ञान-दर्शन की न्यूनता—क्षयोपशम जैसी कोई बात ही नही। न्यूनता तो क्षयोपशम अवस्था में ही होती है, और उपयोग, न्यूनता की स्थिति मे ही होता है। फलत.—ऐसा ही सिद्ध होता है कि अनन्त दर्शन-ज्ञानमयी अशरीरी अवस्था मोक्ष में उपयोग को कोई स्थान नही। वास्तव में तो क्षायिक दर्शन और ज्ञान ये दोनों पूर्ण ज्ञान-दर्शन हैं—उपयोग नहीं है।

उपयोग के भेदों मे ससारियों को लक्ष्य कर जो केवलदर्शन और केवलज्ञान को उपयोग कहा है वह भी व्यवहार है और वह अरहंतों मे भी मात्र उनके जीव-संज्ञक होने की दृष्टि से ही है—मोक्ष या सिद्ध दशा की दृष्टि से नही है। कहा भी है—'मुक्तेषु तदभावात्' गौणः कल्प्यते—राजवा० २।१०।५—यहाँ मुक्त से अरहंतो का ग्रहण करना चाहिए—वे जीव हैं और जीव के 'संसारिणो-मुक्ताश्च' जैसे भेदों में आते हैं और वे आयु आदि औदयिक प्राणो से जीवित हैं और उनका चेतन, घातिया कर्मों से मुक्त हो चुका है। सिद्ध दशा तो मुक्त होने के बाद,

अशरीरी होने—संसार छूटने के बाद की मोक्ष रूप निर्मल अवस्था मात्र है। कहा भी है—'अवस्थान्तरं मोक्ष इति।'

यद्यपि वास्तव में केवलज्ञानी अरहंतों में भी ज्ञान की अनन्तता होने से उनमें उपयोग को स्थान नहीं—गौण ही कल्पित है—'गौण: कल्प्यते।'—उनके मन भी नहीं है, फिर भी ज्ञान उनकी दिव्य ध्वनि में कारणभूत है और दिव्यध्वनि ज्ञान का कार्य है इसलिए उनमे उपयोग कल्पित किया जाता है। इस विषय को धवला में शका समाधान-पूर्वक स्पष्ट किया गया है कि दिव्य ध्वनि ज्ञान का कार्य है। वहां उल्लेख है—

'तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति; चेन्न; तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।'—धवला १।१।१२२ पृ० ३६८

शंका—अरहंत परमेष्ठी मे मन का अभाव होने पर मन के कार्य रूप बचन का सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वचन ज्ञान के कार्य हैं, मन के नहीं।

—केवलज्ञानोपयोग के संबंध में एक बात और है जो उभर कर समक्ष आती है। सर्वार्थसिद्धि हिन्दी टीका मे सिद्धांत-शास्त्री पं० फूलचद जी ने अध्याय १ के सूत्र ६ की टीका में स्पष्ट लिखा है कि 'मूलज्ञान मे कोई भेद नहीं है, पर, आवरण के भेद से वह पांच भागों मे विभक्त है।'—ज्ञानपीठ संस्करण १९४४, पचाध्यायी में इसी बात को स्पष्ट रूप में घोषित किया है—'क्षयोपशमिकज्ञानमुपयोग: स उच्यते।'—२।८८०

पंडित जी जैन सिद्धान्त के ख्यातनामा निष्णात विद्वान् हैं। उनके उक्त कथन से स्पष्ट है और सन्देह की गुंजायश नहीं रह जाती। इसके अनुसार जहां आवरण-भेद होता है, वहीं ज्ञान मे भेदरूप—मतिज्ञानादि व्यवहार होता है और आवरणक्षय की अवस्था में नहीं। एतावता ज्ञानावरणरहित अवस्था—पूर्णज्ञान मे भेदजन्य केवलज्ञानादि जैसा नाम भी क्यों होगा और उक्त नाम के अभाव मे कथित—केवल ज्ञानाश्रित उपयोग भी क्यो होगा? फिर जब सर्वत्र लक्षणों मे उपयोग को क्षयोपशम की निमित्तता ही स्वीकार की गई है तब आवरणक्षयावस्था के ज्ञान—केवलज्ञान की गणना उपयोगों में क्यों होगी? यदि आचार्यों द्वारा कहीं भी उपयोग होने में क्षयोपशम की भांति, आवरण-क्षय के निमित्त होने का मूल—स्पष्ट उल्लेख किया गया हो तो उसे विचार श्रेणी में लाया जा सकता है। फिर हमें मान्य आचार्य अमृतचन्द्र की इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि उन्होंने उपयोग को पर-द्रव्य के संयोग का कारण और आत्मा का अशुद्ध परिणाम बतलाया है, जिसकी सिद्धों मे सभावना नही। तथाहि—'उपयोगो हि आत्मनो पर-द्रव्य सयोगकारणमशुद्ध:।'—प्रव० सा० टीका २।६४, इस भांति उपयोग अशुद्ध और विकारी दशा का सूचक होने से सिद्धों मे नहीं, इसलिए 'सिद्धा ण जीवा' कथन सर्वथा उचित है।

प्राण और चेतना :

हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि प्राण और चेतना का सम-काल अस्तित्व होना जीव तत्त्व का परिचायक है। प्रमाण-दृष्टि से जीव मे सम-काल मे प्राण और चेतना दोनों ही होने चाहिए और हैं। श्री वीरसेनाचार्य साधारण आचार्य नहीं थे उन्होंने वास्तविकता को पहिचानकर ही जीव-संज्ञा में कारणभूत जीवत्व को औदयिक और नश्वर माना और चेतन के शुद्धरूप-सिद्धत्व को जीव संज्ञा से बाह्य रख 'सिद्धा ण जीवा' जैसी घोषणा की।

विचारना यह भी होगा कि प्राण और चेतना इन दोनों में मुख्य कौन है? चेतना के अस्तित्व मे प्राण है या प्राणों के अस्तित्व से चेतना? हमारी दृष्टि से तो आचार्य मान्यतानुसार प्राण कर्माधीन औदयिक और नश्वर भाव है और चेतन स्थायी है। और आचार्य की दृष्टि मे जीवत्व और जीव-संज्ञा औदयिक प्राणों पर आधारित हैं। ऐसे में स्थायी भाव चैतन्य नाम को तिरस्कृत कर औदयिक भाव-जन्य नश्वर जीव-जीवत्व नाम को प्रधानता देना और जीवत्व जैसे औदयिक भाव को चेतन का पारिणामिक भाव कहना, कैसे संभव है यह सोचने की बात है? फलत: आचार्य के कथन 'चेयणगुणमवलम्ब्य परूविदमिदि' के परिप्रेक्ष्य में तो हम 'सिद्धा ण जीवा' के ही पक्ष मे हैं। हमारी बुद्धि में लोगों का यह कथन भी सही नहीं बैठता कि—आचार्य ने 'सिद्धा ण जीवा' कथन जीवत्व के औदयिक भावाश्रितापेक्षा में किया है और पारिणामिकभावापेक्षया जीवत्व का निषेध नहीं किया। क्योंकि यदि उन्हें आत्मा के प्रति

जीवत्व-भाव का कथंचित् भी पारिणामिकपना स्वीकृत होता तो वे 'चेयणगुणमबलम्व्य' के स्थान पर अवश्य ही 'पारिणामिकभावमलम्व्यजीवत्वं परूविर्दामदि' जैसा कथन करते और जीवत्व का ऐसा निरादर न करते। फिर जब—जैसा कि लोग समझ रहे हैं वैसा—यदि आचार्य को जीवत्व में व्याप्त चेतन मे—औदयिक और पारिणामिक दोनों भाव स्वीकार्य होते, तब वे सिद्धों मे जीवत्व के सर्वथा अभाव का स्पष्ट उल्लेख न करते। जब कि एक भांति भी सिद्धो मे जीवत्व होने पर भी उसका सर्वथा निषेध करना न्याय्य नही कहा जा सकता।

मालुम होता है कि वास्तविकता यही है कि—औदयिकभावरूप जीवत्व सिद्धों में है नहीं और आत्म-प्रति पारिणामिक-भाव में जीवत्व को स्थान नही—उसे तो सदा से चेतन ग्रहण किए बैठा है। 'जीवा हि सहज चैतन्यलक्षणपारिणामिकभावेनानादिनिधना।' पंचास्ति० टीका ५३। इसीलिए आचार्य ने नश्वर-औदयिक जीवत्व को सर्वथा तिरस्कृत कर चेदणगुण को प्रधानता दे कथन किया है और दो टूक बात कह दी है—'सिद्धा ण जीवा।' आचार्य ने यह तो कही कहा नही कि हम जीवत्व को कथंचित् पारिणामिक भी मानते है और प्रसंग मे हमने औदयिक भावरूप जीवत्व मात्र का निषेध किया है? इसके विपरीत उन्होंने इस भाव को ही स्पस्ट किया है कि उमास्वामी ने चेतन-गुण के आधार से प्ररूपणा की है। इसमे उनका भाव है कि—जीव में एक काल मे पारिणामिकरूप चेतनत्व और औदयिकरूप जीवत्व दोनो भाव है और उमास्वामी ने चेतन-गुणरूपपारिणामिक भाव को प्रधान-कर प्ररूपणा की है और सर्वथा प्राणाधार पर आश्रित जीवत्व (जो पारिणामिक नही है) को सर्वथा-सर्वथा छोड़ दिया है। वीरसेन स्वामी जी ने इसी भाव में 'पारिणामिक-भावजीवत्वमवम्व्य परुविदं' न लिख 'चेयणगुणमवलम्व्य परूविदमिदि' जैसा वाक्य लिखा है और उमास्वामी ने भी 'मोक्षप्राप्त आत्मा मे शेष गुणों मे जीवत्व की जगह 'सिद्धत्व' शब्द दिया है—अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।'

यदि आचार्य को 'जावत्व' कथमपि चेतन के पारिणामिक रूप में स्वीकृत होता तब—जहाँ उन्होने 'सिद्धाणं वि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे' प्रश्न का उत्तर—(मन मे ऐसा भाव रखकर कि—'यदि उपचार से भी सिद्धों में जीवत्व मान लिया जाय तो क्या हानि है?') 'उवयारस्स सच्चत्ताभावादो' रूपकथन द्वारा दिया, वहां वे 'सिद्धाणं वि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे' का सीधा उत्तर 'सव्हा जीवत्तस्साऽभावो ण, पारिणामियजीवत्तं तु तत्थ अत्थि एव' रूप मे भी दे सकते थे। इससे लोगों का यह कथन भी फलित हो जाता कि आचार्य औदयिक और पारिणामिक दो प्रकार का जीवत्व मानते है और वे प्रसंग मे पारिणामिक रूप जीवत्व की सत्ता मान रहे हैं। पर, स्पष्ट ऐसा होता है कि उन्हें सिद्धों में जीवत्व किसी भी भांति स्वीकार्य नहीं और इसीलिए वे सिद्धों मे जीवत्व के उपचार (करने मात्र) का भी निषेध कर रहे हैं—उपचार को ठीक नहीं मान रहे—'उवयारस्स सच्चत्ताभावादो।'—

उक्त तथ्य तब और खुलकर सामने आ जाता है जब आचार्य यह स्पष्ट कह देते हैं कि—'जीविद पुव्वा इदि'—सिद्ध पूर्व मे जीवित थे। क्या, इसका यह स्पष्ट भाव नही कि सिद्ध अवस्था मे वे किसी भांति भी जीवित नही कहे जा सकते—वे सिद्ध होने से पूर्व जीवित थे—उनमें जीवत्व था। यदि वास्तव में आचार्य को (लोगो की धारणा की भांति) सिद्धों में किसी भांति भी जीवत्व स्वीकृत होता तो वे 'जीविदपुव्वा' न कहकर ऐसा ही उल्लेख करते कि वे पहिले औदयिकरूप जीवत्व में जीवित थे और सिद्ध अवस्था में पारिणामिक रूप जीवत्व में जीवित हैं। पर, ऐसा कुछ न कह उन्होंने सिद्धों में जीवत्व का सर्वथा ही निषेध कर इस मान्यता को स्पष्ट रूप में उजागर कर दिया कि—सिद्धो मे जीवत्व किसी भांति भी नहीं है और जीवत्व में पारिणामिकपने का व्यवहार भी ससारावस्था तक कहलाता है और बाद मे उसका स्थान चेतन—का शुद्धरूप 'सिद्धत्व' ले लेता है। फलतः—'सिद्धा ण जीवा'—

उपयोग स्वभाव:—तत्वार्थसूत्र के कर्ता श्री उमास्वामी आचार्य ने जब जीव का लक्षण उपयोग किया तब एक बार फिर उन्होंने अन्य द्रव्यों की स्वाभाविक परिणति किस रूप में होती है इसका भी खुलासा वर्णन किया है और वह परिणति (जिसे उपग्रह नाम से कहा है) हर द्रव्य का अवश्यंभावी स्वभाव है—जीव में भी सदाकाल होनी चाहिए। तथाहि—'गति स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।

आकाशस्यावगाहः। शरीरवाङ्मनः प्राणापानापुद्गलानां। सुखजीवित मरणोपग्रहाश्च। वर्तनापरिणामक्रिया परत्वा-परत्वे च कालस्य और परस्परोपग्रहो जीवानाम्।'—

गति मे सहायक होना धर्म द्रव्य का, स्थिति मे सहायक होना अधर्म द्रव्य का, स्थान देना आकाश द्रव्य का, शरीर-वचन-मन-प्राणापान-सुख-दुःख-जीवन-मरण पुद्गल द्रव्य का, वर्तना-परिणमन क्रिया-परत्व-अपरत्व जैसा वर्तन काल का और परस्पर में एक दूसरे का उपकार करना जीव द्रव्य का स्वभाव कार्य है। आशय ऐसा कि उक्त द्रव्यों मे यदि निश्चित अपने-अपने कार्य—(उपकार) रूप परिणमन नही होगे तो वे द्रव्य तन्नामद्रव्य नही कहलाएंगे। ऐसे में सोचना होगा कि सिद्ध भगवान अन्य सिद्ध भगवानो के लिए या अन्य किसी के उपकार के लिए स्वयं क्या करते-कराते हैंअथवा कैसे करते-कराते है? यदि ऐसे किसी उपकार आदान-प्रदान की उनमे सभावना बनती हो तब तो वे जीव हैं—कृत्कृत्य और सिद्ध नही और यदि उक्त सभावना नही बनती हो तो वे सिद्ध है—जीव नही।

जीवाश्च का व्याख्यान—एक प्रश्न यह भी उभर कर सामने आता है कि यदि जीव नाम आत्मा (चेतनगुण) की अशुद्ध अवस्था का है और जीवत्व नष्ट हो जाता है तो आचार्य ने 'जीवाश्च' सूत्र क्यों कहा है और जीव की गणना द्रव्यो में क्यो की? क्या द्रव्य का भी कभी लोप होता है?

प्रश्न बड़े मार्के का और तर्क सगत है। हा, द्रव्य का कभी लोप नही होता। यह बात वीरसेन स्वामी के समक्ष भी रही और इस बात को उमास्वामी भी जानते रहे। दोनो ने ही शुद्ध मूल-द्रव्य का लोप नही किया। उमास्वामी ने जीव के चेतनत्व को 'सिद्धत्व' (शुद्ध चेतन) रूप मे स्वीकृत किया—(अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः) और वीरसेन स्वामी ने चेतन रूप मे स्वीकृत किया—'चेदणगुणमवलम्ब्यपरूविदमिदि।'—दोनो मान्यताओ मे भेद नहीं है।

ध्यान रहे कि तत्त्वार्थसूत्र और सभी शास्त्र मोक्षमार्ग के अभिलाषी अशुद्धात्माओ (जिन्हे हम जीव कहते है) को बोध देने की दृष्टि से ही रचे गए हैं और उन्ही के सबोधन में हैं। आचार्य ने जब 'अबुधस्यबोधनार्थं' ससारियो की वर्तमान अवस्था जीवपने को लक्ष्य कर उन्हें, उनके विपरीत तत्त्व को समझाने के लिए 'अजीव कायाधर्माधर्माकाशपुद्गलाः' सूत्र रचा, तब उन्हें उक्त निर्दिष्ट अजीव शब्द से विपरीत (उस जोड़ी का) शब्द देना भी जरूरी हो गया और इसीलिए उन्होने 'जीवाश्च' सूत्र की रचना की। और प्रारम्भिक आचार्यों की दृष्टि भी यही रही—सब ही ने अशुद्ध को समझाने के लिए उसी के माध्यम से कथन किया। यदि प्रथम सूत्र में वे 'अचेतनकायाः' जैसा सूत्र कहते तो 'जीवाश्च' की जगह 'चेतनाश्च' भी कह देते। पर चेतन कहते कैसे? और किसको? जब कि उपदेश-पात्र की वर्तमान—अवस्था अशुद्धमात्र हो और उस काल चेतनत्व पर उसकी पकड़ ही न हो। यतः—जब जीव की पकड़ जीवत्व (प्राणधारणत्व) मात्र तक सीमित हो तब वह शुद्धचेतनत्व (स्वभावी दशा) को कहाँ, कैसे पकड़ सकता था और अशुद्ध चेतन को चेतन जैसे शुद्ध सबोधन से संबोधित भी कैसे किया जा सकता था!

सूत्र में आदि शब्द:—अभी तो हम 'औपशमिकादि भव्यत्वाना च' के भाव को ही नही पकड़ पा रहे है। जहा आचार्य ने कर्मक्षय के बाद की आत्मअवस्था का वर्णन करते हुए बतलाया कि उस अवस्था मे औपशमिक आदि भाव भी नही रहते—वहा उनका भाव समस्त पाँचो भावो के अभाव होने से है और इस सूत्र मे 'आदि' शब्द देकर उन्होने स्पष्ट भी कर दिया है। सूत्र मे यह तो कहा नही कि आदि शब्द मे पारिणामिक का ग्रहण छोड़ दिया गया है। 'आदि' शब्द मे तो सभी पाँचो भावों का ग्रहण न्याय्य ठहरता है। फलतः—हमारी दृष्टि से सूत्र मे 'भव्यत्वाना च' का ग्रहण (जैसा कि माना जा रहा है—) 'पारिणामिक भावो मे से भव्यत्व का नाश होता है और जीवत्व शेष रहता है' यह बताने के लिए नही मालुम होता अपितु वह इस शका के निवारण के लिए मालुम होता है कि कोई यह न समझ ले कि—पारिणामिक भाव होने से भव्यत्व मोक्ष मे रहता होगा। आचार्य का भाव ऐसा रहा है कि भव्यत्व भाव जीव का है शुद्ध आत्मा का नही और वह भाव भी जीवत्व की भांति छूट जाता है। क्यो कि—ये बात उमास्वामी महाराज के ज्ञान से भी अछूती नही थी कि जीवत्वभाव की भांति भव्यत्व भी औदायक है। इस बात को वीरसेन स्वामी ने तो स्पष्ट रूप मे खोलकर सामने ही

रख दिया। वे बलवान आचार्य थे और 'उत्तरोत्तरं बलीयः' की श्रेणी मे भी थे। वे कहते हैं—

'अघाईकम्मचउक्कोदयजणिदमसिद्धत्तं णाम। तं दुविह-तत्थ जेसिमसिद्धत्तमणादि-अपज्जवसिदं ते अभव्वाणाम। जेसिमवरं ते भव्वजीवा। तदो भव्वत्तमभव्वत्तं च विवाग-पच्चइय चेव'—धवला पुस्तक १४।५।६।१६ पृष्ठ १३

चार अघातिकर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्ध-भाव दो प्रकार का है·········इनमे से जिनके असिद्धभाव अनादि अनन्त है वे अभव्यजीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं। इसलिए भव्यत्व और अभव्यत्व ये भी विपाक (कर्मोदय) प्रत्यियक ही हैं।

फिर, पारिणामिक भाव को स्वभाव-भाव माने जाने का जो चलन है, वह कर्मापेक्षी न होने के भावमात्र मे है* और अशुद्ध चेतन (जीव) के ही भाव में है—चेतन के सदाकाल रहने वाले (ज्ञानादि की भांति) स्वभाव-भाव में नहीं है। यदि पारिणामिक भाव का भाव सदा काल भावी चेतन का स्वभाव होता तो पारिणामिक होन से भव्यत्व भी कभी नही छूटना चाहिए था जो कि छूट जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि आचार्यों को सिद्धा-वस्था मे जीवत्व इष्ट होता तो वे 'औपशमिकादि भव्यत्वानां च' सूत्र के स्थान पर 'औपशमिकादयश्च जीवत्व वर्ज्यं' सूत्र जैसा कथन करके वहां जीवत्व के अस्तित्व की स्पष्ट घोषणा करते। पर उन्होने ऐसा कुछ न कह कर सूत्र मे 'आदि' शब्द से सभी भावो के अस्तित्व का निषेध ही किया है और जीव के पारिणामिकभाव भव्यत्व का भी निषेध (भ्रमनिवरणार्थ ही—जैसा हम ऊपर लिख चुके है) किया है। ऐसी स्थिति मे यह विचारणीय आवश्यक हो गया है कि उक्त 'आदि' शब्द की परिधि से पारिणामिक भाव को वर्जित रखना क्यो और किस भाव मे लिया जाने लगा? जबकि 'आदि' शब्द सदा ही अशेष के ग्रहण का सूचक रहा है? निवेदन है कि यदि आचार्य उमास्वामी को उक्त भाव मान्य रहा तो उन्होंने सर्व सन्देहो को दूर करने और निश्चित स्थिति को स्पष्ट करने वाला 'औपशमिकाद-यश्चत्वारः भव्यत्वं च' जैसा सूत्र ही क्यो नही बना दिया? इस दृष्टि को भी ऊहापोह द्वारा समझा जाय। यतः—हमें सभी आचार्य मान्य हैं। प्रस्तुतप्रसंग तो वीरसेन स्वामी के मन्तव्य की पुष्टि मात्र का है—किसी के विरोध का नही।

स्व तत्त्वम् :—जब हम जीव में बतलाए गए पांचों भावो संबंधी सूत्र 'औपशमिक क्षायिको भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्व-तत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' पर विचार करते हैं तो हमे इसमे 'जीवस्य स्वतत्त्वम्' शब्द से स्पष्ट निश्चय हो जाता है कि उक्त पांचों भाव जीव के ही स्व-तत्त्व हैं—चेतन के स्व-तत्त्व नही है—और इसीलिए जीव अवस्था में इनका होना अवश्यभावी है, यदि ये भाव नहीं हैं तो वह जीव नही है। साथ ही यह भी है कि ये पांचों भाव जीव मे होते हैं और शुद्धावस्था मोक्ष मे इनमे से कोई भी भाव नही हैं—वहां कर्मोंके क्षय-क्षयोपशम आदि जैसी विवक्षा को भी स्थान नही है। स्मरण रहे कि वस्तु के शुद्ध स्वरूप मे—जो कथन मे न आ सके और केवल अनुभव का विषय हो, उसमे विवक्षा कोई स्थान नही रखती, अस्तु।

फिर, यह भी विचारना होगा कि स्व और तत्त्व जैसे दो शब्दों की सूत्र में क्या आवश्यकता थी, सूत्र में केवल 'स्व' देने से ही निर्वाह हो सकता था। पर आचार्य ने 'तत्त्वम्' जोडकर यह स्पष्ट कर दिया है कि—'तस्य भावस्तत्त्वम्'—य-पदार्थः यथा अवस्थितस्तस्य तथैव भवनम्।—जो जिस रूप मे स्थित है उसका उसी रूप में होना तत्त्व है। उक्त स्थिति में जीव के पांचों भाव जीव के स्व-तत्त्व है और जीव मे ही होते हैं, शुद्ध चेतन मे नही। फलतः—यदि इन भावों से जीव का छूटना स्वीकार किया जाता है तो वह जीव ही नहीं ठहरता—जिसे हम चेतन कह रहे हैं उस शुद्ध रूप में आ जाता है। इसीलिए कहा है—'सिद्धा ण जीवा' चेयण-गुणमवलम्ब्यपरुविदमिदि।'

हमें श्री वीरसेनाचार्य वैसे ही प्रमाण हैं जैसे कुन्दकुन्द प्रभृति अन्य आचार्य। हम सभी को मान देकर तत्त्व-चिंतन कर रहे हैं—यदि किन्ही को चिंतन मात्र ही असह्य हो और वे सम्यग्दृष्टि के लिए निर्धारित 'तत्त्व-कुतत्त्व पिछाने' का अनुसरण न करें—तो हम क्या करें, हम तो विचार के लिए ही कह सकते हैं। (क्रमशः)

* यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिकत्रयं व्यवहारेण संसारि जीवेऽस्ति तथा सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया इतिवचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्तित्रयं, मुक्तजीवे पुनः सर्वथैव नास्ति द्र० टी० १३।३८।११

जरा सोचिए !

१. निर्दोष मुनित्व का उपक्रम

परमपूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर जी महाराज सच्चे मुनि थे और उनकी साधना खरी थी, वे परीषहों के सहन में सक्षम थे। उन्हें यह भी लगन थी कि मुनि मार्ग की धारा अविच्छिन्न बनी रहे और निर्मल रहे। वे मुनियों की बढ़वारी और स्वच्छशासन के पक्षपाती थे। फलतः—वे साधुचर्या में क्षुल्लक तक को भो सवारी डोली आदि का निषेध करते थे और संस्थाओं के रख-रखाव, चन्दा, चिट्ठा आदि आडम्बर जुटाने के भी सख्त खिलाफ थे। पर, आज वे बातें नहीं रही। आज कई दिगम्बर साधुओं मे आचार के प्रति व्याप्त शिथिलता को लक्ष्य कर चिता व्याप्त थी कि—किस प्रकार मुनि-मार्ग निर्दोष रह सकेगा? क्योंकि साधु-पद सर्वथा 'यम' रूप होता है, जो एक बार ग्रहण कर छोड़ा नही जा सकता—जीवन भर उसका निर्वाह होना चाहिए*। ऐसे में हमारी दृष्टि भी उधर न जा सकी कि किस प्रकार मुनि अपने पद का त्याग कर सकता है? अब 'तीर्थंकर' पत्रिका के माध्यम से दीक्षा-त्याग के नीचे लिखे तथ्य समक्ष आए हैं—

"साधु पद छोड़ने की व्यवस्था भी हमारे यहाँ है। तीन अवस्थाएँ हैं—किसी ने दीक्षा ली और वह कुमार है, बाल ब्रह्मचारी है तो तीन प्रावधान हमारे सविधान मे हैं—पहला यह कि यदि उससे परीषह सहन नही होते हैं तो वह गुरु आज्ञा लेकर घर जा सकता है यानी पद छोड़ कर परिवार में लौट सकता है; दूसरे, माता-पिता के इस आग्रह पर कि उसकी परिवार के लिए जरूरत है, आचार्य उसे पद त्याग की अनुमति दे सकता है; और तीसरे यह कि यदि देश के लिए उसकी आवश्यकता है तो राजाज्ञा से राजा भी उसे पद छुड़वा कर ले जा सकता है; परन्तु ध्यान रहे ये तीनों स्थितियाँ कुमारावस्था में दीक्षितों के लिए ही बनती हैं।"

—'तीर्थंकर' वर्ष १७, अंक ३-४, पृ० २१-२२

यदि यह सच है और उक्त प्रावधान दीक्षा-त्याग में आगम सम्मत है तो इनमें दूसरे तीसरे प्रकार के अवसर विरले ही मिले - हां, परीसह न सह सकने के अवसर अधिक दृष्टिगोचर होते है। प्रायः अधिकांश मुनि परीषह सहने से जी चुराते हैं और वचने के लिए भांति भांति के बहानों से आडम्बर जुटाते देखे जाते है। ऐसे कुमार (अविवाहित) मुनियों को सोचना चाहिए कि वे जिन-मार्ग को दूषित करें या आचार्य के आदेश से दीक्षा छोड़ दें? हमारी दृष्टि से तो उनको पद छोड़ देना ही अच्छा होगा। ऐसे मुनियों को यह प्रावधान भी देख लेना चाहिए कि जिनको गुरु उपलब्ध न हों वे किसकी आज्ञा लेकर पद छोड़ेंगे? इसके सिवाय कोई प्रावधान उनके विषय मे भी देखना चाहिए जो कुमार नही हैं। क्योंकि परीषह न सह सकने की कायरता बहुत से अकुमार साधुओं में भी देखी जाती है।

यदि उक्त विधि कारगर हुई तो हम अवश्य समझेंगे कि पूज्य आचार्य शान्ति सागर जी ने मुनि मार्ग की जिस परम्परा का पुनः सूत्रपात किया, उस परम्परा के संरक्षण में यह बडा ठोस कार्य होगा और शिथिलाचारियों की छँटनी हो जायगी और इसकी बधाई 'तीर्थंकर' को जायगी। हाँ, उक्त प्रावधान के आगम प्रमाण अवश्य प्राप्त कर लिए जांय और उन्हें उजागर किया जाय। हमने आगम में ऐसा नहीं देखा।

हमारी दृष्टि से जैनियों मे दो प्रकार के व्रतों का विधान है—एक 'नियम' रूप और दूसरे 'यम' रूप। जो व्रत 'नियम' रूप होते हैं, वे काल मर्यादा में बँधे होते हैं और समय पूरा होने पर स्वयं छूट जाते हैं। यदि व्रती चाहे तो उन्हें कुछ काल के बन्धन में पुनः धारण कर

* 'यावज्जीव यमो ध्रियते'—रत्नक० ३-४१; यावज्जीवं यमो ज्ञेयः—उपा० ७६१; धर्मसं० श्रा० ७-१६; यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रतिपालनम्। दैवाद् घोरोपसर्गेऽपि दुःखे वा मरणावधिः'—लाटीसं० ५-१५६।

सकता है। पर, मुनि का पद 'यम' रूप होता है जो एक बार धारण कर छोड़ा नही जा सकता—जीवन भर उसका निर्वाह करना पडता है। जैसे—'ब्रह्मगुलाल' ने राजा के आदेश से स्वांग दिखाने हेतु मुनि का वेष धारण कर लिया। स्वांग के बाद जब उन्हें राजा ने कपड़े धारण करने को कहा तो 'ब्रह्मगुलाल ने स्पष्ट जवाब दिया कि—"यह वह वेष है जो एक बार धारण कर छोड़ा नहीं जा सकता" और वे वन को चल दिए।

ऐसी स्थिति में यदि कोई 'यम' रूप मुनि के व्रत को छोड़ने का उत्सर्ग मार्ग और वह भी गुरु आज्ञा लेकर छोड़ने का विधान बतलाता हो तो उसे आगम-सम्मत नहीं माना जा सकता, अपितु उसे पद भ्रष्टता का द्योतक ही माना जायगा और पद-भ्रष्टता मे आचार्य के आदेश लेने जैसी बात करना केवल मनस्तोष और बहाना ही होगा कि—अमुक मुनि, अमुक आचार्य की आज्ञा से पद-भ्रष्ट हुआ आदि। हम तो समझे हैं कि कोई आचार्य किसी की गिरावट के लिए अनुमोदना नही कर सकता अपितु वह सभी का स्थितिकरण करने का अधिकार रखता है—ऐसे मे यह स्पष्ट है कि वर्तमान मे जो पद मे स्थितमुनि परीषह सहन न कर सकने के कारण बाह्या-डम्बरों मे लिप्त हों वे आचारहीन कहलाएँगे और जो दीक्षा छोड देंगे वे पदभ्रष्ट अर्थात् पलायनवादी कहलाएगे—जब कि आचार्य कभी भी पथभ्रष्ट होने का समर्थन नही कर सकते। हाँ, परिस्थिति वश वे ऐसे मुनि को सघ से निष्कासित कर सकते है, उसके उपकरण छीन सकते है। भ्रष्टता में आज्ञा अपेक्षित नही होती। जो भ्रष्ट होना चाहें वे स्वय पद छोड़ सकते हैं।

मुनिगण में व्याप्त शिथिलाचार को पोषण देने वाले कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते है कि क्षेत्र और काल के अनुसार बदलाव स्वाभाविक है। ऐसे लोगो को सोचना चाहिए कि वे अपनी इस बात को नग्नता के परिवेश में भी क्यों नही देखते ? यदि क्षेत्र और काल शिथिलता मे आड़े आते है तो वर्तमान सन्दर्भ मे नग्न-वेश आड़े क्यों नहीं आता ? यत.—आज तो अधिकाश जनता नग्नता को हेयकी दृष्टि से ही देखती है। पर ध्यान रहे कि धर्म अपरिवर्तनीय होता हैं —उसमें क्षेत्र और काल आड़े नहीं आ सकते। यही कारण है कि अद्यावधि दि० मुनि-रूप क्वचित्-क्वचित् हमारी दृष्टि में आता रहा है। यदि शिथिलता के निवारण के प्रति हमारी जागरुकता हो तो मुनिधर्म व वेष आज भी निर्मल बना रह सकता है। आचार्य का अधिकार दीक्षा छोडने की अनुमति देने—भ्रष्ट करने मे नही, अपितु स्थितिकरण मात्र तक सीमित है। जैसे कि वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल का स्थितिकरण किया। यदि कोई मुनि अपना पद छोड़ना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है, स्वयं छोड़ दे ताकि मुनिमार्ग शुद्ध बना रहे।

साधुओ मे शिथिलता का कारण बताते हुए एक सज्जन ने कहा—'श्रावक तो साधुओ को दोष देते हैं पर, सब दोष श्रावकों का है— 'जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन।' प्राय. कई श्रावक काले धन की कमाई करते हैं, मुनि भी आहार उसी धन से करते हैं और मुनियों में अन्न के प्रभाव से आचार-शिथिलता आती है। श्रावक सफेद धन से आहार बनाएं तो मुनि भी सच्चे साधक हों।'

हम इसके विपरीत सोचकर चलते है—जब साधु जानता हो कि इस प्रकार का अनीति से अर्जित दान शिथिलता उत्पन्न करता है तो वह ऐसी घोषणा क्यो नही करता कि यदि मुझे न्याय-नीति की सच्ची कमाई से कोई दान देगा तो लूगा अन्यथा मेरा लम्बा अनशन चलेगा। इससे साधु को परीषह सहना तो होगा, पर कुछ समय में गिने-चुने महनती श्रावक—चाहे वे गरीब मजदूर भी क्यों न हों ? अवश्य मिल जाएँगे—जैनियों में अभी भी प्रामाणिक लोग हैं और धर्मश्रद्धालु भी। मुनि के उक्त मार्ग अपनाने से काले धन्धे वाले स्वय छँट जाएँगे। स्मरण रहे कि मार्ग साधु की कमजोरी से ही बिगड़ा है ? पर, कहे कौन ? आज तो द्रव्य की ओर दौड़ है, उत्तम व्यजनो के आहार का जोर है और कई साधुओं ने संस्थाओं के भवन-निर्माण, रख-रखाव और धुंआधार प्रतिष्ठा प्राप्तिके साधन जुटाने जैसे कार्य भी पकड़ रखे हैं—जिनमे प्रभूत धन काले धन से ही आ सकता है, एक नम्बरी कमाई करने वाला तो इस युग मे पेट-भर रोटी कपड़ा कमा ले यही काफी है।

"सांइ इतना दीजिए, जामें कुटंम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥" इस रूप

की भावना भी गरीब ही रख सकता है। सोचिए, असलियत क्या है ? कहीं दो नम्बरी द्रव्य से संपादित सभी गतिविधियाँ खोखली तो न होंगी, प्रभूत काले धन से निर्मित भवन मठाधीशों के मठ तो न बन जाएँगे ? जरा-सोचिए ! हम तो मुनियों की बात के श्रद्धालु हैं एतावता हमें ऐसी सम्भावना बन तो आश्चर्य नहीं।

२. जिनवाणी का संभावित भावी रूप ?

वर्तमान में जैसा वातावरण बन रहा है, उससे संभावना बढ़ी है कि वह दिन दूर नही, जब जिनवाणी का स्थान पंडित वाणी को मिल जायगा और पण्डित वाणी ही जिनवाणी कहलाएगी। आज स्थिति ऐसी है कि लोग आचार्यों की मूलभाषा—प्राकृत, संस्कृत से दूर—पंडितों के भावानुकूल—भाषावद्ध अनुवादों को पढने के अभ्यासी बन रहे हैं और ऐसे कई अनुवादो के कारण विवाद भी पनप रहे हैं। एक दिन ऐसा आयेगा कि हमारे हाथ में विवाद की जड अनुवाद मात्र रह जाएँगे और मूल जिन-वाणी की संभाल कोई भी न करेगा।

ऐसे में आवश्यक है कि पडित गण जनता के समक्ष मूल के साथ मूल का शब्दार्थ मात्र लिखित रूप में प्रस्तुत करें। यदि किन्ही को व्याख्या करनी इष्ट हो तो मौखिक ही करें—ताकि गलत रिकार्ड की संभावना से बचा जा सके। यतः व्याख्या में विपरीतता के सभावित होने से उसका होना भविष्य मे जिनवाणी को ही दूषित करेगा।

आज स्थिति ऐसी है कि पंडित-निर्माण की परम्परा खण्डित हो रही है और इसी कारण शुद्धात्मा की चर्चा तक में लीन अनेक अपण्डित भी अपने को पडित मान, अपनी कषायो के पोषण मे लगे हैं। कई भले ही बाह्य चारित्र को पाल रहे हों तो भी क्या ? कइयों का अन्तरंग तो मैला ही देखा गया है—कषायों का पुंज।

आज की आवश्यकता है पल्लवग्राहिपाण्डित्यं के स्थान पर मूलभाषादि, सैद्धान्तिक ठोस पण्डितों की—जिनकी ओर से समाज ने आंखें मूंद रखी हैं। आज परिपक्व पंडितो तक की बीमारी और बुढ़ापे में भी दुर्दशा है—भले ही उन्हें अतीत में अभिनन्दन; सन्मान भेंटे और जयकारे मिले हों ? समाज में छात्रवृत्ति फंड हैं, विधवा सहायता-कोष हैं, अस्पताल अनाथालय और उदासीन जैसे उदासीनाश्रम भी हैं; पर किसी ने पंडितों की वृद्ध और असहायावस्था में उन्हें सम्मानपूर्वक जीवन बिताने के लिए कोई सहायता फण्ड खोल रखा हो तो देखें। हाँ ऐसा तो है कि जब तक पडित काम करता रहता है तब तक समाज उसे वेतन देता है—नौकरी-ड्यूटी-चाकरी के रूप में। इसमें इतनी तक समझ नही कि पडित के प्रति उक्त शब्दो के प्रयोग से घृणा करे और मासिक को पुरस्कार, दक्षिणा, या आनरेरियम के नाम से पुकारे ! ऐसे में कैसे होंगे पडित तैयार और क्यों करेंगे वे अपनी पीढ़ी को, अपने जैसा बनने के लिए प्रोत्साहित ? क्या, गुलामी करके भी भूखो मरने के लिए ? जरा सोचिए।

—सपादक

३. क्या त्रिगुटा तथ्य नहीं ?

"धर्म भी एक धन्धे के रूप मे विकसित हो रहा है। तीर्थंकरो या उनके सेवको को सुख दुख का कर्ता हर्ता बना देने से धर्म अनेक लोगो के लिए आजीविका का अच्छा साधन बन गया है। कोई गृहस्थाचार्य के रूप मे तो कोई मन्त्र-तन्त्र वेत्ता बनकर धन बटोर रहे है। मत्रित अँगूठियो, ताबीजों एव यंत्रों की बिक्री एक अच्छा धन्धा बन गया है। धर्म की ओट में पल रहे और तेजी से बढ़ रहे इस गोरखधन्धे का सूत्रधार एक **त्रिगुटा** है। ज्ञान-चारित्र से रहित वे नव धनाढ्य जो पैसे के बल पर समाज के नेता बनना चाहते हैं इसके संचालक है। **धर्म से आजीविका चलाने वाले गृहस्थाचार्य** और **शिथिलाचारी त्यागी-व्रती** इनके सहयोगी है। तीन वर्ग एक दूसरे के हितो का पृष्ठ पोषण करते हुए समाज को अंधेरे मे धकेल रहे हैं।

जब कोई कार्य आजीविका या प्रतिष्ठा का साधन बन जाता है तो व्यक्ति उसे हर कीमत पर बचाने का प्रयास करता है। यह त्रिगुटा वर्तमान में ऐसा ही कुछ कर रहा है। धार्मिक पत्र-पत्रिकाएँ जिन्हें अहिंसा, प्रेम,

सदाचार का सन्देश वाहक होना चाहिए। समाज में घृणा द्वेष फैलाने का माध्यम बन रही हैं।

अब तो चातुर्मास के साथ समाज का धन गाजे-बाजे, पैम्पलेटबाजी व प्रदर्शन में बर्बाद होता है। जैनियों का आचार व्यवहार इतना गिर गया है कि जैन पकौड़ी भण्डार, गोभी और प्याज से दुकान सजाते हैं। जैन नाम के साथ अन्तर्गभित वीतरागता, अहिंसा, सदाचार अपरिग्रह, नीतिगत व्यवहार, धारणाएँ जीवन से तिरोहित हो रही हैं। समाज का नेतृत्व विद्वानों व त्यागियों के हाथों से निकल कर सेठों के हाथों में जा रहा है। सब संस्थाओं के संचालक एक तरफ से धन बटोरने में लगे हैं।'

—('जैन-सदेश' १३-८-८७ पृ० ४; ८ से साभार)

(पृ० २२ का शेषांश)

शैय्या पर हैं। शास्त्र की गद्दी पर बैठकर धर्मचर्चा करने वाले/समझाने वाले विद्वानों की कमी आ गई है। फलतः विद्वानों का नेतृत्व समाज पर नहीं रहा धनिकों का हो गया, जो धर्म तत्व की गूढ़ता को नहीं समझने वाले हैं। धर्मज्ञ हुए बिना उनका नेतृत्व धर्म शून्य ही होगा। उन्हें अपनी नेतागिरी राजनीति आदि के उपदेश प्रिय लगते हैं और उनसे कई व्रती भी प्रभावित रहते हैं, उन्हें उत्सव, विधान, पंचकल्याण कराने की, शिष्य परिवार बढ़ाने की लालसा रहती है। चाहे शिष्य कैसा ही हो। बिना तपाये सोना नहीं बन सकता।

आवश्यक है—इन बातों पर हम विचार करें। वास्तविक धर्म चलता रहे—यथेच्छ धर्म नहीं हो। काश ! समाज धर्मात्मा वृद्धजन इन बातों पर विचार करें—युवकों को तदनुकूल ढालें—ताकि जैनागम की अविच्छिन्न धारा बहती रहे। और सब जैन महावीर के शासन के नीचे चलते रहें।

(वीर-वाणी से साभार)

जौलों अष्ट कर्म को विनाश नाहिं सर्वथा,
तौलों अन्तरातमा में धारा दोई बरनी।
एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्मधारा,
दुहूं की प्रकृति न्यारी-न्यारी धरनी ॥

इतनो विशेष जु करमधारा बन्धरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्ष की करनहार,
दोष की हरनहार भौ समुद्र तरनी ॥

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० ४ अक्तूबर-दिसम्बर १९८७

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

—जिनवाणी के अथक उपासक—

स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के प्रति :

—श्रद्धांजलि—

सिद्धान्ताचार्य स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री जैन-विद्वत्समाज के भव्य देदीप्यमान एक ऐसे नक्षत्र थे जो अपनी दीप्ति से धर्म की ज्योति को अपूर्व ढग से जगमगाते रहे—कभी जैन-संघ के माध्यम से, कभो जैन-सन्देश के माध्यम से, तो कभी जनता के निमन्त्रणों के माध्यम से। स्याद्वाद महाविद्यालय के माध्यम से विद्या के क्षेत्र मे जैसी क्रान्ति उन्होंने की उसकी मिसाल अन्यत्र नही। न जाने कितने अबोधों को उन्होने बोध दिया? उनमें कितने हो तो आज भी उनकी जगाई ज्योति को कायम रखने मे संलग्न है और समाज की सेवा मे तत्पर। सच पूछे तो पण्डित जी के बाद की विद्वत्पीढ़ी के बर्तमान अधिकांश विद्वान् पण्डित जी की जागरुकता और लगन के ही फल है। पण्डित जी ने जैसी साहित्य सेवा की वह जग जाहिर है। वे सच बात के कहने मे भी कभी चूके नही और ना ही कभी किसी से भयभीत हुए। उनके अभाव की पूर्ति सर्वथा असम्भव जैसी है।

पण्डित जी ने स्याद्वाद विद्यालय में स्वयं अध्ययन कर बाद मे लगभग ५० वर्षों से अधिक काल प्रधानाचार्यत्व में बिताया। इस बीच उन्होंने विद्यालय के लिए समाज से प्रभूत धन भी जुटाया। वे जो लाए सब विद्यालय को ही समर्पित किया—अपने पास रंच भी नही रक्खा। उन जैसा कृतज्ञ विद्यार्थी और कर्तव्य-परायण प्रधानाचार्य—'न भूतो न भविष्यति।'

पूज्य बड़े वर्णी जी के शब्दों में पण्डित जी विद्यालय के प्राण थे—"विद्यालय सो पण्डित जी और पण्डित जी सो विद्यालय।" यही कारण है कि पण्डित जी की मानसिक और शारीरिक शिथिलता के साथ ही विद्यालय भी क्षीणता को प्राप्त होता जा रहा सा दिखता है। हमे तो अब यह आशंका सी भी होने लगी है कि पूज्य वर्णी जी द्वारा लगाया और पण्डित जी द्वारा पल्लवित किया विद्यालय रूपी उद्यान कही मुरझा न जाए; या कही कोई बानर सेना इसे उजाड़ ही न दे। इसकी सँभाल समाज को करना है और समाज की यह भी जिम्मेदारी है कि वह पण्डित जी के आदर्शों को सामने रखकर उन जैसे विद्वान् तैयार करने का संकल्प ले।

वीर सेवा मन्दिर के समस्त अधिकारी सदस्य एवं कार्यकर्ता व 'अनेकान्त' के सम्पादक त्रय पण्डित जी के प्रति सादर श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए उनकी आत्म-शान्ति की प्रार्थना करते है। पण्डित जी से बिछुड़े परिवार के प्रति संस्था की हार्दिक संवेदनाएँ।

—सुभाषचन्द्र जैन
महासचिव

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४०
किरण ४

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५१३, वि० स० २०४४

अक्टूबर-दिसम्बर
१९८७

शान्तिनाथ स्तोत्रम्

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचन परं लोकेश्वरैरद्भुतं,
यस्योपर्युहरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रान्तोद्गतकेवलोज्जवलरुचा निर्भत्सितार्क प्रभं,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥१॥
देवः सर्वविदेष एष परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः,
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमतः ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैस्ताडितो दुन्दुभिः,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥२॥

—पद्मनन्द्याचार्य

अर्थ—जिन शान्तिनाथ भगवान के ऊपर इन्द्रों के द्वारा धारण किए गए चन्द्रमण्डल के समान तीन छत्र तीनों लोकों की प्रभुता को सूचित करते हैं और जो स्वय निरन्तर उदित रहने वाले केवलज्ञान रूप निर्मल ज्योति के द्वारा सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करके सुशोभित है। पाप रूप कालिमा से रहित वे श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें। जिनकी भेरी देवों द्वारा ताडित होकर मानो यही घोषणा करती है कि तीनों लोको के स्वामी और सर्वज्ञ श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव है और दूसरा नही है तथा समस्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाले इन्हीं के वचन सज्जनो को अभीष्ट हैं, दूसरे किसी के भी वचन उन्हें अभीष्ट नहीं है। पापरूप कालिमा से रहित ऐसे श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें॥ १, २ ॥

स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के प्रति श्रद्धांजलि :

आधुनिक पांडित्य का चरमोत्कर्ष

पाँडित्य से परीक्षोत्तीर्ण पांडित्य—

मूल-श्रमण संस्कृति में गृहस्थ के छह नित्यकृत्यों या आवश्यकों में स्वाध्याय का स्थान महत्वपूर्ण है। इस परम्परा के कारण ही श्रुतधर आचार्यों, भट्टारकों और विशिष्ट विद्वानों के युग की समाप्ति के बाद भी मूल जिनधर्मी (दिगम्बरी) समाज में जैन-वाङ्मय के गंभीर स्वाध्यायी विद्वान् होते आये है। आचार्यकल्प पं० टोडर मल जी, आदि इस परम्परा के आधुनिक निदर्शन है। भारत के बौद्धिक-जागरण, (रीनेसांस) के साथ-साथ प्राच्य-अध्ययन को महत्त्व मिलने पर जिनधर्मी और जिन-सम्प्रदायी (श्वेताम्बरी) समाज में भी परीक्षोत्तीर्ण विद्वानों की ओर ध्यान गया। इस परम्परा में गुरुवर पूज्य श्री १०५ गणेशवर्णी अग्रणी थे। क्योंकि काशी के स्याद्वाद महाविद्यालय ने ही वाराणसेय गवर्नमेंट संस्कृत कोलेज तथा बेंगाल-संस्कृत ऐसोसियेशन' कलकत्ता की परीक्षाओं को दिलाना प्रारम्भ किया था। गुरुवर गणेशवर्णी जी को जयपुर, खुरजा, आदि के स्वाध्यायी-पंडितों का बहुमान था। तथा गुरु गोपालदास जी इस शैली के ऐसे स्वयम्भू उन्नत विद्वान् थे जिन्होंने जैनसिद्धान्त के विधिवत् अध्ययन-अध्यापन के लिए विद्यालय (गोपाल सिद्धांत विद्यालय—मुरैना) ही नहीं, अपितु जैनजागरण के श्रीमान् अग्रदूत के सहयोग से परीक्षालय (माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षालय, मुम्बई) की स्थापना करके जैनपाण्डित्य को भी परीक्षोत्तीर्णता का रूप दिया था। जैन जागरण के इन दोनों श्रीमान् अग्रदूतों के प्रसाद से स्व० पं० माणिकचन्द्र (चावली) देवकीनन्दन, वंशीधर (महरौनी), वंशीधर शोलापुर, मक्खनलाल तथा खूबचन्द्र जी ऐसे उद्भट जिनवाणीवेत्ता समाज-देश को सुलभ हुए थे। तथा जैन-न्याय के प्रथम ब्राह्मण गुरुवर अम्बादास शास्त्री की साधना का ही यह श्रुतफल सुफल था कि प्रमेयकमलमार्तण्ड-अष्टसहस्री आदि गहन तथा उत्तम ग्रन्थों का पठन-पाठन सहज हो सका था। तथा स्व० पं० घनश्यामदास (महरौनी) तथा जीवन्धर (इन्दौर) के रूप में समाज; जैन-न्यायतीर्थों को पा सका था।

जैनपांडित्य की दूसरी पीढ़ी—

इन गुरुओं की कृपा से सुलभ आधुनिक जैनपाण्डित्य की दूसरी पीढ़ी के विद्वानों में स्व० पं० राजेन्द्रकुमार (भा० दि० जैनसंघ संस्थापक), चैनसुख दास जी (जयपुर) अजितकुमार जी (मुलतान) तथा कैलाशचन्द्र (वाराणसी) ऐसे थे, जो धर्म-समाज में १९२१ से आगे के सात दशकों में सब प्रकार से सम्बद्ध रहे है। शार्दूलपंडित राजेन्द्रकुमार जी ने गुरुओं को सम्मान दिया, साथियों को उनकी क्षमता के अनुसार अध्यापन, सम्पादनादि में लगाकर बढ़ाया और अनुज विद्वानों को समाज में प्रतिष्ठित करके ऐसे लोगों को छोड़ा है, जो समाज की विविध संस्थाओं का आज भी संचालन कर रहे है। क्रांतिकारी स्व० पं० चैनसुख दास जी ने जयपुर को केन्द्र बनाकर जैन समाज के श्रीमान् किन्तु प्रवाह-पतित मारवाड़ी समाज का विवेकचक्षु ही नहीं खोला था, अपितु ऐसा शिष्य समुदाय छोड़ गए है जो उनकी अलख को जगाये है। गुरुवर पं० गोपालदास जी के बाद आर्यसमाज और स्थितिपालक जैन-समाज को यह जगाने का भार शार्दूल पंडित राजेन्द्रकुमार जी पर 'दि० जैन शास्त्रार्थ संघ' (अम्बाला) के रूप में आया था। इसमें स्व० लाला शिब्बामल (अम्बाला) अर्हद्दास (पानीपत) आदि श्रीमान् जहां उनके साथी थे वहीं स्व० पं० अजितकुमार, मंगलसेन (वैदविशारद)

वाणीभूषण तुलसीराम (बड़ौत), आदि श्रीमान् प्रमुख सहयोगी थे।

योग्यतम सहाध्यायी—

स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी, पं० राजेन्द्रकुमार जी के व्युत्पन्न, शान्त तथा अनुशासित सहाध्यायी थे। इनकी वाणी में रस था, स्वभाव में मधुरता, व्यवहार में सरलता तथा आगमानुकूल शास्त्रकथन में निर्भीकता थी। फलतः शार्दूल पंडित ने इनकी क्षमताओं को पुष्ट करने और समाज को उनसे लाभान्वित होने का त्रिविध योग जुटाया। और भारती-बौद्धिकवर्ग को; समर्पित प्राचार्य, युक्तिशास्त्रानुकूल मार्गदर्शक-सम्पादक तथा आधुनिक शोधशैलीपरक राष्ट्रभाषा के मौलिक लेखक के रूप में स्व० पं० कैलाशचन्द्र का, पूरी आधी शती तक, प्रदर्शन-विहीन तथा विनम्र नेतृत्व प्राप्त रहा है।

धर्मशास्त्री—

स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी ने अपने गुरुओं से प्राच्य-पद्धति (विषय का सांगोपांग वाचन, धारणा तथा आम्नाय या मुख से पारायण) के अनुसार सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उन्हें अपने पठित ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। स्याद्वाद महाविद्यालय द्वारा १९२७ में धर्माध्यापक रूप से उन्हें बुलाये जाने का यही कारण था। उनके अग्रज सहाध्यायी पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री (कटनी) ने भी इनकी ग्रन्थोपस्थिति की उत्कृष्टता को स्वीकार करके जैनसमाज के प्रथम तथा सर्वोपरि गुरुकुल (स्या० म० वि०) के धर्माध्यापकत्व के लिए इन्हें ही उत्तम माना था। तथा वह सर्वथा सत्य भी निकला। क्योंकि ये समय के पाबन्द स्वात्म-संतुष्ट तथा छात्रहितलीन अध्यापक थे। तथा अपने सहाध्यायियों के समान 'अध्ययन या विद्यार्थित्व का त्याग नहीं कर सके थे।' इन्होंने छात्रों के साथ श्वे० न्यायतीर्थ परीक्षादि ही नहीं उत्तीर्ण की थी अपितु प्राच्यशोध की भिज्ञता के लिए अपने छात्रों से ही पढ़कर मैट्रिक (अंग्रेजी) परीक्षा भी पास की थी। तथा व्युत्पन्न छात्रों के सहयोग से इतिहास-पुरातत्व एवं पाश्चात्यशोधकों द्वारा कृत, प्राच्य वाङ्मय की उस समकालीन शोध की भी पूर्ण भिज्ञता प्राप्त की थी जो अंग्रेजी या प्राकृत भाषादि के कारण, इनके पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर मनीषियों को दुर्लभ थी।

ख्याति से परे—

स्व० पंडितजी की इस साधना का प्रथम प्रसून 'न्यायकुमुदचन्द्र' का प्रथम भाग था, जिसमें स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी सहयोगी थे। तथा स्व० पं० नाथूराम 'प्रेमी' की प्रेरणा से यह कार्य पं० कैलाशचन्द्र जी ने हाथ में लिया था। तथा संकल्प किया था कि इसका सर्वांग-समग्र संपादन करेंगे। इस संकल्प की पूर्ति के लिए प्रवास पाठमिलान, आदि शारीरिक श्रमसाध्य कार्यों को स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी ने किये थे। फलतः इनके उत्साह को स्थायित्व देने के लिए पंडित (कै० च०) जी ने इन्हें ही सम्पादक रूप में स्वीकार किया था। और अपने को केवल 'भूमिका-लेखक' ही रखकर तत्कालीन जैन-मनीषियों (स्व० पं० सुखलालजी संघवी, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारादि) को चकित कर दिया था। तथा अपनी सूक्ष्म-परख और तटस्थ दृष्टिकोण का लोहा मनवा दिया था। जिसके दर्शन उनकी मौलिक कृति 'जैन इतिहास की पूर्व-पीठिका' में होते हैं।

'हाजिर में हुज्जत नहीं गैर की तलाश नहीं'—

जब आर्यसमाज के प्रमुख शास्त्रार्थी विद्वान् ने ही जैन तत्वज्ञान पर मुग्ध होकर 'स्वामी कर्मानन्द' रूप धारण कर लिया तो सामाजिक उत्थान की उपशम-श्रेणी के ज्वलन्त निदर्शन, स्व० पं० राजेन्द्रकुमार जी ने 'शास्त्रार्थ-संघ' के विधायक रूप को प्रधानता दी। और शार्दूल पंडित से प्रभावित जिनधर्मी-समाज ने अग्रज-जिनधर्मी संस्थाओं (भा० महासभा तथा परिषद्) से अधिक महत्व भा० दि० जैनसंघ को दिया। तथा एक दशक में ही इसका मुखपत्र, सरस्वती भवन, प्रकाशन, भवन तथा (जीवनदानी, स्वात्मसंतुष्ट तथा समर्पित) दर्जनाधिक वक्ता लेखक तथा संचालकों ने संघ को जीवन्त संस्था बना दिया था।

सर्वोत्तम-प्रेरित सहयोगी—

इस यात्रा में स्व० प० कैलाशचन्द्र जी सर्वोपरि थे। क्योंकि वे 'अहिंसा' 'भगवान महावीर का अचेलक धर्म' आदि पुस्तिकाए (ट्रैक्ट) भी उसी गंभीरता से लिखते थे, जिसकी झलक 'जैन सन्देश' के सम्पादकियों में स्पष्ट थी। 'जैन-धर्म' ऐसी मौलिक सुपाठ्य कृति ने उत्तरकालीन लेखको को इतना प्रभावित किया था कि इसके तुरन्त बाद ही समाज को 'जैनशासन' तथा 'जैन दर्शन' पुस्तके देखने को मिली थी। यही कारण था कि 'सघ' ने जब 'जयधवल का प्रकाशन हाथ मे लिया तो पंडित (कै०च०) जी ही प्रधान सम्पादक रहे। गो कि वे मुक्तकंठ से कहा करते थे कि इन मूल सिद्धांत ग्रन्थो के उद्धार का श्रेय, धीमानों में स्व० पं हीरालाल (साढूमल), फूलचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री तथा बालचन्द्र शास्त्री (वीर सेवा मन्दिर) को इनके प्रधान सम्पादको (स्व० डा० हीरालाल, आ० ने० उपाध्ये) की अपेक्षा अधिक है। तात्पर्य यह कि सिद्धान्ताचार्य (कै०च०) जी को साथियो या समाज ने जो कार्य या पद दिया उसे उन्होने ईमानदारी से सभाल कर सुख माना। तथा अन्य विद्याव्यासंगियो के समान किसी दायित्व या प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न नही किया। वे कहा करते थे कि मैं तो 'धर्म और अधर्म द्रव्यों के समान तटस्थ या अन्यथासिद्ध कारण हू। विद्यालय (स्या० म० वि०), 'सघ' तथा प्रकाशनादि के लिए यदि होते है तो मैं अनुगामी होने मे भी सकोच नही करता, नही होते तो, मैं अग्रगामी नहीं बनता।'

स्पष्ट ज्ञानपुंज—

उनका अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, लेखन तथा सम्पादन प्रसाद, माधुर्य एव सार-पूर्ण होता था। वे जिन ग्रन्थों को पढ़ते-पढ़ाते थे वे या उनकी वस्तु (मूलविषय) उनकी स्मृति मे अंकित हो जाती थीं। यही कारण है कि अपने जीवन के अन्तिम तथा कर्मठ दशकों में वे 'जैनन्याय' जिनवाङ्मय के इतिहास के समस्त खंडो को ही नही, बल्कि जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, आदि को साधारण स्वाध्यायियो के लिए सुगम कर गये है। प्रारम्भ में 'जयधवल' कार्यालय के कारण बना अपराण्ह २ से ५ बजे तक बैठने, चिन्तन और लेखन का दायित्व उनका स्वभाव बन गया था। जो जब तक किसी प्रबल असाता के उदय; अर्थात् १९८० तक एकरूप से चला। इसके बाद कुछ तथोक्त-प्रशंसको के कारण प्रकृति मे परिवर्तन आया। तथापि उन्होने हार नही मानी। यही कहते रहे कि 'अभी मुझे अपने में बुढ़ापे के कोई लक्षण नही दिखते। शारीरिक दृष्टि से यह सत्य भी था। क्योकि युवावस्था के साथ ही दमापीड़ित अपनी काया को उन्होने जिह्वा-निग्रह, औषधि तथा पोषक-ग्रहण और पत्नी को तीसरी शल्य-प्रसूतिजन्य मृत्यु के सयोग से बचाने के लिए कृत पुंवेद-नियन्त्रण रूप संयम के द्वारा ऐसा कर लिया था कि परिणत वय में उन्हे देख कर कोई कल्पना भी नही कर सकता था कि ये कभी दमा के रोगी रहे होंगे। वे अपने जीवन से सतुष्ट थे। कहा करते थे —

अन्त समय—

'अभी क्या जाना, अन्त समय ठीक बीत जाये तो मानूगा।' क्या उन्हें अपने भविष्य का आभास था? दांत, आख, कान और अत में स्मृति ने भी उनका ख्याल नहीं किया। जिनधर्मी वाङ्मय का चलता-फिरता रूप विवश हो गया पूर्वबद्ध निकाचित के उदय के सामने। उनसे अन्तिम भेंट के बाद से ही सोचता हूं—"मित्र-पुष्ट एवं मान्य जैनवाङ्मय का संयत एव समर्पित साधक, अब नही रहेगा। जिज्ञासाए अब भटकेगी।" वह दीपक बुझ गया। अपने गुरुओ, साथियो और हम अनुजो से अधिक कर्मठ, प्राप्तालयसतोषी तथा आ-चैतन्य शारदा साधक को यदि बुद्धिभ्रन्श हो सकता है, तो हमारा भविष्य? "विधिरहो बलवानिति मे मतिः"। शत-शत प्रणामों सहित—

—खुशालचन्द्र गोरावाला

हम यूं ही मर मिटेंगे तुमको खबर न होगी

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, सम्पादक 'अनेकान्त'

उक्त पंक्ति एक गाने की है जो अपने मे बड़ा भावना और दर्द रखती है। हर वह प्राणी जो कुछ जानता—समझता है उसे जीवन में गुनगुनाता रहता है और आखिर में चला जाता है। शायद हमारे महामना पूज्य पं० श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री भी जीवन भर इसे गुनगुनाते रहे—इसी भाव को लिखते रहे और जाते-जाते पंक्ति को यूं ही छोड़ गये लोगों को गाने, समझने और मनन करने के लिए।

मुझे याद है जब मैं स्याद्वाद विद्यालय में निकाला नही गया था—वहां का व्यवस्थापक था। पंडितजी प्रायः शिक्षा-प्रद फिल्मों के देखने के शौकीन थे। उनको और साथ में स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य को प्रायः किसी शाम में पिक्चर हाल में आसानी से देखा जा सकता था।

मुझे अक्सर तब सहमकर बरबस यूँ ही रह जाना पड़ता था जब मै किसी छात्र को पिक्चर देखने के दण्ड-स्वरूप कुछ डाट-फटकार सुनाना चाहता था और वह बरबस कह उठता था—'पण्डित जी भी तो देख रहे थे।'

एक दिन हिम्मत जुटाकर, विद्यालय की छत पर घूमते हुए बातों-बातों में मैं पण्डित जी से कह ही बैठा, कि कभी-कभी लड़के ऐसा जवाब देकर कि 'पण्डित जी भी तो देख रहे थे', मुझे मौन रहने को मजबूर कर देते है। पण्डित जी को मुझसे स्नेह तो था ही। उन्होंने मुझे समझाया—पद्मचन्द्र जी, लड़कों को तो डाटना ही चाहिए, वे नासमझ होते हैं, फिल्मों की अच्छाइयों का उन्हें कहाँ बोध होता है? वे बुराइयों को ही अधिक ग्रहण करते है। उन्होंने आगे कहा—आप जानते हैं कि मै दिनभर साहित्यिक काम करता हूं, तत्त्व-चिंतन करता हू और मुझे पिक्चरों में भी तत्त्व की ही पकड़ रहती है। उदाहरणार्थ उन्होंने अपने मधुर कण्ठ से एक पंक्ति सुनाई—'हम यूं ही मर मिटेंगे, तुमको खबर न होगी।'

वे बोले—आप जानते है कि वह समाधावस्था का वह सार है जिसे खोजते-खोजते हमें यूँ ही बरसों बीत गये और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस रहस्य को खोजते-खोजते चले गये। आदि

आज मैं सोचता हू कि वास्तव मे पंडित जी बड़े दूर-दर्शी थे और उनका वह दूर-दर्शन तब सही रूप में अनुभव में आया, जब उनकी रुग्णावस्था में कोठिया जी जैसे कई मनीषियों को बरबस समाज का ध्यान उनकी ओर खींचना पड़ा कि वह पंडित जी की तीमारदारी करे—उनकी खबर ले। यह बात अलग है कि उनके सुपुत्र आदि सम्बन्धी और कुछ पास-पड़ोसी उनकी सेवा करते रहे हों, पर, अखिल जैन समाज और खासकर—समर्थ और नेता-टाइप समाज का यह परम कर्तव्य था। हम नही जानते कितनों ने पंडित जी की तीमारदारी में योग दिया और उनकी बीमारी मे उनकी सुध ली? कितनों ने उनके उपकारों को सही रूप में माना? इसे वे ही जाने! वरना, समाज के रवैय्ये के प्रति हमारा तो वैसा ही अनुभव है जैसा कि पंडित जी ने कहा था—'हम यू ही मर मिटेंगे, तुमको खबर न होगी।'—पंडित जी चले गये और हमें खबर तक भी न हुई और हुई तो बड़ी देर से—कछुए की चाल से।

इस प्रसंग मे समाज अपने अतीत को भी देखे कि उसने अतीत के अनगिनत उपकारियों के प्रति कैसा रवैय्या अपनाया? भले ही समाज ऐसी हस्तियों को उनके प्रति उनके जीवनकाल में उन्हें अभिनन्दन देता रहा हो, उनके जयकारे बोल, उन्हे माल्यार्पण करता रहा हो। पर, उसने उनसे कुछ ग्रहण नही किया और जो उन्हें दिया वह अंतिम दिनों उनके काम न आया। यदि अभिनन्दन ग्रन्थ आदि ही से सब कुछ काम हो जाता होता, तो क्यों नही, बीमार के सिरहाने वे रख दिए जाते? जिनसे बीमार की तीमारदारी हो जाय और कोठिया आदि जैसे प्रबुद्धों को तीमारदारी के प्रति चिन्तित न होना पड़े। वस्तुतः (शेष पृ. ८ पर)

स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के प्रति :

मनीषी व श्रीमानों के उद्‌गार

श्री फूल चन्द्र शास्त्री—

'यह शिकायत तो हमेशा से सुनी जाती रही है कि धीरे-धीरे शास्त्रीय पण्डितों का अभाव होता जा रहा है। पर इस समस्या को कैसे सुलझाया जाए, यह बात अभी तक निश्चित नहीं हो पाई है। इसका हल निकलना भी कठिन है।

बात यह है कि स्वराज्य के बाद एक ओर प्रत्येक व्यक्ति का लौकिक जीवन स्तर बढ़ने लगा है और दूसरी ओर महगाई ने चरम सीमा गाँठ ली है। समाज चाहे भी तो यह समस्या सुलझ नहीं सकती।

जो वर्तमान त्यागी-मुनि हैं वे पढ़ने में विश्वास नहीं करते। जब वैसे ही उनकी आहार-पानी आदि की अनुकूलताए बन जाती है तो वे पढ़े क्यों। उन्हे ठण्ड से बचने के लिए हीटर चाहिए, गर्मी के ताप से बचने के लिए पखा चाहिए, एक स्थान से दूसरे स्थान तक उनके परिग्रह को ढोने के लिए मोटर गाड़ी चाहिए, उनकी सेवा टहल आदि के लिए आदमी चाहिए, ड्राइवर चाहिए। समाज इस सब का प्रबन्ध उनके बिना लिखे पढ़े ही करती है। वे फिर पढ़े लिखें क्यों।

मार्ग के विरुद्ध समाज की इस विषय में रुचि का कारण है उसकी चाह। समाज मे कुछ कुटुम्ब ऐसे हैं जो ताबीज आदि में विश्वास करते है। देवी-देवता मे विश्वास करते हैं। त्यागी-मुनि भी ऐसे ही कुटुम्बों की इस कमजोरी को जानते है। इसलिए वे अपने त्यागी-मुनि के जीवन को लौकिक सुख रूप बनाए रखने के लिए इस मार्ग को अपनाते हैं। धर्मशास्त्र तो मूक है। हस्तक्षेप करे तो कैसे करे।

त्यागी मुनि जानते हैं कि ऐसा करने से हम त्यागी मुनि भी बने रह सकते है और लौकिक इच्छाएं भी पूरी कर सकते है। समाज मे ऐसा वर्ग या सम्प्रदाय है जो इसका साधक है। आगम की उसे चिन्ता नहीं, चिन्ता है अपने सुख-सुविधा की। इसलिए वह वर्ग ऐसे त्यागी-मुनियों को पसन्द करता है जो इस वर्ग की ऐसी इच्छा की पूर्ति में सहायक होते हैं। इच्छा की पूर्ति होना अन्य बात है। इच्छा की पूर्ति हो या न हो। यह एक दुकान है जो दोनों के सहयोग से चलती है।

यह वर्तमान स्थिति है, इसलिए हम जानते है कि जो गया, वह गया। इसकी पूर्ति होना असम्भव है। मान्य पण्डित जी श्री कैलाशचन्द्र जी गये, उनकी पूर्ति न हम कर सकते हैं और न कोई अन्य विद्वान भी। वे अपने ढग के बेजोड़ थे। पर्याय अस्थायी है, वह नियम से जाती है। उसका स्थान अन्य नही ले सकता।

आज वे हमारे बीच मे नही है। उनके वियोग को हमे सहना पड़ रहा है। उनका साहित्य हमारे लिए मार्ग दर्शक बने। और मार्ग दर्शक के रूप में हम सदा उनको याद करते रहें यह इच्छा है।'

श्री जगन्मोहन लाल शास्त्री—

'उनकी लेखनी दमदार थी, आगम पक्ष सदा उनके सामने रहता था और समाज की उन्नति उनका ध्येय था। कुरीतियों, धार्मिक शिथिलताओं की ओर उनका कड़ा कदम रहता था। विरोध और निन्दा और अन्याय भी उनको सहना पड़ा, पर पैर पीछे नही किए। वे शूरवीर थे दृढ़ सकल्पी थे। साहित्य क्षेत्र में षटखण्डागम, कषाय पाहुड जैसे वरिष्ठ आगम के सूत्रों की तथा उनकी कठिनतम टीकाओ का अनुवाद करने मे उनका प्रमुख हाथ रहा, अनेक ग्रन्थो की स्वय टीका की, अनेक ग्रन्थों का अनुवाद भी किया।

मेरी उनके प्रति सविनय सप्रेम श्रद्धांजलि है।'

श्री रतन लाल कटारिया—

'काशी के स्याद्वाद महाविद्यालय के वे प्राण थे, उन्होने आजीवन सुदीर्घ काल तक वहाँ अध्यापन का कार्य किया

था। उनके अनेक शिष्य हैं जो अच्छे पदों पर हैं, कोई लोक सेवा कर रहा है। कोई समाज सेवा कोई साहित्य सेवा। समाज को उन्होने अपनी प्रतिभा का खूब दान दिया। जहाँ भी वे धर्म प्रचारार्थ गये अपने लिए कभी कुछ भेट नही ली। आज ऐसे निःस्वार्थ विद्वान कम ही है। उन्होंने महान सिद्धांत ग्रन्थ जयधवला के सम्पादनादि मे भी पूरा सहयोग दिया।'

श्री ज्ञान चन्द खिन्दूका—

'पं० साहब का जीवन साहित्य-सपर्या के लिए समर्पित था। अनेक ग्रन्थों का सृजन, सम्पादन, अनुवाद कर, अनेक पत्र-पत्रिकाओ का कुशल सम्पादन कर आपने सरस्वती की अभूतपूर्व सेवा की है। स्याद्वाद महाविद्यालय काशी के अधिष्ठाता के रूप मे पंडित जी का समाज के लिए दिया गया, अवदान स्वर्ण अक्षरों में अंकित रहेगा। उनका उदार सामाजिक दृष्टिकोण और तर्कसम्मत विचार धारा उनके निर्भीक भाषणो एव लेखों में स्पष्ट प्रतिध्वनित होती है।

ऐसे महान साहित्य-सेवी, भद्र-परिणामी, सादा जीवन जीनेवाले, सरल एवं निस्पृह व्यक्तित्व के प्रति हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते है।'

श्री प्रेमचन्द जैन, जैना वाच कम्पनी—

'श्रीमान पंडित जी जैसा निर्भीक वक्ता समाज को मिलना अत्यन्त कठिन है तथा उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करना भी संभव नही है। कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी पंडित जी के पग वीतराग मार्ग से नही डगमगाए।

उनकी आत्मा को उत्तरोत्तर काल में संसार बंधन को छेद कर मुक्ति का लाभ हो ऐसी हम प्रार्थना करते हैं।'

डा० निजामुद्दीन—

'सिद्धांताचार्य प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने जैन धर्म दर्शन पर विपुल साहित्य की रचना कर नयी धर्म ज्योति लोगों के अन्तःकरण मे जलाई, एक नयी दृष्टि प्रदान की, नयी प्रेरणा दी। वह जैन धर्म दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनकी विद्वता को बड़ा सम्मान प्राप्त था। वह अनासक्त कर्म योगी थे, जिसका ज्वलंत प्रमाण उनका 'श्री स्याद्वाद महाविद्यालय' (वाराणसी) है।'

श्री पन्नालाल साहित्याचार्य—

'सिद्धांताचार्य प० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री जैन विद्वत् समाज के महनीय विद्वान थे। वे शिक्षक, लेखक, पत्रकारिता और वक्तृत्वकला के पारगामी थे। अर्धशती से अधिक काल तक स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के प्राचार्य पद पर स्थित रहकर आपने सभी प्रान्तो के अनेक बालकों को निष्णात विद्वान् बनाया है। धवला तथा जयधवला आदि सिद्धांत के गहन ग्रन्थों की टीका तथा उनकी महत्वपूर्ण विस्तृत प्रस्तावना लिखकर नवीन शोध छात्रों को शोध का मार्ग प्रदर्शित किया है। प्रारम्भ से ही जैन संदेश के प्रधान सम्पादक रहकर अपने सग्रहणीय सम्पादकीय लेखो मे उसकी गरिमा बढ़ाई है। अपने छात्रों को उन्नत पदों पर देखकर आप प्रमोद का अनुभव करते थे। प्राचार्यत्व के काल मे आपने उद्दण्ड छात्रों की उद्दण्डता को पिता के समान सहन कर विनयशील बनाया है। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत परिषद के आप दो बार अध्यक्ष रह चुके हैं। और उसका ऐसा कोई अधिवेशन नही रहा जिसमे आप की उपस्थिति न रही हो। आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी के सानिध्य मे चलने वाली षट्खण्डागम की सभी वाचनाओ में उपस्थित रहकर आपने गहन ग्रन्थो की वाचना को सरल एव सुग्राह्य बनाया है।

आपके निधन से जैन विद्वज्जगत् को अपूरणीय क्षति का अनुभव करना पड़ा है। मैं एक छात्र के नाते उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ उनके लिए सुख शान्ति की कामना करता हू।'

श्री साहू अशोक जैन, अध्यक्ष दि० जैन— तीर्थ क्षेत्र कमेटी

'पंडित जी के वियोग मे यह समाज ज्ञान के पथ मे अनाथ जैसी हो गई है उन्होने अपने जीवन मे समाज को जो दिया है। उसे कुछ शब्दों मे लिखा नही जा सकता। पं० जी वास्तव मे सरस्वती के वरद् पुत्र थे। उन्हे मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि।'

श्री रतनलाल गंगवाल—

'पंडित जी दिगम्बर जैन समाज के एक ऐसे स्तम्भ थे जिन्होंने अपने ज्ञान से इस समाज को सदैव आलोकित किया, माता जिनवाणी के वे सच्चे सपूत थे निर्विकार भाव से जीवन पर्यन्त वे समाज का मार्ग दर्शन करते रहे।

मैं पंडित जी के प्रति अपनी श्रद्धापूर्ण विनयांजलि अर्पित करता हूं और उनके परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना।'

श्री डालचन्द जैन, सांसद—

'भारतीय दि० जैन समाज उनके वियोग में आज व्याकुल है। मेरी हार्दिक विनयांजलि।'

श्री साहू श्रेयांसप्रसाद जैन—

'दिगम्बर जैन पण्डितों की परम्परा में प० कैलाशचन्द्र जी ऐसे सुमेरू माणिक्य थे, जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के प्रतीक के रूप में युग-युगान्तरों तक एक जीवन्त तीर्थ के रूप में स्मरणीय रहेंगे। उनकी वीतराग, धर्म दर्शन साहित्य एवं तीर्थ में श्रद्धा अगाढ़ और अविचल थी। पण्डित जी ने अपने गम्भीर चिन्तन, लेखन, सम्पादन, प्रवचन अध्यापन और संस्था निर्माण व संचालन आदि प्रवृत्तियों में रुचि लेकर सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में विशिष्ट सहयोग देकर समाज में स्थायी कीर्तिमान स्थापित किया। समाज को समय पर सही दिशा की ओर उन्मुख करने में पं० कैलाशचन्द्र जी की सूझबूझ बहुत ही प्रशसनीय मानी जाएगी।

भारतीय परम्परा के मनीषी के प्रति मैं अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

दरबारी लाल कोठिया, सम्पादक —

'कैसे हो मन पर वे आये, श्रोता एक टक होकर उनके धारा प्रवाह भाषण को सुनते थे। उनके श्रोता हजारों या लाखों हों, सभी वे प्रभावित कर लेते थे। वे शास्त्र प्रवक्ता भी असाधारण थे। अष्टाह्निका पर्व पर वे बम्बई गये थे। एक दिन उन्होंने आत्म-तत्त्व पर ऐसा प्रवचन किया कि श्रोता मंत्र मुग्ध हो गए। शास्त्र-प्रवचन के बाद एक श्रोता उनके पास पहुंचे और बोले कि पंडित जी! आप को तो आत्म-साक्षात्कार हो गया होगा।' पण्डित जी ने बतलाया कि कोठिया जी मैं उनको क्या उत्तर देता?' आत्म-तत्त्व पर बोलना अलग चीज है और उसका साक्षात्कार होना अलग चीज है। आत्म-साक्षात्कार के लिए पूर्ण संयम, इन्द्रिय निग्रह, मनोनिरोध और तपश्चर्या आदि आवश्यक है। पण्डित जी ने यह संस्मरण ज्यों-का-त्यों सुनाया। वास्तव में वे प्रभावक वक्ता थे।

हम शिष्य समुदाय की ओर से उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए उनकी आत्मा को शाश्वत शान्ति-लाभ की कामना करते हैं एवं परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं।'—(संकलित)

(पृ० ५ का शेषांश)

यह भी सोचने की बात है कि पंडित जी जैसी धार्मिकता, निर्भीकता, निःस्वार्थता कितनों में है और कितनों में धर्म के प्रति वैसे समर्पण के भाव है जैसे उनमें थे? पण्डित जी धर्म के सही विवेचन करने में कभी चूके नहीं—'कह दिया सौ बार उनसे जो हमारे दिल में है।' ऐसे पण्डित जी को हमारे शत-शत नमन।

देखना यह भी होगा कि भविष्य में कितने नवीन-पण्डित अपने को पण्डित जी के रूप में ढाल पाएँगे? आशा तो नहीं कि केवल आजीविका की दौड़-धूप वाले पण्डित पण्डित जी की पण्डित-परम्परा को जीवित रखने में समर्थ हो सकेंगे! और यह भी आशा नहीं कि केवल नेता-टाइप लोग पण्डितों की कद्र कर सकेंगे—सभी अपने-अपने स्वार्थों में लगे हैं। आज तो कई मुनियों का यह हाल है कि वे त्याग के स्थान पर संग्रह में और तप के स्थान पर जनता के हित के नाम पर, चिन्ताओं में तप रहे हैं। ऐसे में कैसे और किनसे पूरा हो सकेगा, पण्डित जी का मिशन?

हमारा विश्वास है पण्डित जी का मिशन तभी पूरा होगा जब पण्डित निःस्वार्थी होंगे, धार्मिक जन पण्डितों की सुख-सुविधा के ध्यान रख उन्हें मान देंगे और त्यागी-मुनि आदि सामाजिक-प्रवृत्तियों से दूर—अपनी आत्म-साधना में लगे रहेंगे। हम अपने मन्तव्य को इन शब्दों के साथ पूरा करते हैं कि—हम सब पण्डित जी के आदर्श मार्ग पर चलें और जो कुछ करें—धर्म सम्मत करें धर्म के लिए करें। वीर सेवा मन्दिर परिवार और डा० ज्योति प्रसाद आदि सम्पादक मण्डल (अनेकान्त) पण्डितजी के प्रति सादर श्रद्धावनत हैं।

शिलालेखों के सर्वांगपूर्ण स्तरीय प्रकाशन की आवश्यकता

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

"शिलालेख" शब्द का सामान्य अर्थ है किसी शिला या पाषाणखंड पर अंकित अथवा उत्कीर्ण अभिलेख। किन्तु इसका उपयोग अब व्यापक अर्थों में होता है और इसके अन्तर्गत वे समस्त पुरातन अभिलेख जो किसी स्थान के ऐतिहासिक भवनों, देवालयों, स्तंभों, स्मारकों, मूर्तियों, कलाकृतियों, शिलापट्टों आदि पर उत्कीर्ण या अंकित पाये जाते है, सम्मिलित है। प्राकृतिक या उत्खनित गुफाओं अथवा गुहामंदिरों, तीर्थस्थानों आदि में प्राप्त शिलांकित लेख तथा पाषाण के अतिरिक्त विभिन्न धातुओं से निर्मित मूर्तियां, यन्त्रों, आदि पर अंकित लेख, और दानशासनों के रूप में लिखाये गये ताम्रपत्रो, या ऐसे ही अन्य शासनादेशो आदि से युक्त लेख भी इसी कोटि में आते है।

इतिहास के साधनस्रोतों मे शिलालेखीय सामग्री का सर्वोपरि महत्व निर्विवाद है। शिलालेख में जिन व्यक्तियों घटनाओ एवं तथ्यों आदि का उल्लेख होता है, वे उसके अंकित कराये जाने के समय, तथा कभी-कभी कुछ पूर्ववर्ती समय से सम्बद्ध वास्तविक होते हैं, अतएव प्रायः असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक होते है। इसके अतिरिक्त, शिलालेख बहुधा सैकड़ो-सहस्रों वर्ष पर्यन्त अपने मूलरूप में प्रायः यथावत बने रहते हैं। भारतवर्ष मे साहित्य सृजन तो विभिन्न भाषाओ मे विविध, विपुल एव उच्चकोटि का होता रहा, किन्तु उसमे ऐतिहासिक विधा उपेक्षित रही— क्रमबद्ध व्यवस्थित शुद्धइतिहासलेखन की यहाँ प्रायः प्रवृत्ति ही नही रही। अतः यदि शिलालेखीय सामग्री प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध न रही होती, तो अनेक युगो अनेक प्रदेशों, राज्यो, राजा-महाराजाओ, एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियो के इतिहास का निर्माण ही असंभव होता। अशोक, मौर्य और कलिंग चक्रवर्ती खारबेल जैसे महान सम्राटो के इतिहास के मूल एवं एकमात्र आधार उन नरेशों के शिलालेख ही है। सातवाहन नरेश गौतमी पुत्र शातकीर्णि की नानाघाट-प्रशस्ति, शक क्षत्रप रुद्रदामन प्रथम की जूनागढ़-प्रशस्ति, सम्राट समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति और चालुक्य पुलकेशिन द्वि० की ऐहोल-प्रशस्ति उक्त नरेशों के व्यक्तित्व एव कृतित्व की एक मात्र एवं समर्थ परिचायक है। गंग, पल्लव, कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, होयसल आदि अनेक राज्यवंशों के इतिहास के प्रधान साधन उनके शिलालेख ही है। गत दो-अढ़ाई हजार वर्षों के जैन इतिहास के पुनर्निर्माण में भी जैन शिलालेखों से ही कल्पनातीत सहायता मिली है, उनसे कई प्रदेशों के, विशेषकर कर्णाटक आदि दाक्षिणात्य देशों के राजनैतिक इतिहास पर भी अभूतपूर्व प्रकाश पड़ा है।

१९वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध मे ही अशोक मौर्य के शिलालेख एवं स्तम्भलेख प्रकाश मे आने थे और स्टरलिंग ने खारवेल का हाथीगुफा शि० ले० खोज निकाला था। तदनन्तर भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के जनरल कनिंघम आदि ने उन्हे यत्र-तत्र प्राप्त अनेक शिलालेखो का परिचय दिया, स्मिथ, लूईस और फुहरर ने मथुरा व आसपास के शि० ले० प्रकाशित किये, लुइसराइस ने मैसूर एव कुर्ग का इतिहास वहाँ प्राप्त शि० लेखों के आधार से लिखा, आर० नरसिंहाचारि ने श्रवण-बेलगोल में प्राप्त शि० लेखो को (एपी० कर्णा०, भा० २ में) प्रकाशित कर दिया। किन्तु उसके पूर्व ही, फ्रांसीसी विद्वान डा० ए० गिरनाट ने १९०८ ई० मे अपने निबन्ध "रिपर्टोयर डी ऐपीग्रेफी जैना" मे उस समय तक ज्ञात समस्त जैन शि० लेखो को प्रकाशित करा दिया था, जिसका सारांश कालान्तर में हिन्दी में जैन सिद्धांत भास्कर (आरा) में भी प्रकाशित हुआ। इस प्रकार, वर्तमान शती के प्रारंभ से पूर्व ही ज्ञात एव उपलब्ध शि० ले० पर विद्वत्तापूर्ण ऊहापोह तथा नवीन शि० ले० की खोज, शोध एव प्रकाशन की प्रक्रिया द्रुतवेग से चल पड़ी थी। परिणामस्वरूप, रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई तथा बंगाल-बिहार-उड़ीसा आदि शाखाओ के जर्नलों, एपीग्राफिया इंडिका, एपीग्राफिया कर्णाटिका, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, इंडियन एन्टीक्वेरी, मद्रास एपीग्रेफीकल रिपोर्ट, मैसूर आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट, साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, इण्डियन आर्कियोलाजी आदि की विभिन्न जिल्दो मे अनगिनत जैनाजैन शिलालेख प्रकाशित हुए। जैन श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध, विशेषकर शत्रुंजय, पाली-

ताना, आबू एवं कतिपय अन्यत्र प्राप्त अभिलेखों का संग्रह स्व० बा० पूर्णचन्द्र नाहर ने अपने "प्राचीन जैन लेख संग्रह" (३ भागों) मे किया, एक अन्य बृहद् सकलन स्व० अगरचन्द नाहटा ने "बीकानेर लेख संग्रह" के नाम से किया था, कुछ एक अन्य भी छोटे-मोटे सग्रह प्रकाशित हुए, और इस प्रकार लगभग ३५०० श्वे० जैन शिलालेख प्रकाशित हो चुके है।

दिगम्बर जैन परम्परा म आधुनिक साहित्यैहासिक शोधखोज के पुरस्कर्त्ताओं मे स्व० प० नाथूराम जी प्रेमी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। डा० गिरनाट की पुस्तक से प्रेरणा लेकर, अपनी परम्परा से सम्बद्ध शिलालेखो के प्रकाशन में उन्होने ही पहल की। फलस्वरूप, श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला समिति, जिसके वह मंत्री थे, के ग्रथांक-२८ के रूप मे, १९२८ ई० म, प्रेमी जी ने जैन शिलालेख सग्रह-भा० का प्रकाशन किया। इस संग्रह का संकलन एवं सपादन उन्होंने प्रो० हीरालाल जैन से कराया, जो अपनी विश्वविद्यालयी शिक्षा समाप्त करके कुछ ही समय पूर्व अमरावती के किंग एडवर्ड कालिज मे सस्कृत के अध्यापक नियुक्त हो गये थे। प्रोफेसर सा० ने बडे उत्साह एव परिश्रम से इस भाग में श्रवणबेलगोल एव उसके आस-पास के ५०० अभिलेखों के मूलपाठो का संकलन किया, बहुभाग लेखो का हिन्दी मे सक्षेपसार या अभिप्राय भी साथ-साथ सूचित किया, लगभग १५० पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण ऐतिहासिक प्रस्तावना भी लिखी, अन्त में नामानुक्रमणिका भी दी। इस सग्रह का दूसरा भाग, उसी ग्रंथमाला के ग्रंथांक-४५ के रूप मे १९५२ ई० मे प्रकाशित हुआ, जिसमे ३०२ अभिलेख सग्रहीत हुए। तीसरा भाग, ग्रथाक-४६ के रूप मे १९५६ ई० मे प्रकाशित हुआ, जिसमे ५४४ अभिलेख संग्रहीत हुए। इन दोनो भागों के सकलक प० विजयमूर्ति शास्त्राचार्य थे, किन्तु तीसरे भाग के प्रारभ में स्व० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी द्वारा लिखित लगभग पौने दो सौ पृष्ठ की विस्तृत ऐतिहासिक प्रस्तावना भी है। संग्रह के चतुर्थ एवं पचम भाग के संग्रहकर्ता एवं सम्पादक डा० विद्याधर जोहरापुरकर है। प्रत्येक के प्रारभ में उनकी उपयोगी प्रस्तावना भी है। ये दोनो भाग, क्रमश: १९६४ और १९७१ ई० मे भारतीय ज्ञानपीठ, काशी/दिल्ली से प्रकाशित हुए हैं। चतुर्थ भाग में ६८८ और पंचम में ३७५ अभिलेख संग्रहीत हुए। इन दोनों भागों के प्रारम्भ में ज्ञानपीठ-ग्रंथमाला के प्रधान सम्पादक द्वय, विद्वद्वर्य डा० हीरालाल जैन एव डा० ए० एन० उपाध्ये के उपयोगी प्रधान-सपादकीय वक्तव्य भी प्रकाशित है। इस प्रकार जैन शिलालेख के सग्रह के पाँचों भागो मे कुल मिलाकर साधिक २७०० शिलालेख प्रकाशित हो चुके है। इनके अतिरिक्त, आहार के शि० ले०, देवगढ के शि० ले०, मैनपुरी-एटा आदि के तथा सूरत के यत्र एव प्रतिमालेख पृथक्-पृथक् लघु प्रकाशनो मे प्रकाशित हुए है। नाहटा जी के बीकानेर लेख सग्रह मे भी अनेक दिगम्बर जैन अभिलेख संग्रहीत है, और जैन सिद्धात भास्कर, अनेकात, शोधांक आदि पत्रिकाओ मे भी यत्र तत्र अनेक फुटकर लेख प्रकाशित हुए हैं। अत: अद्यावधि दिगम्बर जैन परम्परा से सम्बद्ध सब मिलाकर लगभग साढे तीन-चार हजार शि० ले० प्रकाश में आ चुके है। यदि देश भर के समस्त जिनमदिरो मे विराजमान, विभिन्न सग्रहालयो मे संरक्षित, तथा प्राचीन पुरातात्विक स्थलो एव भग्नावशेषों मे यत्र-तत्र बिखरी पड़ी खडित-अखडित जिनप्रतिमाओं के पादपीठ आदि पर अकित अभिलेखों का भी आकलन किया जाय तो दिगम्बर जैन परम्परा से सबधित शिलालेखों की संख्या दश सहस्र से भी अधिक होने की संभावना है।

जो शिलालेख, जिस रूप मे भी प्रकाशित है, उनसे अनेक जैन राज्यवशों, जिनधर्म के पश्रयदाता अथवा उसके प्रति सहिष्णु राजाओं-महाराजाओं, राजमहिलाओ, राजपुरुषो, सामन्त-सरदारो, मन्त्रियों और सेनापतियो, धर्मप्राण श्रेष्ठियो, साहित्यकारों और कलाकारो, श्रावकों-श्राविकाओ, विभिन्न मुनिसघों एव उनके प्रभावक्षेत्रों, प्रभावक आचार्यों, मुनिराजो एवं आर्यिकाओ, अनेक तीर्थों एव सांस्कृतिक केन्द्रों, मदिरो आदि धार्मिक निर्माणों, सस्थाओ एव प्रवृत्तियों के विषय मे प्रभूत उपयोगी एव रोचक ज्ञातव्य प्राप्त हुए है। तथापि यह जानकारी बहुत कुछ स्थूल, सतही या अपर्याप्त ही है। यह युग गभीर तलस्पर्शी शोध-खोज और अनुसधान का है। उस दृष्टि से प्रकाशित शिलालेखों का जो रूप एवं विवरण प्राप्त हैं

वह सदोष एवं अपर्याप्त है। प्राप्त शिलालेख प्राकृत, संस्कृत, कन्नड, तामिल, तेलेगु आदि विभिन्न भाषाओं के हैं। लिपि भी कई प्रकार की प्रयुक्त हुई है। काल और क्षेत्र के भी अन्तर है। जिन अंग्रेजी प्रकाशनो से वे लिए गए है उनमें वे बहुधा रोमन लिपि मे प्रकाशित है और उनका अविकल शब्दानुवाद क्वचित् ही प्रस्तुत किया गया है। अतएव उपरोक्त जैन शिलालेख-संग्रहो मे प्रकाशित अभिलेखो के पाठ मुख्यतया उक्त अंग्रेजी प्रकाशनो पर से लिए गए होने के कारण बहुधा सदोष, त्रुटिपूर्ण अथवा अशुद्ध भी है—वे सर्वथा एवं सर्वत्र यथावत भी नही है। संग्रहों मे अनेक शिलालेखो का तो मूल पाठ भी नहीं दिया गया है, केवल सामान्य परिचय या संक्षिप्त अभिप्राय से ही सन्तोष कर लिया गया है। संग्रहों के संकलको-सम्पादकों को शिलालेखों की भाषाओ, विशेषकर कन्नड़, तमिल, तेलेगु आदि का प्राय कोई ज्ञान रहा प्रतीत नही होता। इस कारण उनके द्वारा प्रदत्त अभिलेखो के परिचय या सारांशादि भी अनेक बार अनुमानपरक, सदोष या भ्रांत हो गए हैं। शिलालेखों के मूल संदर्भ भी अनेक बार सदोष एवं अपर्याप्त है।

वस्तुतः, जैसा कि जैन-शिलालेख संग्रह, भाग-४ के प्रधान संपादक डा० हीरालाल जी एवं डा० उपाध्ये जी ने अपने संयुक्त वक्तव्य (पृ० ७-८) मे स्वय स्वीकार किया है, "लेखों का जो मूलपाठ यहां प्रस्तुत किया गया है, वह सावधानीपूर्वक तो अवश्य लिया गया था, तथापि उसे अन्त-प्रमाण होने का दावा नहीं किया जा सकता। कन्नड लेखों का यहाँ जो देवनागरी में लिखा गया है उसमें भी लिपि भेद से अशुद्धियां हो जाना संभव है। आगे पीछे विशिष्ट विद्वानों द्वारा पाठ व अर्थ संशोधन सम्बन्धी लेख लिखे ही गए होगे। अतएव विशेष महत्वपूर्ण मौलिक स्थापनाओं के लिए संशोधकों को मूल स्रोतों का भी अवलोकन कर लेना चाहिए—कन्नड लेखों का जो सार हिन्दी में दिया गया है उसीके आधार मात्र से कोई नई कल्पनाए नही करना चाहिए। यथार्थतः ये लेख संग्रह सामान्य जिज्ञासुओं के लिए तो पर्याप्त है, किन्तु विशेष संशोधकों के लिए तो ये मूल सामग्री की ओर दिग्निर्देश मात्र ही करते है।"

"कुछ न होने की अपेक्षा कुछ तो हुआ" मात्र इतने से ही संतोष कर लेने से अब काम नही चलता। स्वयं हमने उपरोक्तरीत्या प्रकाशित प्रायः सभी जैन शिलालेखों का अवलोकन अनेकों का गंभीर अध्ययन एवं मंथन भी किया है, और अनुभव किया है कि अनेक बार उनके गूढ़ार्थों, उनमे अन्तर्निहित ऐतिहासिक तथ्यों आदि को सम्यक् रूप से समझ लेना कितना समय एवं श्रमसाध्य है, फिर भी मन को पूर्ण संतोष नहीं होता। इस विशेषज्ञता, शोध-खोज एवं अनुसंधान के युग मे संदर्भ ग्रंथों एवं मौलिक साधन-सामग्री यथा पुराभिलेख आदि, का शुद्ध, निर्दोष, सर्वांगपूर्ण सम्पादन-प्रकाशन अत्यावश्यक है।

अस्तु, जो शिलालेख आगे से प्रकाशित किये जाए; चाहे वे उपरोक्त जैन-शिलालेख-संग्रह के षष्ठमादि भागों के रूप में हो, अथवा उक्त संग्रह के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग जो अब प्रायः अप्राप्य हो गए है, उनके पुनर्मुद्रण-प्रकाशन के रूप में हों, अथवा क्षेत्र विशेष या युग-विशेष से संबंधित अभिलेखो के स्वतंत्र या संस्थागत प्रकाशित संग्रह हो, अथवा नवप्राप्त एकाकी अभिलेख ही हो, प्रत्येक अवस्था मे (१) शि० ले० का प्राप्तिस्थल, भाषा, लिपि, आकार-प्रकार आदि संक्षिप्त परिचय और स्पष्ट स्रोत-संदर्भ, (२) अभिलेख का यथासंभव यथाप्राप्त शुद्ध-पाठ, (३) उसका अन्वयार्थ, (४) अविकल हिन्दी अनुवाद, (५) विशेषार्थ या आवश्यक टिप्पणी आदि, दिया जाना अत्यावश्यक है। जिस भाषा में अभिलेख उपलब्ध है, उसके संपादक को उक्त भाषा का अधिकारी विद्वान होना चाहिए अथवा ऐसे विद्वान के सहयोग से ही उसका संपादन-अनुवादादि करना आवश्यक है। किसी प्रौढ़ एवं अनुभवी इतिहासज्ञ विद्वान तथा पुराभिलेख-विशेषज्ञ का सहयोग भी अपेक्षित है।

यदि जैन शिलालेखों के जो भी संग्रह अब प्रकाशित हो वे उपरोक्तरीत्या संपादित हो तो फिर उनके लिए उनके अध्येताओं एवं संशोधकों को अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के उन प्रकाशनों की खोज में नही भटकना पड़ेगा जो स्वयं सर्वथा निर्दोष या पूर्ण भी नही है। यह समय की महती आवश्यकता है और उससे जैन इतिहास के सम्यक् पुनर्निर्माण में अपूर्व सहायता मिलेगी।

—चारबाग, लखनऊ

वस्त्रधारी भट्टारक कब से हुए

☐ श्री रतनलाल कटारिया

'भट्टारक' शब्द पूज्यार्थ में प्रयुक्त होता है (राजा भट्टारको देवः–अमर कोष) सस्कृत कोषों मे राजा, भट्टारक और देव ये ३ शब्द पूज्य अर्थ में भी बताए हैं यथा—आ० श्री सूर्यसागर जी महाराज, भट्टाकलक, समन्तभद्र देव। पहिले सभी नग्न दिगम्बर साधु इसी अर्थ में भट्टारक भी कहलाते थे किन्तु वनवास छोड़कर जब ६-१०वीं शताब्दी से चैत्यवास–नगरवास प्रारम्भ हुआ और दि० साधु भी मठाधीश हुए तो यह पूज्य शब्द भी बदनाम हो गया। भ्रष्टाचार, अनाचार, शिथिलाचार से ऐसे ही अनेक उच्च शब्द हीन बन गये है। जैसे—"पाखडी" (पापं खण्डयति, पाखण्डाः सर्वलिगिनः) पाप का खण्डन करने वाले सब संप्रदाय के साधुओं को कहा जाता था किन्तु बाद में यह मायावी धूर्त्त अर्थ मे हो गया। इसी प्रकार के कुछ शब्द निम्नांकित हैं (अति परिचय से भी अवज्ञा (व्यग) हो जाता है) १. बुद्ध=बुद्धू। २. नग्न=नागा। ३. चार्वाक (चारुवाक्)=चालाक। मुंडी=मोडया। ५. लुंचक (लोच करने वाला)=लुच्चा। ६. मस्करि पूरण=मस्करा। ७. ध्रुवपद (ध्रुपद)=धुरपट। ८. कर्महीन (सिद्ध)=करमहीन (अभागा)। ६. निःकर्म (सिद्ध)=निकम्मा। १०. महत्तर=महतर (भंगी)। ११. भद्र=भद्दा, भद्दर। १२. हजरत, उस्ताद, गुरू, दादा=चंट। १३. रामायण=रामाण (विसवाद)। १४. महाभारत=युद्ध। १५. वक्ता=बकता। १६. हिन्दी (अनुवाद) करना=निंदा करना। १७. महाजन=महाजिन्द। १८. राग (प्रेम)=रहस्य। नग्न भट्टारकों ने वस्त्र कब कैसे धारण किया? नीचे इस पर विचार व्यक्त है :—

भट्टारक पद्मनन्दि के गुरु भट्टारक प्रभाचन्द्र जी का पट्टकाल "भट्टारक संप्रदाय" पुस्तक के पृष्ठ ६१ पर विक्रम सं० १३१० से १३८५ तक का लिखा है और वही बाहुबली चरित (धनपालकृत अपभ्रंस) के कुछ पद्य उद्धृत है जिनमें प्रभाचन्द्र का हाल इस प्रकार दिया है :—"श्री प्रभाचन्द्र बहुत से शिष्यों के साथ पाटण खंभात धारा देवगिरि आदि में विहार करते हुए मिथ्यामतों का खडन करते हुए योगिनीपुर (दिल्ली) मे आये। वहां भव्य जीवों ने उन्हें महोत्सव के साथ रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठाया। वहां उन्होंने विद्या से वादियो के मत का भजन करके महमद शाह के मन को रजायमान किया।"

यहां महमद शाह को खुश करने की बात लिखी है इससे उस किंवदन्ती का संकेत मिलता है जिसमे कहा जाता है कि—बादशाह ने भट्टारक से यह विनती की थी कि हमारी बेगमे भी आपका दर्शन करने को बड़ी उत्सुक हैं। अतः आप उन्हे दर्शन देने को वस्त्र धारण कर ले। इस प्रार्थना पर भट्टारक जी ने वस्त्र धारण प्रारम्भ किया था।

वस्त्र धारण की प्रथा इन प्रभाचन्द्र ने चलाई ऐसा 'जैन सन्देश' शोधांक २६ नवम्बर सन् ६४ के अक मे पृ० ३५८ पर लिखा है। "बुद्धिविलास" पृष्ठ ८४ से ८८ तक मैं भी इस सम्बन्ध का वर्णन है। वहां फिरोज शाह के वक्त में प्रभाचन्द्र ने वस्त्र धारण (लगोट धारण) किया लिखा है।

'बाहुबली चरित' के उक्त पद्यों मे जो महमद शाह का नाम लिखा है उसकी जगह 'जैनग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह' भाग २ पृष्ठ ३३ में "महमूद" पाठ है।

'भारतवर्ष का इतिहास' (पाठ्य पुस्तक) मे नासिरुद्दीन महमूद (दिल्ली के बादशाह) का राज्यकाल सन् १२४६ से १२६६ यानि विक्रम सं० १३०३ से १३२३ तक का बताया है। यही समय प्रभाचन्द्र के पट्ट का पड़ता है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रभाचन्द्र ने जिस बादशाह के मन को रंजित किया था वह बादशाह नासिरुद्दीन महमूद था। उसने सादा जीवन बिताया था। 'भट्टारक

संप्रदाय' पृ० ६४ में भी इसी बादशाह का उल्लेख है।

वस्त्र धारण की शुरुआत प्रभाचन्द्र ने फिरोजशाह के वक्त में की है जैसा कि बुद्धि विलास में लिखा है। यह फिरोजशाह जलालुद्दीन खिलजी हो सकता है। जिसका राज्य काल 'भारतवर्ष का इतिहास' में विक्रम सं० १३४७ से १३५३ तक बताया है। फिरोजशाह तुगलक तो वह नहीं हो सकता क्योंकि तुगलक का राज्यकाल विक्रम स० १४०८ से १४४५ तक का है। (सन् १३५१ से ८८ देखो भट्टारक संप्रदाय पृ० ६४ टिप्पण नं० ३६)।

प्रश्न :—वसन्त कीर्ति पहले ऐतिहासिक भट्टारक प्रतीत होते हैं इन्हें वनवासी और शेर द्वारा नमस्कृत कहा है। श्रुतसागर सूरि के अनुसार ये ही मुनियों के वस्त्र धारण के प्रवर्तक थे। यह प्रथा इन्होंने मांडलगढ़ में आरम्भ की थी। इनकी जाति बघेरवाल थी। विक्रम स० १२६४ को ये पट्टारूढ़ हुए थे (देखो "भट्टारक सम्प्रदाय" पृ० ६३) तब भट्टारक प्रभाचन्द्र (विक्रम स० १३४७ से १३५३) द्वारा वस्त्रधारण का प्रारम्भ कैसे बताया जाता है?

उत्तर—षट् प्राभृत टीका पृ० २१ में श्रुतसागर ने अपवाद वेष के रूप में लिखा है कि कालकाल में म्लेच्छादि लोग नग्न रूप देख मुनियों पर उपद्रव करते हैं अतः वसन्त कीर्ति ने यह उपदेश दिया कि—"चर्यादि के समय चटाई आदि के द्वारा शरीर को ढंक ले, चर्या के बाद उसे छोड़ दे।" श्रुतसागरसूरि ने अपवाद वेष को मिथ्यात्व बताया है। पहिले चटाई टाट आदि का ही प्रयोग हुआ था वह भी कुछ काल विशेष के लिए, सदा वस्त्र धारण (सूती) का प्रचलन नहीं हुआ था। यह प्रभाचन्द्र के वक्त से ही प्रारम्भ हुआ है। यह विशेषता है।

वसन्त कीर्ति र्व्याघ्राहि सेवितः शीलसागरः।। "भट्टारक संप्रदाय" पृ० ८९ के इस श्लोक का जो पृ० ६३ में "शेर द्वारा नमस्कृत" अर्थ किया है वह सही संगत प्रतीत नहीं होता। उसका अर्थ "बघेरवाल" होना चाहिए।

प्रश्न :—पुलाक बकुश कुशील को भावलिंगी साधु माना है और मूलादि गुणों में दोष लगाना इनका स्वरूप माना है तब वस्त्र धारण कर लिया वह भी परिस्थिति वश कालदोष से तो क्या हानि है?

उत्तर :—ऐसा नहीं है, दोष लगाना किसी भी भावलिंगी का स्वरूप या लक्षण नहीं है। अबुद्धि पूर्वक लगना और बात है और बुद्धि पूर्वक चलाकर दोष लगाना अन्य बात है। अतिचार-दोष लगने पर उनका प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रायश्चित्तादि किया जाता है ताकि गलती की पुनरावृत्ति न हो। किन्तु जो सदा जान-बूझकर दोष लगाता है और उन्हें अपेक्षणीय क्षन्तव्य मानता है यहाँ तक कि दोष को दोष ही नहीं मानता, उन्हें स्वरूप और जायज मानता है वह जैन साधु नहीं हो सकता। आज प्रायः यही हो रहा है। श्रावकों का काम साधुओं का संयम पलाना है किन्तु आज नहीं सच्चा मुनिभक्त है जो सबसे बड़ा कहलाने की धुन में, चतुराई के साथ साधुओं का संयम बिगाड़ता है। जो उसका विरोध करते हैं उन्हें मुनि-निंदक कहा जाता है। संसार भी बड़ा विचित्र है। साधु भी मीठे जहर को नहीं पहचानते। न यही सोच पाते हैं कि हम अपना ही अहित नहीं कर रहे हैं किन्तु जिन-मार्ग=परम्परा का विघात कर रहे हैं। श्रावक भी यह नहीं सोचते कि—साधुओं ने एक तरह से उनके ही भरोसे घर-बार छोड़ महाव्रत अंगीकार किया है—दीक्षा ग्रहण की है तब हम मिथ्यामोह वश उनका संयम घातकर उनके साथ विश्वासघात तो नहीं कर रहे हैं? इसी का परिणाम है कि—आज पवित्र साधु संस्था मलिन दूषित नष्ट भ्रष्ट आलोच्य गौरवहीन हो रही है। आज किसी को इसका अन्तस्ताप नहीं दिखता।

नग्न दिगम्बरत्व सिर्फ कुन्दकुन्द की परम्परा नहीं है किन्तु जैन परम्परा है जैन ही नहीं सारी प्रकृति और संसार इसी मुद्रा (नग्न दिगम्बरत्व) से अंकित है चाहे पशु हो पक्षी हो जन्मजात मनुष्य हो अजीव तक हो सभी जगत जैनेन्द्र मुद्रा से ही अंकित है। कोई भी वस्त्रालंकार से युक्त पैदा नहीं होता।

सर्वं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्रांकितं ॥

"मोक्षशास्त्र" (उमास्वामीकृत) जैनों का बाइबल सर्वमान्य ग्रन्थ है, दि० श्वे० दोनों इसे मानते हैं। बहुत से भाई सोचते हैं कि—इसमें कहीं भी नग्नत्व का प्ररूपण नहीं है किन्तु यह सोचना उनका भूल भरा है। क्योंकि इसके अध्याय ६ सूत्र ६ में "शीतोष्णदंशमशकनाग्न्य···"

रूप में २२ परिषह बताये हैं। सूत्र ८ "मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्या: परीषहा:" में मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्म निर्जरा के लिए इन २२ परीषहों को सहन करना बताया है। इस प्रकार परिषह साधु जीवन की नीव है बिना नग्न परिषह धारण किये वह जिनमार्ग से च्युत माना गया है। जहाँ मूल मे ही नग्नत्व का प्ररूपण किया गया हो वहाँ उसका अभाव बताना अज्ञान है। साधुओं के लिए सब परीषहों का सहन करना आवश्यक बतामा है। बिना नग्नत्व के शीतोष्ण दशमशक (सर्दी, गर्मी, डांस-मच्छर की) परिषह भी सम्भव नही अत: नग्नत्व प्राथमिक और आवश्यक है। तृण स्पर्श, मल, शय्यादि परिषह भी नग्नत्व में ही पूर्ण फलित होती है। अत: नग्नत्व का लोप करना जैनधर्म का ही लोप करना है। दि० श्वे० के भेद को मिटा कर श्वेताम्बर=विकृत मार्ग को ही पुष्ट करना है अत: जैन साधु का वस्त्र धारण करना जिनशासन का दूषण है अपराध है किसी भी स्थिति में योग्य नही। अजैनो मे भी नग्नत्व को परम हस का रूप माना है। जैन निर्ग्रन्थ के लिए वस्त्र धारण करना निन्द्य है दोषास्पद है अपने पद और नाम के विरुद्ध है। संसार के सब धर्मों से जैन की अलग पहचान नग्नत्व ही कराता है। ऐसे जगत् के भूषण नग्नत्व के लिए अनन्तश: वन्दन !

"वीरवाणी" पृ० २१४ (१८ जून ८८ अक) मे "एक ऐतिहासिक गुटका" (वि० स० १६८५ म लिखित) निबध मे बताया है कि—

"सवत् १३१० में भट्टारक प्रभाचन्द्र जी के समय मे नगर दिल्ली में पातसाह फिरोज शाह पठाण की में प्रतिष्ठा हुई सवा करोड़ रुपये लागे। एक बार पातसाह फिरोजशाह ने हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों की शिकायत पर सिपाही भेजे तब भट्टारक जी की पालकी बिना कहारों के चलकर आई और सिपाहियों के हाथ यों के यों रह गए, मुह बांके हो गये, जुबान बन्द हो गई। बादशाह ने सुनी तो आकर हाथ बांध कर भट्टारक जी के चरणों मे गिरा और बोला—मेरा कसूर माफ करो।

फिर बेगमों ने बादशाह से कही—ऐसे औलिया(संत) के दर्शन हमको भी करावो। बादशाह ने भट्टारक जी से अर्ज करी कि—बेगमें दीदार करना चाहती हैं। यह वक्त नगन रहने का नही, आप दूसरे खुदा हो सो एक लगोट तो लगाना ही चाहिये। भट्टारक जी की स्वीकृति पा बादशाह ने लाल लगोट कराई फिर सिंदूरिया वस्त्र भी भट्टारक जी ने ग्रहण किया सं० १३१० से यह वस्त्र रखने की प्रथा शुरू हुई।"

Note—इतिहास मे इस फिरोजशाह (जलालुद्दीन खिलजी) का समय वि० स० १३४७ से १३५३ है। अत: १३१० संवत् के साथ इसकी संगति नही बैठती। स० १३१० भट्टारक प्रभाचन्द्र का पट्ट पर बैठने का है। इस घटना के समय का ठीक से निश्चय न होने के कारण वही स० १३१० लिख दिया गया हो। इतिहासज्ञों को ठीक निर्णय करना चाहिये। फिरोजशाह का समय १३१० नही है।

—केकड़ी (अजमेर) ३०५४०४

जो सिद्धान्त ज्ञान आत्मा और पर के कल्याण का साधक था आज उसे लोगों ने आजीविका का साधन बना रखा है। जिस सिद्धान्त के ज्ञान से हम कर्म कलंक को प्रक्षालन करने के अधिकारी थे। आज उसके द्वारा धनिक वर्ग का स्तवन किया जाता है यह सिद्धान्त का दोष नहीं, हमारे मोह की बलवत्ता है—

—वर्णी-वाणी I पृ० १८३

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अनिवार्य-कारण

श्री मुन्ना लाल जैन, 'प्रभाकर'

अनादि काल से जीव के साथ दर्शन मोह (मिथ्यात्व) लगा हुआ है। जिसके कारण यह जीव संसार की ८४ लाख योनियों में भटक रहा है। और दुःख सह रहा है। सुखी होने के उपाय भी करता है, परन्तु सिद्धि नही होती क्योंकि सुखी होने के सच्चे उपाय का इसको पता नहीं है। वह सच्चा उपाय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हैं। उसके बिना अनेक उपाय करने पर भी दु.खों से छुटकारा नही पाता जैसे कि पं० प्रवर प० दौलत राम जी ने 'छह ढाला' में कहा है, "मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो। ताते जिनवर कथित तत्व अभ्यास करीजे, सशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजे।" तथा मंगत राय जी ने बारह भावना में कहा है, 'वीतराग सर्वज्ञ दोष बिन, श्री जिन की वाणी सप्त तत्व का वर्णन जामें, सो सबको सुख दानी ।। बार-बार इनका चितवन कर श्रद्धा उर धरना। मंगत इसी जतन से भव सागर तरना ।।' तथा इसी सम्यग्दर्शन को मोक्ष प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी भी कहा है इसके बिना शास्त्रों का बहुत ज्ञान तथा क्रियाए भी सम्यकपने को प्राप्त नही होती, 'मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा, सम्यकता न लहे सो धारो भव्य पवित्रा।' इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के विषय मे प० प्रवर प० टोडरमल जी ने कहा है, 'भला होनहार है ताते जिस जीव के ऐसा विचार आये है कि मै कौन हू मेरा कहा स्वरूप है। यह चरित्र कैसे बन रहा है? मुझे इन बातन का ठीक करना ऐसा विचारते अति प्रीतिकर शास्त्र अध्ययन करने को उद्यमवत होता है, सप्त तत्वों के स्वरूप को जानकर उनका विचार करता है। जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का सच्चा उपाय है।' पृष्ठ २५, अब सम्यग्दर्शन कब प्राप्त होता है। उसके लिये अष्टसहस्री पृ० २५७ में भट्टाकलंक देव ने कहा है—

'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्चतादृशा।
सहायास्तादृशा: सन्ति यादृशी भवितव्यता ।।'

जिस जीव की जैसी होनहार होती है। उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है और उसे सहायक (निमत्त भी) उसी प्रकार के मिल जाते है। (भवितव्यता की व्युत्पत्ति) भवितु योग्यं भवितव्यम् तस्य भावा: भवितव्यता जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता है। हमारी दृष्टि से इसलिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति केवल पुरुषार्थ से मानना आगमानुकूल नही बैठता। क्योंकि सम्यग्दर्शन रूपी कार्य की सिद्धी मे पांच समवाय नियमत: होते हैं। उपादान (पदार्थ की कार्य रूप होने की योग्यता अर्थात (स्वभाव) पुरुषार्थ, काल, नियति और निमित्त इन पांच कारणों को सूचित करते हुए बनारसी दासजी नाटक समय सार मे कहते हैं।

'पद सुभाव पूरव उदय, निहचै, उद्यमकाल
पक्षपात मिथ्यातपथ सरवगी शिवचाल ।।

इसका आशय इतना है कि किसी एक कारण मात्र से सम्यग्दर्शन रूपी कार्य की सिद्धि मानना एकान्तवाद होगा। गोमट्टसार कर्मकाण्ड गाथा ८७९ से ८८३ मे भी पाँच प्रकार के एकान्तवादियों का कथन आता है। उसका आशय भी यही है कि जो इनमें से किसी एक से कार्य की सिद्धि मानता है वह मिथ्या मान्यता है और जो इन पांचों के समवाय को स्वीकार कर उनसे कार्य सिद्धि मानता है उसकी मान्यता सच्ची है। अब रही मिथ्यात के काल की बात। सो वह अनादि अनत और अनादि सांत दो भागो मे विभक्त है क्योंकि सर्वत्र अनत (जिसका कभी अन्त नही होता) मानेंगे तो मिथ्यात् का कभी अन्त नहीं होगा, जबकि अनंते भव्य मिथ्या दृष्टियों ने मिथ्यात का नाश

करके निर्वाण प्राप्त किया है।

मो० मा० प्र० पृ० ८० पर कहा है—

'कषाय उपशमने ते दुःख दूरि होय जाय सुखी होय परन्तु इनकी सिद्धि इनके किये उपायन के आधीन नाही, भवितव्य के आधीन है। जातैं अनेक उपाय करते देखिये अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने अधीन नाहिं। भवितव्य के अधीन है। जातै अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिये है। बहुरि काकतालीयन्याय करि भवितव्य ऐसा ही हो। जैसा अपका प्रयोजन होय तैसा ही उपाय होय अर तातै कार्य की सिद्धि भी होय जाय।'

इसलिये सम्यक्त की प्राप्ति मे पांचों ही समवाय को मानना पड़ेगा। यदि इनमे से एक भी समवाय का अभाव होगा तो बाकी चारों समवाय भी न होंगे इसलिए अकेले पुरुषार्थ से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मानना आगमानुकूल नही है। इनके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन से पहले पाच लब्धियों का होना अति आवश्यक है उनके बिना भी सम्यक्त्व नही होता। इनमें भी चार लब्धियां, क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना तथा प्रायोग तो अनेक बार (भव्य तथा अभव्यो के भी हो जाती है) वहां भी सम्यग्दर्शन होने का नियम नही है। हाँ पांचवी करणलब्धि के होने पर सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने का नियम अवश्य है इसके लिये भी प० टोडरमल जी ने कहा है—

जाकै पूर्व कही च्यारि लब्धि तो भई होय,
अर अंतर्मुहुर्त पीछै जाकै सम्यक्त होना होय।

तिसही जीव कै करण लब्धि हो है सो इस कारण लब्धि वाला के बुद्धि पूर्वक तो इतना ही उद्यम हो है— जिस तत्त्व विचार विषै उपयोग तद्रूप होय लगावे।

(मो० मा० प्र० पेज ३८६)

इस करण लब्धि की प्राप्ति उसी जीव को होती है। जिसको अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन होना होता है। इसके लिये कहा है—"जैसी जस भवितव्या तैसी मिले सहाय। आपु न आवे ताहि पर ताहि तहाँ ले जाय।' इसका अर्थ— अपना बस होनहार पर नहीं चलता किन्तु बुद्धि होनहार के अनुसार हो जाती है। ये संसार में देखने में भी आता है कि कोई भी माता-पिता अपनी सन्तान को खोटे मार्ग पर नही लगाना चाहते और अच्छे मार्ग पर चलाने का पूरा प्रयत्न भी करते है परन्तु बहुतों की सन्तान जिनकी होनहार बुरी है—उनको अपने माता-पिता की अच्छी शिक्षा अच्छी नहीं लगती। खोटी संगति वालों की बातें अच्छी लगती है और खोटे मार्ग पर चलने लगते हैं। ऐसे अनेकों दृष्टान्त देखने मे आते हैं।

छहढाला की पहली ढाल में भी कहा है—"तहतें चय थावर तनधरे, यों परिवर्तन पूरे करे।' अर्थात मिथ्यात्व के काल में पांच परावर्तनों को अनेक बार पूरे कर लेते है। इसका यह अभिप्राय है कि इस जीव का ज्यादा समय एक इन्द्रिय में ही व्यतीत होता है क्योंकि वहाँ पांचों परावर्तनो का काल अनन्त नहीं 'हां बहुत है और जब मिथ्यात्व का काल अल्प समय रह जाता है तो उसे अर्धपुद्गल परावर्तन कहते हैं। और तभी वह अपने को तथा ससार को समझने का प्रयत्न करता है तब भव्य को सम्यकता की प्राप्ति होती है। कहा भी है— 'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स: भवेद्भव्यो भाविनिर्वाण भाजनम्' (पद्मनंदि पंच विंशतिका (एकत्वशीर्तव : २३) इससे यह मालूम होता है कि जो भव्य है, उसके मिथ्यात्व का काल अनन्त नहीं है क्योंकि मिथ्या दृष्टि ही मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। अब रही यह बात कि सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होती है? उसके लिए कहा है—

'तातै जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे,
सशय, विभ्रम, मोह त्याग आपो लखि लीजे।'

तत्त्व अभ्यास के लिए पहिले आगम के द्वारा सातों तत्त्वों के अर्थ को समझना, फिर उसका बार-बार चिन्तवन करना श्रेयकर है। सारे आरम्भ और कषाय भावों से उपयोग को हटाकर तत्त्व विचार में लगाना चाहिए। क्योंकि तत्त्व विचार करने का और दर्शन मोहनीय की स्थिति कम होने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है अर्थात् जब यह तत्त्व अभ्यास में उपयोग को लगाता है तब दर्शन-

मोह घटते-घटते उपशम अवस्था को प्राप्त हो जाता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का यही सच्चा उपाय है। जब यह जीव इस उपाय को करता है तो पाँचों समवाय होते हैं; कोई किसी के आधीन नहीं है। क्योंकि जिस कार्य (सम्यग्दर्शन) का जिस समय पुरुषार्थ करता है वो समय ही उस कार्य की सिद्धि काललब्धि है और जिसका विचार करता है वह निमित्त, उसका फल होनहार (भवितव्यता) और जीव की सम्यग्दर्शन के रूप होने की योग्यता उपादान इसलिए अकेले पुरुषार्थ के आधीन सम्यक्त्व की प्राप्ति मानना ठीक नही। टोडरमल जी ने भी मिथ्यात का काल अनन्त न मानकर (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३७६ पर कहा है कि—'याका उद्यम तो तत्त्वविचार का करने मात्र ही है।' इसका आशय वहां अन्य समवायो का निषेध करना नहीं है और जहां तत्त्व उपदेश भी नही है वहां (नरक में) भी पूर्व उपदेश के संस्कार होते है, वहा भी तत्त्व विचार करने से दर्शनमोह की स्थिति घटकर अत: कोटाकोटि प्रमाण रह जाती है और वह मिथ्यात अवस्था मे ही घटते-घटते उपशम अवस्था को प्राप्त हो जाती है और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इसके सम्बन्ध मे प० जी ने यहां तक कह दिया है कि—'कषाय उपशमने तैं दुःख दूर होय जाय सो इनकी सिद्धि इनके किये उपायन के आधीन नहीं भवितव्य के आधीन है। जाते अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय होता न देखिये है बहुरि काकतालीय न्याय करि भवितव्य ऐसा ही होय जैसा आपका प्रयोजन होय तैसा ही उपाय होय अर तातें कार्य की सिद्धि भी होय जाय। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहिं भवितव्य के आधीन है (पृ० ७६) पं० दौलतराम जी ने भी कहा है—'आतम के अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय।' इन सबका यही तात्पर्य है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कषायों को कम करके तथा आरम्भ और परिग्रह का भी परिमाण करके और अपनी मान्यता का भी पक्षपात छोड़कर शान्त चित्त से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सात तत्त्वो का चिन्तन करना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय है जिस समय यह भव्य जीव तत्त्वों का विचार करता है तब वही समय इसके कार्य की सिद्धि की लब्धि है तथा तत्त्व विचार पुरुषार्थ है। तत्त्व विचार करना इस जीव का अपना कार्य है इसलिए आचार्यों ने पुरुषार्थ करने का उपदेश दिया है जिससे यह जीव आलसी न हो जाय। वहां भी पंच समवाय के निषेध से तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य मात्र इतना है कि हम अपने उपयोग को जितनी शक्ति संसार कार्यों में लगाते हैं, उतनी शक्ति तत्त्व विचार करने में लगाएं।

एक दृष्टान्त मरीचि का देखिए, मरीचि भगवान आदिनाथ का पोता था और जब वह भगवान के समोशरण में बैठा था तब उसको बताया कि वह आगे चलकर महावीर नाम का अन्तिम तीर्थंकर होगा। क्योंकि उसके तीर्थंकर होने में उस समय बहुत काल था, उसकी होनहार अभी अच्छी नहीं थी। उसको बहुत काल तक संसार में कई भव धारण करने थे, इससे भगवान की वाणी सुनने पर भी उसकी बुद्धि स्वच्छद होने की हो गई और जब उसका संसार निकट आ गया अर्थात् उसकी होनहार अच्छी आ गई तो सिंह की पर्याय में भी उसकी बुद्धि संयम धारण करने की हो गई। इन सभी से सिद्ध होता है कि उपाय करने की बुद्धि भी भवितव्य के आधीन है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है—

'जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि।
त तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि॥
को सक्कइ चालेंदु इदो वा अहमिंदो जिणदो वा।'

अर्थात् जिस जीव का जिस देश में जिस निमित्त से जब जैसा होना होता है उस जीव का उसी देश में उसी निमित्त उसी समय वैसा ही होता है, उसे टालने में इन्द्र या जिनेन्द्र भगवान भी समर्थ नही हैं और भी कहा है—

'कारज धीरे होत है काहे होत अधीर।
समय आये तरुवर फरे केतो सींचों नीर॥

अर्थात् समय आने पर ही कार्य होता है, इसके लिए कुछ लोगों का कहना है कि टोडरमल जी ने कहा है कि काल लब्धि किछू वस्तु नाहीं इसका अर्थ ये नहीं है कि काल लब्धि कुछ नही होती, इसका अभिप्राय तो केवल इतना है कि काललब्धि तो समय है कार्य के होने का। अर्थात् जिस समय जो कार्य होता है वही उस कार्य की

काललब्धि है। इसीलिए केवल पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानना एकान्त है। हर कार्य के होने का समय और निमित्त नियत है ये सम्यक् नियति है और एक ही से सारे कार्यों का होना मानना मिथ्या नियति है, इसको एकान्तवाद कहा है। गोम्मटसार में जहां ३६३ पाखंडों का वर्णन किया है, वहां—सम्यक्-नियति को मानने को एकान्त नही कहा है। इस जीव को जब यह श्रद्धा हो जाती है कि जो होना होगा सो ही होगा मेरे करने से नहीं होगा तब उसको पर द्रव्यों से पंचेन्द्रिय के भोगों से और संसार को बढ़ाने वाले आरम्भ से भी अरुचि हो जाती है और वह तत्त्व विचार करने के लिए उद्यमवंत होता है और उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और जिमका ससार अभी निकट नही आया वह किसी एक पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता है, बाकी चार समवायो को उसके आधीन मानता है। उसकी मान्यता सही नही है। क्योंकि बुद्धि भवितव्यता के आधीन है। क्योकि कहा है कि—विनाशकाल आने पर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और निमित्त भी वैसे ही मिलते है। हां, आगम मे पुरुषार्थ करने का उपदेश अवश्य दिया है। क्योकि हमको ऐसा पता नहीं कि हमको सम्यग्दर्शन कब होना है ? हां इतना जरूर है कि तत्त्व विचार के विना सम्यक्त्व नही होगा। इसलिए हमें पुरुषार्थ करना चाहिए। परन्तु श्रद्धा यही रखनी चाहिए कि कार्य की सिद्धि भवितव्यानुसार ही होगी। इस धारणा से हमको साता असाता के उदय में भी सान्त्वना मिलती है। जिस जीव का भला होना होता है उसी को भवितव्यता पर विश्वास होता है। यदि ऐसा मान ले कि पुरुषार्थ करने से ही मुक्ति हो जायगी तो इस काल में इसी सहनन से तथा इसी पर्याय मे मोक्ष हो जानी चाहिए लेकिन आगम में कहा है कि इस काल मे मोक्ष नहीं होती इसका कारण भी यही है कि जब मोक्ष होनी होगी तभी होगी। क्योंकि छै महीने आठ समय में छै सौ आठ जीव ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, कमती-बढ़ती नहीं ऐसा नियम है। यदि नियम न हो तो जब चाहें मोक्ष चले जाएं किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि मोक्ष जाना इसके स्वयं या मात्र पुरुषार्थ के आधीन नहीं हैं। भवितव्यता के अधीन है।

नियति के विषय मे पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी भी कहा करते थे—'जो-जो भाषी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे। अनहोनी न होय कभी भी काहे होत अधीरा रे।' इसका अर्थ भी यही है कि जो होना है सो वीतरागी (केवल ज्ञानी के ज्ञान मे है) यदि इसको न मानेंगे तो केवलज्ञान नही रहेगा। इसके अतिरिक्त ससार में देखा भी जाता है कि किसी कार्य के करने का बहुत उपाय करते हैं परन्तु कार्य की सिद्धि नहीं होती और कभी कभी एक कार्य के पूरा करने को जाते हैं परन्तु रास्ते में अनायास ही दूसरे कार्य की सिद्धि हो जाती है। रोग के विषय में भी देखिए, रोग के आने का कोई उपाय नहीं करता परन्तु रोग आ जाता है और अनेक उपाय करने पर भी रोग नही जाता और कभी-कभी बिना दवा खाये भी रोग ठीक हो जाता है। ये सब नियति नहीं है तो क्या है ? सूरज पूरब मे ही उदय होता है और पश्चिम मे अस्त होता है। बच्चा पैदा होता है, बड़ा होता है, फिर बूढा भी हो जाता है। जरा एकाग्र चित्त से विचार करिए ये नियति नहीं है तो क्या है, यदि नियति न हो तो संसार की व्यवस्था ही नही चल सकती। ज्यादा क्या कहें नियति और होनहार इतनी प्रबल है कि इसके विषय मे कहने को शब्द भी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि पुरुषार्थ के बिना कार्य नही होता परन्तु पुरुषार्थ भी नियति के आधीन है। यहां तक कि नियति और होनहार पर विश्वास होना भी नियति के आधीन हैं।

अन्सारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली-२

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ते ते **शोच्याः खलु** धीमताम् ॥
—आत्मानुशासनम् ६४

हिन्दी जैन कवियों के कतिपय नीतिकाव्य

डा० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

अपभ्रंश की तरह हिन्दी मे भी जैन कवियों ने चरित काव्य और नीति ग्रन्थ दोनो ही लिखे है। महाकवियों के विलास सज्ञक काव्य सग्रहों मे से 'बनारसी विलास में' अध्यात्म बत्तीसी, दश दान विधान, अक्षर माला, दिलाराम विलास मे ज्ञान बत्तीसी, अध्यात्म बारहखडी तथा पार्श्वदास कृत 'पारस विलास' मे 'सुगति बत्तीसी' उपदेश पच्चीसी, बारहखड़ी, हितोपदेश पाठ आदि नीति विषयक स्वतत्र रचनाए है। महाकवि बुधजत की 'बुधजन सतसई' के अलावा द्यानतराय के 'छहढाला' मे भी नीति तत्त्व के दर्शन होते है। सांगानेर निवासी जोधराज के दो ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' और 'धर्म सरोवर' नीति के बड़े ग्रन्थ है। आगरा के रूपचन्द का 'दोहा परमार्थी' और कामा (भरतपुर) के हेमराज का 'हेमराज शतक' दोनो ही नीतिकाव्य लोकप्रिय हो चुके है। फिर भी हस्तलिखित शास्त्रों की खोज करने पर पर्याप्त नीति ग्रन्थ मिल सकते हैं। कुछ अर्चचित नीतिकाव्य इस प्रकार है :—

१. मनमोहन पंचसती :

पाच सो सवैयों से युक्त 'नीति' का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। अभी तक अज्ञात यह विशाल ग्रन्थ अजमेर स्थित सोनी जी की नसियां में विद्यमान शास्त्र भण्डार मे उपलब्ध है। कवि ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में अपने नामोल्लेख के अतिरिक्त कुछ और नही बतलाया :—

गुन फुर्रा बुरो दुरमति सकल, दुरितारत कारन नसहु।
कहि 'छत्र सहस' परभव विषै जिह तिह विधि सब सुख लहहु॥

संवत् १६१६ में रचित इस रचना मे दुर्जन-सज्जन, कुगुरु, सुपंथ, 'अपराध-निषेध' मित्र-शत्रु आदि सामान्य नैतिक विषयो की चर्चा के अतिरिक्त जैन दर्शनानुकूल 'पुद्गल' का विवेचन है। परम्परागत नैतिक उक्तियो के साथ-साथ 'भूख', 'वृद्धावस्था' जैसे सामान्य विषयों पर भी क्षत्रशेष की उक्तियां मर्मस्पर्शी हैं। 'भूख' शान्त करने के लिए मनुष्य अनेक नाटक रचता है। छत्रशेष कहते हैं—

तन लौनि रूप हरै, थूल तन कृस करै, मन उत्साह हरै,
बल छीन करता छिमा को मरोरै, गही विढ़ मरजाद तोरै,
सुग्रन सहेन भेद करै लाज रहता, धरम प्रवृति जप, तप
ध्यान नास करै, धीरज विवेक हरै, करति अथिरता कहां
कुल कांनि, कहा राज पंच गुरु, ग्रान सुधा बस होय जीव
बहु दोष करता।

युवावस्था के कान्तिमान् शरीर की स्थिति वृद्धावस्था मे कितनी घृणित हो जाती है :—

सकुचो सरीर, झूलि गई तुचा, सूषो मांस,
ग्रावभत पाउ, पथ चलें खेद धरतां।
दांत गयो दाढ़ गई, दिष्टि हू अदिष्ट भई,
नासा नैन मुख द्वार मल बहु झरता।
सीस हलें हाथ हलें, वदन निरूप भयो,
बांधव न बूझै बात, नारी हिय जरता।
धिक् यो बुढ़ापो भैया, देख क्यों न खोजै,
ग्रायो जहां पुत्र, पिता की अवग्या घनो करता।

परम्परागत नीतिकारो की तरह क्षत्रशेष के अनुसार शील का आचरण मानसिक और शारीरिक सुख का आधार है। यश देने वाला और पूर्व कर्मबन्धो को नष्ट करने वाला है :—

सील तें सकल गुन आप हिय बास करै,
सील तें सुजस लिहु जग प्रगटत है।
सील तें विघन ग्रोघ, रोग सोग दूर होय,
सील तें प्रबल दोष, दुःख विघटत है।
सील तें सुहाग भाग, दिन दिन उर्द होय,
पूरब कर्मबंध रिननि घटत है।

सील सौं सुहित सुचि दीसत न भ्रांति जग,
सील सब सुख मूल वेद यों रटत है।

२. 'विनोदीलाल के सवैये' :

'नेमिनाथ को नव मंगल', 'नेमि ब्याह', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिराजुल बारहमासा', आदि नेमिनाथ-राजुल विषयक काव्य ग्रन्थों की रचना से स्पष्ट है कि विनोदीलाल को नेमि-राजुल प्रसंग बड़ा प्रिय था। उन्होने 'भक्तामर चरित्र भाषा' नामक एक बड़े ग्रन्थ की भी रचना की। 'नवकार मत्र महिमा' के नाम से लिखित कवि के ६०-७० सवैये नीति विषयक हैं। नाम स्मरण के अतिरिक्त इन्द्रिय दमन और दया आदि नीति विषय कवि को प्रिय है। दया के बिना तीर्थयात्रा, विभिन्न मुद्रायें धारण करना निरर्थक है। कवि विनोदी लाल बाह्याचार की उग्र स्वरो में निन्दा करते हैं :—

द्वारिका के न्हाये कहा, अंग के दगाये कहा,
संख के बजाये कहा, राम पइयतु है।
जटा के बढ़ाये कहा, भसम के चढ़ाये कहा,
घूनी के लगाये कहा, सिव ध्यायतु है।
कान के फराये कहा, गोरख के ध्याये काहा,
सींगी के सुनाये काहा, सिद्ध लइयतु है।
दया धर्म जाने बिना, आपा पहिचाने बिना,
कहत 'बिनोदी लाल' कहूं मोष पइयतु है॥

३. सूरति की 'बारहखड़ी' :

जैन कवि सूरति कृत बारहखड़ी में चालीस दोहे और छत्तीस छन्द हैं। स्वार्थपरता 'कर्मबन्ध' साधु महिमा, आत्मचिन्तन इसके वर्ण्य हैं। सांसारिक कुकथाओ से दूर रहकर आगम और अध्यात्म का चिन्तन करते रहना श्रावक कालक्षण है। ऐसा नीतिकार सूरति का मानना है :—

ससा सोही सुगुर हैं, सुनि सुगुरन की सीष।
सदा रहै सुभ ध्यान मैं, सही जैन की ठीक।
सही जैन की सही जिनु कै, और कछू नहि भाव भावै।
आगम और अध्यातम बानी, पूछ सुनावै गावै।
कुकथ च्यारि बिगारि जगत् की तिनको नहि सुहावै।
'सुरति' सो जन मोहि भावै, ते सिव पंथ बतावै॥

४. बत्तीस ढाला :

सवाई माधोपुर मे उत्पन्न कवि टेकचंद षट् पाहुड़, तत्त्वार्थ सूत्र, सुदृष्टि तरंगिणी की वचनिकाओ के कारण जैन भक्तों में बड़े लोकप्रिय है। 'बत्तीस ढाला' इनकी अर्चचित रचना है। इस छोटी रचना मे वेसरी, गाथा, सवैया, कवित्त, कुण्डलियां, छप्पय, चौपाई, सोरठा, चाल अडिल्ल, पद्धड़ि, षड़गा, भुजगी, भरैठा, गीत आदि कई छन्दों का प्रयोग करके कवि ने अपने छद-ज्ञान का परिचय दिया है। 'बत्तीस ढाला' के ६३ छंद और कुछ ढालों मे अभिव्यक्त कवि के नीति विषय 'मनुष्य जीवन की महत्ता', 'स्वजनों की क्षणभंगुरता', रजस्वला स्त्री का रहन-सहन', 'विश्वास योग्य पात्र', 'पाप', 'दान' आदि हैं। चारों प्रकार के दानो का फल कवि ने इस प्रकार कहा है :—

सो दे भोजन दान, सो मन वांछित पावै।
औषधि दे सो दान, ताहो न रोग सतावै।
सूत्र तणै दे दान, ज्ञान सु अधिको पावै।
अभै दान फल जीव, सिद्धि होइ सो अमर कहावै॥

भोजन करते समय ध्यान रखने योग्य आचरण की महत्त्वपूर्ण बातें 'कुण्डलिया–रचयिता' गिरधरदास की तरह जैन कवि टेकचद ने जन साधारण को समझाई हैं—

भोजन करता जुद्ध कभु नहि ठानिये।
लोक विरोधी जो भोजन नहि आनिये।
पंच विरुध न मिलि, नहिं इक थल खाइये।
नैन मूंदि बुधि भोजन, भूलि न खाइये॥६॥
जाति विरोधी कोई, तहाँ नहिं खाइये।
संसै जुत भोजन नहिं, बुधजन पाइये।
अंधगमन जहाँ होइ, तहाँ खांनो नहीं।
इत्यादिक बुधवान, धरो हिरवै मही॥२०॥

५. 'मनोहर के सवैये' :

मनोहर के नाम से प्राप्त ६०-७० सवैये चिन्ता, कर्म-प्रभाव, उद्यम, बाह्याचार, विषयासक्ति परिवार की

स्वार्थपरता, 'होनहार' आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। सत्संग से श्रेष्ठ बनने की बात 'मनोहर' ने कई लौकिक उदाहरणों से सिद्ध की है :—

चंदन संग कीये अनि काठ जु, चंदन गंध समान जुले है।
पारस सौं परसे जिम लोह जु, कंचन सुद्ध सरूप जु सोहै।
पाय रसायनि होत कथीर जू, रूप सरूप 'मनोहर' जोहै।
त्यौं नर कोविद संग किये सठ, पंडित होय सबै मन मोहै॥

ममता की स्थिति में कवि ने शास्त्रपठन, सयम, मौन वृत्त, तप, दान, योग आदि सभी साधनाओं को निरर्थक माना है :—

ग्रंथन के पढ़े कहा, पर्वत के चढ़े कहा,
कोटि लछि बढ़े कहा, कहा रंकपन में।
संयम के आचरे कहा, मौन वृत्त धरे कहा,
तपस्या के करे कहा, कहा फिरै बन में।
दाहन के दये कहा, छंद करे तें कहा,
जोगासन भये कहा, बैठे साधजन में।
जौलौ ममता न छूटै, मिथ्या डोरि हू न टूटै।
ब्रह्म ज्ञान बिना लौं न, लोभ की लगनि मैं।

६. लक्ष्मीचन्द :

१४ छप्पय, १२ कवित्त और २८ दोहो मे लक्ष्मीचद ने 'साधु', 'शील', पुण्य, 'शास्त्र पठन', पवित्रता आदि नीति विषयों पर उक्तियां कही है। 'सुख' और 'दुख' दोनों का समभाव से सहने का 'गीता' जैसा उपदेश लक्ष्मीचंद ने इन पंक्तियों में दिया है :—

सोच कबहूं न कीजै, मन परतीत लीज्यो,
तेरौं सोच कीये कछू कारिज सरि है।
सोच कीये दुख भासै, सुख सबही नासै,
पूरब न दीयौ दांन, तातैं दुख भारी हैं।
जैसे दुख सुख तेरै होय करम अनुसार ही तू,
आप सहै रे, टारै नहिं टरि है।
कोहि बुद्धि करौ फिरि फिरि, नाना देश मांहि फिर्यौ,
बढ़तौ न पावै कछू, लिखै तु धरिहै।

प्रजा को सुख देना, राजाज्ञा का पालन करना, शीलवती होना और शुभ मार्ग पर चलना क्रमशः राजा, प्रजा, स्त्री और पुरुष की पावनता के मापदण्ड होते हैं। ऐसा लक्ष्मीचद का मत है :—

पावन राजा होय, प्रजा को सुख उपजावै।
पावन परिजा होय, राज सब आनि न पावै।
पावन नारी होय, सील गुन दिढ़ करि पालै।
पावन नर जो होय, भलै सुभ मारग चालै।
ए च्यारों जु पवित्र हैं, ते पवित्र सहजै वरै।
लषमी कहत एह भवसागर तिरै।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न चरित काव्यों और भक्तिपूर्ण रचनाओ के लेखन से जैन कवियों की दृष्टि भक्ति और सिद्धान्त-चर्चा में ही नहीं रही, उन्होने आदर्श जीवन की स्थापना मे भी रुचि ली है। गिरते हुए जीवन मूल्यों के इस युग मे ऐसी रचनाएँ बड़ी उपयोगी हैं।

११०-ए, रणजीत नगर, भरतपुर (राज०)

सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों को तो जुदा समझता ही है पर अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक हैं उनको भी वह हेय जानता है, क्योंकि बाह्य वस्तु को अपना मानने का कारण अन्तरंग के परिणाम ही तो हैं। यदि अन्तरंग से छोड़ दो तो वह तो छूटी ही है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों की चिन्ता नही करता, वह उसके मूल कारणों को देखता है। इसलिए उसकी परिणति निराली ही रहती है।

—वर्णीवाणी । पृ० ३५०

जिला संग्रहालय पन्ना में संरक्षित जैन प्रतिमाएँ

☐ श्री नरेशकुमार 'पाठक'

जिला संग्रहालय पन्ना की स्थापना जिला पुरातत्व संघ पन्ना एवं मध्य प्रदेश पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग के सहयोग से १९७४ में की गई संग्रहालय में कुल ७३ प्रतिमायें एवं कलाकृतियां संग्रहीत है, जो कि हिन्दू एव जैन धर्म से सम्बन्धित है, जिनमे २० जैन प्रतिमायें संग्रहीत हैं, ये सभी जैन मूर्तियां पन्ना नगर एव जिले के अन्य शिल्प केन्द्रो से प्राप्त हुई है। जो कि चन्देल कालीन शिल्प शैली की हैं। सरक्षित प्रतिमाओं का विवरण निम्न-लिखित हैं :—

आदिनाथ—प्रथम तीर्थंतर ऋषभनाथ जिन्हे आदिनाथ भी कहते है, की सग्रहालय मे दो प्रतिमाये सग्रहीत हैं। प्रथम प्रतिमा मे पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे (स० क्र० ७) उत्कीर्ण तीर्थंकर आदिनाथ के पेर एवं मुख की ठुड्डी आशिक रूप से खण्डित है। वितान मे अभिषेक करते हुए गज, मालाधारी विद्याधर युगल एव जिन प्रतिमायें अंकित है। पादपीठ पर परिचारक तथा पादपीठ के नीचे यक्ष गोमुख एवं यक्षी चक्रेश्वरी अंकित है। मध्य में आसन पर आदिनाथ का ध्वज लांछन वृषभ का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ११×१७×३१ से० मी० है।

दूसरी मूर्ति मे भी भगवान ऋषभनाथ पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में उत्कीर्ण है। (स० क्र० २६) वितान मे गजाभिषेक, दोनो ओर जिन प्रतिमा एव मालाधारी विद्याधर अंकित हैं। नीचे दोनो ओर जिन प्रतिमायें, परिचारक तथा पादपीठ पर दायी ओर यक्ष गोमुख और बायी ओर यक्षी चक्रेश्वरी का आलेखन है। मध्य में सिंह तथा आसन पर आदिनाथ का ध्वज लांछन नन्दी (वृषभ) बना हुआ है। प्रतिमा का आकार १४५×१०५×४० से० मी० है।

सुमतिनाथ—पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ की प्रतिमा पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में अंकित है। (सं० क्र० ६) मुख व वक्ष स्थल खण्डित है। पादपीठ पर सिंह, मध्य में सुमतिनाथ का लांछन चक्र तथा उसके दोनों ओर उपासक करबद्ध मुद्रा मे दोनों के सहारे बैठे द्रष्टव्य है। प्रतिमा का आकार १११×७६×२५ से० मी० है।

सुपार्श्वनाथ—सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा मे शिल्पांकित हैं। (सं० क्र० २४) सिर के ऊपर पांच फण नाग मौलि का आलेखन है। दायां हाथ खण्डित है। वितान मे त्रिछत्र, अभिषेक करते हुए गजराज दोनों ओर दो-दो जिन प्रतिमा उत्कीर्ण है। तीर्थंकर के दाहिने पार्श्व में मकर मुख, गज शार्दूल व परिचारक का अंकन है। नीचे दाहिनी ओर यक्ष तुम्बर तथा यक्षी पुरुषदत्ता (नरदत्ता) का आलेखन है। प्रतिमा का आकार १०९×४०×२५ से० मी० है।

विमलनाथ—तेरहवे तीर्थंकर विमलनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा मे अकित है। प्रस्तर खण्ड का (सं० क्र० ६२) दक्षिण पार्श्व व तीर्थंकर का पैर खण्डित है। वाम पार्श्व ऊपर से क्रमश: अलंकृत प्रकोष्ठ के मध्य कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमा, पद्मासन में जिन प्रतिमा, परिचारक अंकित हैं। नीचे आसन पर लांछन वराह का अंकन है। नीचे निर्मित कायोत्सर्ग में निर्मित तीर्थंकर प्रतिमा व परिचारक अंकित हैं। पादपीठ के ऊपर अस्पष्ट लांछन अंकित है। प्रतिमा का आकार १३७×७५×३१ से० मी० है।

धर्मनाथ—पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की सग्रहालय मे तीन प्रतिमायें संग्रहीत हैं। प्रथम कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर धर्मनाथ (सं० क्र० १५) अंकित हैं। ऊपरी भाग में त्रिछत्र, गजाभिषेक, मालाधारी, विद्याधर उनके नीचे उकड़ू बैठे परिचारक का अंकन है। पादपीठ पर दोनों ओर सिंह, मध्य में लांछन वज्र का अंकन है। प्रतिमा का आकार ११६+३२×२५ से० मी० है।

दूसरी कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित तीर्थंकर धर्मनाथ की मूर्ति के ऊपरी (सं० क्र० २३) भाग में त्रिछत्र, दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमायें, मकर मुख, गज,

शार्दूल, नीचे दोनों ओर जिन प्रतिमायें, यक्ष, किन्नर एवं यक्षी कन्दर्पा (या मानषी) का अंकन है। पादपीठ पर करबद्ध मुद्रा में धर्मनाथ का ध्वज लाछन बज्र का अंकन है। प्रतिमा का आकार ११६ × ३२ × २५ से० मी० है।

तीसरी तीर्थंकर धर्मनाथ की पद्मासन में बैठी प्रतिमा का शिरोभाग खण्डित है, (सं० क्र० ४५) ऊपरी भाग मे मालाधारी विद्याधर तथा नीचे पादपीठ पर सिंह, मध्य मे लांछन बज्र का अंकन है। प्रतिमा का आकार ५७ × ३५ × २२ से० मी० है।

नेमिनाथ—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ पद्मासन की ध्यानस्थ (स० क्र० ६०) मुद्रा मे बैठे हैं। तीर्थंकर का सिर, हाथ एव पैर खण्डित है। वितान में त्रिछत्र, अभिषेक करते हुए गज, मालाधारी विद्याधरो का आलेखन है पार्श्व में दोनों ओर चतुर्भुजी अस्पष्ट देव, हाथियो पर खड़े परिचारक उत्कीर्ण हैं। पादपीठ पर दायी ओर यक्ष गोमेद, बायी ओर यक्षी अम्बिका अंकित है। पादपीठ के मध्य सिंह एव ध्वज लांछन शख का अंकन है। प्रतिमा का आकार ८२ × ५१ × ३० से० मी है।

"लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ"

संग्रहालय में आठ लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमायें संग्रहीत है। जिनमें तीन पद्मासन एव पांच कायोत्सर्ग मुद्रा मे अकित है। प्रथम पद्मासन में अकित लाछन विहीन तीर्थंकर (सं० क्र० ३३) का अधिकाश भाग खण्डित है। पार्श्व मे चावरधारी परिचारक का अंकन है। पादपीठ के दोनो ओर यक्ष-यक्षी की अस्पष्ट प्रतिमायें अकित है। प्रतिमा का आकार ६६ × ५५ × २४ से० मी० है।

दूसरी पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में अकित तीर्थंकर (स० क्र० ४४) प्रतिमा का शिरोभाग खण्डित है। पार्श्व में परिचारकों का अकन है। प्रतिमा का आकार ४२ × ४० × १६ से० मी० है।

तीसरी पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे अंकित प्रतिमा का (सं० क्र० ५२) शिरोभाग व पैर खण्डित है। ऊपरी भाग में छत्र मालाधारी विद्याधर दो-दो जिन प्रतिमायें उनके नीचे तीन-तीन कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमा, परिचारक तथा पादपीठ पर यक्ष-यक्षी का अंकन है। प्रतिमा का आकार ७२ × ४० × १७ से० मी० है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित तीर्थंकर (सं० क्र० ८) के सिर पर कुन्तलित केश लम्बवत कर्ण, अजान बाहु-देव का पैर खण्डित है। ऊपरी पार्श्व में मालाधारी विद्याधर हैं, बायी ओर उत्कीर्ण विद्याधर प्रतिमा खण्डित है। नीचे दो छोटी जिन प्रतिमायें बायी ओर के परिचारक के गले से ऊपर का भाग खण्डित है। परिचारको के पार्श्व में उपासक गण करबद्ध मुद्रा मे खचित है। मूर्ति का आकार १२८ × ५० × ३० से० मी० है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में अकित दूसरी तीर्थंकर मूर्ति (सं० क्र० ३) के सिर पर कुन्तालित केश, लम्बवत कर्ण, अजान बाहु, ध्यानस्थ मुद्रा मे उत्कीर्ण है। पीठिका मे दोनो ओर सिंह मध्य में आसन पर अस्पष्ट लांछन उसमे दोनो ओर दो-दो उपासक गण घुटने के सहारे बैठे अपने दोनो हाथो में अस्पष्ट वस्तु लिए हुए दिखाए गए हैं। प्रतिमा का आकार १४८ × ४७ × ३८ से० मी० है।

तीसरी कायोत्सर्ग मुद्रा में अकित तीर्थंकर प्रतिमा (सं० क्र० १६) का दायां हाथ व पैर खण्डित है। प्रतिमा छत्र, प्रभामण्डल से युक्त है, ऊपर दोनों पार्श्वों मे दो-दो जिन प्रतिमाये, नीचे उपासिकायें एव पादपीठ पर दोनों ओर सिंह मध्य मे आसन पर निर्मित लांछन अस्पष्ट है। प्रतिमा का आकार १०४ × ५० × २० से० मी० है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में अकित पांचवीं तीर्थंकर प्रतिमा के दोनों हाथ खण्डित हैं। (स० क्र० २२) ऊपरी भाग में दोनों ओर जिन प्रतिमायें कायोत्सर्ग मुद्रा मे हैं। नीचे मकर मुख, पार्श्व में गज शार्दूल का अंकन है। पादपीठ पर सिंह, उपासक, उपासिका, आसन पर ध्वज लांछन अस्पष्ट अकित है। प्रतिमा का आकार १२३ × २७ × २७ से० मी० है।

सर्वतोभद्रिका—अलकृत स्तम्भ प्रकोष्ठ के मध्य चारों (सं० क्र० १३) पद्मासन में तीर्थंकर प्रतिमायें अंकित हैं। ऊपरी भाग में एक जिन प्रतिमा दाहिनी ओर कोने पर

(शेष पृ० २५ पर)

णमो आयरियाणं

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

आचार्य और साधु दोनों पदों में अन्तर है। आचार्य अनुशास्ता हैं और साधु साधक। तत्व दृष्टि से यहां अनुशास्ता का भाव पर से भिन्न अपनी आत्मा पर शासन करने वाला है और वह इसलिए कि शुद्ध दिगम्बरत्व में स्व-स्व में ही है, वहां पर के विकल्प या पराए पर शासन करने को स्थान ही नही है। इसमें साधना भी है और अनुशास्तापन भी। एतावता आचार्य (साधु और आचार्य) दोनों श्रेणियों मे हैं और 'णमो आयरियाण' पाठ भी इसी दृष्टि में है। पर, आज हम परिग्रह के मोह मे अतीत के उक्त तथ्य को नकार कर मात्र व्यवहार की ओर इतने झुके हैं कि जो संघ सर्वथा स्व से भिन्न है—परिग्रह रूप है, अपरिग्रही महाव्रती साधु के लिए सर्वथा परिग्रह है, उस परिग्रह पर शासन करने वाले को आचार्य मान बैठे हैं—स्व-अनु-शासक और साधक जैसे तथ्यों को तिरस्कृत कर बैठे हैं। अन्यथा, लोगों की उक्त मान्यता का विरोध तो इसी से हो जाता है कि जब हम उन्हें दिगम्बर अपरिग्रही, महाव्रती मान बैठे तब उनमे संघ—परिग्रह जैसा परिग्रह भी क्यों? क्या मात्र धन-धान्यादि ही परिग्रह है या साधु-संस्था की संभाल का विकल्प परिग्रह नही है? यदि ऐसा है तब तो परिग्रह के अन्तरग चौदह भेद भी परिग्रह नहीं कहलाए जाने चाहिए।

स्थिति कुछ ऐसी बन रही है कि जैसे हम परिग्रही अपने को परिग्रह का स्वामी माने हुए हैं वैसी ही धारणा मूलतः व्यवहार आचार्य पद मे भी कर बैठे हैं। फलस्वरूप हमने केवल इतना मान लिया है कि आचार्य का कार्य संघ रूपी परिग्रह पर अनुशासन करना, उसकी संभाल करना मात्र है और स्व-अनुशासन व साधना से उतना प्रयोजन नहीं जितना प्रयोजन दि० साधु को होना चाहिए। हो सकता है कि आज के कुछ आचार्यों में भी ऐसी सूझ घर कर बैठी हो और वे पर कब शासक बनाने या प्रचार और समाजिक सुधार को प्रमुख कर साधक पद को गौण कर बैठे हों तब भी आश्चर्य नहीं। अस्तु, यदि व्यवहार मुनि-मार्ग चलाने के लिए ऐसा माना भी गया है और अब भी माना जाए तो—

सभी जानते हैं कि दिगम्बर वेष धारण करना बड़ा आदर्श और कठिन कार्य है। तीर्थंकर आदि महापुरुषों को वर्ज्य, पहिले किसी को दीक्षा देने की परम्पराएँ ऐसी रही हैं कि जो किसी लम्बे काल १०-१५ वर्षों तक मुनि संघ में रह कर क्रमशः ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक जैसे पदों का पूर्ण अभ्यास कर चुका हो, और परिपक्व आयु हो, वही मुनि-पद में दीक्षित होने का श्रेय प्राप्त कर सकता था। ऐसे मे उसके पद से च्युत होने की कदाचित् सम्भावना कम होती थी। पर आज तो लम्बी अवधि के क्रमिक अभ्यास के बिना ही युवक-युवतियों में दीक्षा देने और लेने जैसी प्रवृत्ति भी अधिक दृष्टिगोचर हो रही है। हम समझते हैं कि कहीं ऐसी प्रवृत्ति सम्राट् भरत के ग्यारहवें स्वप्न-फल को सत्य रूप में चरितार्थ करने के लिए ही तो नहीं अपनाई जा रही? यदि हमारा कथन ठीक है तो विद्यमान ऐसे वय-वृद्ध आचार्य और मुनि-गण (जो मंतर-जंतर, टोना-टोटका आदि करते-कराते हैं) के प्रति चर्चित अपवाद भी—स्वप्न फल को सत्य करने हेतु—सही होने चाहिए क्योंकि स्वप्न फल* के अनुसार इस काल में वृद्ध-

---

* ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से लोग तरुण अवस्था में ही मुनि-पद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं।"

—"पार्श्व ज्योति" दिनांक १५-२-८७

वय मुनि पद के योग्य नहीं हैं। पर, ऐसा होना नही चाहिए क्योंकि समाज में आज भी सु-मार्ग लग्न आचार्य पाए जाने का अपवाद नही—वे पाए भी जाते हैं।

अभी एक ज्वलंत प्रश्न यह भी उभर कर सामने आया है कि क्या ऐसी सुदृढ़-सुरक्षित भूमि तैयार हो चुकी है, जो एक-दो नहीं, अपितु बिना किसी क्रमिक दीर्घकालीन अभ्यास के, समुदाय रूप में ढेर सी कुमारियों और कुमारों को दीक्षा देकर उनकी भावी-सुरक्षा व स्थिरता के प्रति पूर्ण निष्ठा की जा सके ? हम अभ्युदय की कामना करते हैं। पर, इस विषय में लोगों की दृष्टि जो भी हो, हम तो यदा-कदा स्त्री जाति के प्रति अपवादों को पढ़-सुन चौंक जाते हैं कि कहीं पग डगमगा न जाएँ ? या कोई आततायी अवसर देखकर त्याग की कमर ही न तोड़ दे ? और यह आशंका इसलिए भी कि गत दिनों ही दिगम्बरेतर जैन-साध्वी······के प्रति सत्य या मिथ्या (?) अनेकों अपवादों को सभी पढ-सुन चुके हैं जबकि दिगम्बर मार्ग में उससे कठोर नियम और कठोर साधनाएँ हैं, और फिर आज के इस आततायी वातावरण में ?

यद्यपि यह ठीक है कि दीक्षाचार्य व्यवहार दृष्टि से दीक्षित से उसका उत्तरदायित्व निर्वाह कराने के प्रति बंध जाता है। उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह शिष्या या शिष्य की पूरी-पूरी संभाल करें। पर, यह निर्वाह तब और कठिन होता है जब आचार्य पुरुष-जातीय और दीक्षिता स्त्री-जाति हो क्योंकि मुनि-पद में रहते हुए वह स्त्री-जाति से सीधे निकट सम्बन्ध का अधिकारी नही। एतावता वह शिष्या के अंतरंग को भी गहराई से नहीं पढ़ सकता, चौबीसो घण्टे उस परिग्रह की सार-संभाल करना भी मुनि-पद के अनुकूल नहीं। अस्तु; हमारी दृष्टि से तो मुनि को बहुसंख्यक कुमारी-साध्वी परिवार को बढ़ाना समय और पद दोनों ही रीति से वर्ज्य है। यद्यपि इस दीक्षा मार्ग के निमित्त कई संरक्षकों को दहेज जैसे दानव से मुक्ति भले ही मिल जाती हो। हम तो कुमारों को भी मुनि-दीक्षा देने से पूर्व दसियों वर्षों तक लगातार त्याग और क्रमिक नियम पालन का अभ्यास कराना ही उचित समझते हैं और ऐसे में ही "णमो आयरियाणं, णमो लोए सव्व साहूणं" जैसे पदों की सार्थकता समझते हैं।

अभी हमारे सामने एक प्रश्न यह भी आया कि क्या आचार्यों को ऐसी अपरिपक्व वय में दीक्षा देनी चाहिए ? हमने कहा—लोक बेढंगा है, यदि आचार्य किसी के वैराग्य को दृढ़ न करे तो कहेगा ये संसार से उबारने के साधन नहीं जुटाते। और यदि आचार्य वैराग्य दृढ़ करा उसे उधर ले जाते हैं तो कहेगा—ये उम्र नहीं देखते। सब भांति लोकापवाद है। हमारी दृष्टि में तो साधु का कार्य वैराग्य में लगने-लगाने का ही है, वह इससे विरत क्यों होगा ?

उक्त स्थिति में कहीं ऐसा तो नहीं कि—यह श्रावकों का ही फर्ज है कि वे आचार्य को सांसारिक दूषित वातावरण से अवगत कराएँ और उन्हें ढेर-सी कुमारी और कुमारों की दीक्षा-प्रक्रिया से विरत करें। श्रावक और मुनि-पद भक्त होने के नाते हम तो सारा दोष श्रावकों को ही दे सकते हैं और तब—जबकि श्रावकों की दृष्टि में आचार्य आत्म-विभोर रहने वाले और सांसारिक प्रपंचों से दूर हों। वस्तु स्थिति क्या है ? जरा सोचिए।

वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली-२

(पृ० २३ का शेषांश)

दो-दो स्तम्भ प्रकोष्ठों में कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमायें अंकित हैं। ठीक इसी प्रकार चारों ओर जिन प्रतिमाओं का अंकन है। प्रतिमाका आकार ९८ × ३६ × ३६ से०मी० है।

जिन प्रतिमा का पार्श्व भाग—संग्रहालय में जिन प्रतिमा के वाम पार्श्व भाग से सम्बन्धित दो प्रतिमायें संग्रहीत हैं। प्रथम अलंकृत स्तम्भ प्रकोष्ठ के मध्य में पद्मासन में ध्यानस्थ मुद्रा में (सं०क्र० ६४) जिन प्रतिमा अंकित है। बायीं ओर एक जिन प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण है। प्रतिमाका आकार ५४ × ३७ × २३ सेमी० है।

दूसरी मूर्ति में पद्मासन में जिन प्रतिमा (सं०क्र० ५६) का सिरोभाग है। प्रतिमा का आकार ४५ × ३७ × १२ से० मी० है।

जैन गीतों में रामकथा

□ प्रो० श्रीचन्द्र जैन

विश्वेश्वर सर्वज्ञ तुम रामचन्द्र भगवान।
पूजों चरण त्रियोग से, हृदय विराजो आन ;।
—विद्यावारिधि प० मक्खन लाल शास्त्री

नाम लेत सब दुख मिटें, हे रघुनन्दन राम ;
विघ्न हरन, मंगल करन, पद बन्दू अभिराम ।।
स्व० धन्यकुमार जैन 'सुदेश'

—×—

यं शैवा: समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिन: ।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटव: कर्त्तेति नैयायिका: ।
अर्हन्नित्यथ जैन शासन रत: कर्मेति मीमांसका: ।
सोऽयं वो विदधातु वाँछित फलं त्रैलोक्य नाथ: प्रभु ।।
(हनुमन्नाटक—मंगलाचरण)

श्री रामचन्द्र की जीवन-गाथा लोक-जीवन में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार दूध में नवनीत, जल में शीतलता एवं धूप में उष्णता समाहित है।

चिरकाल से श्री राम का चरित्र युगीन रहा है, जिसमें युग-बोध के साथ परिस्थितियाँ विविध रूपों में उभर कर आई है। फलत: वे युग-पुरुष कहलाए तथा युग-प्रवर्तक रूप मे पूजित हुए। युग-परिवर्तन के साथ आराधको के मन्तव्यों में बदलाव आया और उनका उदात्त चरित्र कभी मानव के रूप मे तो कभी परमेश्वर के रूप में वन्दनीय अनुकरणीय रहा है और आज भी है। निम्नस्थ पंक्तियां इसी कथन को परिपुष्ट करती हैं :—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ;
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ।।
(साकेत—स्व० राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त)

"हरि अनंत हरि कथा अनंता।" के अनुसार श्रीराम की कथा विविध रूपों में अनेक भाषाओं के माध्यम से वर्णित है। गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयं ऐसे कई कवियों को प्रणाम किया है, जिन्होंने प्राकृत आदि भाषाओं में हरि-चरित्रों का वर्णन किया है, कर चुके हैं एवं भविष्य में करेंगे :—

जो प्राकृत कवि परम सयाने।
भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने।।
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे।
प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे।।
(रामचरित मानस, बाल कांड)

—×—

भारत की तीन प्रमुख परम्पराओं (१ वैदिक २ जैन एवं बौद्ध) में श्री रामकथा वर्णित है। पुराणों, काव्यों, नाटकों आदि में भी भ० श्री रामचन्द्र जी का विराट् व्यक्तित्व चित्रित किया गया है। स्वर्गीय राष्ट्रीय कवि मैथिली शरण गुप्त के कथनानुसार जब भगवान् राम का वृत्त स्वय ही काव्य है तब रामकथा-गायको का कवि बन जाना पूर्ण सम्भव है :—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय स्वयं संभाव्य है।।

हिन्दी तथा प्रदेशीय लोक-भाषाओं से रामचरित्र बड़ी आस्था-श्रद्धा से गाया गया है। तेलुगू मे लगभग ३०० रामकाव्य उपलब्ध हैं। बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, आनंद रामायण, रामायण मजरी, उत्तर रामचरित, हनुमन्नाटक आदि सस्कृत रचनाओ के साथ रामचन्द्रिका, रामशलाका, रामचरितमानस, साकेत, वैदेही वनवास, रामशक्ति पूजा आदि हिन्दी काव्य विशेषत: उल्लेख्य हैं।

जैन साहित्य में निम्नस्थ रामायणें प्रमुख है :—

प्राकृत—(१) पउम चरिउ—विमलसूरि।
(२) पउमचरिउ—चउमुह।
(३) पउम चरिउ—स्वयम्भू।

संस्कृत—(१) पद्म चरितम्—रविषेण।
(२) जैन रामायण—हेमचन्द्र।
(३) रामचरित—देवविजयगणि।
(४) रामपुराण—सोमसेन।
(५) पद्मपुराण—भट्टारक चन्द्रकीर्ति।
(६) पद्मपुराण—धर्मकीर्ति।
(७) त्रिषष्ठिशलाका चरित—हेमचन्द्र।
(८) पुण्य चन्द्रोदय—कृष्णकवि।
(९) सीता चरित—नेमिदत्त।

कन्नड़—(१) पम्प रामायण—नागचन्द्र ।
(२) कुमुदेन्दु रामायण—कुमुदेन्दु ।
(३) रामकथावतार—देवचन्द्र । आदि-२ ।

हिन्दी—(१) पद्मपुराण—खुशहालचन्द्र ।
(२) पद्मपुराण वचनिका—दौलतराम ।
(३) सीता चरित्र—रायमल्ल ।
(४) सीता चरित्र—रामसिंह ।
(५) रामचरित—भट्टारक सोमसेन विरचित रामपुराण का हिन्दी अनुवाद । अनुवादक पं० लालबहादुर शास्त्री । आदि ।।

जैन राम साहित्य मे अनेक कथान्तर द्रष्टव्य है। जैन पुराणो मे महापुरुषों की सख्या तिरसठ बताई गई है। इनमे २४ तो तीर्थकर है, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रति वासुदेव। श्री राम आठवे वासुदेव, लक्ष्मण आठवे वासुदेव और रावण आठवें प्रतिवासुदेव है। यहा जैनधर्म प्रभावित अनेक पात्र जिनदीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। द्रष्टव्य:, कविवर भैया भगवतीदास रचित निर्वाणकांड भाषा एवं यति नैनसुखदास कृत सती सीता का बारहमासा।

गेय प्रधानगीत—लोक मानस के सहज उद्गार है, जिनमे जीवन की अकृत्रिम झांकियां स्वाभाविक रगों मे चित्रित हुई है। यथार्थवादी धरातल पर उद्भूत ये लोक-स्वर बड़े सुहावने, मधुर एव आशावादी है। जिस प्रकार जैन रामकथा के विविध प्रसगो में सांस्कृतिक अभिनय भगिमा अभिव्यंजित हुई है उसी प्रकार जैनगीतो में राम-चरित धार्मिक आयामों से आच्छादित हुआ है। श्री राम का यह चिंतन कितना उदात्त-पावन है :—

कब मैं बनहों शिवमगचारी।
भव-वैभव से प्रीत न मेरी।
पर सुख दैन नीत है मेरी।
छन भंगुर जगती की माया।
छन भगुर यह जीवन काया।।
कब बनहौं परमार्थ विचारी।
कब मैं बन हों शिवमगचारी।।

——×——

वस्तुत: इन लोक गीतों मे भगवान् राम दुग्ध-सलिल-वत् एकात्मक हो गए हैं। फलत: लोक में श्री राम हैं और भगवान रामचन्द्र में यह सारा संसार समलंकृत है।

जैन साहित्य के लोक-प्रिय महान् कवि श्री बनारसीदास जी की यह आध्यात्मिक रामकथा विषयक अभिव्यक्ति जिनमत सम्मत दार्शनिक चिरंतन का रूपकात्मक स्वरूप ही है :—

विराजै रामायण घटमांहि।
मरमी होय मरम सो जाने, मूरख माने नांहि।
विराजै रामायण घटमांहि।

आतम राम ज्ञान गुन लछमन सीता सुमति समेत।
शुभोपयोग बानर दल मंडित वर विवेक रण-खेत।।
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि गई विषयादिति भाग।
भई भस्म मिथ्यामति लंका उठी धारणा आग।।
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल लरे निकांक्षित सूर।
जूझे राग-द्वेष सेनापति संशयगढ़ चकचूर।।
बिलखत कुंभकरण भवविमुख पुलकित मन दरयाव।
चकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव।।
मूर्छित मन्दोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परणति सेना, छूटे क्षपक गुणवान।।
निरखि सकति गुनचक्र सुदर्शन, उदय विभीषण दीन।
फिरे कबंध महीरावण की प्राणभाव सिर हीन।।
इह विधि सकल साधु घट अंतर होय सहज संग्राम।
यह व्यवहार दृष्टि रामायण केवल निश्चय राम।।

——×——

इस प्रकार दो प्रमुख रूपों (रविषेणाचार्य कृत पद्म-पुराण एव श्रीगुणभद्राचार्य प्रणीत उत्तर पुराण के कथानकों में) वर्णित तथा जैन गीतो मे निरन्तर गुजरित जैन राम-कथा, श्रमण-सस्कृति के मुख्य विशेषताएँ समन्वित होकर 'वसुधैव कुटम्बकम्' के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करती है तथा भगवान् श्रीराम के लोक मंगलार्थ समर्पित स्वरूप की अर्थवत्ता को उद्घटित करती है।

——×——

इस विदेह जीवन-दर्शन में, कर्मयोग सन्यास मिलेगा।
रघुपति के जीवन दर्शनमें, शिव-पथ का विश्वास मिलेगा।।

—शशि

* श्रीचन्द्र जी का यह अन्तिम लेख रीवा में आयोजित संगोष्ठी के लिए लिखा गया था। दु:ख है वे इसे अपने जीवन मे पढ़ नहीं पाये।

गतांक ४०/१ से आगे :—

(चिन्तन के लिए)

'सिद्धा ण जीवा'—धवला

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली-२

प्रसंग तत्त्वों की पहिचान का है और हम भी 'तत्त्व-कुतत्त्व पिछाने' वाक्य को पूर्व में दुहरा चुके है। उक्त प्रसंग में हमारी धारणा है कि—जैन दर्शन में छः द्रव्यों की स्वतंत्र और पृथक्-पृथक् त्रिकाली सत्ता स्वीकार की गई है तथा छहों द्रव्यों में पुद्गल के सिवाय अन्य सभी द्रव्यों को अरूपी बतलाया गया है—'नित्यावस्थितान्य-रूपाणि', 'रूपिणः पुद्गलाः।'—ऐसा भी कथन है कि लोक-अलोक में छह द्रव्यो के सिवाय कही कोई सातवां द्रव्य नहीं है—सभी इन छह द्रव्यों में समाहित है। ऐसी स्थिति में हमारी दृष्टि से लोक में अन्य जो भी बुद्धिगम्य होता है वह सभी चेतन अचेतन का विकारी रूप है।

द्रव्य, पदार्थ या तत्त्व कुछ भी कहो, सभी शब्द एकार्थक और एक भाववाची जैसे रूप से प्रचलन में चले आ रहे हैं। प्रायः कुछ लोगो की धारणा ऐसी है कि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष भी वैसे ही स्वतंत्र-स्वभावी तत्त्व हैं जैसे स्वतंत्र-स्वभावी छह द्रव्य हैं और इन तत्त्वों या पदार्थों का अस्तित्व द्रव्यों से जुदा है।

ऐसे में सहज प्रश्न उठता है कि जब द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ जैसे सभी सांकेतिक शब्द एकार्थक और एकभाव-वाची प्रसिद्ध हैं और लोक-अलोक में छह द्रव्यो के सिवाय अन्य कोई स्वतंत्र-सत्ता नहीं; तब आचार्यों ने छह द्रव्यों, सात तत्त्वों और नव-पदार्थों का पृथक्-पृथक् वर्णन क्यों किया? क्या आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा तथा पुण्य, पाप की कोई स्वतंत्र, स्वाभाविक सत्ता है? अथवा यदि ये सभी स्वतंत्र नहीं हैं तो इनको तत्त्व क्यों कहा गया है और क्यों इनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का नाम दिया गया? जब कि ये सभी चेतन-अचेतन के आश्रित रूप हैं।

स्मरण रहे कि आश्रव, बंध, सवर, निर्जरा आदि जैसे तत्त्व या पदार्थ नामवाची सभी रूप, चेतन और अचेतन के मिश्रित-विकारी अस्तित्व है; इनमें से कोई भी स्वतंत्र या मूलरूप मे वैसा नही जैसे कि छह द्रव्य हैं। फलतः इन तत्त्वों को मूलरूप में वैसे ही स्वीकार नही करना चाहिए जैसे छह द्रव्यों को स्वीकार किया जाता है। खुलासा इस प्रकार है—

जैसे जीव में पुद्गल कर्मों के आगमन मे हेतु भूत मन-वचन-काय द्वारा आत्मप्रदेशो के परिस्पन्द को आस्रव कहते हैं और स्वय ये मन-वचन-काय भी किसी एक शुद्ध द्रव्य के शुद्धरूप नही है—वे भी चेतन-अचेतन के मिश्रण से निष्पन्न है, तब मिश्रण से निष्पन्न आस्रव को मूल या शुद्ध तत्त्व (द्रव्य) कैसे माना जा सकता है? वह तो दो के मिश्रण से होने वाला व्यापार है। ऐसे ही बध भी कोई स्वतंत्र मूल तत्त्व नही, वह भी कषायभाव पूर्वक चेतन के साथ जड़ कर्म के बंधने की क्रिया मात्र है और मिश्रण से निष्पन्न क्रिया को मूलतत्त्व (द्रव्य) नही माना जा सकता। यही बात सवर मे है। वहां भी मूल तत्त्व चेतन आत्मा और अचेतन कर्म हैं और वहाँ पुद्गल कर्म के आगमन के रुकने रूप क्रिया भी दो का विकार है। इस प्रकार पुद्गल कर्मों का आना, बंधना, रुकना सभी विकारी हैं। ऐसे ही निर्जरा यानी कर्मों का झड़ना भी चेतन-अचेतन दोनो मूल-तत्त्वों के विकारी भावो से निष्पन्न व्यापार है—कोई मूल स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। अब रही मोक्ष तत्त्व की बात। सो वह भी परापेक्षी अवस्था से निष्पन्न है और वहां भी मूल तत्त्व शुद्ध चेतन ही है।

जब हम दिव्य ध्वनि से पूर्व के गौतम (बाद में गणधर) के प्रति इन्द्र द्वारा प्रकट की गई जिज्ञासा का मूल श्लोक

पढ़ते हैं तब उसमें हम इन सभी को मोक्ष-मार्ग के विधान में पाते हैं, न कि त्रिकाली स्वतंत्र (द्रव्य) की सत्ता के रूप में।—"इत्येतन्मोक्षमूलं।" आदि। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपदसहितं जीव षट्काव्य लेश्या।
पंचान्ये चास्ति काया: व्रतसमितिगतिर्ज्ञान चारित्र भेदा:।।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैर्प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् य: स वै शुद्धदृष्टि:।।'

अर्थात्—इनका श्रद्धान ज्ञान और अनुभवन किए बिना मोक्ष या मोक्षमार्ग का अनुसरण नहीं किया जा सकता। जो भव्य प्राणी इन विधियो, क्रियाओं और स्थितियों का विधिपूर्वक सही-सही श्रद्धान ज्ञान अनुभवन करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। इसका आशय ऐसा है कि संसारी प्राणी को मोक्षमार्ग दर्शाने मे आस्रवादि तत्त्व हैं यानी—सारभूत हैं। इन प्रक्रियाओं को समझे बिना कोई जीव मोक्षमार्ग में नहीं लग सकता—जब कोई जीव इन विकृतियों—विकारों को समझेगा, इनसे परिचित होगा तभी वह निवृत्ति—(मोक्षमार्ग) की ओर बढ़ेगा और काल-लब्धि के आने पर उस भव्य जीव को मोक्ष भी हो सकेगा; आदि। इस प्रकार तत्त्व या पदार्थ नाम से प्रसिद्ध जो कुछ है वह सब मोक्षमार्ग-दर्शाने के भाव में तत्त्व—सारभूत है—किसी स्वतत्र सत्ता के भाव मे नही है, ऐसा सिद्ध होता है। फलत:—

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष कोई स्वतत्र तत्त्व(द्रव्य) नहीं—वहां तत्त्व शब्द का अर्थ मोक्षमार्ग में सारभूत—प्रयोजनभूत मात्र है। भाव ऐसा है कि उक्त सभी अवस्थाएँ विकारी भाव तक सीमित है और उसी दृष्टि में मानी गई हैं। इसी प्रकार 'जीव' संज्ञा भी विकारी होने के भाव में है, जब विकारी आत्मा विकार-रहित अवस्था में आ जाता है तब वह जीवरूप में न कहा जाकर 'सिद्ध' या परम-आत्मा कहलाता है और आचार्यवर वीरसेनाचार्य ने इसी तत्त्व (वास्तविकता) के प्रकाशन के लिए स्पष्ट किया है कि—'सिद्धा ण जीवा' अर्थात् सिद्ध जीव नहीं हैं उन्हें जीवितपूर्व कहा जा सकता है—'जीविदपुव्वा इदि'—

सोचने की बात यह भी है कि क्या जीव और अजीव दोनों की उपस्थिति के बिना आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हो सकते हैं? जो इन्हें स्वतंत्र तत्त्व (द्रव्य) माना जा सके? फिर यह भी सोचना है कि जब लोका-लोक में छह द्रव्यों के सिवाय अन्य कुछ नहीं, तब यह स्वतंत्र तत्त्व कहा से आ गए? शास्त्रों में आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा के जो लक्षण दिए है, उन लक्षणों के अनुसार किस तत्त्व का समावेश (अन्तर्भाव) किस स्वतत्र द्रव्य मे होता है? यह भी सोचना होगा। हमारी दृष्टि से तो द्रव्यों मे कोई भी स्वतंत्र द्रव्य ऐसा नही, जिस किसी एक मे भी स्वतत्ररूप से इन तत्त्वों का अन्तर्भाव हो सके। अतः मानना पड़ेगा कि इन उपर्युक्त तत्त्वो को द्रव्यों जैसी कोई स्वतत्र सत्ता नही अपितु ये सभी के सभी चेतन-अचेतन के विकार से निष्पन्न है; इन्हें हम चेतन-अचेतन की विकारी क्रिया भी कह सकते हैं और क्रिया या व्यापार कभी द्रव्यवत् स्थायी नही होते। अन्यथा यदि व्यापार-क्रिया ही तत्त्व हो जाय, तो खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना आदि व्यापार भी तत्त्व कहलाएँगे और इस प्रकार तत्त्वों की सख्या सात न रहकर असख्यातों तक पहुच जायगी। अतः ऐसा ही मानना चाहिए कि प्रसग मे तत्त्व शब्द का अर्थ सारभूत है और मोक्षमार्गी को इन प्रक्रियाओं को जानना चाहिए, क्योंकि ये मोक्षमार्ग मे—भेद-विज्ञान मे उपयोगी—सारभूत हैं। इसी प्रकार जो स्थिति इन तत्त्वों की है वही स्थिति जीव की है और जीव भी विकारी अवस्था है। जब भेद-विज्ञान द्वारा आत्मा को जीवत्व पर्याय का बोध होगा, तब वह अपने को विकारत्व से पृथक् कर सकेगा—स्व-शुद्धत्व मे आ सकेगा और उसका विकारी भाव 'जीवत्व' छूट जायगा—वह 'सिद्ध' या परम आत्मा या शुद्ध-चेतन हो जायगा। इसी भाव मे श्री वीरसेनाचार्य जी ने घोषणा की है कि—'सिद्धा ण जीवा:।'—

इस प्रसंग में 'जीवाश्च' सूत्र क्यों कहा और अचेतन का नामकरण भी अजीव क्यों किया? इसका खुलासा हम पहिले ही कर चुके हैं। लोग इस विषय को लोकैषणा या पक्ष-व्यामोह का विषय न बनाएँ—यह चिंतन का ही विषय है। इसे पाठक विचारें, हमें आग्रह नहीं। (क्रमशः)

जरा-सोचिए !

१. धर्मलाभ और धर्मवृद्धि :

स्वामी समन्तभद्राचार्य की 'बीजाऽभावे तरोरिव'—बीज के अभाव में वृक्ष की भांति। इस उक्ति को प्रस्तुत करते हुए एक सज्जन ने विचार दिए कि :—

सभी जानते हैं कि वृक्ष की उन्नति तभी होती है जब मूल में बीज हो। पर, अब ऐसा मालूम देता है कि वर्तमान आविष्कारों के युग मे स्वामी समन्तभद्र के वाक्यों को झुठलाने के प्रयत्न भी जारी हैं। बाज लोग धर्मरूपी बीज के अभाव या मुरझाने मे भी 'धर्मवृद्धि' के स्वप्न संजोने मे लगे हैं; पहिले उनमे आचाररूप धर्म स्थापित तो करें। उदाहरण के लिए हमारे यहां मुनियो द्वारा एक वाक्य बोला जाता है—'धर्म बृद्धिरस्तु'—तुम्हारे धर्म में बृद्धि हो। यह वाक्य मुनिवर उस जैन के प्रति बोलते हैं, जो उन्हें नमोऽस्तु अथवा वन्दन करता है। बड़ी अच्छी बात है—आशीर्वाद और वह भी धर्मवृद्धि का। पर, आज के युग मे जब हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह रूपी पापो मे बढ़वारी सुनी जा रही है तब धर्म के बीज कितनो में सुरक्षित होगे ? शास्त्रो में पापों के एकदेश त्यागी को व्रती श्रावक कहा गया है और अष्ट मूलगुण धारण जैन मात्र को अनिवार्य है। ऐसे मे कितने जैन ऐसे है जिनके मात्र रात्रि भोजन का त्याग हो और बिना छना पानी न पीने का नियम हो ? कितनो मे धर्म के बीज ठीक है जिन्हें 'धर्मवृद्धि' जैसा आशीर्वाद दिया जाय ? वे बोले—हम तो सोचते है कि पापवृद्धि के इस युग मे धार्मिक नियम पालकों के सिवाय, जिनके बीज मुरझा रहे हो—उन्हे 'धर्मवृद्धि' जैसा आशीर्वाद न दिया जाकर यदि 'धर्मलाभ' या 'पापहानिर्भवतु' कहा जाय तो उपयुक्त जँचता है। वे आगे बोले—एक बात और है जो श्रावकोचित होगी। वह यह कि—आज के वातावरण के देखते-सुनते हुए जब कतिपय (क्वचित्) मुनियो में शिथिलता के प्रति लोगों में चिंता व्याप्त है; तब श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसे मुनियों के प्रति भावना भाएँ—'सद्धर्मबृद्धिर्भवतु।' और यह इसलिए कि ऐसे मुनियों में अभी धर्म के ठीक बीज होने की संभावना है और वे बीज, वृक्षरूप में बढ़ सकते हैं। अन्यथा—

अब तो कतिपय मुनियों में शिथिलाचार पनपने की बात कतिपय कट्टर मुनिभक्त भी करने लगे हैं। उन्होंने कहा—हमारे पास कई ऐसे पत्र सुरक्षित हैं (उन्होंने हमें कई मनीषियों के तत्कालीन कई पत्र भी दिखाए) जिनमें मुनियों के शिथिलाचार सम्बन्धी अनेकों उल्लेख हैं।

वे बोले—आप इन्हें छापेंगे ?

हमने कहा—यह तो मुनि-निन्दा है और मुनि-निन्दा के हम सख्त खिलाफ है। हम बरसो मुनि-चरणों में रहे हैं, हम ऐसा करने को तैयार नही।

वे बोले—आपको पत्रो के प्रकाशन में क्या आपत्ति है ? पत्र तो दूसरो के है।

हमने कहा—कुछ भी हो, छापने में धर्म की हँसाई तो है ही। यदि पत्र छापने से सुधार की गारण्टी हो तो हमे छापने मे कोई आपत्ति नही। पर, छापने से सुधार हो ही जायगा यह विश्वास कैसे हो ?

खैर, बहुत चर्चा चली और हमने उनसे कुछ पत्रो की फोटो-स्टेट कापियां ले ली और कह दिया देख लेंगे। पत्र वास्तव मे कट्टर धर्मश्रद्धालु मनीषियों के ही है। एक पत्र तो एक लेख के प्रति एक मुनिराज के उद्गारों का है। लिखा है—

"आपने जैन समाज एवं साधुओं में जो शिथिलाचार फैल रहा है इसको अंतरंग से प्रकट किया है। देखिए, नाराज तो होना ही नहीं किन्तु इसका दृढ़ता से प्रतिकार करना होगा। आपने पत्र में असली बातों को लिखा है। पैसा, प्रतिष्ठा और सत्ता मे सभी पागल होने जा रहे हैं, निज धर्म को छोड़कर। इससे धर्म, समाज और साधु परम्परा में समीचीनता नहीं रह रही है। एक नाम के पीछे धर्म और आगम—आर्ष-परम्परा का नाश कर रहे

हैं। ठीक समय पर प्रतिकार कर स्थिर करना जरूरी है। कुंदकुंद आचार्य का मूलाचार और शिवकोटि आचार्य का भगवती आराधना ग्रन्थ उल्लंघन (कर) अपने प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाह रहे हैं।"

इसी विषय की चिंता एकाधिक कई विद्वानों में व्याप्त है, उनके भी पत्र हैं। इस प्रसंग में एक चोटी के विद्वान के लेख को हम अभी पढ़े हैं उसके कुछ अंश इस प्रकार है—

"उन्हें ठण्ड से बचने के लिए हीटर चाहिए, गर्मी के ताप से बचने के लिए पंखा चाहिए, एक स्थान से दूसरे स्थान तक उनके परिग्रह को ढोने के लिए मोटरगाडी चाहिए, ड्राइवर चाहिए। समाज इस सबका प्रबन्ध उनके बिना लिखे-पढ़े ही करती है।"

हम मुनि-निन्दा के भय से अन्य संगीन जैसे पत्रो को जानबूझकर नहीं छाप रहे। हाँ, यदि धर्म-मार्ग मे ऐसी भयावह स्थिति है तो अवश्य ही विचारणीय और प्रतीकार के योग्य है। नेता यदि धार्मिक नेता है तो उन्हें और सभी समाज को भी ऐसे सुधारों के लिए ठोस कदम उठाना चाहिए।

हम यह निवेदन और कर दें कि हम जो कुछ उद्धरण दे रहे हैं, सब उपगूहन और स्थितिकरण की भावना से धर्मवृद्धि के लिए ही दे रहे हैं। कोई हमारे प्रति ऐसे भ्रम में न पड़े या ऐसा ना ही समझे या कहे कि—मुनिपंथ में से किसी की ओर से हमारा कोई बिगाड़ हुआ होगा या हमारे किसी लाभ की प्राप्ति में किसी ने कोई बाधा दी होगी। हम तो सभी मुनियों के भक्त है और हमारी श्रद्धा मे विधि-विधान द्वारा दीक्षित शुद्ध-चारित्र पालक सभी मुनि, साधु है। फलत: हमें मुनियों के आचार के ह्रास या मुनियों में छीना-झपटी जैसी बातें सुनना नही रुचता। अत: कुछ लिख देते हैं। अब तो श्रावकों व मुनियों को स्वयं ही सोचना चाहिए कि पानी कहां मर रहा है? और किसे कहां सफाई करना है। हमें आशा है कि जिस ओर पानी मर रहा होगा उसी पक्ष की ओर से बहाव उबलेगा। तथ्य क्या है? जरा सोचिए!

और यह भी सोचिए कि यदि वास्तव में इस मार्ग में बिगाड़ है तो सुधार के साधन क्या हैं? क्योंकि आज समाज में धर्म-ह्रास के प्रति (प्रकारान्तर से अनजान में ही सही) ऐसा वातावरण बन चुका है जो दिन पर दिन लाइलाज होता जा रहा है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो भँवर में पड़ी धर्म की नैया एक दिन अवश्य डूब जायगी—इसमें सन्देह नहीं।

हमने देखा है कि कई जानकार किन्हीं के दोषों के प्रति आपस मे कानाफूसी करते हुए भी खुलकर कहने की हिम्मत नहीं कर पाते। 'हमसे तो अच्छे हैं' सम्प्रदाय वाले सिर फोड़ने तक को तैयार है। पराधीन या मुंह-देखी करने वाली कोई पत्रिकाएँ असलियत छापेंगी क्यों? इस प्रकार जब सभी ओर से सुधार-मार्ग अवरुद्ध हो; तब क्यों न खुले-ताण्डव को बल मिलेगा—जैसा कि मिल रहा है? जरा-सोचिए!

मार्ग दर्शन दें :

हमने एक शोध-सस्थान की परिचय-पत्रिका मे पढ़ा है—

"मनुष्य का हृदय एक अष्टदलाकार सुन्दर पुष्प के समान है। भाषा उसका विकास है और भाव-लिपि उसकी गंध है। द्रव्यलिपि कामधेनु-कल्पवृक्ष है। शब्द नौका है, अर्थ तटभूमि है। अत: अनादि सिद्धान्त के रूप मे प्रसिद्ध एवं सम्पूर्ण आगमों की निर्मात्री, भगवान आदिनाथ के मुख से उत्पन्न वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए। अर्थात् बारहखड़ी सीखकर शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।—धवला"

प्राचीन शास्त्रीय मौलिकताओं, पुरातत्त्व, इतिहास आदि की खोजों के लिए स्थापित किसी शोध-संस्थान द्वारा खोजा हुआ; धवला से उद्धृत उक्त अंश हमें बड़ा हृदयग्राही लगा। इससे ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों भी प्राचीन रचनाओ में आज जैसे भाषा-बहाव की जमावट करने में कई आचार्य सिद्ध-प्रज्ञ रहे हैं। और ऐसा सम्भव भी है। क्योंकि उन दिनों कई आचार्य घोर तपस्वी होते थे और उनमें कोई-कोई अपने तप के प्रभाव से भविष्य-ज्ञाता तक बन जाते थे—ऐसी जन-श्रुति है। अत: यह भी संभव है कि धवलाकार भी उसी श्रेणी में रहे हों और तब उनके भावों और लेखनी में आधुनिक (वर्तमान में प्रचलित) शैली, भाषा-भाव की पुट आ गई हो और उन्होंने उस भंगिमा को तत्कालीन प्राकृत या संस्कृत भाषा में गूंथ

दिया हो ! जिसका उपर्युक्त (उद्धृत) सही शब्दार्थ धवला के मूल से उद्धृत किया गया हो। खैर, जो भी हो—हमें आचार्य के प्रति अपूर्व श्रद्धा है, इसलिए पिपासा शान्त करने के लिए हमने धीरे-धीरे कई दिनों तक धवला के पन्नों को पलटा। पर, बहुत खोजने पर भी जब उक्त मूल-अंश न मिल सका और हम निराश रहे, तब हमने शोध-संस्थान के अधिकारी को पत्र लिखा कि वे हमें दिशा-निर्देश दें कि उक्त अंश के मूल को धवला की किस पुस्तक के किस पेज पर देखा जाय? लेकिन आज तक कोई जवाब न मिला।

अब विद्वानों से प्रार्थना है कि यदि उन्होंने धवला के उक्त अंश के मूल को किसी पुस्तक मे देखा हो तो हमे मार्ग दर्शन दें। अन्यथा, उक्त प्रसग मे हमे लिखना पड़ेगा कि ऐसी विसंगति क्यों? क्या ऐसे शोध-संस्थान हमे सही दिशा दे सकेंगे? जरा सोचिए!

३. साथ दें और अनुमोदन करें :

आज गुणग्राहकता का स्थान व्यक्तिपूजा ले बैठी—जिसका परिणाम आचार-विचार का ह्रास सन्मुख है। लोग महावीर और कुन्दकुन्दादि को प्रमुखता देकर उनके व्यक्तिगत गान में लगे हैं और उनका मुख्य केन्द्र उन्हीं के व्यक्तित्व को महान बताने मात्र मे लग बैठा है। महावीर ऐसे थे, कुन्दकुन्दादि ऐसे थे इसे सब देख रहे हैं। पर, हम कैसे हैं, इसे विरले ही देखते होगे। पूर्वजों के नाम पर कहीं भवन बन रहे हैं, कही संस्थाएं खड़ी हो रही है—पुद्गल के पिण्ड जैसी। लोग इस हेतु बे-हिसाब लाखों-लाख संचय कर रहे हैं और बे-हिसाब खर्च भी कर रहे है। कोई कहे तो, कहीं-कहीं यह भी सुनने को मिल जाय—कि आप क्यों बोलते हैं, आपका क्या खर्च हो रहा है? तब भी आश्चर्य नहीं। समाज की पूरी आर्थिक, मानसिक और कायिक शक्तियां इसी मे लगी है। हर साल महावीर आदि अनेक महापुरुषों की जयन्तियां मनाई जाती हैं। आए दिन अनेक उत्सव और समारोह होते हैं। लोग फिर भी आगे बढ़ने की बजाय पीछे चले जा रहे हैं—उनके धार्मिक सस्कार पुष्ट होनेके बजाय लुप्त होते जा रहे है ऐसी आवाजें सुननेमें आती हैं और प्रबुद्ध-जन इस पर चिंतित भी दिखाई देते है।

स्मरण रहे जैनधर्म व्यक्ति पूजक नहीं, गुण-पूजक है। और इसमें गुण-ग्राहकता का उपदेश है—गुण ग्रहण ही सबसे बड़ी पूजा है, सच्ची पूजा भी यही है और अनेक ईश्वरवाद का मूल भी यही है। बड़ी खुशी की बात है कि आज आचार्य कुन्दकुन्द द्वि-सहस्राब्दी मनाने का उपक्रम जोरों पर है। लोग कुन्दकुन्द के नाम पर स्तूप खड़े कराने, उनके नाम पर संस्थाएँ खड़ी कराने और उनकी रचनाओं को अपनी बुद्धि अनुसार (मनमाने ढंग से भी) अनेक भाषाओं में रूपान्तरित करने-कराने में सक्षम हों, उनमें वैसी बुद्धि और वैसा द्रव्य भी हो, यह सब तो शक्य है। पर, ऐसे कितने लोग हैं जो उन जैसे मार्ग का सही रूप में अनुसरण कर सकें, वैसे ज्ञान और वैसे आचार-विचार में अपने को ढाल सकें? इसका अनुमान लगाना शक्य नहीं। और आज जैसी स्थिति और मनोवृत्ति में तो यह सर्वथा ही शक्य नही।

हमारा अनुभव है कि आज लोगों में व्यक्ति पूजा की होड़ है। कई लोग महापुरुषों की व्यक्तिगत पूजा के बहाने अपने व्यक्तित्व को पुजाने में लगे हैं। क्योंकि उत्सवों, शताब्दी और सहस्राब्दियों के बहाने अपने व्यक्तित्व को चमकाना सहज है—किन्तु गुणों का ग्रहण करना सहज नहीं। काश, कुन्दकुन्द द्वि-सहस्राब्दि में यह हो सके कि लोग अपने को कुन्दकुन्दवत् सहस्रांश रूप में भी ढाल सकें, उनके उपदिष्ट धर्म के आचरण का सही मायनों मे प्रण ले सकें—धर्म मार्ग में आगे बढ़ सकें—तो हम स्वागत के लिए तैयार हैं। अन्यथा, हम अब तक के ऐसे कई उपक्रमों को तो बाजीगर के तमाशे की भांति ही मानते रहे है। बाजीगर तमाशा दिखाता है, तब लोग खुश होते हैं, प्रशंसा करते है। पर, क्षणभर में बाजीगर के झोली उठाकर जाने के बाद लोग खाली पल्ला चल देते हैं, स्टेज के बांस, बल्ली और शामियाना उनके मालिक उठा ले जाते हैं, माइक वाला पैसे झाड़ चलता बनता है। सभी को जाना था सो चले गए, रह गया तो बस, मात्र धर्म मार्ग का सूनापन।

लोगों ने आज तक कितनी जयन्तियाँ मनाईं, इसकी गिन्ती नही। पच्चीससौवां निर्वाण उत्सव भी मनाया गया था; तब कितनों ने व्रत-नियम लिए और कितनों ने अपने

आचार-विचारों में शुद्धि की ? ये सोचने की बात है ? और यह भी सोचने की बात है कि कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि के अवसर पर कितने अपने निज का आत्मोद्धार करेंगे ? यदि ऐसा हो सके तो अत्युत्तम। हम सबके साथ हैं और हमारा अनुमोदन भी।

४. दि० मुनि का अभाव धर्म को ले डूबेगा :

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ये तीनों जैनधर्म के रूप हैं। और, इस पंचम काल में—यह धर्म केवलियों के बाद, शास्त्र और गुरुओं के कारण अनुभव और आचरण रूप में आता रहा है। अब तक धर्मात्मा जैन-विद्वानों और त्यागियों ने इस धर्म की ज्योति को प्रज्वलित रखा है और श्रावकों की रुचि और आचरण को इस ओर कराने का श्रेय भी इन्हीं को है।

यह सर्वविदित है कि वर्तमान में शास्त्रों के मूल-रूप के पठन-पाठन में ह्रास है और मूल के ज्ञाता विद्वान धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे है तथा कतिपय दिगम्बर त्यागी गुरुओं में ज्ञान की क्षीणता और आचार के प्रति शिथिलता देखी और सुनी जा रही है—अनेक दिगम्बर व्रतधारी भी स्वच्छन्द आचार-विचार बनाने और तदनुरूप प्रचार करने मे लीन हैं। इसको जानते-देखते हुए भी वर्तमान अनेक विद्वान और श्रावक उनकी इन प्रवृत्तियों का पोषण करते देखे जाते है। ऐसा क्यों ?

हम ऐसा समझते हैं कि अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार विद्वान और श्रावक दोनों अपने-अपने अभावों की पूर्ति मे लगे हैं—कोई धनाभाव को निरस्त करने और यथेष्ट की प्राप्ति मे और कोई यश-प्रतिष्ठा की पूर्ति में। धर्म और धर्म के स्रोत व धर्म के मूर्तरूप—गुरुओं के स्वरूप की रक्षा का किसी को ध्यान नहीं। पर—

निश्चय समझिए कि यदि दिगम्बर गुरु के आचार-विचार में बदलाव आता है तो दिगम्बर-धर्म की खैर नहीं—उसका लोप अवश्यम्भावी है।" बौद्धधर्म के भारत से पलायन और उस धर्म में शिथिलता आने के मूल कारणों में भी उनके साध्वाचार में शिथिलता आना ही मुख्य कारण था—यह हम देख ही चुके हैं। जैनधर्म के भट्टारकों के ह्रास का कारण भी यही है।

इस प्रसंग में कहीं-कहीं अब स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि सुधार सहज-साध्य नहीं। कुछ धर्मात्मा, विद्वानों, त्यागियों व श्रावकों व श्राविकाओं को संगठित होकर शिथिलाचारों की छानबीन कर, सब प्रकार के प्रयत्न कर—बिना भेद-भाव के, शिथिलाचारियों के शिथिलाचार को परिमार्जन कर उनका धर्म में स्थितिकरण करना होगा। अत: धर्म प्रेमी जन दिगम्बरत्व के शुद्ध-स्वरूप को समझ, दिगम्बर धर्म की रक्षा में सन्नद्ध हों—ऐसी हमारी प्रार्थना है। सुधार मार्ग में पक्ष या भय को स्थान नहीं। सच पूछें तो पक्ष और भय ने ही मूल-दिगम्बरत्व और उसके स्वरूप पर कुठाराघात किया है। वरना, मन्दिरों और धर्मशालाओं के होते, गृहस्थों के बीच—उनकी सुख-सुविधा युक्त कोठियों को मुनि व त्यागी अपना आवास क्यो बनाते ? शीतोष्ण परीषह सहने के स्थान पर शीत-निवारक हीटर और उष्णताहारी कूलर—एयरकण्डीशनर का उपयोग क्यों करते अथवा क्यों ही दंश-मशक-परीषहहारी—मच्छरदानी व कछुआ छाप तक का उपयोग करते ? जो बराबर देखने में आ रहा है। क्या मुनिधर्म यही है ? क्या, जैन और जैनेतर साधु मे वस्त्र-निर्वस्त्र होने मात्र का ही अन्तर है, या और कुछ भी ? जरा सोचिए !

समाज में स्थितिपालक और सुधारवादी जैसे दो धड़े हैं। हमारी श्रद्धा उन स्थितिपालकों में है जो प्राचीन और धार्मिक आचार परम्पराओं को कायम रखने के पक्षपाती हों। फलत: हम मुनियों को निर्दोष २८ मूलगुणों के पालक-रूप—प्राचीन स्थिति में देखना चाहते हैं—उन्हें शास्त्र-विहित आचार से तनिक भी विचलित नहीं होना चाहिए। ऐसे में यदि आचार-विचलित मुनियों को पूर्वाचार में लाने जैसी सुधार सम्बन्धी हमारी बात मात्र से कोई हमें सुधारवादी समझ बैठे तो हम क्या करें ? क्या, इन मायनों मे हम स्थितिपालक नहीं ? जरा-सोचिए !

—सम्पादक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-०

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-०

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-०

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-०

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST